विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला

११

पण्डितराज श्रीजगन्नाथ विरचितः

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

संस्कृतव्याख्याकारः

मैथिलश्रोत्रियकविशेखर—

पण्डित श्री बदरीनाथ झा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य भूतपूर्वप्रधानाचार्यः

हिन्दीव्याख्याकारः

व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य—

पण्डित श्री मदनमोहन झा

मुजफ्फरपुरस्थराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य साहित्यप्रधानाध्यापकः



चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

वि० सं० २०११]   [ई० १९५५

प्रकाशकः—
चौखम्बा विद्या भवन,
चौक, बनारस

Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Banaras-1
1955

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस

प्रस्तावना

अलङ्कार-शास्त्र

'उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तममङ्गम्' इति यायावरीयः, (काव्यमीमांसा)

'उपकारक होने से अलङ्कार (शास्त्र) सप्तम अङ्ग (वेदाङ्ग) है'

कविराज राजशेखर ने अपने 'काव्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थ के शास्त्र-निर्देशाध्याय में जिस अलङ्कार-शास्त्र की चर्चा की है, वह कौन सा शास्त्र है ? उस शास्त्र की परिभाषा क्या हो सकती है ? यह सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु है।

विचार करने से विदित होता है कि उस विचार-पुञ्ज को अलङ्कार-शास्त्र कहते हैं, जो राजशेखर के कथनानुसार पञ्चदश विद्या-स्थान[1] काव्य-पदार्थ का शासन करता है अर्थात् काव्यरूप-लक्ष्य के लक्षण जिस शास्त्र में किये गये हों, उसका नाम अलङ्कार-शास्त्र है अथवा अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह कहा जा सकता है कि उन विविध आलोचनाओं का नाम अलङ्कार-शास्त्र है, जिनके द्वारा काव्य की बारीकियाँ, अच्छा और बुरापन ज्ञात हो सके।

इस शास्त्र को साहित्य शास्त्र भी कहते हैं, यद्यपि संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य इत्यादि-स्थल में 'वाङ्मय' रूप व्यापक अर्थ में भी साहित्यपद का प्रयोग होता है, राजशेखर ने साहित्य-शब्द का अर्थ 'काव्य' माना है[2], तथापि शास्त्रपद के साथ प्रयुक्त साहित्यपद का तात्पर्यार्थ काव्य-नियामक-विषय ही समझा जाता है।

अलङ्कारशास्त्र का प्रारम्भकाल

अलङ्कार के विषय में विचार करनेवाला सबसे प्राचीन निबन्ध 'अग्निपुराण' उपलब्ध होता है, उसमें शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, विभाव और रीति आदि के विवेचन किये गये हैं, अतः अलङ्कार-शास्त्र का मूल अग्निपुराण को ही मानना पड़ेगा। परन्तु इन विवेचनों को शास्त्र कहलाने का गौरव दण्डी, भामह आदि विद्वानों ने प्रदान किया, क्योंकि अग्निपुराण के बाद सबसे प्राचीन अलङ्कार विषयक निबन्ध इन्हीं महात्माओं को प्राप्त हुए और इन्होंने ही सर्व प्रथम काव्य के नियमन करनेवाली आलोचनाओं को अलङ्कारशास्त्र कहना प्रारम्भ किया।

अलङ्कारशास्त्र के नामकरण का बीज

यद्यपि उक्त काव्य-नियामक शास्त्र में अलङ्कारों के साथ साथ रस, गुण, दोष आदि सभी काव्याङ्गों का निरूपण किया गया है, तथापि 'अलङ्कार-शास्त्र' ही नाम क्यों पड़ा ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ विद्वान् यह देते हैं कि नामघटक अलङ्कार पद 'अलङ्क्रियते अनेन' इस करणव्युत्पत्ति से अनुप्रास आदि का बोधक नहीं, अपि तु **'अलङ्कृति अलङ्कारः'** इस भावव्युत्पत्ति से दोष-त्याग और गुणालङ्कारादि-ग्रहण प्रयुक्त सौन्दर्य का बोधक है और इस सौन्दर्य के प्रतिपादक होने के कारण उक्त शास्त्र का व्यवहार 'अलङ्कार-शास्त्र' नाम से किया गया है। इस तर्क की

---

१. 'सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्'

पुष्टि 'वामन' के सन्दर्भ से भी होती है। उन्हों ने कहा है कि 'अलङ्कार-युक्त होने से काव्य का ग्रहण (ज्ञान) करना चाहिये। सौन्दर्य को ही अलङ्कार कहते हैं। अलङ्कार पद भावसाधन होने से अलङ्कृति-परक है। करणव्युत्पत्ति मानकर इस पद का प्रयोग यमक, उपमा आदि में भी होता है। वह सौन्दर्य काव्य में दोष का त्याग और गुण, अलङ्कार आदि के ग्रहण से उत्पन्न होता है[1]

वस्तुतः 'अलङ्कार शास्त्र' के नामकरण का बीज यह प्रतीत होता है कि दण्डी, भामह, भट्टोद्भट, रुद्रट और वामन पर्यन्त जिन प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी प्रबन्धों की रचना की वे सब के सब ध्वन्यमान अर्थ को वाच्यार्थोपकारक मानकर अलङ्कार-कोटि में ही समाविष्ट किये। अत एव उन लोगों ने काव्य में अलङ्कार को ही सर्व-प्रधान माना, फिर तो 'प्रधान के अनुसार व्यवहार होते हैं, जैसे अन्य लोगों का आवास रहने पर भी मल्लप्रधान ग्राम में 'मल्लग्राम' ऐसा व्यवहार होता[2] है' इस सिद्धान्त के अनुसार उन लोगों के युग में प्रकृतशास्त्र का 'अलङ्कार-शास्त्र' यह नामकरण प्रमाणयुक्त ही था। बाद में 'ध्वन्यालोक' के निर्माता 'आनन्दवर्धन' ने अनेक युक्तियों से काव्य में ध्वन्यमान अर्थ की प्रधानता स्थापित कर दी, तदनन्तर भावी आचार्यों ने ध्वन्यमान अर्थों में भी रस आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों के ही सर्व प्रधान होने की व्यवस्था दी, तदनुसार यद्यपि आज के युग में प्रकृतशास्त्र का नाम उक्त युक्ति से 'ध्वनिशास्त्र' अथवा 'रस-शास्त्र' होना चाहिये, तथापि ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि हम भारतीय सदा से रूढ़ि के भक्त रहे, फिर यहां एकबार ही उस भक्ति को कैसे भुला बैठते ? फलतः हम आज भी प्राचीन परम्परा के अनुरोध से काव्य-नियामक प्रबन्धों के विषय में 'अलङ्कार-शास्त्र' इसी नाम से व्यवहार करते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में उत्तरोत्तर विकास

इस अलङ्कारशास्त्र में जितनी गम्भीर आलोचनायें की जाती हैं, उतनी अधिक मर्मस्पर्शिता उसमें उत्तरोत्तर उत्पन्न होती है और उसके फलभूत काव्य में भी अधिकाधिक उपादेयता सम्पन्न होती है।

प्रायः सभी समालोचक एक स्वर से इस बात को स्वीकार करते हैं कि अखिल भाषा साहित्यों का उद्गमस्रोत वह संस्कृत वाङ्मय ही है जिसका साहित्य अनादि है और अन्तस्तलस्पर्शी साहित्यकारों के गम्भीरतम विवेचनाओं से क्रमशः मार्मिकता की चरम सीमा पर पहुंच चुका है। प्रायः प्राचीन काल से आज तक सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निबन्धों में इस बात का मार्मिक विचार किया है कि 'रुचिरार्थक शब्दों का समुचित सन्निवेशरूप काव्य' किन किन साधनों से सहृदयों के हृदयावर्जन करने में अधिक सक्षम होगा। स्थूल रूप से उनके विचारों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) एक युग वह था, जब विच्छित्ति-विशेषवती पद-रचना को ही आलङ्कारिक लोग काव्य की आत्मा मानते[3] थे, और काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ में परिलक्षित होने वाले

---

१. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कारः। अलंकृतिरलङ्कारः। करणव्युत्पत्या पुनरलङ्कार-शब्दो यमकोपमादिषु वर्तते। स दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम्।' (अलङ्कारसूत्र)

२. 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति, मल्लग्रामादिवत्।'

३. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। (वामन.)

अलङ्कारों को ही काव्य में चमत्कार का कारण बतलाते थे। भामह आदि कतिपय विद्वानों की दृष्टि वाच्य से आगेतक गई और उन्होंने व्यङ्ग्य अर्थ को देखा—समझा—परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ को भी उन्होंने वाच्य का ही पोषक माना, अत एव उनके मतानुसार व्यङ्ग्य भी अलङ्कार-श्रेणी में ही रह गया, उससे ऊपर नहीं उठ सका। रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि रसभाव आदि पदार्थों को भी ढूंढ़ निकाला, तथापि उनमें भी अपने साहित्यिक पूर्वजों का संस्कार अनुवर्तमान था, जिससे उन्होंने वाच्यार्थ का पोषक मान कर रसभावादि को भी 'रसवत्' 'प्रेय' आदि अलङ्कारों की ही संज्ञा प्रदान की।

(२) बाद में अलङ्कार-जगत् का दूसरा युग आया, जब अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इन तीनों वृत्तियों से अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा वाच्य और लक्ष्य से भिन्न व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रकार के वादविवाद के बाद सुदृढ़रूप में सिद्ध कर दिया गया और वही व्यङ्ग्य अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान समझा गया, तथा उत्तम संज्ञक ध्वनिकाव्य का कारण कहलाया। इस मध्यकाल में आनन्दवर्धन के स्वारस्य के अनुसार मम्मटभट्ट आदि आलङ्कारिकशिरोमणि वस्तु, अलङ्कार और रस इन तीनों प्रकार की ध्वनियों को काव्य की आत्मा मानने लगे।

(३) इसके अनन्तर आज वह युग भी उपस्थित है, जब उक्त तीनों ध्वनियों को काव्यात्मा न मानकर केवल रसरूप ध्वनि को ही विद्वज्जन काव्य की आत्मा कहने लगे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उत्तरोत्तर अन्तस्तल की गवेषणा करता हुआ आलङ्कारिकों का हृदय चरम विश्रान्तिस्थान रस को पाकर ही सुप्रसन्न हो सका।

ऊपर के विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्वसाहित्य के जन्मदाता संस्कृत साहित्यकारों की मर्म-गवेषिणी दृष्टि उत्तरोत्तर तात्विक आलोचन करने में सफल हुई।

अलङ्कारशास्त्र की यह मार्मिक आलोचनापद्धति पण्डितराज जगन्नाथ तक आकर विश्रान्त हो गई। इनके बाद आजतक किसी ने समग्र काव्याङ्गों पर सर्वमान्य आलोचनात्मक निबन्ध की सृष्टि नहीं की। यद्यपि आज भी संस्कृत का अलङ्कारशास्त्र सर्वथा नवीनता से हीन नहीं हैं, तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रसगङ्गाधर की श्रेणी में आने योग्य निबन्ध की रचना न फिर हुई और न आगे ही होने की आशा है।

रसगङ्गाधर

आलोचना अलङ्कारशास्त्र का प्राणभूत है,[1] अतः अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों में उत्कृष्टता और अपकृष्टता के तारतम्य-विवेचन करने के लिये सबसे पहले इसी बात पर ध्यान देना होगा कि किस ग्रन्थ की आलोचना-पद्धति कैसी है ?

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर 'रसगङ्गाधर' सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार-ग्रन्थ सिद्ध होता है, क्योंकि रसगङ्गाधर का जितना भाग उपलब्ध है और उसमें अलङ्कारशास्त्र काजो जो विषय प्रतिपादित हुआ है, वह पूर्व के निबन्धों की अपेक्षा अति विशद है और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित प्रतिपादन शैली के द्वारा स्थिर किया गया है तथा वादयुग के अनुकूल नव्यन्याय की भाषा में वर्णित हुआ है, जिससे अब अलङ्कार-क्षेत्र में जिस किसी की बुद्धि हल्की वस्तु समझ कर प्रविष्ट नहीं हो

---

१. 'संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्। एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम्॥'

सकती। इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यही है कि इसमें सभी विषयों की अन्तस्तलस्पर्शिनी आलोचना की गई है। प्राचीनों के निबन्धों में उस प्रकार की आलोचना करने के लिए उतनी सुविधा भी नहीं थी, क्योंकि प्रायः वे सभी निबन्ध पद्यबद्ध थे। पद्यनिर्माण में निपुणतम विद्वान् भी गिनेगिनाए अक्षरों में उन उन शास्त्रों के सभी अतिशयों को समाविष्ट नहीं कर सकते। काव्य-प्रकाश की कारिकाओं से क्या सभी प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट अवगत होते हैं? यदि हां, तो फिर मम्मटभट्ट स्वयं वृत्ति में उन्हीं विषयों को विशद करने की चेष्टा क्यों करते?

दूसरी असुविधा यह थी कि प्राचीन साहित्य निबन्धकारों के समय में बहुत विषय ऐसे थे, जिनके स्वरूप ही सर्वथा निर्णीत नहीं हो सके थे, जैसे वामन आदि के समय में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया था। फिर तादृश विषयों की चरम आलोचना उन निबन्धों में कैसे हो सकती थी? बहुत विषय ऐसे होते हैं जो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार क्रमिक आवर्तन-परिवर्तनों से नाना प्रकार की परिस्थितियों का अनुभव कर लेने के बाद ही पूर्ण परिनिष्ठित होते हैं।

काव्यों की जितनी अधिक सृष्टि होती है, अलङ्कारशास्त्र में गुण-दोषों की गवेषणा, नानाविध उदाहरणों के सामने में रहने से, उतनी ही अधिक मर्माभिमुखी होती है। ऐसा होना समुचित और स्वाभाविक भी है, क्योंकि अनेक प्रकार के लक्ष्यों के उपस्थित रहने पर ही लक्षणसंबन्धी प्रचुर विचारों का अवसर प्राप्त होता है, अत एव व्याकरणशास्त्र में यह एक सिद्धान्त ही मान लिया गया है कि 'उत्तरोत्तर मुनि प्रमाणभूत' हैं'[1]।

रसगङ्गाधर में ये सभी सुविधायें जुट गईं। नाट्यशास्त्रप्रवर्तक भरत मुनि से लेकर आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि तक के विद्वानों ने काव्य के जीवानुभूत जिन तत्त्वों की गवेषणा की, वे वादि-प्रतिवादियों के नानाविध संघर्षों के बाद सिद्धान्तित होकर पण्डितराज जगन्नाथ से प्राक्तन आचार्यों के निबन्धों में पूर्ण परिनिष्ठित हो चुके थे। अतः उन तत्त्वों के स्थापन में पण्डितराज को आयास नहीं करना पड़ा, केवल पूर्वस्थापित विषयों में मार्मिक परिष्कार करना ही उनके लिये अवशिष्ट रहा, जिसको उन्होंने बहुत ही सुन्दर और सफल रीति से सम्पन्न किया है। इसकी पुष्टि करने के लिये मैं उदाहरण देना आवश्यक नहीं समझता, अधिकारप्राप्त सहृदय पाठक ग्रन्थ के अध्ययन करने पर स्वयमेव इस बात की सत्यता का अनुभव करेंगे।

विषयप्रतिपादनशैली

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली बहुत ही प्राञ्जल है। वक्तव्य वस्तु का प्रतिपादन ऐसे नपे तुले, प्रौढ तथा साथ साथ मधुर अक्षरों के द्वारा किया गया है, जिसमें सन्देह किंवा अर्थान्तर-कल्पना का थोड़ा भी अवकाश नहीं रह जाता। पद्यबद्ध लक्षण ग्रन्थों में जिस तरह विवश होकर लेखक को वर्णनीय विषय का संकोच करना पड़ता है अथवा अन्वय के हेर-फेर से अर्थान्तर-कल्पना का अवसर टीकाकारों को प्राप्त हो जाता है, उस प्रकार इस ग्रन्थ में नहीं होता।

'काव्यप्रकाश' में इस प्रकार के दोष अत्यधिक मात्रा में दीख पड़ते हैं। उस ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली इतनी संक्षिप्त और अस्पष्ट है, कि अनेकानेक टीका टिप्पणियों के होने पर भी उस ग्रन्थ की दुरुहता ही ज्यों कि त्यों नहीं बनी रही, अपितु टीकाकारों की परस्पर विरोधिनी नानाविध व्याख्याओं से और अधिक भ्रान्ति की ही सृष्टि हुई। मेरा यह कथन कहाँ तक सत्य है,

१. 'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'।

इसका अनुभव काव्यप्रकाश के मर्मज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं, अतः काव्यप्रकाश के उद्धरण देकर प्रस्तुत प्रस्तावना का कायवर्धन व्यर्थ है।

रसगङ्गाधर की प्रतिपादनशैली इन दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली में नव्यन्याय के ढङ्ग की (अवच्छेदकतावच्छिन्न से युक्त) भाषा अपनाई गई है, जिससे नव्यन्याय से सर्वथा परिचय नहीं रखने वाले अल्पज्ञ व्यक्तियों को आपाततः यह ग्रन्थ कठिन प्रतीत होता है, तथापि यह कठिनता भिन्न प्रकार की वस्तु है, इसके रहने पर भी उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं आता। वस्तुतः इस कठिनता का अनुभव नव्यन्याय की शैली से परिचित पाठकों को होता भी नहीं है।

कुछ लोग यहां यह प्रश्न उठा सकते हैं कि साहित्य ग्रन्थ में नव्यन्याय की भाषा अपनाई ही क्यों जाय, जिससे बेचारे नव्यन्यायानभिज्ञ पाठक इस ग्रन्थ के रसास्वादन से वञ्चित रहें? मैं समझता हूं कि इसका उत्तर उस वादयुग से पूछना चाहिये, जिसमें बिना उस भाषा को अपनाये या उस शैली का अनुसरण किये, किसी का निबन्ध पण्डितमण्डली की प्रखर कसौटी पर खरा उतर ही नहीं सकता था। संस्कृत साहित्य का वह एक बड़ा ही विचित्र वादयुग था, उस युग में एक, दूसरे का खण्डन करने के लिये मुँह बाये खड़ा रहता था। यदि किसी के ग्रन्थ में भाषाकृत अथवा शैलीकृत किंवा विषयजन्य थोड़ी भी शिथिलता आ जाती थी, तो अविलम्ब ही प्रतिवादी उसको टुकड़े टुकड़े करके दूर फेक देते थे, फलतः लेखक को कीर्ति के बदले अकीर्ति ही हाथ आती थी। अतः पण्डितराज को विवश होकर उस प्रकार की प्रौढ भाषा और शैली का ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि प्रतिवादियों के प्रहार से बचने के लिये वही एक रास्ता था।

इस प्रकार की भाषा तथा शैली को अपनाने का दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व साहित्यशास्त्र को उसी भाषा और शैली के अभाव के कारण, प्रौढ़ पण्डित हीनदृष्टि से देखते थे और विद्या की यह पवित्र शाखा नटभार्या हो रही थी, सभी उस पर अधिकारी होने का दावा करते थे, अधकचरे संस्कृतज्ञ भी साहित्यशास्त्र में अपनी चोंच गड़ाने लगे थे, यह स्थिति साहित्यमर्मज्ञ पण्डितराज को सह्य नहीं हुई, अतः उन्होंने जानबूझ कर इस ग्रन्थ में उस प्रौढ़शैली को अपनाया। उनका उद्देश्य पूर्ण भी हुआ। इस ग्रन्थ के निर्माण हो जाने के बाद अलङ्कारशास्त्र एक अभेद्य दुर्ग हो गया। अब इस शास्त्र में साधारण संस्कृतज्ञों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। प्रौढ़ पण्डितों के लिये भी अब यह शास्त्र हीन दृष्टि से देखने योग्य नहीं समझा जाता है। इस शास्त्र पर वे ही विद्वान् दावा कर सकते हैं, जो इसके उचित अधिकारी हैं। मेरी तो यहां तक धारणा है कि बिना उस शैली को अपनाये विषय का तलस्पर्शी विश्लेषण होता ही नहीं, जिसका आभास पाठकों को अग्रिम सन्दर्भ से प्राप्त होगा।

विषयों का स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण

पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में विषयों का जैसा स्पष्ट और तलस्पर्शी विश्लेषण किया है, वैसा अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों में मिलना दुर्लभ है। इस ग्रन्थ में जिस विषय को पकड़ा है, उसका मूर्तरूप मानो पाठकों के सामने खड़ा कर दिया है। इस बात की जांच करने के लिये इस ग्रन्थ का रसनिरूपण देखिये। अभिनवगुप्त के मत की व्याख्या काव्यप्रकाश में मम्मट ने और

रसगङ्गाधर में पण्डितराज ने भी की है, परन्तु रसगङ्गाधर के अध्ययन के बिना काव्यप्रकाशमात्र के अध्ययन से क्या उस मत का स्वरूप स्पष्ट होता है? भट्टनायक का मत तो काव्यप्रकाश में और अधिक अस्पष्ट है। 'स्वगतत्वेन रस का बोध नहीं हो सकता' इतना कहकर 'प्रकाश' मौन हो जाता है। 'क्यों नहीं स्वगतत्वेन रस का बोध हो सकता है? इस स्वाभाविक जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कुछ लिखना प्रकाशकार को आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ। किन्तु पण्डितराज पाठकों की जिज्ञासा को समझते थे, उन्होंने स्वगतत्वेन रसप्रतीति न हो सकने का कारण मार्मिक शब्दों में विशदरूप से लिखा है।

'नवों रसों के रति आदि ९ स्थायीभाव हैं' इतना सभी आलंकारिक लिखते हैं, मम्मटभट्ट ने भी लिखा है, परन्तु क्यों ये स्थायीभाव हैं? ये ही क्यों स्थायीभाव हैं? व्यभिचारीभाव (हर्ष आदि) भी स्थायी क्यों नहीं कहलाते? इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये रसगङ्गाधर का अध्ययन आवश्यक होगा, अन्यथा स्थायीभावों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना असम्भव है।

शृङ्गाररस के दो भेद हैं, संयोग और वियोग इतना सभी कहते हैं और साहित्य से थोड़ा भी संबन्ध रखने वाले सभी लोग जानते भी हैं, परन्तु संयोग और वियोग से यहां क्या विवक्षित है इस बात को किसी ने भी नहीं लिखा, फिर यदि साधारण पाठक संयोग का अर्थ सामानाधिकरण्य (एक जगह रहना) और वियोग का अर्थ वैयधिकरण्य (भिन्न स्थान पर रहना) समझें, तो इसमें उनका क्या दोष?

वस्तुतः संयोग और वियोग पद के अर्थ यहां सामानाधिकरण्य तथा वैयधिकरण्य नहीं विवक्षित है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय, तो मानावस्था में जो एक शय्यासीन दम्पति में भी वियोग माना जाता है, एवम् एक जगह नहीं रहने पर भी मान आदि के न रहने पर परस्पर प्रेम की वर्तमानता दशा में जो संयोग वर्णित होता है, वह असंगत हो जायगा, अतः संयोग तथा वियोग पद से यहाँ वे चित्तवृत्तियाँ विवक्षित हैं, यत्प्रयुक्त 'संयुक्त हूं' और 'वियुक्त हूं' इस तरह की बुद्धि होती है। यह है रसगङ्गाधर का विश्लेषण।

कितना गिनाया जाय, पाठकों को पद पद पर रसगङ्गाधर में पण्डितराज का विषय-विश्लेषण पाण्डित्य परिलक्षित होगा, अलंकार-प्रकरण में पण्डितराज की यह विश्लेषणचातुरी और अधिक प्रकट हुई है। परन्तु उस प्रकरण से प्रस्तुत भाग का संबन्ध नहीं है, अतः उस प्रकरण का विवेचन द्वितीय भाग की प्रस्तावना में ही देखिये

पद-रचना-संबन्धी अनुपम मार्मिक विचार

यद्यपि काव्य की आत्मा व्यङ्ग्य अर्थ है, परन्तु उस व्यङ्ग्य अर्थ का भी आधार शरीरस्थानीय पद-रचना (शब्द) ही है अतः काव्य में पद-रचना का भी एक स्वतंत्र महत्व है। कान्ता-सम्मित-उपदेश जो एक काव्यका प्रमुख प्रयोजन माना गया है, उसके लिये विनेयों को अभिमुख करनेवाले काव्य-तत्वों में पद-रचना ही प्रथम है। यदि सर्व प्रथम सामने आनेवाली पद-रचना ही श्रोता के मन को आकृष्ट नहीं कर सकेगी, तब उससे आगे बढ़कर अर्थ समझने की चेष्टा ही कौन करेगा? अतः कवि में पदरचना-कौशल सर्वाधिक समपेक्षित है। आकर ग्रन्थों में कहा हुआ है—'रूपक आदि अलङ्कार तो बाह्य हैं, वस्तुतः वचनों की अलंकृति सुप् तथा तिङ् की

व्युत्पत्ति है। इसी को सौशब्द्य कहते हैं, अर्थव्युत्पत्ति ऐसी वस्तु नहीं है[1]।' अतिप्राचीन आचार्यों ने तो पद-रचना को यहाँ तक गौरव-प्रदान किया कि उसी को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया।[2] मध्यकालिक आचार्यों ने भी उत्तरोत्तर उसका महत्व अधिक ठहराया है। एतन्मूलक ही और निम्न प्रशंसोक्तियाँ हैं—

'किंवा कवितया राजन्! किंवा वनितया तया।
पदविन्यासमात्रेण मनो नापहृतं यया॥'

अपि च—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि च हरति दृशं मालती-माला॥'

'उस कविता अथवा वनिता से क्या प्रयोजन जो पद-विन्यास (चरणन्यास तथा पद-रचना) मात्र से मन को नहीं हर लेती।' एवम् 'गुणज्ञान न होने पर भी सत्कवियों की उक्ति कानों में मधुधारा बरसाती है। ठीक ही है—सौरभ का अनुभव न होने पर भी दूर से ही मालती माला दृष्टि का हरण करती ही है।'

किन्तु व्याकरण के जटिल नियमों से बद्ध इस संस्कृत भाषा में मधुर-रसों के अनुकूल केवल मधुर पदों का ही गुम्फन कठिन ही नहीं, अपितु एक प्रकार से असम्भव सा ही है। इस उक्ति से संस्कृत भाषा में रचना करने वाले पाठक घबड़ायें नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से मेरे कथन पर विचार करें। टवर्ग, झय्, संयोग आदि को छोड़ कर करुण, विप्रलम्भ आदि कोमलतम रसों में केवल कोमल पदावली की रचना कितनी कठिन है, इस बात को वे ही समझ सकते हैं, जो स्वयं तादृश रचना करने का प्रयास कभी किये होंगे। देखिये—पूर्वकालिक अर्थ पद-पद पर आता है, और वहां के लिये अनुशिष्ट 'क्त्वा' प्रत्यय ऐसा है कि मधुराक्षर-युक्त हलन्त धातु को भी 'दृष्ट्वा' 'ऊढ्वा' इत्यादि कटुतररूप में परिणत कर देता है।

यदि उपसर्ग जोड़ कर 'ल्यप्' के रूप में उसको लाते हैं, तथापि दो व्यञ्जनों का संयोग अनिवार्य ही रहेगा। इसी तरह हलन्त धातु से 'क्त' 'तुमुन्' आदि प्रत्यय करने पर भी कष्टाक्षरता सामने आती है, कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृत भाषा में केवल मधुर वर्णों की रचना करना साधारण कवियों का काम नहीं है। अमरुक के समान महाकवि—जिनका एक-एक पद्य सौ प्रबन्धों के समान माना जाता[3] है—भी इस विषय में स्थान-स्थान पर सर्वथा असफल हो गये हैं। आचार्य मम्मट भट्ट भी शृङ्गार रस के उदाहरण में उन पद्यों को उद्धृत करने के कारण पदरचना के औचित्य से अपरिचित से ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि अमरूक के एक पद्य[4] को

---

१. 'रूपकादिरलंकारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्'॥

२. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। ३. 'अमरूककवेरेकं पद्यं प्रबन्धशतायते'।

४. शून्यं वास-गृहं विलोक्यशयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः।
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्यपत्युर्मुखम्॥
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्।
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥

इस पद्य में—उत्थाय, किञ्चिच्छनैः, शनैर्निद्रा, निर्वर्ण्यपत्युर्मुखम्, विस्रब्धम्, परिचुम्ब्य, लज्जा-नम्र, इत्यादि पद माधुर्य के विरुद्ध हैं।

उन्होंने शृङ्गाररस के उदाहरण में उद्धृत किया है, जिसमें बहुतेरे पद माधुर्य गुण के प्रतिकूल हैं। सत्य बात तो यह है कि अलङ्कार-शास्त्र-प्रणेता आचार्यों ने माधुर्य गुण के लिये 'टवर्गहीन, संयुक्ताक्षर-रहित' इत्यादि रूप से वर्णों की गणना अवश्य की है, परन्तु प्रयोग में उसका निर्वाह वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रसङ्ग पर अधिक विस्तृत विचार करने की आवश्यकता नहीं है, अलङ्कारशास्त्र की कोई भी पुस्तक उठाइये उसमें मधुर रसों के उदाहरणरूप से आये हुये कतिपय पद्य ही ऐसे मिलेगें, जो सर्वथा निषिद्ध संयुक्ताक्षरादि से रहित होकर निर्दोष सिद्ध हों।

प्रायः प्राकृत साहित्य के सहयोग से संस्कृत के कवियों ने भी जब पदरचना-विषयक इस मार्मिकता को अपनाया तब पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा। मार्मिक विद्वान् देखेगें कि मम्मट भट्ट के समय में संस्कृत भाषा की मधुर रचना के विषय में जितना विचार किया गया तदपेक्षया साहित्यदर्पण के निर्माण काल में उसका विचार कुछ अधिक होने लगा। अत एव स्वयं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के द्वारा अथवा तत्समकालिक अन्य कवियों के द्वारा रचे हुए संस्कृत के पद्य, अधिक ललित पदावली से अलंकृत हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल वह था जब संस्कृत साहित्य से सुन्दर-सुन्दर अंशों को लेकर समृद्ध होती हुई व्रजभाषा (हिन्दी) पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। सन्त सूर, तुलसी और 'सतसई' के निर्माता विहारीलाल द्वारा हिन्दी कविता अधिक प्रफुल्लित हो उठी थी। हिन्दी भाषा में तद्भव शब्दों के द्वारा अक्षरों को लघु तथा गुरु बना लेने की बड़ी स्वतन्त्रता थी, जिससे विहारीलाल को रचना में महान् सौविध्य प्राप्त हुआ। विहारीलाल का प्रत्येक पद्य प्रायः इस बात का उदाहरण हो सकता है। वे दृष्टि, द्युति, गात्र, कर्कश और स्पर्श आदि शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान में क्रमशः दीठि, दुति, गात, करकस और परस आदि तद्भव शब्दों का प्रयोग करते हैं[1], जिससे मूल संस्कृत शब्दों के द्वारा रचे गये पद्यों की अपेक्षा उन तद्भव शब्दों के द्वारा बनाये गये पद्यों में लाख गुना माधुर्य बढ़ गया है इस बात को कौन सहृदय नहीं मानेगा। पण्डितराज विहारी लाल की कविताओं से पूर्ण परिचित थे अतः उन पर विहारीलाल की कोमलकान्तपदावली का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

यह मानना होगा कि पहले जैसे प्राकृत भाषा के सहयोग से संस्कृत की पद-रचना में अधिक ध्यान दिया जाने लगा था, वैसे पण्डितराज के समय में हिन्दी साहित्य का भी प्रचुर प्रभाव संस्कृत-पद-रचना पर पड़ा होगा। जब हिन्दी के कवि शृङ्गार-करुण आदि रसों में तदनुकूल मधुरवर्ण-योजना का यथोचित निर्वाह करते हैं और तद्द्वारा रसपरिपोष का प्रसार होता है, तब संस्कृत भाषा में ही यह नियम शिथिल होकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों में ही पड़ा रहे-प्रयोग में नहीं आसके-यह सर्वतोमुख प्रतिभासम्पन्न पण्डितराज को कैसे सह्य हो सकता, अत एव संस्कृत साहित्य के सभी विषयों को अपने विचार-निकष पर कसने वाले पण्डितराज ने रस-गङ्गाधर में पद-रचना विषयक नियमों को दृढ़ किया है और शृङ्गार आदि रसों में संयुक्ताक्षर विषयक बहुत से नवीन नियमों का आविर्भाव किया है। उसके स्वरूप से परिचित होने के लिये पाठक को रसगङ्गाधर का उक्त प्रकरण देखना चाहिये।

---

१. 'दीठिन पड़त समान दुति कनक, कनक से गात।
भूषन कर करकस लगत परस पिछाने जात॥'

पण्डितराज प्रतिभाशाली विद्वानों में चूडामणि हैं, अत एव उन्होंने संस्कृत साहित्य में पदरचना सम्बन्धी तादृश मार्मिक विचार को जन्म दिया, जिसके सामने हिन्दी के पोषकों को भी निष्प्रभ होना पड़ा है। किस वर्ण के अनन्तर किस वर्ण के आने से कटुता बढ़ जाती है इसके विषय में जिस मार्मिक विचार को पण्डितराजने प्रस्तुत किया है, वह किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं है।

पण्डितराज वाग्देवतावतार मम्मट के समान केवल नियमनिर्माण में ही प्रवीण नहीं थे, प्रत्युत स्वरचित उदाहरणों में उन नियमों का अनुवर्तन भी पूर्णरूप से करते थे। मधुर रचना के ऐसे ऐसे उदाहरण[1] वे रसगङ्गाधर में बना कर दिये हैं, जिनमें प्रतिपक्षी किसी भी तरह दोष नहीं दिखला सकता।

अनुप्रास की छटा

वैसे तो अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों का विधान सभी आलङ्कारिकों ने अपने अपने निबन्धों में किया है और संस्कृत के कवियों ने स्थान-स्थान पर उनके प्रयोग भी किये हैं, परन्तु पण्डितराज के समय में व्रजभाषा-कवियों के द्वारा विशेषकर घनाक्षरीछन्दों में[2] पदान्तानुप्रास का बहुत ही आकर्षक प्रयोग होने लगा था। इस अन्तानुप्रास का प्रयोग प्राचीन संस्कृत काव्यों में नहीं हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत ही जगह उसका प्रयोग सफल रूप में पाया जाता है। परन्तु पण्डितराज के पद्यों में विशेषतः मालभारणी वृत्तमें[3] पदान्तानुप्रास की एक निराली ही छटा दीख पड़ती है, । इसी प्रकार शिखरिणी छन्द में भी इस अनुप्रास का प्रयोग शङ्कराचार्य आदि ने भी किया है[4], परन्तु पण्डितराज की शिखरिणियों में इस अनुप्रास का लोकोत्तर प्रयोग हुआ है।

अश्वधाटी छन्द में जिस तरह का अनुप्रास होता है, ठीक उसी तरह के अनुप्रासों का प्रयोग हिन्दी भाषाके अमृतध्वनि आदि अन्य छन्दों में भी हैं और उस प्रयोग में हिन्दी के कवियों को अधिक सफलता भी मिली है। फिर भला पण्डितराज उस चमत्कार को संस्कृत में बिना लाये कैसे रहते। उन्होंने भी स्थान-स्थान पर उस तरह के अनुप्रासों का परिपक्व प्रयोग किया है[5]। कहने का सारांश यह है कि समसामयिक हिन्दी कवियों की कविताओं में प्रयुक्त इस अनुप्रासशैली से प्रभावित होकर ही पण्डितराजने संस्कृत में उसका प्रयोग प्रारम्भ किया यह बात सत्य है, परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पण्डितराज अपनी प्रतिभा से उसमें और अधिक परिपाक लाये।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पण्डितराज के हर एक पद्य में गवेषकों को शब्दकृत चमत्कार अवश्य मिलेगा। तात्पर्य यह कि उनकी कविताओं में व्यङ्ग्यकृत चमत्कार के साथ साथ शब्दकृत अतिशय भी कोई न कोई अवश्य रहता है और उसका रहना आवश्यक भी है, क्योंकि उसी के

---

१. 'कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायम्......' इत्यादि (पृ. २६१-६२)

२. तुलसी विलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं, चित्रकूके कपिसों निसाचर न लागिहैं,।
'बीती औधि आवन की लाल मनभावन की डग भई बाँवन की सावन की रतियां ॥'

३. 'नितरां हितयाद्य निद्रया मे वत यामे चरमे निवेदितायाः......' (पृ. ३०३)

४. 'तवोत्सङ्गे गङ्गे यदि पतति कायस्तनुभृताम्।
तदा मातः शातक्रतवपदलाभोऽप्यतिलघुः ॥' (शङ्कराचार्य)

५. 'वल्गद्गाण्डिवमुक्तकाण्डवलयज्वालावलीताण्डव......' (द्वि. आनन)

द्वारा पहले विनेयों का आकर्षण होता है। कविप्रतिभा का प्रधान आधार भी शब्द ही है। अतएव काव्यलक्षण में भी पण्डितराज ने 'शब्द काव्य है' इस पर पूरा जोर लगाया है।

जो कोई शब्द चमत्कार पर बल देने वाले कवि को 'शब्दकवि' कहकर एक तरह से उसकी निन्दा करता है, वह वास्तविक विचार न करने के कारण ही वैसा करता है। अर्थचमत्कार से शून्य केवल शब्दचमत्कार भले ही निन्दास्पद हो, परन्तु अर्थचमत्कार के साथ रहने वाला शब्द-चमत्कार सोने में सुगन्ध का काम करता है।

सामयिक प्रभाव

पण्डितराज का आविर्भाव मुगल बादशाहों के विलासमय काल में हुआ था. वे स्वयं भी दिल्ली दरबार में रहकर बहुत कुछ उन विलासों का अनुभव किये थे, अतः स्थान-स्थान पर उनकी कविताओं में मुगल-राजधानी के विलासमय चित्र स्पष्ट झलकते दीख पड़ते हैं। रसाभास प्रकरण में बहुनायक विषयक रति का उदाहरण[1] देकर पण्डितराज लिखते हैं कि 'एक अनुपम सुन्दरी कहीं से आ रही थी, मार्ग में बहुतेरे मनचले युवक उसके सौन्दर्य तथा यौवन से वशीभूत होकर उसके पीछे लग गये, परन्तु नयनसुख के अलावा कुछ भी उनको हाथ नहीं लगा, उसकी मधुरवाणी सुनने के लिये भी वे तरसते ही रहे, अन्त में उस नायिका का निवास स्थान भी आ पहुँचा, वह अपने भवन में प्रवेश करने लगी, अब बेचारे वे युवक क्या करते ? रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में हो रहा था कि यदि यह अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा भी दे देती, तो हम उस आज्ञा को ही परम लाभ मान कर अपनी सेवा को सार्थक समझ लेते, वह चतुर नायिका उनके मनोभावों को समझ रही थी, दूरतक अनुगमन रूप उनके परिश्रम के स्मरण से उसके हृदय में करुणा उमड़ आई और उसने मुख से तो नहीं परन्तु उन सबों की ओर एक नजर देखकर एक तरह से जाने की आज्ञा दे दी'[2]।

इसी तरह उस समय मुगल जातीय विलासी लोग घर में कबूतरों की जोड़ी पालते थे, यह उस जाति की प्रमुख विनोद की चीज थी। आज भी उस सम्प्रदाय के लोग प्रायः उस परम्परा को निभा रहे हैं। पण्डितराज ने उन कबूतरों की जोड़ी पर भी एक मार्मिक कविता लिखी है[3]।

अन्य अलङ्कार ग्रन्थों से रसगङ्गाधर में सैद्धान्तिक विशेष

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों की अपेक्षा रसगंगाधर में अनेक विशेषतायें हैं। जैसे—काव्यप्रकाश में शब्दार्थ युगल को काव्य माना गया है, रसगंगाधर में शब्दमात्र को। काव्यप्रकाश काव्य में गुण तथा अलंकारों का रहना आवश्यक बतलाता है, पर रसगंगाधर ऐसा नहीं कहता। काव्यप्रकाश काव्य के प्रति शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को कारण कहता है, पर रसगङ्गाधर प्रतिभामात्र को काव्य का कारण मानकर अदृष्ट एवं व्युत्पत्ति-अभ्यास को स्थान भेद से प्रतिभा का कारण बतलाता है। काव्यप्रकाश के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम भेद से काव्य के तीन प्रकार होते हैं, साहित्यदर्पण के अनुसार अधम भेद भी नहीं होता, उत्तम

---

१. 'भवनं करुणावती विशन्ती गवनाज्ञालवलाभलालसेषु।' (पृ. ३३९)

२. 'अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः······' इत्यादि (पृ. ३४०)

३. 'निरुद्ध्य यान्तीं तरसा कपोतीं कूजत्कपोतस्य पुरोददाने।······' (पृ. २८०)

और मध्यम दो ही भेद होते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर के हिसाब से उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से काव्य के चार प्रकार माने जाते हैं।

अन्य सभी अलङ्कार-ग्रन्थों में दान, दया, युद्ध और धर्म इन चार उपाधियों के भेद से उत्साहरूप स्थायीभाव के चार भेद मानकर वीर रस के चार ही प्रकार प्रतिपादित हुये हैं, किन्तु रसगङ्गाधर का कथन है कि श्रृङ्गार रस के समान वीर रस के भी बहुत भेद हो सकते हैं और तदनुसार युक्ति एवम् उदाहरण देकर सत्यवीर, पाण्डित्यवीर, क्षमावीर और बलवीर ये चार भेद अधिक उसमें प्रतिपादित हुये हैं।

सभी प्राचीन आलंकारिक निबन्धगुणों को रसमात्र धर्म मानते हैं, किन्तु निबन्धराज रसगंगाधर में प्रचुर खण्डन मण्डन के बाद गुणों को शब्द, अर्थ, रस और रचना इन चारों के धर्म स्थिर किये गये हैं।

प्राक्तन सभी अलङ्कारग्रन्थों में भावध्वनि के समान पृथक् भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियों की व्यवस्था की गई है, किन्तु रसगङ्गाधर में ये ध्वनियां भी भावध्वनि में ही गतार्थ कर दी गई हैं और गतार्थता के लिये दी गई युक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं।

सभी अन्य निबन्ध रसभावादि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं, परन्तु रसगङ्गाधर स्थानविशेष में रसभावादि को भी संलक्ष्यक्रम बतलाता है।

द्वितीय आनन में और भी बहुत से सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो द्वितीयभाग की भूमिका में दिखलाये गये हैं।

रसगङ्गाधर का एक असाधारण वैशिष्ट्य

इस अनन्त जीवमय संसार में नर-देह दुर्लभ है और नर-देह प्राप्त होने पर भी विद्वान् होना दुर्लभतर है इसी प्रकार विद्वान् होने पर भी कवि होना दुर्लभ है और कवि हो जाने पर शक्ति (प्रतिभा) शाली होना तो परम दुर्लभ है[1]। शारदा के वरदपुत्र पण्डितराज में इन सभी दुर्लभ गुणों का समवाय समाविष्ट था। वे अपने युग के महामानव होने के साथ साथ विश्रुतकीर्ति विद्वान् और प्रतिभाशाली महाकवि भी थे।

किसी भी अन्य अलङ्कार-निबन्ध-निर्माता में उक्त सभी गुण उस मात्रा में नहीं थे, जिस मात्रा में कि पण्डितराज में थे। श्रीमान् मम्मटभट्ट विद्वान् बहुत बड़े अवश्य थे, अलङ्कारशास्त्र का ज्ञान उनमें महान् था, परन्तु वे कवि नहीं थे. अतः उन्हें अपने प्रसिद्ध अलङ्कार निबन्ध काव्यप्रकाश में उदाहरण के लिये परमुखापेक्षी होना पड़ा। प्रायः यही कारण था कि काव्यीय विविध वस्तुओं के कितने भेद बुद्धि में स्फुरित होने पर भी उदाहरणाभाव से उन्होंने नहीं लिखे। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यद्यपि अपने को अष्टादश-भाषा-वारविलासिनी-भुजङ्ग की उपाधि से विभूषित किया है और यत्र तत्र 'इदं मम' कहकर स्वनिर्मित पद्य को उदाहरण के रूप में उपस्थित भी किये हैं, तथापि विद्वान् लोग उन्हे पण्डितराज के समान प्रतिभाशाली महाकवि नहीं मानते, क्योंकि यदि उनमें उच्चकोटि की कवित्वशक्ति होती, तो वे अपने निबन्ध 'साहित्यदर्पण' में परकीय पद्यों को उदाहरण के रूप में क्यों रखते? अन्य अलङ्कार ग्रन्थों में भी प्रायः परकीय उदाहरण ही लिये गये हैं।

---

१. 'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा। कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥'

किन्तु एक पण्डितराज ही इस अंश में अपवादभूत हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि 'कस्तुरी का जन्म देनेवाला मृग पुष्पों का गन्ध-ग्रहण नहीं करता। मैं इस रसगङ्गाधर में एक भी परकीय पद्य उदाहरण के रूप में नहीं लिखूँगा[1]। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति उन्होंने खूब ही की है। एक से एक सुन्दर स्वनिर्मित पद्य उदाहरण रूप से सम्पूर्ण रसगंगाधर में उपस्थित किये हैं। वे पद्य भिन्न-भिन्न प्रसङ्ग पर भिन्न-भिन्न रसों से ओत-प्रोत हैं, रसगङ्गाधर में आये हुये ऐसे पद्यों की संख्या भी बहुत बड़ी है, यद्यपि उन पद्यों में से कतिपय पद्य पण्डितराज के अन्य काव्य तथा स्तोत्र ग्रन्थों में भी आ चुके हैं, तथापि ऐसे भी श्लोक कम नहीं हैं, जो पण्डितराज के भी अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। इस दृष्टिकोण से देखने पर रसगंगाधर अलङ्कारशास्त्र के निबन्धराट् होने के साथ साथ एक सुन्दर मुक्तक कविताओं का संग्रहात्मक काव्यग्रन्थ भी है।

प्रकृत पुस्तक के कतिपय प्रधान विषयों का विशद विवेचनः—

काव्य-प्रयोजन

'मन्दबुद्धियों की भी प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती[2]' इस न्याय के अनुसार ग्रन्थों के प्रारम्भ में प्रयोजनकथन की रीति प्रचलित है। अत एव काव्य-लक्षणकारों में भी लक्षण करने से पहले काव्य-प्रयोजन के प्रतिपादन करने की परम्परा है, पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इस परम्परा की रक्षा की है अर्थात् इन्होंने भी काव्य के प्रयोजन दिखलाये हैं, परन्तु संक्षेप में इनकी अपेक्षा मम्मट और विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण में इसके विषय में कुछ अधिक लिखा है। इन्हीं तीनों आचार्यों के कथनों का विवेचन इस प्रकरण में करना है।

सबसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि इन ग्रन्थों में जो काव्य-प्रयोजन दिखलाये गये हैं उनमें दो तरह के प्रयोजन हैं। कुछ तो काव्य-निर्माण के और कुछ काव्याध्ययन के।

यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अनर्थ-निवृत्ति, परम सुख और कान्तासम्मित उपदेश इन काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख मम्मट ने किया[3] है। इनमें यश, अर्थ और अनर्थनिवृत्ति ये तीन काव्यनिर्माण के प्रयोजन हैं तथा व्यवहार-ज्ञान और उपदेश ये दो काव्याध्ययन के प्रयोजन हैं, अवशिष्ट 'परमसुख' रूप प्रयोजन दोनों का हो सकता है। अन्य पाठकों के समान काव्य-निर्माता भी अपने काव्य के पाठक होते हैं, अतः काव्याध्ययनजन्य सुख तो उन्हें मिलता ही है साथ साथ काव्य-निर्माण-प्रयुक्त भी एक प्रकार का सुख उन्हें मिलता है, काव्यनिर्माण से जो सुख प्राप्त होता है, उसका अनुभव काव्यनिर्माताओं को ही हो सकता है, पाठकों को चाहिये कि उस सुखानुभव का भी यत्न करें।

इसके बाद नम्बर आता है दर्पणकार विश्वनाथ का। उन्होंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय की सुखपूर्वक प्राप्ति को काव्य-प्रयोजन कहा[4] है तथा काव्य से इन प्रयोजनों

---

१. 'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्। (पृ० ६)

२. 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'।

३. 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'॥

४. 'चतुर्वर्ग-फल-प्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते॥'

की प्राप्ति कैसे होगी इस प्रसङ्ग में बहुत सी युक्तियां भी बतलाई हैं, उन युक्तियों के द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ये प्रयोजन काव्य के निर्माता और अध्येता दोनों के लिये बराबर हैं।

पण्डितराज ने काव्य-प्रयोजन के संबन्ध में केवल एक पङ्क्ति लिखी है, जिसमें यश, परम आनन्द और गुरु, राजा तथा देवता आदि की प्रसन्नता ये काव्य-प्रयोजन बतलाये गये[1] हैं, ये सभी प्रयोजन काव्य-निर्माण के ही हो सकते हैं, काव्याध्ययन के नहीं। यह बात दूसरी है कि इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये लोगों की प्रवृत्ति काव्य-निर्माण की ओर होगी और काव्य के निर्माण के लिये उसका अध्ययन आवश्यक होगा।

वस्तुतः इन प्रयोजनों का उल्लेख लोगों को काव्य के निर्माण और अध्ययन की दिशा में प्रवृत्त कराने के लिये उस प्रकार का एक प्ररोचक उपायमात्र है, जिस तरह का विक्रेताओं का सीपी के चमकीले टुकड़ों के विषय में क्रेताओं के प्रति यह कथन होता है कि 'ये बड़े अच्छे मोती हैं, जरूर खरीद लीजिये'। परमार्थतः काव्य का प्रयोजन रसास्वाद-मूलक आनन्दातिशय ही है। यद्यपि लोग कीर्ति आदि के लिये भी काव्य-निर्माण करते ही हैं तथा जीविका आदि के लिये भी काव्य पढ़ते ही हैं, तथापि वे सब काव्य के अनन्य साधारण प्रयोजन नहीं हो सकते, क्योंकि कीर्ति आदि के लिये अनेक रास्ते हैं और जीविका आदि के लिये भी विविध उपाय किये जा सकते हैं। इन सब गौण प्रयोजनों को लक्ष्य बनाकर काव्य का लिखना-पढ़ना सर्वथा सफल भी नहीं होता। कहने का अभिप्राय है कि रसास्वाद करने-कराने के लिये लिखा गया काव्य ही पूर्ण सफल हो सकता है, एवम् रसास्वाद के लिये किया गया काव्याध्ययन ही वास्तविक अध्ययन कहा जा सकता है।

काव्य

काव्य पदार्थ का विवेचन करने से पूर्व कविशब्दार्थ का विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि व्याकरण के अनुसार काव्य पद का अर्थ होता है 'कवि का कर्म[2]' अतः कविशब्दार्थ का ज्ञान बिना कराये काव्यपदार्थ का ज्ञान नहीं कराया जा सकता।

अच्छा, तो हम पहले यही विचार करें कि कवि किसे कहते हैं? शब्द-स्वारस्य के अनुसार किसी वस्तु के वर्णन करने वाले को कवि कहते हैं क्योंकि काव्यमीमांसा में 'कवृ वर्णे' धातु से कवि पद की सिद्धि मानी गई है[3]। कुछ लोगों का कथन है कि 'कवृ वर्णे' धातु से कवि शब्द सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह पवर्गीयोपध है, अतः 'कुङ् शब्दे' धातु से कविपद की सिद्धि करनी चाहिये। यदि यही व्युत्पत्ति ठीक हो, तथापि अर्थ में कोई अधिक अन्तर नहीं होता क्योंकि तदनुसार भी किसी विषय का कहने वाला ही कवि पद का अर्थ होता है। कोष में कवि पद का अर्थ पण्डित किया गया[4] है। अतः योग तथा रूढि दोनों की समन्वयात्मक दृष्टि

---

१. 'कीर्तिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य''''इत्यादि' (पृ. ८)।

२. 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ्।

३. 'कविशब्दश्च कवृ वर्णे इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणो रूपम्' (काव्यमीमांसा)।

४. 'संख्यावान् पण्डितः कविः' (अमर)

से विचार करने पर यह सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु का वर्णन प्रतिपादन करने वाले विद्वान् को कवि कहा जा सकता है।

कवि पद के इसी मूल अर्थ के अनुसार वेदार्थ के वर्णयिता सर्वज्ञ परमात्मा को कवि कहा गया है[1]। इसके बाद लौकिक भाषा के द्वारा रामचरित के वर्णन करने वाले वाल्मीकि को 'आदि कवि' की पदवी दी गई। तदनन्तर महाभारत तथा पुराणों के रचयिता वेदव्यास कवि कहलाये हैं। इस तरह प्रायः पुराणयुग तक सभी (सुन्दर अथवा असुन्दर) वर्णन करने वाले विद्वानों में कवि पद का प्रयोग होता रहा, अत एव राजनीति विषयों के प्रतिपादक शुक्राचार्य को भी कवि संज्ञा दी गई[2] है।

किन्तु पुराणयुग के बाद वर्णयितामात्र को कवि कहने की प्रथा समाप्त हो गई। अब चमत्कृतिपूर्ण वर्णन करने वाले विद्वान् को ही कवि कहा जाने लगा अर्थात् अब उस विशिष्ट वर्णयिता को कवि पदवी का अधिकारी समझा जाने लगा, जिसके चमत्कारमय वर्णन को सुनकर सहृदय श्रोताओं के मानस में परमानन्द की रुचिर वीचियां उठने लगती थीं। इसीलिये छन्दोबद्ध ग्रन्थ लिखने पर भी स्मृतिकारों (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) को कवि कहलाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका।

यद्यपि आज के विद्वान् कवि की बहुत तरह की परिभाषायें बनाते हैं—जैसे कवि कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में किसी का कथन है कि—'कवि सृष्टि के सौन्दर्य का मर्मज्ञ है। वह एक ऐसा यन्त्र है, जिसके द्वारा सृष्टि का सौन्दर्य देखा जाता है। कवि सौन्दर्य का उपभोग करता है, और जब उन्मत्त हो जाता है, तब उसके प्रलापरूप में उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसाद सहृदय-जनों को मिल जाता है। वह प्रलाप ही काव्य है। तत्त्ववेत्ता और कवि में अन्तर है। तत्त्ववेत्ता मस्तिष्क का निवासी है और कवि हृदय का हृदय मनुष्य मात्र के हैं। पर कुछ तो हृदय के मर्म को समझते ही नहीं, कुछ समझते तो हैं, पर उनकी वाणी में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे उसे प्रकट कर सकें। कवि हृदय की बातें भी समझता है और उसे कह भी सकता है। साधारणजन और कवि में यही अन्तर है इत्यादि।' परन्तु कवि पद की इसतरह की सभी व्याख्याओं का आधार वही पूर्वोक्त कवि पद का स्वारसिक अर्थ है यह समझना कुछ कठिन नहीं है।

अस्तु, यह तो हुई कवि की बात, अब देखना यह है कि कवि का कर्म क्या है? कवि क्या करता है किसको काव्यपद व्यक्त करता है? इसका उत्तर साधारणतया स्पष्ट है कि किसी विषय का चमत्कृतिपूर्ण-श्रोताओं को मुग्ध कर देने वाला-वर्णन ही कवि का कर्म है। वर्णन यद्यपि अर्थ का होता है, परन्तु वह शब्द के रूप में ही होता है, अतः यह कहना होगा कि वह शब्द ही कवि का कर्म है।

यद्यपि कवि शब्दों को नहीं गढ़ता, अपितु उनका ललित गुम्फनमात्र को रचता है, तथापि ललित गुम्फन से युक्त वह पदावली कवि का कार्य कहलाती है, जैसे घटनिर्माणकर्ता कुम्भकार का कार्य घट कहलाता है। इसतरह यह सिद्ध हुआ कि जिस किसी विषय का चमत्कारी, श्रोतृजनहृदयहारी, वर्णन जिन शब्दों के द्वारा किया जाता है, वे शब्द ही काव्य हैं।

---

१. 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' (शुक्लयजुःसंहिता अ. ४० म. ८)

२. 'उशना भार्गवः कविः' (अमर)

यह तो हुआ काव्य का सामान्य रेखाचित्र। अब विवेचनीय यह है कि किस किसने अपनी प्रतिभारूप तूलिका से रङ्ग भरकर उस रेखाचित्र का कैसा कैसा रूप तैयार किया है। अभिप्राय यह है कि काव्य के उक्त साधारण लक्षण में परिवर्तन-परिवर्धन करके भिन्न भिन्न आचार्यों के द्वारा आज तक कितने प्रकार के काव्यलक्षण तैयार हुये हैं, यही इस प्रकरण का विवेच्य विषय है।

अबतक प्रायः निम्नलिखित आचार्य प्रधान काव्यलक्षणकार हुये हैं। (१) अग्निपुराणकार, (२) दण्डी, (३) रुद्रट, (४) वामन, (५) आनन्दवर्धन, (६) भोज, (७) मम्मट, (८) वाग्भट, (९) पीयूषवर्ष, (१०) विश्वनाथ, (११) गोविन्दठाकुर और (१२) पण्डितराज जगन्नाथ।

अब यहां क्रमशः इन्हीं आचार्यों के काव्यलक्षणों की चर्चा संक्षेप में की जायगी।

(१) 'अभिष्ट अर्थ को संक्षेप में प्रकट कर देने वाली व्यवच्छिन्न पदावली काव्य[1] है' यह लक्षण अग्निपुराण में किया गया है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि वक्तव्य विषय को सुन्दर ढङ्ग से प्रतिपादित करने वाला नपा-तुला पदसमूहात्मक वाक्य काव्य कहलाता है। संक्षेप पद का लक्षण में समावेश करने से लक्षणकार का अभिप्राय यह है कि व्यर्थ पदों का आडम्बर काव्य में नहीं होना चाहिये। अग्निपुराण का निर्माणकाल यद्यपि निश्चित नहीं है, तथापि इतना निश्चित है कि उपलब्ध काव्यलक्षणों में सब से प्रथम लक्षण यही है।

(२) आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' नामक निबन्ध में जो काव्यलक्षण किया है, उसे अग्निपुराण के लक्षण से भिन्न नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न (नपी-तुली) पदावली काव्य का शरीर[2] है' यह जो उनका लक्षण है, उसमें अग्निपुराणलक्षणगत 'संक्षेपात्' और 'वाक्यम्' इन दो पदों को केवल हटा दिया गया है, जो वस्तुतः व्यर्थ ही थे। कारण यह कि 'व्यवच्छिन्न' तथा 'पदावली' इन दोनों पदों से ही उक्त दोनों पदों के अर्थ निकल जाते हैं। दण्डी का काल अनुमान के आधार पर छठी शताब्दी माना जाता है।

(३) इसके बाद आचार्य रुद्रट ने काव्यलक्षण में एक महान् परिवर्तन उपस्थित किया। अब तक जो केवल शब्द को काव्य कहा जाता रहा, वह उनकी गवेषणात्मक स्वतन्त्रबुद्धि में ठीक नहीं जचा, अतः उन्होंने उसमें अर्थ को भी जोड़ दिया अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य कहने लगे[3]। तात्पर्य यह कि उनके विचार से सम्मिलित शब्दार्थ युगल ही काव्य सिद्ध हुआ। विचार करने से उनका कथन बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, क्योंकि काव्य पद का मूलभूत अर्थ जो 'कविकी कृति' है, उसके अनुसार अर्थ को भी काव्य मानने में किसी तरह की आपत्ति नहीं होती, कारण यह है कि शब्द की तरह उसका अर्थ भी वस्तुतः कवि की ही कृति होता है अर्थात् काव्य में वर्णित अर्थ वास्तविक नहीं होते, वरन केवल कल्पना-प्रसूत रहते हैं, इतिहासप्रसिद्ध पदार्थों को भी कवि अपने ढङ्ग से नवीन रूप में ही उपस्थित करता है। भास की वासवदत्ता, कालिदास की शकुन्तला और श्रीहर्ष की दमयन्ती ऐतिहासिक नायिकायें होकर भी वास्तविक से सर्वथा भिन्न हैं। मैं तो यहां तक कहूंगा कि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण और कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) के कृष्ण अर्जुन भी

---

१. 'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम्'........।'

२. 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'।

३. 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्'।

वास्तविक उनसे बहुत कुछ भिन्न ही हैं। प्रकरण (जो एक रूपक का भेद है और जिसके पात्र ऐतिहासिक नहीं होते) के पात्रों में यह बात और अधिक स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित मालती तथा माधव आदि और शूद्रक (?) के 'मृच्छकटिक' में वर्णित वसन्तसेना एवम् चारुदत्त आदि का तो इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः अगत्या उन पात्रों को तो कवि-कृति मानना ही पड़ेगा, फिर उसी दृष्टान्त से इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों के विषय में भी यह समझना अनुचित नहीं हो सकता, कि वे कवि के ही गढ़े हुये होते हैं। 'काव्यात्मक अनन्त संसार में कवि ही स्रष्टा होता है, उसके पसन्द के मुताबिक ही जगत् को बन जाना पड़ता है[1]' यह लिखकर आलङ्कारिकशिरोमणि आनन्दवर्धनाचार्य ने भी काव्यवर्णित पदार्थों को मानस होने की बात की पुष्टि की है। अतः रुद्रट का शब्दार्थयुगल-काव्यतावाद नितान्त तर्कसङ्गत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनका समय अनुमानतः वामन से पूर्व का माना जाता है।

(४) इसके अनन्तर अलङ्कारसूत्रकार वामन ने काव्यलक्षण के विषय में कुछ और नवीन बात कही। उन्होंने कहा कि 'अलङ्कार रहने के कारण काव्य ग्राह्य है[2]' और 'अलङ्कार कहते हैं सौन्दर्य को[3]'। इस तरह उनके कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह हुआ कि सौन्दर्ययुक्त होने के कारण काव्य का ग्रहण करना समुचित है। अब जिज्ञासा यह उठती है कि काव्य में सौन्दर्य का कारण क्या हो सकता है? इसका उत्तर वामन यह देते हैं कि 'दोषों के त्याग और गुण तथा अलङ्कारों के ग्रहण करने से काव्य में वह सौन्दर्य उत्पन्न होता है[4]'। अत एव अन्तमें उन्होंने काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में कहा है कि 'यह काव्य शब्द, गुण तथा अलङ्कारों से सुसंस्कृत शब्दार्थयुगल का वाचक है[5]।'

गुणालङ्कारहीन शब्दार्थयुगल में प्रयुक्त काव्य पद को उन्होंने लाक्षणिक माना है[6]। उनके कथन का आशय यह होता है कि वस्तुतः गुणालङ्कार युक्त शब्दार्थ समूह को ही काव्य कहना चाहिये, परन्तु प्राचीन आचार्यों ने जब केवल शब्दार्थसमूह को ही काव्य कहा, तब से काव्य पद शब्दार्थयुगल में रूढ हो गया, अतः आज भी लोग केवल शब्दार्थयुगल को ही काव्य कहा करते हैं। परमार्थतः तादृश प्रयोग में 'कलिङ्ग साहसी है' के समान रूढिमूला लक्षणा ही समझनी चाहिये, वामन का समय नवम शताब्दी के पूर्वार्ध से पूर्व का माना जाता है।

(५) ध्वनिमार्ग-प्रवर्तक आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्ट शब्दों में काव्यलक्षण नहीं लिखा है। काव्य का लक्षण करना उनका उद्देश्य भी नहीं था, ध्वनि का स्थापन करना जो उनका उद्देश्य था, उसकी पूर्ति उन्होंने खूब ही की है। व्यक्तिविवेक के लेखक महिमभट्ट को छोड़कर प्रायः सभी अनन्तरभावी आलङ्कारिक बहुत अंशों में उनके अनुयायी ही हैं। अस्तु, प्रकृत में मुझे कहना यह है कि काव्य का लक्षण न लिख कर भी आनन्दवर्धन ने 'शब्दार्थ युगल ही काव्य है, केवल शब्द नहीं' इस सिद्धान्त में अपनी सम्मति प्रकट की है, क्योंकि प्रसङ्गवश एक स्थान पर ध्वन्यालोक में वे लिखते हैं कि 'काव्य का शरीर शब्दार्थसमूह है[7]।' इनका समय नवम शताब्दी का उत्तरार्ध समझा जाता है।

---

१. 'अपारे काव्य-संसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचेते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥'

२. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'। ३. 'सौन्दर्यमलङ्कारः'। ४. 'स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्'।

५. 'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते'।

६. 'भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनो गृह्यते'। ७. 'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'।

(६) इसके बाद संस्कृत के परम अनुरागी, संस्कृतज्ञों के कल्पतरु, अथच अनेक कमनीय निबन्धों के निर्माता धाराधिपति भोज का समय आता है। यद्यपि उन्होंने काव्यलक्षण पर खासकर अपनी लेखनी नहीं चलाई, तथापि काव्य-प्रशंसा के प्रसङ्ग पर अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'सरस्वती कण्ठाभरण' में एक पद्य लिखकर काव्यलक्षण के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उस पद्य का भाव यह है कि 'दोषरहित, गुणरहित, अलंकारों से अलंकृत और सरस काव्य को बनाने वाला कवि कीर्ति के साथ सुख को भी पाता है[1]।' इस उक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे भी शब्दार्थ युगल को काव्य मानते हैं, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने पर 'सरस' विशेषण सर्वथा संगत नहीं हो सकता, कारण ? रसका केवल शब्दसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। और 'अलङ्कारों से' इस बहुवचन से शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों ही उनके विवक्षित ज्ञात होते हैं, यदि शब्दमात्र में उन्हें काव्यत्व अभिमत होता तो अर्थालंकार का समावेश क्यों करते ? अर्थालंकार शब्द को अलंकृत नहीं कर सकता। इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।

(७) अब अलङ्कार ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रचलित काव्यप्रकाश के लेखक वाग्देवता के अपर अवतार महामान्य मम्मट का उदय हुआ। इन्होंने काव्यलक्षण में वामन का अनुवर्तन किया, परन्तु गुण तथा अलङ्कारों का समान स्थान काव्य में इन्हें समुचित प्रतीत नहीं हुआ अर्थात् काव्य में गुण का रहना इनके विचार से नान्तरीयक समझा गया और अलङ्कार का होना आनुषङ्गिक। स्पष्ट आशय यह हुआ कि अलङ्कार के रहने पर काव्य की श्रेष्ठता इन्हें भी स्वीकृत है, किन्तु उसके स्पष्ट न रहने पर भी काव्यत्व इन्हें इष्ट है, अतः इन्होंने 'दोषरहित और गुण सहित शब्दार्थ को काव्य कहा और अलङ्कार के विषय में कहा कि अधिकतर स्थानों में अलङ्कार का रहना आवश्यक है, पर कहीं यदि स्पष्ट अलङ्कार न भी रहे तो कोई हानि नहीं[2]।'

एक बात और यद्यपि मम्मट ने काव्यलक्षण में रस की चर्चा नहीं की, तथापि उनके विचार से काव्य में रस का सर्वोच्च स्थान है, यह बात काव्यप्रकाश के अन्य अंशों से विदित होती है, क्योंकि जिन गुणों का रहना काव्य में उन्होंने आवश्यकतम बतलाया है, उनको वे स्पष्ट शब्दों में रसका धर्म मानते हैं[3]। इनका आविर्भाव काल बारहवीं शताब्दी निश्चित है।

(८) मम्मट के बाद उसी शताब्दी में एक वाग्भट नाम के आचार्य हुये, जिनका वाग्भटालंकार नामक ग्रन्थ है। उनके युग तक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि की स्थापना कर दी थी, ध्वनियों में भी रस आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों की प्रधानता निश्चित हो चुकी थी, अतः इन्होंने वामन तथा मम्मट दोनों के मतों को जोड़ कर एक नवीन काव्यलक्षण का निर्माण कर दिया, जिसका स्वरूप यह है कि 'गुण, अलंकार, रीति और रस से युक्त तथा दोषरहित अच्छे शब्दार्थों का समूह काव्य है[4]।'

(९) इसके अनन्तर चन्द्रालोक नामक निबन्ध के निर्माता 'पीयूषवर्ष' उपाधि से भूषित जयदेव का अवसर आया। इनसे पूर्व भावी आचार्यों के द्वारा जितने काव्यतत्त्व निरूपित हुये थे,

---

१. 'निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिञ्च विन्दति ॥'

२. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।'

३. 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः ॥'

४. 'गुणालंकाररीतिरसोपेतः साधुशब्दार्थसन्दर्भः काव्यम्।'

उन सभी तत्त्वों को इन्होंने काव्यलक्षण में समाविष्ट कर दिया और 'दोषहीन गुण, अलङ्कार, लक्षण, रीति, रस तथा वृत्ति इन समस्त उपादानों से परिपूर्ण वाणी को काव्यसिद्ध किया[1]।'

परन्तु इनके लक्षण में बहुत पदार्थों का समावेश हो जाने के कारण अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों की शंका अधिक हो सकती है और यह लक्षण अनुगत भी नहीं हो सकता, अतः इसको लक्षण न मानकर काव्यतत्वों का संग्राहक वाक्यमात्र माने तो अधिक उपयुक्त होगा। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही है।

(१०) इसके अनन्तर काव्य-जगत् में कुछ नवीन सन्देश लेकर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ अवतीर्ण हुये। इन्होंने अग्निपुराणकार से लेकर पीयूषवर्ष तक के आचार्यों ने जो उत्तरोत्तर लम्बा काव्यलक्षण तैयार किया था उसको काट छाँट कर संक्षिप्त कर दिया और काव्य में केवल रस-भाव आदि असंलक्ष्यक्रम कहे जानेवाले व्यङ्ग्यार्थों का रहना आवश्यक समझा। अलङ्कार इनके विचारानुसार केवल उत्कर्ष के कारण हैं—स्वरूपाधायक नहीं। इसी तरह दोष केवल अपकर्ष के हेतु हैं—स्वरूपविघटक नहीं। यह विचार उनका ठीक भी है। अलंकारहीन होने पर भी मनुष्य में मनुष्यता की हानि नहीं होती और काणत्वादि दोषों के रहने पर भी मनुष्य मनुष्यत्व को नहीं खोता। अतः इन्होंने 'रसात्मक वाक्य[2]' को काव्य कहा और 'रस' पद से आस्वादयोग्य रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशबलता इन सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों का संग्रह किया। यद्यपि विश्वनाथ का यह लक्षण सर्वथा अभिनव नहीं है। इनसे बहुत पहले शौद्धोदनि नामक एक आचार्य ने अपने अलंकारसूत्र में 'रसादिमत्[3] वाक्य' को काव्य कहा था, तथापि आदि पद से अलङ्कार का बोध कराकर अलङ्कार का भी स्थान उन्होंने रसके समकक्ष ही मान लिया था, जिसका स्पष्टीकरण करते हुये केशव मिश्र ने अलंकारशेखर में लिखा है कि रस अथवा अलंकार दोनों में से किसी एक के रहने पर वाक्य काव्य कहलाता है। परन्तु विश्वनाथ को अलङ्कार रस का समकक्ष नहीं जचा, अतः इन्होंने अपने लक्षण में अलङ्कारबोधक आदि पद को स्थान नहीं दिया। विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णीत सा है।

(११) इसके बाद नम्बर आता है गोविन्दठकुर का। यद्यपि ये मूलकार नहीं हैं, तथापि काव्यप्रकाश पर लिखा हुआ इनका 'प्रदीप' बहुत अंशों में मौलिकता रखता है, अत एव आलंकारिक जगत् में इनकी प्रतिष्ठा किसी मूलकार से कम नहीं है।

इन्होंने काव्यप्रकाशीय काव्यलक्षण का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि मम्मट रसहीन और स्पष्ट अलङ्कार से भी रहित शब्द अर्थ को काव्य मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है, क्योंकि रस तथा अलंकार ये दोनों पदार्थ काव्य में चमत्कारजनक हैं, फिर यदि इन दोनों में से एक भी न रहे, तब चमत्कार कहाँ से आवेगा और जहाँ चमत्कार ही नहीं हो, उसे काव्य कहेंगे ही कैसे ? कारण यह कि काव्य में चमत्कार ही सार है। अतः यह मानना उचित होगा कि सरस स्थल में भले ही अलंकार की अपेक्षा नहीं हो, पर नीरस स्थल में अलङ्कार का

---

१. 'निर्दोषं गुणालंकारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यम्'।

२. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

३. 'रसादिमत् वाक्यं काव्यम्'।

रहना आवश्यक है[१]।' फलतः इनके कथन से भी वही बात सिद्ध हुई जो केशव मिश्र ने कही थी। गोविन्द ठक्कुर मैथिल ब्राह्मण थे और इनका समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित है।

(१२) इसके अनन्तर ही रसगङ्गाधर के निर्माता पण्डितराज जगन्नाथ का काल आता है। इन्होंने काव्यलक्षण का जो रूप स्थिर किया है और उसके सम्बन्ध में जो कुछ मार्मिक बातें कही हैं, वे सब प्रकृत पुस्तक में देखी जा सकती है, अतः उनका उल्लेख यहाँ पिष्टपेषण समझकर नहीं किया जाता है, जिज्ञासुओं को ग्रन्थ में वे बातें देखनी चाहिये।

अब इस प्रकरण के उपसंहार-भाग में मुझे यह कहना है कि—प्रारम्भ में सौन्दर्यपूर्ण अथवा सौन्दर्यरहित सभी वर्णनों को काव्य कहा जाता था। बादमें केवल सौन्दर्यपूर्ण वर्णन को काव्य कहा जाने लगा, पर अबतक काव्य का कोई खास लक्षण नहीं बना था। सर्वप्रथम अग्निपुराण में काव्य का खास लक्षण किया गया, जिसके अनुसार सौन्दर्यमय अर्थों का सुन्दर प्रतिपादन करनेवाले शब्द काव्य समझे जाने लगे। दण्डी तक यह शब्दमात्र काव्यता-वाद चला। इसके अनन्तर रुद्रट के काल में शब्दार्थोभयकाव्यतावाद की घोषणा हुई, जो मम्मट भट्ट तक चलता रहा। पर सौन्दर्य का कारण क्या है इस विषय में इस बीच के आचार्यों में भी मतभेद बना रहा। वामन आदि कतिपय आचार्य सौन्दर्य का कारण समानरूप से गुण तथा अलंकार को मानते रहे। आगे चलकर मम्मट ने अलंकार को गौण बना दिया और गुण तथा गुणव्यञ्जक रचना को प्रमुख माना। काव्य में दोष का न होना वामन से लेकर मम्मट पर्यन्त आचार्यों के मत में समानरूप से आवश्यक समझा जाता रहा।

विश्वनाथ के समय में आकर पुनः काव्यलक्षण का रुख बदला। अब फिर शब्दमात्र को काव्य माना जाने लगा, अर्थ को काव्यलक्षण से वहिष्कृत कर दिया गया। इस युग में आकर गुणालङ्कारों का स्थान भी नगण्य सा होगया अर्थात् ऐसा समझा जाने लगा कि गुण अलङ्कार काव्य में रहें, तो अच्छी बात है, पर वे यदि न भी रहें, तब भी शब्दविशेष को काव्य कहलाने में बाधा नहीं हो सकती। इस समय में दोषों पर भी कुछ दया दिखलाई गई। तात्पर्य यह है कि उसके रहने पर भी शब्दविशेष को काव्य कहने में लोगों को आपत्ति नहीं रही। प्राचीन मान्यताओं में इन सब शिथिलताओं के आगमन का प्रधान हेतु यह हुआ कि विश्वनाथ तथा उनके समकालीन अन्य विद्वज्जन काव्य में सौन्दर्य का कारण एकमात्र रस को मानने लगे। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि रस पद से यहाँ सकल असंलक्ष्यक्रमों का संग्रह अभीष्ट है।

यद्यपि वस्तु, अलंकार और रसादिरूप त्रिविध ध्वनियों का अन्वेषण तथा प्राधान्य विश्वनाथ से बहुत पूर्व ही आनन्दवर्धन के द्वारा स्थापित हो चुका था, परन्तु काव्यलक्षण में ध्वन्यर्थ का प्रवेश विश्वनाथ से पहले किसी ने नहीं कराया था। ध्वन्यर्थों में भी केवल रस को काव्य की

---

१. 'नन्वनलंकारेऽतिव्याप्तिः, सालंकारत्वविशेषणानुपादानादिति न वाच्यम्, यतः 'कापि'—इत्यनेनैतदुक्तम्—यत्सर्वत्रसालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्, क्वचित् स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः, नञोऽल्पार्थकत्वात्, अल्पत्वस्य चात्रास्फुटत्वे एव विश्रामात्। नीरसेऽप्यस्फुटालङ्कारे काव्यत्वमिष्टमेवेति ऋजुः पन्थाः। वयं तु पश्यामः—नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानं न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। नीरसे तु यदि न स्फुटोऽलङ्कारः स्यात् तत्किंकृतश्चमत्कारः स्यात्। चमत्कारसारञ्च काव्यम् इत्यवश्यं स्फुटालङ्कारापेक्षा।'

आत्मा मानकर वस्तु तथा अलंकाररूप ध्वनि को विश्वनाथ ने गौण बना दिया। पण्डितराज ने केवल रस को काव्यसौन्दर्य का साधन न मानकर सभी अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य) को सौन्दर्य का स्वरूप योग्य कारण माना है, अन्य अंशों में पण्डितराज विश्वनाथ का ही समर्थन करते हैं।

काव्य-कारण

इस प्रकरण में मुझे भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों के आधार पर यह विचार करना है कि काव्य का कारण क्या है?

अच्छा तो पहले यह समझिये कि काव्य-कारण के विषय में प्रधानतया विद्वानों के दो मत हैं। रुद्रट, वामन और पण्डितराज आदि केवल प्रतिभा को काव्य का कारण मानते हैं और दण्डी, वाग्भट और पीयूषवर्ष आदि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण बतलाते हैं। काव्यमीमांसाकार राजशेखर इस विषय में इन सबों से कुछ भिन्न ही मत रखते हैं।

अब मैं उनके विचारों को संक्षेप में यहां उपस्थित करता हूँ, जिससे पाठक उन सब विचारों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से पढ़कर अपना मत निश्चित कर सकें।

दण्डी का कथन है कि 'स्वाभाविक प्रतिभा, प्रचुर और दोषहीन शास्त्र-श्रवण अर्थात् व्युत्पत्ति, एवम् परिपूर्ण अभ्यास-अर्थात् पुनः पुनः काव्य बनाते रहना ये सब काव्यसम्पत्ति अर्थात् काव्य की उत्कृष्टता के कारण हैं[1]।

इसके आगे उन्होंने एक बात और कही है, वह यह है कि 'पूर्वजन्म की वासना के गुणों से संबद्ध अद्भुत प्रतिभा यदि न भी हो, तथापि शास्त्रश्रवण-अर्थात् व्युत्पत्ति और यत्न-अर्थात् अभ्यास के द्वारा सेवित वाग्देवी सेवकों पर कुछ अनुग्रह अवश्य ही करती है[2]।'

इन उक्तियों से दण्डी का अभिप्राय ऐसा जान पड़ता है कि उत्कृष्ट काव्य के प्रति प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास ये तीनों कारण हैं पर साधारण काव्य प्रतिभा के अभाव में भी केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से बन सकता है।

रुद्रट केवल शक्ति (प्रतिभा) को ही कारण मानते हैं और शक्ति का विवेचन इसप्रकार करते हैं—

'जिसकी प्राप्ति होने पर, समाधिस्थ (सर्वथा एकाग्र) मन में अनेक प्रकार के अर्थ स्फुरित होते हैं और कोमल कान्त पदावली दृष्टिगोचर होने लगती है, उसको 'शक्ति' कहते हैं।[3]

इसके आगे पुनः वे लिखते हैं कि 'उस शक्ति के दो भेद हैं—एक सहज अर्थात् स्वभावसिद्ध, जो ईश्वर-प्रदत्त अथवा अदृष्ट-जन्य होती है और दूसरी उत्पाद्य-अर्थात् उत्पन्न की जानेवाली, जो

---

१. 'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य-सम्पदः॥'

२. 'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धिप्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥'

३. 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥'

उत्कृष्ट व्युत्पत्ति से उत्पादित होती है[1]।' इस कथन से यह आशय निकलता है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है, एक अदृष्टजन्य और दूसरी व्युत्पत्ति-जन्य।

इसके बाद वामन ने भी केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना है। उनका कथन है कि 'कवित्व का बीज प्रतिभान[2] है।'

इससे आगे चलकर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पुनः दण्डी के कारणत्रयवाद को अपनाया। वे काव्यप्रकाश में लिखते हैं कि 'शक्ति (प्रतिभा) और लोकव्यवहार, शास्त्राध्ययन तथा काव्य परिशीलन आदि से उत्पन्न निपुणता (व्युत्पत्ति) एवम् काव्यज्ञ अर्थात् काव्य के निर्माता तथा समालोचयिता से शिक्षा प्राप्त कर तदनुसार अभ्यास ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के कारण[3] हैं।' मम्मट की इस उक्ति में दण्डी की उक्त उक्ति से नवीनता केवल इतनी है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास की व्याख्या सुचारुरूप से कर दी गई है।

वाग्भट इस प्रसङ्ग में लिखते हैं कि—'प्रतिभा काव्य का कारण है, व्युत्पत्ति भूषण है और अभ्यास काव्यरचना में प्रगति लाता है[4]।' इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होता है कि काव्य को उत्पन्न केवल प्रतिभा करती है व्युत्पत्ति उसमें सौन्दर्य लाती है और अभ्यास से शीघ्र काव्य तैयार होता है। फलतः घुमा फिरा कर तीनों को वाग्भट कारण मानते हैं।

पीयूषवर्ष भी वाग्भट की बात को ही दृष्टान्त के साथ दुहराते हैं। उनका कथन है कि—'व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से युक्त प्रतिभा उसी तरह काव्य के प्रति हेतु है, जिसतरह मृत्तिका और जल के सहयोग से बीज लता के प्रति[5]।' इसका भी अभिप्राय वही होता है कि जैसे लता का बीज उत्पादक, मृत्तिका पोषक और जल सम्वर्धक कारण है, वैसे ही कविता का प्रतिभा उत्पादक, व्युत्पत्ति पोषक और अभ्यास सम्बर्धक कारण है।

अब पण्डितराज इस प्रसङ्ग पर कहते हैं कि—काव्य का कारण केवल प्रतिभा है और प्रतिभा के स्थलभेद से दो कारण हैं, कहीं देवता अथवा महापुरुष आदि की प्रसन्नता से उत्पन्न अदृष्ट और कहीं विलक्षण व्युत्पत्ति-अभ्यास[6]।

अब यह भी एक विचारणीय वस्तु है कि प्रतिभा क्या चीज है? इसके रूप के विषय में भी उक्त आचार्यों का परस्पर बड़ा मत-भेद है। दण्डी के हिसाब से 'प्रतिभा' का अर्थ एक प्रकार की बुद्धि है। यद्यपि शब्दतः उन्होंने प्रतिभा की व्याख्या नहीं की है, तथापि प्रतिभा में जिन दो विशेषणों को उन्होंने जोड़ा है, उनसे उनका उक्त अभिप्राय स्पष्ट होता है। उन्होंने एक जगह प्रतिभा का विशेषण 'नैसर्गिकी' कहा है और दूसरी जगह 'पूर्ववासनागुणानुबन्धि'। ये दोनों

---

१. 'सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति, उत्पाद्या तु कथञ्चित् व्युत्पत्त्या जन्यते परया।'

२. कवित्वस्य बीजं प्रतिभानम्' यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते, निष्पन्नं वा हास्यायतनं स्यात्॥

३. 'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥'

४. 'प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादिकविसंकथा॥'

५. 'प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति। हेतुर्मृदम्बुसम्बद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव॥'

६. 'तस्य (काव्यस्य) च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवतामहापुरुषादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणाभ्यासौ।'

ही विशेषण-यदि प्रतिभा का अर्थ अदृष्ट अथवा संस्कार-विशेष किया जाय—तब संगत नहीं होते, क्योंकि अदृष्ट पुरुष-प्रयत्न से उत्पन्न किया जाता है, फिर वह नैसर्गिक—स्वाभाविक कैसे हो सकता है? संस्कार भी अनुभवजन्य होने से पुरुष-प्रयास-साध्य ही है, स्वभाविक नहीं, और वह वासना रूप ही है, वासना गुणानुबन्धी नहीं, अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रतिभा का अर्थ उन्हें बुद्धि ही अभीष्ट है।

रुद्रट की भी प्रतिभापरपर्यायाशक्ति बुद्धि ही हो सकती है, अदृष्ट अथवा संस्कार नहीं, कि द्वितीय भेद उत्पाद्यशक्ति को उन्होंने व्युत्पत्तिजन्य माना है और व्युत्पत्ति से अदृष्ट अथवा कार की उत्पत्ति विद्वज्जन-सिद्धान्त-सम्मत नहीं। हां, बुद्धि-ज्ञान-की व्युत्पत्ति से उत्पत्ति भवसिद्ध और सिद्धान्तानुकूल भी है।

वामन ने प्रतिभा की व्याख्या शब्दतः की है और प्रतिभा का अर्थ संस्कार माना है[1]।

मम्मट ने भी वामन की व्याख्या को ही उन्हीं शब्दों में दुहराया[2] है, अतः उनके मत से भी भा का अर्थ संस्कार ही सिद्ध होता है।

वाग्भट और पीयूषवर्ष ने न तो प्रतिभा की शब्दतः कुछ व्याख्या की है और न कोई ऐसा षण उसमें जोड़ा है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि वे प्रतिभा का क्या अर्थ मानते थे।

पण्डितराज प्रतिभा की व्याख्या में लिखते हैं कि 'जिनसे काव्य बनसके, ऐसे शब्दार्थों की स्थिति प्रतिभा है[3]।' इस व्याख्या से सिद्ध होता है कि पण्डितराज के विचार से भी प्रतिभा प्रकार की बुद्धि का ही नाम है।

प्रतिभा की यह व्याख्या उस आप्तजनोक्ति से भी समर्थित होती है, जिसमें 'उस बुद्धि-विशेष प्रतिभा कहा गया है, जिसके द्वारा नई-नई सूझ पैदा हो[4]।'

ये तो हुये उन आचार्यों के मत, अब यदि मैं इन मतों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालता हूँ, पण्डितराज का ही मत सबसे तथ्य-पूर्ण प्रतीत होता है, क्यों कि काव्य बनाने में कवि को र पदों तथा अर्थों की योजना ही तो करनी पड़ती है और यह काम बुद्धि-विशेष से ही हो ता है। स्रक्चन्दनादिके समान अदृष्ट से वह सिद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता और न गुणस्वरूप ार से ही बन सकता है। हां, यह बात मानने योग्य अवश्य है कि हमारी नवनवोन्मेषशा- ी बुद्धि के प्रति अदृष्ट और संस्कार कारण हो सकते हैं।

काव्यकारण के विषय में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में बहुत सुन्दर और विशद विचार ा है, जो मैं पहले भी कह चुका हूँ, अब मैं यहां पाठकों के ज्ञानवैशद्य के लिये संक्षेप में े विचारों को उपस्थित कर देना अच्छा समझता हूँ।

---

१. 'कवित्वस्य बीजं प्रतिभानम्' की व्याख्या में वामन लिखते हैं कि 'कवित्वस्य बीजं संस्कार- ाषः कश्चित्'

२. 'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कार-विशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनी- यम् स्यात्।'

३. 'सा (प्रतिभा) च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः।'

४. बुद्धिर्नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

काव्यमीमांसा के विचार इस प्रकार हैं:—

'काव्यकर्म में कवि की 'समाधि' सर्वोत्कृष्ट व्यापार करती है, यह श्यामदेव का मत है। समाधि मन की एकाग्रता को कहते हैं। समाधिस्थ चित्त अर्थों को देखता है। 'अभ्यास' काव्य-कर्म में सब से बड़ा सहायक है, यह मङ्गल का मत है। लगातार काव्य-निर्माण-प्रयास को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास सब में सर्वविषयक हो सकता है और वह सब विषयों में मनुष्य को अतिकुशल बना देता है।

यायावर (राजशेखर) का मत है कि समाधि मानस और अभ्यास बाह्य प्रयास है, ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और उन दोनों से प्रकट की गई शक्ति ही काव्य का कारण है। यह शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति से बहुत दूर की वस्तु है। शक्ति प्रतिभा और व्युत्पत्ति को उत्पन्न करती है। शक्तिशाली को ही कुछ भासित होता है और शक्तिशाली ही व्युत्पन्न होता है। शब्द-समूह, अर्थ-समूह, अलङ्कारतन्त्र और उक्ति-शैली एवं इसी तरह की अन्य कवित्वापेक्षित विषयों को जो हृदय में झलका दे, उसी को प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभा हीन के लिये सामने की वस्तु भी परोक्ष के समान ही रहती है और प्रतिभाशालियों के लिये आंखों से दूर की वस्तु भी प्रत्यक्ष के समान हो जाती है।

यह प्रतिभा दो प्रकार की होती है—एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री। इन दोनों में प्रथम पुनः तीन प्रकार की होती है—सहजा, आहार्या और औपदेशिकी। ये तीनों कवि के उपकारक होने से कारयित्री कहलाती हैं। भावुक-सहृदयों का उपकार करने वाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। वही कवि के श्रम तथा अभिप्राय का ज्ञान कराती है। कवि-व्यापार-वृक्ष उसी के चलते सफल होता है, अन्यथा वह निष्फल हो जायगा[१]।

कितने सुन्दर हैं काव्यमीमांसा के ये विचार ? पाठकों को पूर्वोद्धृत मतों की अपेक्षा इन विचारों में अवश्य नूतनता प्रतीत होगी। इस प्रसङ्ग के और भी बहुतेरे नवीन विचार उस ग्रन्थ में किये गये हैं, जिनको मैं यहां विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सका हूँ। जिज्ञासुओं को उक्त ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये।

रस

रस पर कुछ कहने से पूर्व दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक

---

१. 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहितं चित्तमर्थान्तरं पश्यति। 'अभ्यास' इति मङ्गलः। अविच्छेदेन शीलनमभ्यासः। स हि सर्वगामी सर्वत्र निरतिशयं कौशलमाधत्ते। समाधिरान्तरः प्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः। तावुभावपि शक्तिमुद्भासयतः। 'सा केवलं काव्ये हेतुः' इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च (दूरवर्तिनी) सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभा व्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते। या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थःपरोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। सा द्विधा कारयित्री-भावयित्री च। कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च। भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री। सा हि कवेः श्रममभिप्रायञ्च भावयति। तया खलु फलितः कवेर्व्यापारतरुः अन्यथा सोऽवकेशी स्यात्।' (काव्यमीमांसा)

है, क्योंकि दृश्यकाव्य के माध्यम से ही मुझे रस का विवेचन करना है और ऐसा इसलिये करना है कि दृश्यकाव्य के द्वारा ही रस का अनुभव स्पष्टरूप से किया अथवा कराया जा सकता है।

हार्दिक आनन्दातिरेक के सूचक बच्चों के खेल-कूद ही दृश्यकाव्य की उत्पत्ति के मूल हैं। बच्चे जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति करते हैं अथवा जब उनके किसी अनिष्ट का जिस किसी तरह निवारण होता है, तब उनके हृदय में आनन्द की बाढ़ सी आ जाती है, उस आनन्द की बड़ी बाढ़ को वे अपने छोटे हृदय-सरोवर में केन्द्रित नहीं कर पाते। फलतः वह आनन्द हृदय से बाहर आकर उनके अङ्ग-अङ्ग में फूट पड़ता है और वे उछल-कूद मचाने लगते हैं, आनन्द के इस प्रदर्शन में उन आनन्दित बच्चों से सहानुभूति रखने वाले दूसरे बच्चे भी सम्मिलित हो जाते हैं। बच्चों का यह आनन्द-प्रदर्शन (उछल-कूद) बड़े अभिभावकों को भी रुचिकर ही प्रतीत होता है।

जब लोगों ने इस तरह के आनन्द-प्रदर्शन के दर्शन से अपना मनोरञ्जन होते देखा, तब कुछ जागरूक और कल्पना-शील हृदय वालों ने इस मनोरञ्जक साधन का अनुकरण करके मनोरञ्जन करने की परिपाटी चलाई। पीछे उस युग के कवियों ने इस सम्बन्ध में कुछ और अधिक सोचकर यह तय किया कि यदि इन अनुकृत उछल कूदोंके साथ तदनुकूल वाणी भी रहे तो लोगों का और अधिक मनोरञ्जन हो सकता है। इस निष्कर्ष के अनुसार वे अतीत अथवा वर्तमान कल्पित किंवा सत्य घटनाओं को पद्यबद्ध करके उनका अनुकरण करने-कराने लगे जो वस्तुतः मूल अनुकरण से अधिक रोचक सिद्ध हुआ। आज भी उस तरह के अनुकरणात्मक पद्यबद्ध खेल ग्रामों में यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होते हैं।

उन्हीं अनुकरणों का नाम पीछे आकर 'अभिनय' पड़ा। जिस पर पश्चात् अनेक पुस्तकें लिखी गईं, उसके अनेक भेद (आङ्गिक, वाचिक आदि) किये गये। इस तरह हमें मानना पड़ता है कि उन्हीं अभिनयों के विकसित रूप आज के दृश्यकाव्य (नाटक, ड्रामा आदि) हैं।

प्रारम्भ में ऊहापोह वाले शिक्षित जन उन अभिनयों से आनन्दान्वित होकर यह सोचने के लिये अन्तःकरण के द्वारा विवश किये गये कि नाटकीय वस्तुओं में वह कौन सी वस्तु है जिसमें यह आनन्द छिपा रहता है।

उन तर्कशील मानवों की गवेषणा का विषय वह आनन्द ही साहित्यिक परिभाषा में 'रस' कहा जाता है, क्योंकि व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार 'रस' शब्द का अर्थ होता है वह वस्तु-विशेष जिसका आस्वादन किया जा सके[१]।

बहुत कुछ सोचने विचारने के बाद उन तर्कशील मनुष्यों ने पहले यह तय किया कि नट अथवा नटी को अभिनय करते देख कर जिस प्रेमी अथवा प्रेमिका का स्मरण दर्शकों को हो आता है और उन स्मृतिपथारूढ प्रेमी-प्रेमिकाओं के बार-बार अनुसन्धान करने से एक प्रकार का आनन्द अनुभूत होने लगता है, वह प्रेम का आलंबन साहित्यिक परिभाषा में विभाव ही 'रस' है। तदनुसार कुछ दिनों तक यह स्थूल सिद्धान्त प्रचलित रहा कि 'आस्वाद्यमान विभाव ही रस है[२]'।

कुछ दिनों के बाद लोगों की विचार-धारा में परिवर्तन हुआ, उक्त सिद्धान्त असंगत प्रतीत

---

१. 'रस्यते=आस्वाद्यते इति रसः'। २. 'भाव्यमानो विभाव एव रसः'।

होने लगा, क्योंकि उन परिवर्तित विचार-धारा वाले आलोचकों ने सोचा—यदि आलंबन विभाव ही रस रूप हो, तब उस आलंबन विभाव-स्थानीय नट में रति आदि के अनुकूल चेष्टाओं के नहीं रहने पर भी उसके दर्शन से आनन्द का अनुभव होना चाहिये, परन्तु वह होता नहीं, अतः विभाव रस नहीं है प्रत्युत उसकी वे चेष्टायें अर्थात् अनुभाव ही रस है जो पुनः पुनः भाव्यमान होकर आनन्द देता है। इस विचार के अनुसार यह सिद्धान्त आपाततः स्थिर हुआ कि 'पुनः पुनः अनुसंधीयमान अनुभाव ही रस है[1]।'

इस विचार से कुछ समय के लिये लोगों के मन में तुष्टि मिली, परन्तु आगे चलकर लोगों को उक्त विचार में त्रुटि प्रतीत होने लगी और लोगों की गवेषणात्मिका बुद्धि नवीन सिद्धान्त को प्रकट करने के लिये छटपटा उठी।

उक्त सिद्धान्त में असन्तोष का कारण यह हुआ कि लोगों की दृष्टि आलंबन विभाव की चित्त-वृत्तियों पर पड़ी, उनपर दृष्टि पड़ते ही उन्हें भान होने लगा कि ये चित्तवृत्तियां ही आनन्ददायिनी हैं—विभाव अथवा उनकी चेष्टायें नहीं, क्योंकि नट अथवा नटी नाना प्रकार की प्रेमपात्रीय चेष्टाओं का प्रदर्शन करके भी तब तक दर्शकों को आनन्दानुभूति नहीं करा पाते, जब तक कि वे प्रेमी की हर्ष, आवेग आदि चित्तवृत्तियों का सफल प्रदर्शन नहीं करते। अतः उन विचारकों ने यह स्थिर किया कि 'पुनः पुनः अनुसंधान के द्वारा व्यभिचारी भाव (हर्षादिक चित्त-वृत्तियाँ) ही रस रूप में परिणत हो जाते हैं[2]।'

इस तरह उक्त तीनों सिद्धान्तों का जब क्रमिक विकास हो चुका, तब उन मतों पर आलोचायें होने लगीं और आलोचना करने पर विदित हुआ कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से नियमतः किसी एक को आनन्ददायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि किसी किसी में रमणीय-रूप-माधुरी-मेदुर-नट को देख कर ही आनन्द का अनुभव होता है, तो किसी नाटक में नट के आङ्गिक अभिनयों को देख कर दर्शक मुग्ध हो उठते हैं, एवम् किसी नाटक में नट के द्वारा किया गया मनोभावों का रुचिर चित्रण ही लोगों को चमत्कृत करता है। अतः यह मानना उचित है कि 'इन तीनों भावों में जो जहाँ चमत्कारी हो, वहाँ वही रस है और चमत्कार-हीन होने पर कोई भी रस नहीं है।'[3]

इतने पर भी विद्वानों की गवेषणात्मक बुद्धि विरत नहीं हुई, रस-विषयक गवेषणा का क्रम जारी ही रहा, जिससे यह ज्ञात हुआ कि विभाव और अनुभाव की अपेक्षा चित्तवृत्यात्मक व्यभिचारी-भाव प्रधान हैं और उनसे भी रति, शोक, उत्साह, रोष, भय, विस्मय, जुगुप्सा और निर्वेद ये आठ भाव प्रधान हैं, क्योंकि इन आठों में से एक एक भी ऐसा है, जो भिन्न-भिन्न नाटकों में आदि से अन्त तक प्रतीत होता रहता है। जैसे-शृङ्गार रस प्रधान नाटक में रति और करुण प्रधान नाटक में शोक आदि। अन्य हर्ष, स्मृति आदि ऐसे ज्ञात हुये, जो कभी अनुभूत होते थे, कभी नहीं।

इस अनुभव के आधार पर उन विद्वानों ने भावों का नाम स्थायी रखा जो नाटक भर में प्रतीयमान थे। इसी तरह वे भाव व्यभिचारी कहलाये, जो कभी कभी अनुभूत होते थे।

इस प्रकार जब विद्वानों को स्थयीभावों का ज्ञान हुआ तब उन्हीं के आधार पर उन लोगों

---

१. 'अनुभावस्तथा'। २. 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति'।

३. त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा त्रयोऽपि न'।

ने रस को नौ भागों में विभक्त कर दिया। तदनुसार उसके बाद से आज तक श्रृङ्गार, वीर, करुण, हास्य, भयानक, रौद्र वीभत्स अद्भुत और शान्त ये नव-विध रस सर्वसम्मत हो कर प्रचलित हैं। परन्तु इस विभाग के हो जाने पर फिर विद्वानों के समक्ष 'रस क्या है?' यह प्रश्न विकट रूप में उपस्थित हुआ, क्योंकि इस वर्गीकरण के अनुसार पूर्वोक्त रसस्वरूपबोधक चारों ही मत तथ्यहीन प्रतीत होने लगे।

विद्वानों की वह प्रतीति बिलकुल सत्य थी, कारण यह कि एक ही वस्तु अनेक रस का विभाव हो सकती है, जैसे व्याघ्र, वीर, रौद्र और भयानक तीनों रसों का विभाव हो सकता है। इसी तरह अनुभाव भी अनेक रसों का एक हो सकता है, जैसे अश्रुपात, श्रृङ्गार, करुण और भयानक ये तीनों ही रसों के अनुभाव हैं।

व्यभिचारीभाव भी नियमित नहीं है, चिन्ता आदि व्यभिचारीभाव श्रृङ्गार, वीर, करुण तथा भयानक इन सभी रसों के पोषक होते हैं।

अब सोचिये कि इस स्थिति में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव इन तीनों में से किसी एक को (चाहे वह चमत्कारी हो अथवा अचमत्कारी) रस कैसे माना जा सकता है, क्योंकि जब ये अनेक रसों में समानरूप से देखे जाते हैं, तब इनमें से एक एक से किसी निश्चित रस की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, अतः लोगों ने स्थिर किया कि—'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी-भाव इन तीनों का समूह रस है[1]।' इस सिद्धान्त के अनुसार अब उक्त दोष का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकता, क्योंकि विभावादि त्रिक में से एक-एक भले ही अनेक रस साधारण हो, पर उन तीनों का समूह भिन्न-भिन्न रस का भिन्न-भिन्न निश्चित ही रहेगा, अतः अब नियत रस की अभिव्यक्ति सम्भव है।

इसके बाद ही नाट्यशास्त्रप्रणेता भरतमुनि का आविर्भाव हुआ, उन्होंने अब तक जो रस का स्वरूप अनिश्चय के हिंडोले में इधर-उधर झूल रहा था, उसे निश्चित स्थान पर बैठा कर रस की एक ऐसी सुव्यवस्थित परिभाषा बनाई कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के संयोग, अर्थात् मिश्रण से स्थायीभाव रसरूप में परिणत हो गया है[2]।'

तात्पर्य यह है कि 'जैसे भोजन-विशेषज्ञ नमक, तेल और मसाले आदि नाना विध वस्तुओं से बने हुये व्यञ्जनों के साथ मिलाकर भात खाते हैं और व्यंजनों के मिश्रण से भात में एक विलक्षण आस्वाद का अनुभव करते हैं, वैसे ही विद्वज्जन भावों (विभावादिकों) और अभिनयों से सम्बद्ध स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं[3]।'

इस सिद्धान्त के मूल में वह समालोचना काम करती है, जिसके द्वारा यह विदित होता है कि रति आदि उक्त आठों चित्तवृत्तियों—जो नाटक भर में प्रतीयमान होने के कारण स्थायीभाव कहलाती हैं—को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उन आठों वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और व्यभिचारीभाव यदा-कदा उनके साथ रह कर उन्हें पुष्ट करते हैं। अतः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभाव उनके उपकरणमात्र हैं, प्रधान वे चित्तवृत्यात्मक आठों भाव ही हैं, वे ही अभिनय

---

१. 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः'। २. 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।'

३. 'यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्। आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः॥

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः। आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥

में आनन्ददायक हैं, और उन्हीं आठों भावों का आस्वादन हम सभ्यगण करते हैं, फिर तो उन्हीं को रस मानना युक्तियुक्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों को पृथक्-पृथक् अथवा समुदित रूप में रस मानना युक्तिहीन अत एव अनुचित है।

इसके उपरान्त रस के विषय में भरतमुनि की उक्त परिभाषा को प्रमाणभूत मानकर उसकी व्याख्या आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ये चार आचार्य भरत-सूत्र के प्रधान व्याख्याकार हुये। यद्यपि अभिनवगुप्त के अतिरिक्त प्रथम तीन आचार्यों के व्याख्याग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं होते, तथापि काव्यप्रकाश आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उनके मतों का अनुवाद नामोल्लेखपूर्वक किया गया है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि किसी युग में उन आचार्यों के द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के व्याख्या ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे थे।

उक्त चारों आचार्यों ने रससम्बन्धी भरतसूत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। चारो व्याख्याओं में प्रधानतया दो बातों पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है, एक तो इस पर कि रस का या रसात्मक बोध कैसा है ? अर्थात्—ज्ञान के जो अनेक प्रसिद्ध भेद हैं प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्द आदि उनमें से रस का कौन सा ज्ञान होता है ? और दूसरे इस पर कि जिस रस का हमें अनुभव होता है, वह वस्तुतः किस में रहता है ? अनुकार्य रामादि में अथवा अनुकर्ता नटादि में, किंवा सहृदय सभ्यों में ?

इन दोनों ही प्रश्नों का समाधान उक्त चारों आचार्यों ने अपने-अपने ढङ्ग से अपनी-अपनी व्याख्या में किया है।

(१) प्रथम व्याख्याकार भट्ट लोल्लट ने कहा है कि रस वस्तुतः अनुकार्य रामादि में ही रहता है, परन्तु नट आदि अनुकर्ता में भी राम आदि के आरोप कर लेने के कारण रह सकता है। इनके मत के अनुसार रस का ज्ञान 'सीताविषयक रति से युक्त यह (नट) राम है इत्यादि' रूप से होता है जो प्रत्यक्षात्मक है और 'सुरभिचन्दनम्' के समान सामने में उपस्थित विशेष्यभूत नट' अंश में लौकिक तथा सामने में अनुपस्थित सीतादि के अंश में अलौकिक माना जाता है। इनकी व्याख्या मीमांसादर्शन के अनुसार समझी जाती है।

(२) द्वितीय व्याख्याकर आचार्य शङ्कुक को लोल्लट का मत ठीक नहीं जचा। इन्होंने कहा—संसार में सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान और सादृश्यज्ञान ये चार प्रकार के ज्ञान प्रसिद्ध हैं। 'यह राम ही है', 'यही राम है' और 'यह राम है ही' ये तीनो ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं। इन तीनों ज्ञानों में क्रमशः 'इसके राम न होने का' 'इसके अतिरिक्त अन्य किसी के राम होने का' और 'इसके सर्वथा राम न होने का' निवारण होता है। इन्हीं निवारणों को क्रमशः अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहते हैं।

'यह राम नहीं है' इस तरह के उत्तरकालिक बाधज्ञान से पूर्वकाल में होने वाले 'यह राम है' इस तरह के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। 'यह राम है वा नहीं' इस प्रकार के एकधर्मिकविरुद्ध विशेषणद्वयावगाही ज्ञान को संशय-ज्ञान कहते है। 'यह राम के सदृश है' इस प्रकार के ज्ञान को सादृश्य ज्ञान कहते हैं।

परन्तु अभिनेता नट को देखकर जो उसमें 'यह राम है' इत्यादि ज्ञान हमें होता है, वह उक्त चारो ज्ञानों से भिन्न है, वह उसी तरह का ज्ञान है। जिस तरह का ज्ञान चित्र में घोड़े को देखकर 'यह घोड़ा है' इत्यादि रूप से होता है।

इस तरह के ज्ञान के द्वारा नट को राम आदि समझ लेने पर अभिनय-निपुण नट के कौशल से स्थायीभाव के कारण कार्य और सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक प्रतीत होने लगते हैं, और तब सहृदय सामाजिक, रामादि वृत्ती सीतादि-विषयक रति की अनुमिति नट में कर लेते हैं। उसी अनुमिति का नाम रस है। इस मत के अनुसार वस्तुतः रस अनुकार्य में ही रहता है, परन्तु उसका आस्वादन अनुमिति द्वारा सामाजिकों को होता है अतः 'सामाजिकों में रस है' ऐसा व्यवहार भी किया जाता है। ज्ञान इस मत में अनुमित्यात्मक सिद्ध हुआ। इनका मत न्यायदर्शन से प्रभावित माना जाता है।

(३) भरतसूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक को यह मत भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने कहा—काव्य के तीन व्यापार होते हैं, अभिधा, भावना और भोगकृत्व इनमें से प्रथम व्यापार के द्वारा काव्य के वाच्यार्थ ज्ञात होते हैं। द्वितीय व्यापार से राम, सीता आदि नाटकीय पात्र साधारण कर दिये जाते हैं अर्थात् व्यक्तिविशेषधर्म—रामत्व-सीतात्व आदि से रहित होकर केवल नायक-नायिका आदि के रूप में उपस्थित करा दिये जाते हैं और तृतीय व्यापार के जरिये रस का अनुभव होता है। परमार्थतः आत्मानन्द में विश्राम ही भोग है अतः वही रस है। इस मत के अनुसार रस सामाजिकों में रहता है और उसका ज्ञान आत्मसाक्षात्काररूप है। यह मत सांख्यदर्शनानुयायी कहलाता है।

(४) भरत सूत्र के चतुर्थ व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त का मत रस के विषय में सर्वाधिक मान्य है, अत एव प्रचार भी आज तक इसी मत का सबसे अधिक है। इन्होंने भट्ट नायक के मत में भी दोष दिखला कर कहा कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों से अभिव्यक्त अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा ज्ञात रति आदि स्थायीभाव रस है'। इस मत के अनुसार सामाजिकों की आत्मा में वासनारूप से स्थित अपनी रति आदि चित्तवृत्तियाँ ही रस रूप हो जाती हैं, ज्ञान इस मत के अनुसार शाब्द है, पर शाब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है जैसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्यबोध शाब्द होकर भी साक्षात्कार रूप है।

कुछ नवीन विद्वानों का कथन है कि काव्य-श्रवण अथवा नाटक-दर्शन से विभावादिकों के ज्ञान हो जाने पर सहृदय पुरुष व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा रामादिनिष्ठ सीतादिविषयक रति का ज्ञान करते हैं, तदनन्तर सहृदयतासहकृत पुनः पुनः अनुसन्धान रूप भावनात्मक दोष से सामाजिकों अथवा श्रोताओं की अन्तरात्मा अज्ञानावृत हो जाती है, फिर उस अज्ञानावृत आत्मा में, सीप में चाँदी के समान अनिवर्चनीय रति आदि स्थायीभाव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका सहृदयों को आत्मचैतन्य के साथ अनुभव होता है उन्हीं रति आदि का नाम रस है।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि राम आदि की रत्यादि ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है, न अनिर्वचनीय रति आदि की कल्पना की ही आवश्यकता है। अभिनेता अथवा पाठकों की चेष्टा आदि से सीता आदि की रत्यादि राम आदि में अनुमित होती है और तदनन्तर उक्त भावनात्मक दोष से अपने को राम आदि समझने वाले सहृदयों में एक भ्रम उत्पन्न होता है कि 'मैं सीताविषयक रतिवाला राम हूं'। इसी भ्रम को रस समझना चाहिये।

इस तरह रस के विषय में ११ मतों का उल्लेख पण्डितराज ने अपने रसगङ्गाधर में किया है और प्रथम तीन मतों को छोड़ कर शेष नौ मतों में भरत-सूत्र का संगमन भी किया है। परन्तु

लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों से भिन्न मतों की चर्चा अन्यत्र नहीं दीख पड़ती, अतः मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि पण्डितराज ने स्वयम् उन मतों का आविष्कार अपनी प्रखर-प्रतिभा के द्वारा किया है।

रसों की संख्या के संबन्ध में भी नाना मत-भेद है, अधिक लोग पूर्वोक्त नौ रस मानते हैं। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शान्तरस नहीं मानते विशेषकर नाटक में उसको असम्भव बतलाते हैं[1]।

भवभूति केवल करुण रस को ही मानते हैं और अन्य रसों को उसी के विकार कहते हैं[2]। धाराधराधीश भोज केवल श्रृङ्गार को ही रस कहते हैं और अन्य रसों में रसप्रसिद्धि को ऐतिह्य-मूलक बतलाते हैं[3]। नारायण पण्डित अद्भुत को ही रस मान कर अन्य रसों का प्रत्याख्यान करते हैं[4]।

अग्निपुराण में रस का विचार कुछ भिन्न ही ढङ्ग का उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि 'वेदान्तदर्शन के द्वारा जो व्यापक नित्य परब्रह्म प्रतिपादित हुआ है, उसमें सहज आनन्द विद्यमान है। वह आनन्द किसी किसी समय पर प्रकट होता है, उसी आनन्दाभिव्यक्ति को चैतन्य चमत्कार और रस कहते हैं। उस आनन्दाभिव्यक्ति का प्रथम विकार ही अहङ्कार है। उस अहङ्कार से अभिमान (ममता) उत्पन्न होता है, जिस ममता में समस्त त्रिलोकी आबद्ध है। उसी ममता से रति (प्रेम) उत्पन्न होती है। वही रति व्यभिचारीभावों की समानता से पुष्ट होकर श्रृङ्गार रस कहलाती है। उसी के हास्य आदि अनेक भेद हैं। वही रति सत्वादि गुणों के प्रसार से राग, तीक्ष्णता, गर्व और संकोच इन चार रूपों में परिणत होती है, उनमें राग से श्रृङ्गार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से वीभत्स की उत्पत्ति होती है। अतः स्वभावतः ये चार ही रस हैं। किन्तु अनन्तर श्रृङ्गार से हास, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की सृष्टि हुई तथा रति के अभावरूप निर्वेद से शान्त की सृष्टि हुई[5]।

---

१. 'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्। अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥'

२. 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नान् पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव च तत्समस्तम् ॥'

३. 'श्रृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥'
'वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः सिद्धाकुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोकेगतानुगतिकत्ववशादुपेतामेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥'

४. 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्………'।

५. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्। वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम् ॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया ॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः। ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानात् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते ॥

गुण

इस प्रकरण में मुझे निम्नलिखित विषय-खण्डों पर विचार करना है। (१) गुणों की संख्या, (२) गुणों का काव्य में स्थान और (३) गुणों के लक्षण।

(१) गुण-निरूपण-परक-मतों को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक प्राचीनों का मत, दूसरा नवीनों का मत। नवीन-मत में गुणों की संख्या निश्चित सी हो गई है, परन्तु प्राचीन मत में उनकी संख्या सर्वथा अनिश्चित है।

प्राचीन मत के प्रथम आविष्कारक भरतने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति ये दश गुण मानते हैं[१]।

अग्निपुराणकार ने श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य, उदारता, सती और यौगिकी ये सात शब्दगुण[२], माधुर्य संविधान, कोमलता, उदारता, प्रौढ़ि और सामयिकत्व ये छः अर्थगुण,[३] एवम् प्रसाद, सौभाग्य, यथासंख्य, उदारता, पाक और राग ये छः उभय गुण-अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों के गुण[४] मिलाकर उन्नीस गुण बतलाये हैं।

वामन ने प्राचीन मत के अनुसार गुणों का विशद विवेचन किया है। प्राचीन मतों में सबसे अधिक प्रचार इन्हीं के मत का हुआ, अत एव परवर्त्ती मम्मट आदि आचार्यों ने इन्हीं के मत का खण्डन अपने अपने ग्रन्थों में किया है। इनके हिसाब से गुणों की संख्या बीस है, जिनमें दश शब्द गुण और दश अर्थगुण, यहां जो नाम दश शब्दगुण के हैं, वे ही अर्थ गुणों के भी रखे गये हैं, किन्तु लक्षणों में भेद कर दिए गये है। वे नाम हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता अर्थ-व्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि[५]। प्रकृत पुस्तक में वामन के मत का बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है

भोजराज ने वामन के दशशब्द गुणों के अतिरिक्त उदात्तता, ऊर्जितता, प्रेयान्, सुशब्दता, सूक्ष्मता गम्भीरता, विस्तर, संक्षेप, संमितत्व, भाविक, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि ये चौदह अन्य गुण मानकर इनकी संख्या चौबीस कर दी है[६]।

तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः। स्वस्वस्थायि विशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः॥
सत्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः। रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते॥
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते। शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः। शृङ्गारवीरकरुणरौद्रवीरभयानकाः॥
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः। लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा॥

१. 'श्लेषः प्रसादः समताः समाधिर्माधुर्यमोजःपदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणादशैते॥' (नाट्यशास्त्र)

२. श्लेषो लालित्यगाम्भीर्ये सौकुमार्यमुदारता। सत्येव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा॥

३. माधुर्यं संविधानं च कोमलत्वमुदारता। पौढिः सामायिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति॥

४. तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यमुदारता। पाको राग इति प्राज्ञैः षट् प्रपञ्चाः प्रपञ्चिताः॥

५. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥

६. शोषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता॥

इसके अतिरिक्त दण्डी, वाग्भट और पीयूषवर्ष ने भी गुण पर लेखनी चलाई हैं परन्तु इनके मतों में कोई खास नवीनता नहीं है। दण्डी और वाग्भट तो भरत मत के एक तरह से अनुवादक मात्र हैं। पीयूषवर्ष ने भरत के गुणों में से ही कान्ति को शृङ्गार-रस में और अर्थव्यक्ति को प्रसाद गुण में गतार्थ मानकर उनकी संख्या दश से घटाकर आठ कर दी है।

इस प्रकार इन प्राचीनों में गुणों की संख्या में ही मतभेद नहीं है, अपितु लक्षण में भी परस्पर बहुत अधिक मत-भेद है। फलतः यही कहना पड़ता है कि इन आचार्यों के समय में गुण के संबन्ध में पूर्ण विचार नहीं किया गया, एक ने दूसरे के कथन की निष्पक्ष समालोचना नहीं की, वरन, जिसके मन में जब जो बात आई, उसी को उसने अपने ग्रन्थ में लिख दिया, जिसका कुपरिणाम यह हुआ कि इनके समय तक गुण के विषय में अराजकता की सी स्थिति बनी रही।

गुण के विषय में नवीन मत के आविर्भावक प्रथम आचार्य भामह हुए। इन्होंने प्राचीनों के मतों की अत्यधिक समालोचना करके स्थिर किया कि गुण तीन हैं—ओज, प्रसाद और माधुर्य।

भामह ने त्रिगुणवाद का स्थापन तो किया, परन्तु इस मत का पूर्ण प्रचार हुआ मम्मट के समय में। मम्मट ने प्राचीनों के कतिपय गुणों को दोषाभावरूप, कुछ को ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप तथा कुछ को वैचित्र्य मात्र रूप प्रमाणित कर दिया और शेष को इन्हीं तीनों गुणों में गतार्थ कर दिया। तब से आजतक इसी त्रिगुणवाद का प्रचार है। पण्डितराज ने भी गुणों की संख्या के विषय में मम्मट का अनुगमन ही किया है।

(२) काव्य में गुणों का क्या स्थान है इसके विषय में वामन तथा भोज का कथन है कि—'काव्य युवती के रूप के तुल्य है, क्योंकि जैसे युवती का रूप शील पातिव्रत्य आदि अच्छे गुण और अच्छे-अच्छे अलंकारों के योग से अधिक आकर्षक होता है, वैसे ही काव्य भी माधुर्यादिगुण और अनुप्रास तथा उपमादि अलंकारों के सम्बन्ध से अधिक रुचिकर होता है, एवम् गुणहीन काव्य यौवनविहीन नायिका के शरीर के समान है, उस स्थिति में जन-प्रिय अलंकार भी अप्रीतिकर हो जाते हैं[१]।' इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य में गुण अलंकारों की अपेक्षा अधिक अपेक्षित वस्तु है।

भोज ने इस बात को और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है। वे कहते हैं—'सालंकार होने पर भी गुण-हीन काव्य सुनने योग्य नहीं होता। क्योंकि गुण और अलंकार के योग में गुण का योग प्रधान है[२]।'

ओजस्तथान्यदौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता। तद्वत् समाधिः सौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमथ विस्तरः ॥
संक्षेपः सम्मितत्वं च भाविकत्वं गतिस्तथा। रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिः·········इत्यादि'।

(सरस्वतीकण्ठाभरण)

१ युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनबन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥

२. अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्। गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ॥

काव्यप्रकाशकार आदि ने भी काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों की मुख्यता स्वीकार की है, क्योंकि वे कहते हैं कि गुण साक्षात् रस को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकार शब्द-अर्थ के द्वारा।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि काव्य में गुणों का स्थान अलंकारों से ऊपर और रसादि आत्मस्थानीय व्यङ्ग्यों से नीचा है।

(३) गुण के लक्षण के संबन्ध में भी विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। भरत दोषों का निरूपण करके लिखते हैं कि 'इन दोषों के विपरीत जो कुछ वस्तु हैं वे गुण हैं[1]।

अग्निपुराणकार कहते हैं कि 'काव्य में विपुल शोभा को जन्म देने वाली वस्तु शब्द गुण है[2]।' 'शब्दप्रतिपाद्य जिस किसी वस्तु को उत्कृष्ट बनानेवाली चीज अर्थगुण है[3]।' और 'शब्द तथा अर्थ दोनों का उपकारक जो हो वह शब्दार्थोभय गुण है[4]।'

दण्डी का कथन है कि 'जो वस्तु विशिष्ट रचना का प्राण हो, वह गुण है[5]।' वामन कहते हैं कि 'काव्य-शोभा-कारक धर्मगुण हैं[6]।'

इसके अनन्तर यह शंका उत्पन्न हुई कि जब शब्द और अर्थ को उत्कृष्ट बनाने वाले पदार्थ-विशेष ही गुण और अलंकार भी है, तब इन दोनों में भेद क्या है ?

इसके उत्तर में वामन ने कहा कि 'काव्यशोभा के जन्मदायक धर्मगुण हैं और उस शोभा को अतिशयित करने वाले धर्म अलंकार हैं[7]।'

परन्तु आनन्दवर्धन के द्वारा आविष्कृत ध्वनिवाद के अनुसार रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यों की काव्यात्मता स्थापित हो जाने पर गुण के विषय में लोगों का मत बदला और मम्मट ने कहा कि 'आत्मा के शौर्य आदि के समान काव्य में अङ्गिभूत रस (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) के उत्कर्ष धर्म गुण हैं और ये गुण काव्य में अचलस्थिति-अर्थात् अवश्य रहने वाले हैं[8]।' इस कथन से गुणालंकार में परस्पर भेद भी सिद्ध हो जाता है—अर्थात् रस के धर्म और काव्य में नियमतः रहनेवाले गुण और शब्दार्थ के धर्म तथा अनियमित रूप में रहनेवाले अलंकार हैं। एतन्मूलक ही ध्वनिकारानुयायियों का यह कथन है कि 'शब्द तथा अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा हैं, गुण शूरता आदि के समान हैं, दोष कालत्वादि के तुल्य हैं और अलंकार कटककुण्डलादिकों के सदृश है[9]।

यह तो हुई गुण के सामान्य लक्षण की बात, अब विशेष लक्षण की ओर चलिये। प्राचीनों के गुणों के खण्डन हो जाने के बाद जिस त्रिगुणवाद की स्थापना नवीनों ने की उसके अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद ये जो तीन नाम गुणों के रखे गये, उसके मूल में कोमल-कठोर

---

१. 'गुणाविपर्यादेषाम्'। २. 'यः काव्ये महतीं छायामनुगृह्णाति असौ गुणः।'

३. 'उच्यमानस्य शब्देन यस्य कस्यापि वस्तुनः। उत्कर्षमावहन्नर्थो गुण इत्यभिधीयते॥'

४. 'शब्दार्थावुपकुर्वाणो नाम्नोभयगुणः स्मृतः।'

५. 'एते वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।' (काव्यादर्श)

६. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' (अलंकारसूत्र)

७. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।

८. 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः। उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥'

९. 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्।'

और स्पष्टार्थक यह रचना की त्रिविधता ही है, यह समझ कर कुछ लोग गुणों को रचनावृत्ती ही मानने लगे।

परन्तु आगे चलकर जब यह विभाग किया गया कि शृङ्गार, करुण और शान्तरसों के लिये कोमल, वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के लिये कठोर तथा सभी रसों के लिये स्पष्टार्थक रचना आवश्यक है, तब इन रचनाओं से युक्त रसों के आस्वादन से मन पर पड़ने वाले प्रभाव का भी अन्वेषण किया गया, जिससे यह निश्चय हुआ कि कोमल-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्तद्रुत होता है, कठोर-रचना-युक्त-रसास्वादन से चित्त उद्दीप्त होता है और स्पष्टार्थक-रचना-युक्त-रसास्वाद से चित्त विकसित होता है।

कुछ और अधिक गम्भीर आलोचन करने पर यह भी ज्ञात हुआ कि चित्त पर उक्त प्रकार के प्रभावों को डालने वाली रचनायें नहीं हैं वरन् रस है, क्योंकि विरुद्ध रस में विरुद्ध रचना उस तरह का प्रभाव नहीं डाल पाती। फलतः यह निर्णय हुआ कि कोमल रसों में रहनेवाली आह्लादकता ही माधुर्य, कठोर रसों में रहने वाली उद्दीपकता ही ओज है और शुष्केन्धन में अग्नि के समान शीघ्र चित्त को व्याप्त करने वाली विकासकता ही प्रसाद है।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि गुण वस्तुतः रस-धर्म हैं परन्तु आरोप के द्वारा 'यह रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होते हैं।

पण्डिराज के विचार से द्रुति, दीप्ति और विकास ये चित्तवृत्तियाँ ही क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण हैं, रस उनके प्रयोजक हैं, अतः प्रयोजकता संबन्ध से रस में भी ये गुण रहने वाले हुये अत एव 'रस मधुर है' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। एक बात उन्होंने और कही है, वह यह कि जिस तरह रस गुणों के प्रयोजक होते हैं, उसी तरह शब्द, अर्थ और रचना भी, अतः उनमें भी प्रयोजकता संबन्ध से वे गुण रहते ही हैं, फिर उपचार के द्वारा 'शब्द मधुर है', 'रचना मधुर है' इत्यादि व्यवहार को सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राह्मण थे[१]। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट[२] अथवा पेरमभट्ट[३] था। इनकी जननी लक्ष्मी नाम से प्रसिद्ध थी[३]। इनके पिता पेरुभट्ट अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने ज्ञानेन्द्रभिक्षु नामक किसी संन्यासी से वेदान्तशास्त्र का, महेन्द्र नामक विद्वान् से न्याय तथा वैशेषिक दर्शन का, खण्डदेवोपाध्याय से पूर्व मीमांसा का और शेषवीरेश्वर पण्डित से व्याकरण महाभाष्य का अध्ययन किया[५] था। इतना ही नहीं, इन शास्त्रों से भिन्न वेदादि शास्त्रों में भी वे परम प्रवीण थे[६]।

पण्डितराज ने अपने सर्वविद्याविशारद पिता से ही सब विषयों का अध्ययन किया, परन्तु अपने पिता के गुरु शेषवीरेश्वर से भी प्रायः कुछ पढ़ा था, ऐसा माना जाता है, क्योंकि मनोरमा

---

१. '···तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेन···' (आसफविलास का आरम्भ)

२. 'तं वन्दे पेरुभट्टाख्यम्···' (पृ० ३) ३. प्राणाभरण में।

४. 'लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्···' (पृ० ३) ५. 'श्रीमद्ज्ञानेन्द्रभिक्षोः···' इत्यादि (पृ० ३)

६. रसगंगाधर के 'सर्वविद्याधर' पद से सूचित होता है।

कुचमर्दन' नामक अपने ग्रन्थ में पण्डितराज ने अपने गुरु के रूप में उनका स्मरण किया है[1]।

पण्डितराज स्वयं भी सब शास्त्रों में प्रगाढ पण्डित थे, विशेष कर दर्शन और साहित्यशास्त्र पर इनका अद्भुत अधिकार था। इस बात की पुष्टि रसगङ्गाधर में स्थान-स्थान पर व्यक्त किये गये विचारों से होती है, अतः इसकी पुष्टि के लिये प्रमाणान्तर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पण्डितराज अपने युग के विद्वानों में सर्वाधिक भाग्यशाली समझे जा सकते हैं, क्योंकि ये युवावस्था में ही अपनी विमलविद्या के प्रभाव से तत्कालीन बादशाह शाहजहां के कृपा-पात्र बन गये और उन्हीं से 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त कर उन्हीं के आश्रय में अपनी युवावस्था को सुखपूर्वक विताये[2]। शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन पण्डितराज ने अपने 'जगदाभरण' नामक निबन्ध में किया है, अतः दाराशिकोह की छत्रच्छाया में भी इनके जीवन का कुछ अंश व्यतीत हुआ था ऐसा भी लोगों का अनुमान है।

स्थितिकाल

यह निश्चित है कि पण्डितराज शाहजहाँ के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और शाहजहाँ के विषय में इतिहास बतलाता है कि १६२८ ई० में उसका राज्याभिषेक हुआ और १६५८ ई० में अपने पुत्र औरङ्गजेब के द्वारा वह कैद कर लिया गया, तथा १६६६ ई० में मर गया, अतः यह निश्चित होता है कि पण्डितराज का भी स्थितिकाल वही है। हाँ यह सम्भव है कि शाहजहाँ के मरण के बाद भी पण्डितराज अपनी स्थिति से इस भूतल को कुछ समय तक कृतार्थ करते रहे हों।

किंवदंतियाँ

पण्डितराज के विषय में अनेक तरह की किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं और सभी किंवदंतियाँ कुछ अंशों में भिन्न होने पर भी बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, अतः उन किंवदंतियों में तथ्य अवश्य होगा ऐसा मेरा व्यक्तिगत विश्वास है।

कुछ लोगों का कथन है कि 'पण्डितराज अध्ययन के बाद आरम्भ में जयपुर आये और वहाँ उन्होंने एक पाठशाला स्थापित की और वहीं दिल्ली से आये हुये किसी काजी को, मुसलमानों के मजहबी ग्रन्थों को शीघ्र पढ़कर विवाद में परास्त कर दिया। जब वह काजी जयपुर से लौटकर दिल्ली गया तब बादशाह के आगे उसने पण्डितराज की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह काजी के मुख से पण्डितराज की प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को दिल्ली बुला लिया।

विलासमय दिल्ली दरबार में बादशाह के कृपाभाजन बने हुये पण्डितराज किसी यवन-कन्या पर आसक्त हो गये और बादशाह की अनुकम्पा से उस यवनी प्रेयसी के साथ पाणि-ग्रहण करने में भी समर्थ हुये। इस तरह इन्होंने अपनी युवावस्था बादशाह के आश्रय में ही सुखपूर्वक बिताई। परन्तु वृद्ध होने पर उस यवन प्रेयसी को साथ लेकर वे काशी चले आये। किन्तु काशी में अप्पय दीक्षित आदि विद्वानों ने 'यवनी-संसर्ग-दूषित' कह कर इनका बहुत अपमान किया और जातिच्युत भी कर दिया।

---

१. 'अस्मद्गुरुपण्डितवीरेश्वराणाम्······' (मनोरमाकुचमर्दन)

२. 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' (भामिनीविलास)

काशी में पण्डितराज अपने को पवित्र सिद्ध करने के लिये गङ्गा-तट पर सब से ऊपर की सीढ़ी पर बैठकर तत्काल रचित स्वकीय पद्यों से (जिनका संग्रह गङ्गालहरी नाम से प्रकाशित है) गंगा की स्तुति करने लगे। आपकी स्तुति से गंगा जी प्रसन्न होकर प्रति पद्य पर एक-एक सीढ़ी ऊपर चढ़ती हुई बावनवें पद्य पर आपके निकट पहुँच गई और यवनकन्या सहित आप गंगा जी के पावन जल में समाधिस्थ हो गये।

ईर्ष्यालु काशीवासी पण्डित-मण्डल पण्डितराज के इस चमत्कार को देख कर चकित हो उठे और उसी दिन से सभी पण्डितराज की स्तुति करने लगे।'

कुछ लोग कहते हैं कि—'बादशाह की कृपा से अतुल सम्पत्ति पाकर पण्डितराज धनोन्मत्त हो उठे, यौवनरूप वह्नि में उस सम्पत्ति ने घृताहुति का काम किया, उनकी विवेक-ज्योति लुप्त हो गई और वे अन्ध होकर किसी यवन-तरुणी पर आसक्त हो गये। परन्तु कुछ ही समय के बाद उस यवनी की मृत्यु हो गई। उसके मरण से पण्डितराज के हृदय पर बड़ी चोट लगी, दिल्ली भी उन्हें अप्रिय प्रतीत होने लगी, अतः वे दिल्ली छोड़ कर काशी चले आये, किन्तु काशी में भी उन्हें शान्ति नहीं मिली, प्रेयसी का विरह तो इन्हें सता ही रहा था, साथ ही साथ काशी के पण्डितों ने भी इन्हें सताना आरम्भ कर दिया। यवनी संसर्ग की बात सुन कर काशी के पण्डित बात-बात में इनका अनादर करने लगे। अन्त में पण्डितराज अपने जीवन से ऊब गये और वर्षा की उमड़ती हुई गङ्गा की धारा में स्व-निर्मित गंगालहरी का पाठ करते हुये कूद पड़े-डूब मरे।'

एक किंवदन्ती यह भी है कि—'वृद्धावस्था में एक दिन काशी के गङ्गा-तट पर पण्डितराज अपनी यवन-प्रेयसी को बगल में दबाये सो रहे थे और इनकी शुक्ल शिखा खटिया से नीचे लटक रही थी, मुख वस्त्र से ढका था। इसी समय संयोग से अप्पयदीक्षित उसी घाट पर स्नान करने के लिये आये और एक वृद्ध का ऐसा निकृष्ट आचरण देख कर कह उठे:—

'किं निश्शङ्कं शेषे शेषे वयसि त्वमागते मृत्यौ।'

'इस शेष वय में जब मृत्यु शिर पर लटक रही है—इस तरह निश्शङ्क होकर क्या सो रहे हो?'—अब भी तो विषय-भोग से मुख मोड़ो, कुछ ईश्वर का चिन्तन करो।

इस पद्यांश को सुनकर पण्डितराज ने जब मुख निकाल कर उनकी ओर देखा, तब उन्हें पहचान कर दीक्षित जी झट कह उठे:—

'अथवा सुखं शयीथा निकटे जागर्ति जाह्नवी भवतः॥'

'अथवा आप सुख से सोयें, क्योंकि आपके निकट में गङ्गा जी वर्तमान हैं।'

कुछ लोग इससे भी कुछ भिन्न तरह की किंवदन्ती कहते हैं। उसका सारांश यह है कि 'पाठावस्था में ही जयपुरनरेश मिरजा राजा जयसिंह जी काशी से इन्हें जयपुर ले आये। कारण यह था कि बादशाह के दरबार में मुल्ला लोग उक्त जयपुरनरेश पर आक्षेप करते हुये कहते थे कि 'आप लोग वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं, क्योंकि परशुराम जी ने जब इक्कीश बार इस पृथवी को निःक्षत्रिय बना डाला, तब आपके पूर्वज बचे कैसे? दूसरे यह कि अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है'।

यह आक्षेप जयपुर नरेश को बराबर खटकता था, परन्तु इन आक्षेपों का कोई उपयुक्त उत्तर सूझ नहीं पड़ता था, अतः वे किसी ऐसे प्रतिभाशाली विद्वान् के अन्वेषण में थे, जो उन आक्षेपों का उत्तर दे सके। पण्डितराज में उन्हें वह स्फुरन्मुखी प्रतिभा दीख पड़ी, उनसे उन्होंने उक्त आक्षेपों की बात कही। पण्डितराज ने उन मुल्लों को निरुत्तर करने की प्रतिज्ञा की, इसके बाद पण्डितराज जयपुर लाये गये। जयपुर आकर पण्डितराज ने कहा कि प्रथम आक्षेप का उत्तर तो मैं अभी दे सकता हूँ, परन्तु द्वितीय आक्षेप के उत्तर देने के लिये मुझे अरवी का अध्ययन करना आवश्यक होगा, इस पर जयपुरनरेश ने आगरे में रख कर पण्डितराज को अरबी पढ़ने का अवसर दिया। जब पण्डितराज ने अरबी का अध्ययन कर लिया, तब जयपुरनरेश उन्हें दिल्ली के साही दरबार में ले गये। वहाँ जाकर पण्डितराज ने प्रथम आक्षेप का उत्तर यह दिया कि 'परशुराम ने पृथ्वी को २१ बार निःक्षत्रिय किया' इस लोकोक्ति का यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक भी क्षत्रिय नहीं बचा, क्योंकि यदि वैसा अर्थ माना जाय तब २१ बार वाली बात मिथ्या हो जायगी—अर्थात् प्रथमबार में ही जब सब क्षत्रिय मारे जा चुके, तब फिर क्षत्रिय आये ही कहाँ से जो फिर-फिर उन्होंने पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया ? अतः यह मानना होगा कि अधिकतर क्षत्रियों के मर जाने पर भी कुछ क्षत्रियशिशु बचे रहे फिर यदि २० बार तक कुछ कुछ क्षत्रिय बच रहे, तो २१ वीं बार भी कुछ बच गये होंगे और वे ही इन क्षत्रिय राजाओं के पूर्वज हैं।

दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने यह कहा कि 'मुसलमानों के 'हदीस' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'मुसलमानों को हिन्दुओं से सर्वथा विपरीत आचरण करना चाहिये, वही उनका धर्म है'।

इस वाक्य से सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व हिन्दुओं का कोई धर्म था और धर्म भाषा के विना हो नहीं सकता, अतः यह भी सिद्ध है कि हिन्दुओं की कोई धार्मिक भाषा थी और वह भाषा संस्कृत से अतिरिक्त हो नहीं सकती, अत एव यह निर्णीत हो जाता है कि अरबी से संस्कृत भाषा प्राचीन है।'

इन उत्तरों को सुनकर गुणग्राही बादशाह शाहजहाँ परम प्रसन्न हुआ और पण्डितराज को अपने यहां आदरपूर्वक रख लिया।

इन किंवदंतियों से जो तथ्य निकलते हैं, वे ये हैं—पण्डितराज का बादशाह के दरवार में प्रवेश जयपुर महाराज के द्वारा हुआ। वहां पण्डितराज ने किसी यवनी पर आसक्त हो कर उसको अपनी प्रेयसी बनाया। अन्तिम अवस्था में वे काशी में अप्पयदीक्षित आदि विद्वानों से अपमानित हुये। पण्डितराज किसी यवन सुन्दरी पर आसक्त थे इस बात की पुष्टि उन्ही के बनाये कतिपय पद्यों से भी होती है[1]।

---

१. 'यवनी नवनीतकोमलाङ्गी, शयनीये यदि नीयते कदापि।
अवनीतलमेव साधु मन्ये, नवनी माघवनी विनोदहेतुः॥
न याचे गजालिं न वा वाजि राजं, न वित्तेषु चित्तं मदीयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता, लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु॥
सुरधुनिमुनिकन्ये ! तारयेः पुण्यवन्तम्।

अप्पयदीक्षित और पण्डितराज

कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितराज अप्पयदीक्षित के समकालिन नहीं थे, क्योंकि दीक्षित जी के भ्रातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित अपने नीलकण्ठ-विजय चम्पू' में लिखते हैं कि 'यह नीलकण्ठ विजयकाव्य कलियुग के ४७३८ वर्ष बीतने पर लिखा गया है[१]।

यह समय ईसवी सन् १६३९ के लगभग होता है, जो शाहजहां का राज्य-काल था। अतः यह सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ दीक्षित ही पण्डितराज के समकालीन थे, न कि उनके पितामह-भ्राता अप्पयदीक्षित।

पण्डितराज अप्पयदीक्षित के समकालीन नहीं थे इसमें दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि—'शेष-श्रीकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर पण्डितराज के पिता के गुरु थे और शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे भट्टोजि-दीक्षित, जो अप्पयदीक्षित के समकालीन थे, फिर पण्डितराज अपने पिता के गुरु के पिता के काल में होने वाले दीक्षित के समकालीन कैसे हो सकते हैं? और जब ये दोनों विद्वान् समकालीन थे ही नहीं, तब इन दोनों में परस्पर विरोध की बात भी निराधार ही है इत्यादि।'

परन्तु गम्भीर विचार करने पर इन दोनों का समकालीनत्व असंगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उन दोनों के समकालीन होने में किंवदन्तियों के साथ साथ बहुत कुछ प्रमाण भी प्राप्त होते हैं, जैसे—'सिद्धान्तलेशसंग्रह' के कुंभकोणवाले संस्करण की भूमिका में एक श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'गर्वीले द्राविड़ (अप्पयदीक्षित आदि) के दुराग्रहरूप-भूतावेश से गुरुद्रोही भट्टोजिदीक्षित ने भरी सभा में बिना सोचे-समझे पण्डितराज को म्लेच्छ कह दिया था, जिसको धैर्यनिधि पण्डितराज ने उनकी (भट्टोजिदीक्षित की) मनोरमा का कुच मर्दन करके सत्य कर दिखाया, अर्थात् उनके मनोरमा नामक ग्रन्थ का खण्डन कर दिया और अप्पयदीक्षित आदि (भट्टोजिदीक्षित के समर्थक) देखते ही रह गये।'

दृप्यद्द्राविडदुर्ग्रहग्रहवशान्म्लिष्टं गुरुद्रोहिणा,
यन्म्लेच्छेति वचोऽविचिन्त्य सदसि प्रौढेऽपि भट्टोजिना।
तत्सत्यापितमेव धैर्यनिधिना यत्स व्यमृद्नात् कुचम्,
निर्बध्याऽस्य मनोरमामवशयन्नप्यप्पयाद्यान् स्थितान्।

'स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्वम्।
यदि हि यवनकन्यां पापिनीं मां पुनीहि,
तदिह तव महत्वं तन्महत्वं महत्वम्॥
यवनी रमणी विपदः शमनी, कमनीयतमा नवनीतसमा।
उहि ऊहि वचोऽमृतपूर्णमुखी स सुखी जगतीह यदङ्कगता॥'

२. 'अष्टत्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु।
कलिवर्षेषु गतेषु ग्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम्॥'

इस पद्य से सिद्ध होता है कि भट्टोजिदीक्षित, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज एक काल में ही इस धरा को सुशोभित कर रहे थे।

एक दूसरा भी श्लोक इस प्रसंग पर उद्धृत करने योग्य उपलब्ध है जिसका सारांश है कि—'अप्पयदीक्षित अपने जीवन के ७२ वें वर्ष के पूर्वार्ध में विश्वजित् याग करने के उद्देश्य से पृथ्वी के चारो ओर भ्रमण करते हुये भट्टोजिदीक्षित आदि सकल विद्वानों को विजय किया और उस प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ (जो पहले जातिच्युत किये गये थे) का उद्धार कर दिया। फिर उसी वर्ष के उत्तरार्ध में विश्वजित् याग करके चिदम्बरम् क्षेत्र में सभी सज्जनों के सामने आत्मज्योति को प्राप्त कर गये।'

यष्टुं विश्वजिता यता परिधरं सर्वे बुधा निर्जिता,
भट्टोजिप्रमुखाः, स पण्डितजगन्नाथोऽपि निस्तारितः।
पूर्वेऽर्धे, चरमे, द्विसप्ततितमस्याब्दस्य सद् विश्वजि-
द्याजी यश्च चिदम्बरे स्वमभजज् ज्योतिः सतां पश्यताम् ॥

इस श्लोक के अनुसार भी पण्डितराज, अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित का समकालीनत्व सिद्ध होता है।

बात रही उक्त दोनों विरोधी युक्तियों की, पर उनका समाधान भी कठिन नहीं है, क्योंकि प्रथम युक्ति के द्वारा पण्डितराज अप्पयदीक्षित के भ्रातृ-पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के समकालीन सिद्ध किये गये हैं, यदि यह बात मान भी ली जाय, तथापि पण्डितराज और अप्पयदीक्षित के समकालीनत्व में कोई बाधा नहीं होती अर्थात् यह संभव है कि 'नीलकण्ठ-विजय' के निर्माणकाल तक अप्पयदीक्षित जीवित रहे हों। युवक पौत्र को देखने वाले वृद्ध आज भी सर्वथा दुर्लभ नहीं हैं, उस युग में तो लोग और अधिक दीर्घायु होते थे और नीलकण्ठ दीक्षित तो अप्पयदीक्षित के अपना पौत्र भी नहीं, वरन भ्रातृ-पौत्र थे, फिर तो यह सर्वथा सम्भव है कि ३० वर्ष के भ्रातृ-पौत्र के समय में ७२ वर्ष के पितामहभ्राता वर्तमान रहा हो।

द्वितीय युक्ति का समाधान भी इसी तरह किया जा सकता है—अर्थात् भट्टोजिदीक्षित और अप्पयदीक्षित समकालीन थे, यह बात निर्णीत है और भट्टोजिदीक्षित शेषश्रीकृष्ण के छात्र थे, एवं शेषवीरेश्वर-जो पण्डितराज के गुरु थे—उनके पुत्र थे, फिर पण्डितराज और अप्पयदीक्षित की समकालीनता में सन्देह करने का कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जब पण्डितराज युवक रहे होंगे, तब दीक्षित जी वृद्ध हो गये होंगे, अत एव द्राविड़, महाराष्ट्र और तैलङ्ग इन सहभोजी जातियों में उनकी सरपञ्ची तथा उनके द्वारा पण्डितराज की जातिच्युति की बात भी संगत होती है।

स्वभाव

पण्डितराज का स्वभाव अत्यन्त उग्र था, वे कटु सत्य को भी अनायास व्यक्त करने में संकुचित नहीं होते थे। एक समय किसी ने पण्डितराज को अपनी कविता सुनाना चाहा। परन्तु उन्होंने कविता सुनने के पहले ही कह दिया—'मित्र! यदि आप पूर्ण परिपक्व होने के कारण चूते हुये दाख के रस की मधुरता के गर्व को खर्व कर देने में समर्थ वचनों

के मर्मज्ञ हैं, तब तो मेरे सामने सुख से अपनी कविता पढ़िये। अन्यथा यदि आप उस तरह की वाणी के मर्मज्ञ न हों तो स्वकृत पापाचरण के समान अपनी कविता को हृदय से बाहर मत कीजिये[१]।'

विधाता ने पण्डितराज के स्वभाव में अभिमान को कूट-कूट कर भर दिया था। इनकी गर्वोक्तियाँ संस्कृत समाज में प्रसिद्ध हैं। वे कहते हैं—'दुनियां में कविता करने वाले बहुत लोग हैं, परन्तु मृद्विकापाक अर्थात् अत्यन्त मधुर-वाणी का आचार्य मैं ही हूँ, इस पद के अधिकारी होने का सौभाग्य दूसरे को कहाँ[२] ?' कितनी बड़ी गर्वोक्ति है ? किसी नायिका के वर्णन में आप कहते हैं—'वह नायिका मेरी कविता के समान'[३] मनोहर है ? गर्व को अभिव्यक्त करने की कैसी निराली छटा है ? आपकी कविता से जिन्हें आनन्द का अनुभव नहीं होता, उन्हें आप जीवित-मृतक कहते हैं।[४]

उग्र स्वभाव के कारण ही पण्डितराज प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित विद्वानों की उक्तियों में दोष दिखलाने में नहीं चूकते। अप्पयदीक्षित से तो पण्डितराज का स्वाभाविक विरोध ही था, अतः यदि उनके ग्रन्थों का खण्डन उन्होंने दुराग्रहपूर्वक किया है तो उतना अनुचित नहीं, क्योंकि विरोधियों का खण्डन सभी करते हैं। परन्तु जिन आनन्दवर्धन, मम्मट आदि विद्वानों का स्थान स्थान पर आपने आदर से स्मरण किया है, उनके वचनों में भी यत्र-यत्र दोष-दर्शाने में आप बाज नहीं आये हैं।

धर्म और अन्तिम काल

पण्डितराज ने यद्यपि स्थान-स्थान पर सभी देवताओं का स्मरण मङ्गलरूप में किया है, तथापि आप प्रधानतया वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, ऐसा प्रतीत होता है। आपके जीवन का अन्तिम भक्तिमय समय काशी अथवा मथुरा में व्यतीत हुआ।[५]

---

१. निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रवन्
मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वां तद्बहिर्मा कृथाः॥

२. 'आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात्पयोधेः,
यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥'

३. 'सा मामकीनकवितेव मनोऽभिरामा
रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति।'

४. 'ध्रुवं ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मन्दमतयो,
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथ-भणितिः।'

५. 'सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्त्वं परं चिन्त्यते'
यह पाठ भामिनीविलास के कुछ पुस्तकों में है और कुछ पुस्तकों में तो—
'सम्प्रत्युज्झितवासनं मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते' ऐसा पाठ है।

पण्डितराज के ग्रन्थ

१—**अमृतलहरी**–इसमें यमुनाजी की स्तुति की गई है। यह काव्यमाला में मुद्रित हो चुकी है।

२—**आसफविलास**–इसमें नवाब आसफखाँ का वर्णन किया गया है। काव्यमाला में इसकी कुछ पङ्क्तियाँ ही प्रकाशित हुई हैं।

३—**करुणालहरी**–इसमें विष्णु की स्तुति है। यह काव्यमाला में मुद्रित है।

४—**चित्रमीमांसाखण्डन**–इसमें अप्पयदीक्षित कृत चित्रमीमांसा का खण्डन है। यह भी काव्यमाला में प्रकाशित हो चुका है।

५—**जगदाभरण**–इसमें शाहजहाँतनय दाराशिकोह का वर्णन है। यह भी काव्यमाला में मुद्रित है।

६—**पीयूषलहरी**–यह भी काव्यमाला में तथा अन्यत्र भी मुद्रित है, इसका प्रसिद्ध नाम गंगालहरी है।

७—**प्राणाभरण**–यह नेपालनरेश प्राणनारायण का वर्णनपरक खण्डकाव्य है। काव्यमाला में इसका प्रकाशन हो चुका है।

८—**भामिनीविलास**–इसके अनेक संस्करण हो चुके हैं, इसमें पण्डितराज की फुटकर कविताओं का संग्रह है।

९—**मनोरमाकुचमर्दन**–यह भट्टोजिदीक्षित कृत मनोरमा ग्रन्थ का खण्डन है, यह 'हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला' काशी में प्रकाशित है।

१०—**यमुनावर्णन**–यह ग्रन्थ आज तक प्राप्त नहीं हुआ, केवल रसगंगाधर में उद्धृत कतिपय अंशों से इस गद्यमय ग्रन्थ का पता चलता है।

११—**लक्ष्मीलहरी**–लक्ष्मी स्तुति परक यह पुस्तक काव्यमाला आदि में छप चुकी है।

१२—**रसगंगाधर**–यह ग्रन्थ पाठक के हाथों में है। पण्डितराज की कीर्ति–इसी पर निर्भर है। परन्तु खेद है कि पण्डितराज का यह ग्रन्थरत्न अपूर्ण ही उपलब्ध होता है।

अन्य जगन्नाथ

संस्कृत साहित्य में ग्रन्थनिर्माण करने वाले अन्य ११ जगन्नाथ नामधारी पण्डितों का भी पता चलता है। परन्तु उनमें एक भी पण्डितराज उपाधिधारी नहीं हुये। उनके बनाये ग्रन्थ–रेखागणित, सिद्धान्तसम्राट्, सिद्धान्तकौस्तुभ, विवादभंगार्णव, अतन्द्रचन्द्रिक नाटक, अनङ्ग-विजयभाण, सभातरङ्ग, अद्वैतामृत, समुदायप्रकरण, शरभगजविलास और ज्ञानविलास आदि हैं।

रसगङ्गाधर के संस्करण

प्रायः रसगङ्गाधर का प्रथम संस्करण जयपुर से काव्यमाला द्वारा हुआ। परन्तु उस संस्करण में शुद्ध पुस्तक की प्राप्ति न होने से तथा ग्रन्थ की अति दुरूहता से स्थान–स्थान पर अशुद्धियाँ रह गईं।

तदनन्तर द्वितीय संस्करण काशी से महामहोपाध्याय गंगाधरशास्त्री जी के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुआ। उक्त संस्करण में कतिपय स्थलों परमहामहोपाध्याय जी की टिप्पणी विशेष महत्व रखती है।

इसके बाद जयपुरनिवासी कविशिरोमणि पण्डितवर मथुरानाथ जी भट्ट कृत संक्षिप्त सरला टीका सहित, उन्हीं के तत्त्वावधान में सुसम्पादित संस्करण भी विद्वज्जनों के सामने आ चुका है।

प्रस्तुत संस्करण के गुण-दोषों का विवेचन पाठक ही करेंगे। मैं आशा करता हूँ कि प्रकाशक की उदारता और सत्प्रयास से यह संस्करण पाठकों को अवश्य सन्तुष्ट करेगा।

रसगङ्गाधर की टीकायें

अन्य अलङ्कार-ग्रन्थों पर अनेकानेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गई परन्तु अलङ्कार शास्त्र के चरम चूडान्तभूत इस ग्रन्थराट् पर आज तक बहुत कम विद्वानों ने लेखनी चलाई। प्रायः इसका निदान ग्रन्थ की अत्यधिक जटिलता ही है।

रसगङ्गाधर पर वैयाकरण शिरोमणि नागेश भट्ट की सबसे प्राचीन टीका उपलब्ध होती है। प्राचीनतम होने के कारण इस टीका की महत्ता अवश्य है, परन्तु वस्तुतः यह टीका नहीं टिप्पणी मात्र है, क्योंकि यह अति संक्षिप्त है। अधिकतर स्थान में मूल का स्पर्श नहीं किया गया है। जहाँ कहीं मूल का स्पर्श किया भी गया है, वहाँ भी प्रायः मूल का खण्डन ही किया गया है जो सर्वत्र समुचित भी नहीं है। इससे ऐसा भान होता है कि इस टीका के द्वारा पण्डितराज का दोषोद्घाटन करना ही नागेश भट्ट का लक्ष्य था। फिर भी इस लघु टीका के द्वारा पाठकों को कुछ लाभ अवश्य हुआ है, इसमें सन्देह नहीं। मथुरानाथ जी भट्ट ने अपनी भूमिका में नागेश कृत टीका के बहुत से दोषों का संग्रह किया है।

भट्ट जी की यह लघु टीका पाठकों के लिये बहुत ही उपकारक सिद्ध हुई है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अति संक्षिप्त होने के कारण यह भी ग्रन्थ पर चिरकाल से अपेक्षित टीका की कमी की पूर्ति नहीं कर सकी।

रसगङ्गाधर का हिन्दी अनुवाद पं० श्री पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी जी ने बहुत अच्छा किया है। चतुर्वेदी जी का यह प्रयास बहुत ही श्लाध्य है। यद्यपि भट्ट जी ने अपनी भूमिका में यत्र-तत्र इसकी आलोचना की है। मैंने भी एक आध जगह अपनी टीका में इस विषय का निर्देश किया है। परन्तु सर्वांश में विचार करने पर अनुवाद उपादेय है, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इस अनुवाद का उद्देश्य है हिन्दी भाषा के विद्वानों को रसगंगाधर का रसास्वादन कराना, इस उद्देश्य की सिद्धि सोलह आना इस अनुवाद से हुई है, किन्तु संस्कृत के विद्वानों को इस अनुवाद मात्र से सन्तोष नहीं होता, क्योंकि इसके साथ मूल नहीं है और कहीं कहीं 'अवच्छेदकतामय भाषा' का 'बाघ का छाल निकालना कहकर' अनुवाद करना भी छोड़ दिया गया है।

'रुचिरा' संस्कृत-हिन्दी टीका

प्रस्तुत प्रथम भाग में कविशेखर प० बदरीनाथ झा जी की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई है यह टीका बहुत ही सुन्दर है, इसमें सरल शब्दों के द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट करने क सफल प्रयास किया गया है। यह टीका न अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त ही। मुझे विश्वास है कि इस टीका से विद्वज्जन प्रसन्न होंगे और मध्यम कोटि के विद्वान् भी इस टीक के आधार पर भली प्रकार इस ग्रन्थ का अध्ययन अध्यापन कर सकेंगे। परीक्षार्थी छात्रों वे लिये तो यह टीका अत्यधिक उपादेय है।

'कविशेखर जी' की संस्कृत टीका के साथ साथ मेरी हिन्दी टीका यत्र-तत्र कुछ विस्तृत हो गई है, जिसका कारण-वैसा करने का मेरा दुराग्रह नहीं वरन ज्टिल विषयों को अधिक से अधिक सरल बनाने का प्रयासमात्र है। मेरा विश्वास है कि इस विस्तृत विवरण से पाठकों को ग्रन्थ वे रहस्यों को समझने में जो सुविधा होगी, वह संक्षिप्त विवरण से नहीं। मैंने राष्ट्र भाषा को पवित्र रखने का भरसक यत्न किया है, तथापि जो त्रुटि रह गई हो, उसकी सूचना पाठक मुझे दें, ताकि अग्रिम संस्करण में उसका संशोधन किया जा सके।

एक बात और यह कि कहीं कहीं मुझे समालोचक का रूप धारण कर मूलकार के विरुद्ध भी लिखना पड़ा है। परन्तु वह विरुद्ध आलोचना कहाँ तक ठीक हुई है, इसका निर्णय विद्वान् पाठव ही करेंगे। हिन्दी भाषा में भी मैंने ग्रन्थ-ग्रन्थि-विमोचन का प्रयास सर्वत्र ही किया है, सफलता अथवा असफलता का निर्णय करना तो मेरा काम नहीं, वह विज्ञ पाठकों का ही कर्तव्य होगा।

उपकार

रसगङ्गाधर की हिन्दी टीका लिखने में मुझे सबसे बड़ी सहायता पूज्यवर कविशेखर प० श्री बदरीनाथ जी झा की संस्कृत टीका से मिली है। हिन्दी टीका लिखने की मेरी स्वीकृति पाते ही प्रकाशक महोदय ने झाजी की संस्कृत टीका मेरे पास भेज दी थी। इसे एक सुयोग ही कहना चाहिये। यदि उनकी टीका मेरे पास न होती, तो मुझे हिन्दी टीका लिखने में इतनी सुविधा नहीं होती, यह एक निश्चित सत्य है।

कहीं, कहीं—यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं—आप से मेरा मत-भेद भी हुआ है। यद्यपि उचित तो यह था कि मैं अपनी टीका लिखने से पूर्व आप से मिलकर एकवाक्यता कर लेता, परन्तु समयाभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। अस्तु, यदि उन मतभेद-स्थलों में मेरे मत संगत हों, तो उसका श्रेय भी आप गुरुजनों को ही प्राप्त है और यदि मेरे मत संगत नहीं हों, तो उसका दोषी मैं हूँ, एवम् उस स्थिति में मैं इस धृष्टता के लिये आदरणीय 'गुरुवर' से क्षमा प्रार्थी हूँ।

उपकारकों में दूसरा स्थान है प० श्री पुरुषोत्तम शर्मा जी चतुर्वेदी के अनुवाद का। उनके अनुवाद से भी मुझे स्थान-स्थान पर अत्यधिक सहायता मिली है। इस पुस्तक की भूमिका के विषयविवेचन भाग की तो आधार-भित्ति उनकी भूमिका ही है।

उपकारकों में सम्माननीय मथुरानाथ जी भट्ट का नाम भी स्तुति करने योग्य है। आपके सम्पादित रसगङ्गाधर और उसकी 'सरला' टीका से भी मुझे अधिक सहायता मिली है, विशेषतः भूमिका लिखने में तो आपकी भूमिका अधिक पथप्रदर्शक हुई है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

जिन-जिन महानुभावों की कृतियों से मैं इस टीका के प्रणयन में लाभान्वित हुआ हूँ उनके प्रति मैं जिन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापन करूँ, वे शब्द ढूंढे नहीं मिलते। शब्दों के द्वारा कृतज्ञता-प्रकाशन एक प्रथामात्र है। वास्तविक कृतज्ञता-ज्ञापन तो हृदय से होता है, अतः आप महानुभाव मेरी मूक पर सच्ची हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करें, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है।

इस कृतज्ञता-ज्ञापन के प्रसङ्ग पर मैं श्रेष्ठिवर बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त, अध्यक्ष 'चौखम्बा संस्कृत सीरिज' तथा 'चौखम्बा विद्या भवन' बनारस को भी नहीं भूल सकता, जिनके सहजसौजन्य से मुझे इस टीका के निर्माण का सुअवसर प्राप्त हुआ।

अन्त में अपने अकृत्रिम स्नेही बन्धु प० श्री रामचन्द्र जी झा के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सौहार्द से मेरा संबन्ध उक्त कार्यालय से हुआ।

गुरुपूर्णिमा
सं० २०१२

विनीत—
मदनमोहन झा

॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथममाननम्

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी,
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥ १ ॥

पुण्यश्लोकौ गौरी-गङ्गाधरतामवापितौ तपसा ।
मायाविद्यानाथौ प्रणम्य करुणानिधी पितरौ ॥
प्रत्यूहपङ्ककतक-क्षोदः प्रतिभाप्रभासहस्रांशुः ।
तन्वी स्मृतिरपि यस्या निधाय तां भारतीमन्तः ॥
नित्यं व्रजे लसन्ती सितशितिमहसी नमस्यता शश्वत् ।
रसगङ्गाधरविवृति'र्बदरीनाथेन' चन्द्रिका क्रियते ॥

साहित्यपदार्थानामान्वीक्षिकीप्रथितपथेन यथायथं सूक्ष्मसमीक्षया परीक्षकप्रेक्षावतां प्रतिपक्षस्मयान्धतमसावसादाय च तैलङ्गपण्डितराजो जगन्नाथभट्टः कमपि नूतनं भमाणस्तत्समाप्तिप्रचारादिप्रतिबन्धकान्तरायसन्ततिशान्तये श्रुतिबोधितेतिकर्तव्य- ङ्गलमाचरन् शिष्यान् विशिष्य शिक्षयितुं निबध्नाति—स्मृतापीति ।

स्मरणविषयीकृताऽपि (किमुत स्मर्यमाणा, दृष्टा स्पृष्टा वा न तु दृष्टैव दृष्टिद्वारा वा) नृणां मनुष्याणाम्, (सर्वेषां, न तु कस्यचिदेकस्यैव) तरुणं प्रौढं तीव्रमिति आतपं दिनकरद्योतं तत्त्वेनाध्यवसितमाधिभौतिकादिसन्तापम्, करुणया निजनैस- ानुकम्पया, हरन्ती नाशयन्ती (न पुनर्हृतवती हरिष्यन्ती वा) तथा—अभङ्गुरा स्तनूनां वपुषां त्विषः कान्तयो यासां, तास्तथोक्ताः, तासां विद्युतां चपलानां तत्त्वे- सेतानामाभीरवामभ्रुवां, शतैरनेकशतसङ्ख्याभिः (वस्तुतस्तत्सङ्ख्याभाग्भिस्ताभिः) परिवृता, तथा—कलिन्दगिरिनन्दिन्या यमुनायाः, तटे तीरे (वृन्दावने विद्यमानान्) मन्दारादिदेववृक्षान् हरिप्रियापरपर्यायतया कदम्बपादपान् वा, यद्वा-तट एव भेलाषपूरकत्वात् सुरद्रुमस्तम्, अवलम्बते स्वविलासाधिष्ठानतयाऽऽश्रयति तच्छीला, नेर्वचनीयत्वेन प्रसिद्धकादम्बिन्या विलक्षणा, कादम्बिनी मेघमाला तत्त्वेनाध्यवसिता धेष्ठातृदैवतश्रीकृष्णमूर्त्तिः, मदीयमतेर्मामकीनबुद्धेः, चुम्बिनी विषयीभूता भवत्वित्यर्थः ।

आध्यात्मिक त्रिविध ताप) को दया से हर लेती है, जो कभी भग्न नहीं होने वाली शरीर प्रभा से युक्त (न कि क्षणभर चमकने वाली) विद्युन्माला से वेष्टित है और जो कलिन्दकन्या-यमुना के तीर (वृन्दावन) के सुरतरु (कदम्ब) को (विलास के लिये) आश्रयण कर वर्तमान रहती है, वह प्रसिद्धातिरिक्त घनघटा (घनश्याम श्रीकृष्णचन्द्रजी की मनोहर मूर्ति) मेरी मति को चूमने वाली बने—सदा उस मञ्जुल मूर्ति का ज्ञान मुझे होता रहे।

भावार्थ यह है कि जो मेघमाला प्रसिद्ध है, वह देखने पर ही व्यक्तिविशेष के ताप को शान्त करती है, उसको परिवृत करने वाली बिजली क्षणभङ्गुर है, यमुनातट के कदम्ब-तरु उसका आलम्बन भी नहीं है, अचेतन होने से उसमें करुणा की सम्भावना भी नहीं, इन सब कारणों से कवि की विवक्षित मेघमाला वह नहीं अपितु कृष्णमूर्ति हो सकती है। इसी व्यतिरेक को स्पष्ट करने के लिए कवि ने 'कादम्बिनी' का विशेषण 'काऽपि' कहा है। अत एव इस श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार है और सन्ताप, गोपिकायें, तथा कृष्ण मूर्ति, जो यहाँ उपमेय हैं, उनका क्रमशः आतप, विद्युत्, कादम्बिनी रूप उपमानों से निगरण होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार भी है। इन दोनों अलङ्कारों के परस्पर सापेक्ष रहने से सङ्कर नामक तृतीय अलङ्कार होता है। (तत्तत्पदों से होने वाले व्यङ्ग्यों का ज्ञान संस्कृत टीका से करना चाहिए।)

अथ स्वोक्तेरुपादेयतमत्वं द्योतयितुं गुरुवन्दनापदेशेन विद्याजन्मवंशयोः परिशुद्धिं पद्यद्वयेन प्रतिपादयति—

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः,
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्राद् वेदीत्।
देवाद्देवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं,
शेषाङ्कप्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः॥ २॥
पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया॥
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम्॥ ३॥

यः (पेरुभट्टः) श्रीः सरस्वती, तद्वांश्चासौ ज्ञानेन्द्रस्तन्नामा भिक्षुः सन्न्यासी, तस्मादुपाध्यायात्, अधिगतो ज्ञातः पठित इति यावत्, सकलः कृत्स्नो ब्रह्मविद्याया वेदान्तस्य प्रपञ्चो विस्तरो येन तादृशः। तथा यः, महेन्द्रात् तदाख्यविदुषः, काणादीः कणादेन प्रोक्ता वैशेषिकरूपाः, अपिच—आक्षपादीः अक्षपादेन गौतमेन प्रोक्ता न्यायलक्षणाः, गहनगिरो गम्भीरार्थकवाणीः, अवेदीत्-अज्ञासीत् पपाठेति यावत्। तथा यः स्मरहरस्य शिवस्य नगरे काश्याम्, देवात् खण्डदेवनामकपण्डितादेव (नतु यतः कुतश्चित्) जैमिनीयं जैमिनिना प्रोक्तं शासनं पूर्वमीमांसादर्शनशास्त्रम्, अध्यगीष्टापाठीत्। तथा यः शेष इत्यङ्को नामैकदेशतया चिह्नं यस्य स शेषाङ्कः, तस्माच्छेषवीरेश्वरकोविदात् प्राप्ता लब्धा ज्ञाता इत्यनर्थान्तरम्, शेषस्य पतञ्जलेः, अमला निर्दूषणाः भणितयो व्याकरणमहाभाष्यरूपगिरो येन, तथाभूतः सन्, सर्वविद्याधरः सर्वासां चतुर्दशानामष्टादशानां वा विद्यानां धारकोऽभूत्।

किञ्च यस्य लीलया शिक्षणचेष्टया पक्षे समीहया, पाषाणादपि जडत्वेन प्रस्तरतुल्यादपि (मत्तः, किमुत कुतश्चन विदग्धात्) पक्षे प्रस्तरादपि, पीयूषं माधुर्येणामृततुल्यं काव्यम्, पक्षेऽमृतम्, स्यन्दते प्रादुर्भवति, पक्षे स्रवति। तं लक्ष्म्याः तन्नाम्न्या मातुः पक्षे रमायाः, कान्तं वल्लभम्, पेरुभट्टाख्यं पेरुभट्टनामानम्, महान्तं जनन-सर्वविद्याशिक्षणाभ्यां पक्षे रक्षणेन श्रेष्ठम्, गुरुं पितरं पक्षे महनीयं विष्णुम्, वन्देऽभिवादयामीत्यर्थः।

इह श्रीशब्दस्य सरस्वतीवाचकत्वे 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इति श्रुतिः, 'श्रीलक्ष्मी-

रमण नौमि' इत्यादयः प्रयोगाश्च प्रमाणम्। तस्य ब्रह्मवर्चसवाचकता तु केनचित् कल्पितैव प्रमाणानुपलम्भात्। एवमेवशब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वमप्यप्रसिद्धम्। सत्यभामा सत्येतिवत् खण्डदेवो देवपदेन बोध्यते। शेषोपाधेः श्रीकृष्णादौ सत्त्वेऽप्यौचित्याद् वीरेश्वरस्य ग्रहणम्। अधिगतविद्यानामुपादानं तु क्रमविरुद्धम्, सर्वतः प्राग्वेदान्तस्य सर्वान्ते व्याकरणस्य चोपादानात्।

गुरोः सर्वविद्याऽधिगन्तृतया स्वस्मिन् सर्वासामपि तासां सङ्क्रान्तिः, तया स्वपाण्डित्यप्रकर्षमुखेन स्वोक्तेरुपादेयतमत्वम्, स्वस्वकीयरचनोद्भवयोः पाषाण-पीयूषद्वयतादात्म्यप्रदर्शनेन स्वस्य विनयः स्वरचनायाश्चमत्कारकत्वं च, अपिनाऽर्थापत्तिपल्लवकेन परत्र तत्सौकर्यातिशयः, लीलामात्रस्यैव तावत्सम्पादकत्वेन गुरोरद्भुतमहिमशालिता, तया वन्दनौचिती च सूच्यते।

पूर्वस्मिन् पद्ये यमकानुप्राससंसृष्टं काव्यलिङ्गम्, परस्मिन्नर्थापत्ति-काव्यलिङ्गोपस्कृता समासोक्तिरतिशयोक्तिर्वाऽलङ्कारः, क्रमेण स्रग्धराऽनुष्टुप् च छन्दः ॥ २-३ ॥

ग्रन्थकार गुरुवन्दन—व्याज से अपने विद्या तथा जन्मवंशों की परिशुद्धि को दिखलाते हैं—'श्रीमज्ज्ञान' इत्यादि।

श्रीमान् 'ज्ञानेन्द्र' नामक संन्यासी से जिन्होंने समग्र ब्रह्मविद्या का विस्तार वेदान्तशास्त्र (लक्षण या उस शास्त्र का ज्ञान यहाँ विवक्षित है) प्राप्त किया, काणाद तथा गौतम की (अर्थबहुल होने से) गम्भीर उक्तियाँ (वैशेषिक तथा न्यायदर्शन) 'महेन्द्रशास्त्री' से समझीं, 'खण्डदेवोपाध्याय' से जैमनीयशास्त्र (पूर्व मीमांसा) काशी में रह कर पढ़ा और 'शेष' उपाधिधारी वीरेश्वर पण्डित से शेषावतार पतञ्जलि की निर्मल उक्तियाँ (महाभाष्य) अधिगत कीं, इस प्रकार जो सब विद्याओं का धारण करने वाले हुए।

जिनकी लीला-शिक्षणचेष्टा और इच्छा से पाषाण—पत्थल, अथ च पाषाण तुल्य नीरस मुझसे भी अमृत-अथच अमृत तुल्य सरस काव्य झर रहा है—प्रादुर्भूत हो रहा है, उन जन्म तथा शिक्षा दोनों के प्रदायक लक्ष्मीकान्त (लक्ष्मी नाम्नी मेरी माता के पति अथवा विष्णुरूप) 'पेरुभट्ट' नामक महान्—पूज्य गुरुदेव—पिताजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ संन्यासी से ब्रह्मविद्याज्ञानलाभ की बात कह कर व्यञ्जनया गृहस्थों में ब्रह्मविद्याज्ञान की अपरिपक्वता को सूचित करते हैं, 'अवेदीत्' इस क्रियापद से 'वैशेषिक तथा न्यायदर्शन को उन्होंने समझा न कि केवल रट लिया' इस विशेष को अभिव्यक्त करते हैं और गुरु को सर्वविद्यानिधान बतला कर उनके मेधावी शिष्य अपने में भी उन विद्याओं के संक्रमण को व्यक्त करते हैं। इसी तरह अपने में पाषाण के तथा अपनी कविता में पीयूष के तादात्म्य का प्रदर्शन कर अपने में विनय एवं अपनी कविता में चमत्कारातिशय को सूचित करते हैं। प्रथम पद्य में 'यमक तथा अनुप्रास' इन दोनों शब्दालङ्कारों से संसृष्ट काव्यलिङ्ग अलङ्कार और द्वितीय पद्य में काव्यलिङ्ग से सहकृत अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

स्वप्रबन्धस्य सुविचार्य विहितत्वेन श्रेयस्त्वं सूचयति—

निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं, मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवतामलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥

मननमनुध्यानमेव गम्भीरतया जलधिः समुद्रस्तस्य, अन्तरुदरम् उदरमध्येऽन्तस्तल इति यावत्, क्लेशैर्बहुभिर्दुःखै (नत्वनायासम्) नितरामत्यन्तं मग्नेन (नत्वीषदेव प्रविष्टेन) मया जगन्नाथेन, लोके मर्त्यभुवने, उदूर्ध्वं नीत उद्धृत उपर्यानीत इत्यनर्थान्तरम्,

ललितो निर्दूषणत्वेन गुणालङ्कारोपहितत्वेन वा सुन्दरो रसगङ्गाधरस्तन्नामाऽयं प्रबन्ध एव स्फुटपदार्थप्रतिभासकत्वेन मणिः, गुणवतां वैदग्ध्यभृतां (नत्वसहृदयानाम्) हृदयं चित्तं वक्षश्च, अधिरूढः प्रविष्ट आरूढश्च, अन्तर्ध्वान्तं मानसिकं साहित्यपदार्थविषयकाज्ञानम् आन्तरालिकं तमश्च, हरन्नपनयन्, सर्वानशेषान् (नतु कतिपयानेव) अलङ्कारान् लङ्कार-प्रतिपादकान् ग्रन्थान् भूषणानि च, गलितः स्वयमेव च्युतो गर्वोऽसाधारण्यमदो येषां तादृशान्, रचयतु करोत्वित्यर्थः ।

अत्र परेणापि रत्नोद्धारिणा समुद्राभ्यन्तरे चिरं मग्नेन दुष्करप्रयासैरुद्धतो मणिर्महीयसां वक्षस्थलमारूढः स्वेतरभूषणानि स्वापेक्षया हीनकान्तीनि करोतीति प्रतीते रूपकानुप्राणिता समासोक्तिरलङ्कारः । अन्तश्शब्दस्य द्विरुपादानं किञ्चिद् विच्छित्तिं विच्छिनत्ति । सम्पूर्णेन सन्दर्भेण सुचिन्त्य विहितोऽयं प्रबन्धः परकीयालङ्कारप्रबन्धेभ्यः सर्वथोत्कृष्ट इति वदताऽभिधेयचतुष्टयं प्रकाश्यते । गुणवतामित्यनेन 'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः, किमस्या नाम स्यादलसपुरुषानादरभरैः ॥ इति पद्यार्थः प्रतिपाद्यते । अलङ्कारेषु गर्वस्य चित्तवृत्तिविशेषात्मनोऽयोग्यतया तद्गलनस्यासम्भवेन तिरस्कृतवाच्यत्वम् । रचयत्विति प्राग्वत् प्रार्थनायां लोट् । शिखरिणी छन्दः ॥ ४ ॥

अपने प्रबन्ध की प्रशंसा करते हैं—'निमग्नेन' इत्यादि ।

मैंने (साहित्यिक पदार्थों के) अनुचिन्तनरूप समुद्र के अन्तस्थल में बड़े दुःखों से— न कि अनायास, निश्शेष मग्न होकर—न कि थोड़ा सा प्रविष्ट होकर, संसार में इस 'रसगङ्गाधर' रूप सुन्दर मणि को निकाला है । इस तरह निकाली गई यह (रसगङ्गाधर रूप) मणि, गुणिगणों के हृदयों में प्रविष्ट होकर आभ्यन्तरिक अन्धकार (साहित्यशास्त्र विषयक अज्ञान) को हरण करती हुई, सभी अलङ्कारों (अलङ्कारसम्बन्धी निबन्धों तथा आभूषणों) को गर्वरहित कर दे । तात्पर्य यह है कि—मैंने खूब सोच समझ कर इस ग्रन्थ को लिखा है, यह अलङ्कार ग्रन्थों में मणि रूप है, इससे साहित्यशास्त्र विषयक समस्त भ्रान्त धारणायें दूर हो जायँगी, अतः सहृदय जन इस ग्रन्थ को अपने हृदयों में स्थान अवश्य देंगे, इस ग्रन्थरत्न के प्रभाव से और-और अलङ्कार ग्रन्थ नगण्य हो जायँगे । सम्पूर्ण सन्दर्भ से यह बात निकली कि इस निबन्ध में अन्य निबन्धों की अपेक्षा बहुत कुछ महत्ता है, अतः उपादेय है ।

यहां यह अर्थ प्रतीत होता है कि—किसी ने बड़े क्लेशों से समुद्र में गोता लगा कर एक मणि निकाली, शौकीनों ने उसे हार में गूँथ कर अपने उरःस्थल पर धारण किया और उसकी पवित्र प्रभा के सामने सब सुवर्णादि निर्मित अलङ्कारों की प्रभा हीन हो गई । इसलिये इस पद्य में रूपकानुप्राणित समासोक्ति अलङ्कार है ।

इत्थं स्वग्रन्थस्य प्राचीनैरगतार्थत्वं प्रतिपाद्य नवीनैरपि स्वसजातीयग्रन्थान्तरैरगतार्थत्वं प्रतिपादयति—

परिष्कुर्वन्त्वर्थान् सहृदयधुरीणाः कतिपये,
तथाऽपि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता ।
तिमीन्द्राः सङ्क्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे,
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ॥ ५ ॥

कतिपये कतिचन (भूयांसोऽपि) सहृदयधुरीणाः सचेतसां प्रवराः, अर्थान् साहित्यशास्त्रीयपदार्थान्, परिष्कुर्वन्तु स्वप्रतिभाऽनुरूपं यथेच्छं (ग्रन्थान् रचयन्तः) विवेचयन्तु । तथाऽपि तेषां विवेचनेनापि, मे मम, क्लेश एतद्ग्रन्थरचनाप्रयासः कथमपि केनापि प्रकारेण (ईषदपि) गतार्थोऽन्यथासिद्धप्रयोजनकः, न भविता नैव भविष्यति इमे लोकैर्दृश्यमानाः,

तिमीन्द्रा महामत्स्याः, पुनर्भूयः, पयोधेः सागरस्य, सङ्क्षोभं मुहुरुद्वर्तनैः सम्यगालोडनम्, विदधतु कुर्वन्तु, एतेन तिमीन्द्रास्फालनेन, मन्दरगिरेर्मन्थाचलस्य, आयासो रत्नोद्धाराय समुद्रमन्थनपरिश्रमः, किं विफलो व्यर्थो भवति? अपितु न भवतीत्यर्थः।

इह यथा तिमीन्द्रास्फालनेन रत्नोद्धरणरूपप्रयोजनानिष्पत्त्या कथमपि मन्दरस्य प्रयासो न निष्फलो भवति, तथैव साहित्यपदार्थानामितरविद्वत्परिष्कारेण सिद्धान्तावधारणलक्षणप्रयोजनासिद्धया कथमपि ममैतद्ग्रन्थरचनाश्रमो गतार्थो न भविष्यतीति वाक्यार्थसाम्यस्य गम्यत्वात्, सत्त्वाभावरूपस्यैकस्यैवोभयसाधारणधर्मस्य 'न भविता' 'किं भवति' इति शब्दभेदेन वाक्यद्वये द्विर्निर्देशाच्च प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः। नत्वर्थान्तरन्यासः, वाक्यार्थयोः सामान्यविशेषभाव-कार्यकारणभावयोरभावात्।

भवितेति भविष्यत्सामान्यबोधकलृटोऽप्रयोगेण स्वतुल्यकाले कियतामेतादृशप्रबन्धरचनाक्षमाणां विचक्षणानां सद्भावस्य सम्भवेऽप्यग्रे सर्वथा तदसम्भवः सूच्यत इति केचित्। शिखरिणी छन्दः॥ ५॥

सहृदयों में मूर्धन्य माने जाने वाले कुछ पण्डित अर्थों का परिष्कार करें—ग्रन्थ बना-बना कर साहित्य पदार्थों का विवेचन करते रहें, परन्तु उन लोगों के विवेचन से मेरा कष्ट—'रसगङ्गाधर'-निर्माण में होने वाला श्रम—किसी तरह, गतार्थ-निष्प्रयोजन नहीं हो सकता। ये प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले बड़े-बड़े मत्स्य समुद्र को क्षुब्ध करते हैं, सो करें, परन्तु इससे क्या मन्दराचल का श्रम-मथनप्रयासनिष्फल होता है? यहां 'जैसे मत्स्यों के आलोड़न से रत्नोद्धरण रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होने के कारण रत्नों को निकालने वाला मन्दराचल का मथनक्लेश विफल नहीं होता, उसी तरह अन्य विद्वानों के विवेचनों से साहित्यसिद्धान्त-निर्णय-रूप-प्रयोजन की सिद्धि न होने के कारण, साहित्यसिद्धान्त-निर्णायक इस ग्रन्थ के निर्माण में होने वाला मेरा श्रम भी किसी तरह व्यर्थ नहीं, अपितु सर्वथा सार्थक है' ऐसा वाक्यार्थ गम्यमान है और 'न भविता, तथा किं भवति' इन दोनों से एक ही सत्ता का अभाव रूप धर्म दो वाक्यों में निर्दिष्ट है, अतः प्रति वस्तूपमा अलङ्कार होता है।

स्वपाण्डित्यप्रकर्षं प्रकाशयन्नेतत्प्रबन्धस्य सजातीयव्यतिरेकं प्रदर्शयति—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥६॥

उदाहरणानुरूपं ध्वनिगुणालङ्कारादिलक्ष्यत्वयोग्यम्, नूतनं नवीनं भामिनीविलासाख्यं काव्यम्, मया निर्माय रचयित्वा, अत्र रसगङ्गाधरे, परस्यान्यस्य, किञ्चिदीषदपि 'उदाहरणम्' न निहितं नैव निबद्धम्। कस्तूरिकाजननशक्तिभृता कस्तूर्युत्पादनसामर्थ्यभाजा, मृगेण, सुमनसां कुसुमानां, गन्धः परिमलः, मनसाऽपि (किं पुनर्नासिकया) किं सेव्यत उपादीयते? अपि नेत्यर्थः।

अत्र पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः। कस्तूरिकाभृतेत्यनुक्त्वा तज्जननशक्तिभृतेति कथनं स्वस्य यावदपेक्षितपद्योत्पादनक्षमत्वम्, समस्तवाक्यार्थश्च परेषां साहित्यग्रन्थकाराणां परकीयोदाहरणग्रहणात् तदभावम्, तत आत्मनस्तेभ्यः, एतद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थेभ्यो वैलक्षण्यमवगमयति। वसन्ततिलकं छन्दः॥ ६॥

अन्य निबन्धों से अपने निबन्ध में विद्यमान विशेष का दिग्दर्शन कराते हैं— 'निर्माय' इत्यादि।

इस निबन्ध में उदाहरणों के अनुरूप-ध्वनिगुण अलङ्कारों में जिसका जैसा लक्ष्य होना चाहिए वैसा—काव्य बनाकर मैंने उपस्थित किया है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया,

(ठीक ही है) जो कस्तूरी की सृष्टि कर सकता है वह मृग क्या कभी मन से भी किसी पुष्पसौरभ की सेवा करने की कामना करता है ? यहाँ भी पूर्ववत् प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार समझना चाहिए।

'कस्तूरी को धारण करने वाला' ऐसा न कहकर 'कस्तूरीजनन की शक्ति को धारण करने वाला' इस कथन से स्वगत–समस्त–काव्य–निर्माण–सामर्थ्य और समग्र वाक्यार्थ से अन्य अलङ्कार–ग्रन्थ–निर्माताओं में परकीय उदाहरणों के ग्रहण करने के कारण उस कवित्वशक्ति का अभाव व्यङ्ग्य होता है, उस व्यङ्ग्य से भी अन्य–पण्डितापेक्षया अपने में तथा तत्कृत ग्रन्थापेक्षया स्वकृत ग्रन्थ में वैलक्षण्य व्यक्त होता है।

'सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते॥ शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥' इत्यभियुक्तोक्तेरभिधेयस्य प्रकाशाय प्रतिजानीते—

मननतरितीर्णविद्याऽर्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥ ७ ॥

मननमेव पारनाथकत्वेन तरिर्नौः, तया तीर्णः प्राप्तपारः, विद्या एव गाम्भीर्येण दुस्तरतया वाऽर्णवः समुद्रो येन सः, जगन्नाथश्चासौ पण्डितानां नरेन्द्रः पण्डितनराणामिन्द्रः पण्डितेषु नरेन्द्र इव, पण्डितश्चासौ नरेन्द्रो नरश्रेष्ठः पण्डितराजपराभिधानो वा, इमां रसगङ्गाधरनाम्नीं काव्यस्य (तदङ्गानामलङ्कारादीनां च) मीमांसा विचार उद्देशलक्षणपरीक्षा यत्र, तादृशीं रचनां, कुतुकेन कुतूहलेन (न तु क्लेशेन) करोतीत्यर्थः।

इह रूपकामनुप्रासश्चालङ्कारः। पूर्वार्धेन प्रगल्भपण्डितविहितत्वेन प्रबन्धस्योपादेयत्वम्, काव्यमीमांसामित्यनेन विषयः प्रयोजनं च, कुतुकेनेत्यनेन स्वस्यैतादृशग्रन्थरचनेऽपि क्लेशाभावद्वारेण पाण्डित्यातिरेकश्च व्यज्यते। आर्या छन्दः ॥ ७ ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में अनुबन्धचतुष्टय (प्रतिपाद्य विषय उस विषय के साथ ग्रन्थ का सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी) अवश्य कहना चाहिए अन्यथा उस ग्रन्थ के अध्ययन में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसा नियम है। अतः प्रकृत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? इसकी सूचना देने के साथ साथ ग्रन्थकार अपना तथा अपने ग्रन्थ का नाम निर्देश करते हैं—'मननतरि' इत्यादि। जिसने मननरूप (विद्या समुद्र से पार ले जाने की शक्ति रखने के कारण) नौका से दुरवगाह होने के कारण विद्या–रूप–समुद्र को पार कर लिया है, वह पण्डितराज 'जगन्नाथ' कौतुक से (न कि अभ्यास से) काव्य–विवेचनमय 'रसगङ्गाधर' नामक–निबन्ध की रचना करता है। यहाँ 'मननतरि' इत्यादि विशेषण से ग्रन्थकार–गत–प्रौढ–पाण्डित्य सूचित होता है, जिससे तन्निर्मित प्रबन्ध में उपादेयता व्यक्त होती है, 'काव्यमीमांसाम्' इस पद से विषय तथा प्रयोजन की सूचना मिलती है। अलङ्कार यहाँ रूपक तथा अनुप्रास है।

स्वप्रबन्धस्य प्रचारमाशंसति—

रसगङ्गाधरनामा सन्दर्भोऽयं चिरं जयतु।
किञ्च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चिरञ्जयतु ॥ ८ ॥

रसा एवास्वाद्यत्वेन गङ्गा, तस्या धरः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धेन धारकः, यद्वा रसानां प्रतिपादनेन गङ्गाधरः शङ्कर इव, रसगङ्गाधर इति नाम यस्य, तादृशः, अयं बुद्धिगोचरीकृतः, सन्दर्भः पञ्चाङ्गकवाक्यरूपो ग्रन्थः, चिरमनल्पकालं, जयतु सर्वेभ्यः साहित्यग्रन्थेभ्य उत्कृष्टतया वर्तताम्। किञ्च तथा, निसर्गात् स्वभावात् (नतु व्याजात्) सम्यञ्चि सत्काव्यविरचन–विवेचनव्यसनितया समीचीनानि, कवीनां काव्यस्य निर्मातॄणां विवेचकसहृदयविदुषां च, कुलानि वृन्दानि, रञ्जयतु साहित्यसिद्धान्तनिष्कर्षबोधनेनानन्दयत्वित्यर्थः।

अत्र यमकमलङ्कारः। वाक्यस्य पञ्चाङ्गानि तु—'विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्॥ निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥' इत्यनेन भट्टचरणैर्दर्शितानि। 'सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरानुशासनात् कविशब्दस्य विद्वद्वाचकत्वमपि। कुलपदस्यात्र वंशपरत्वं तु चिन्त्यमेव, तद्वंशपरम्पराया वैदुष्ये प्रमाणाभावाद् रञ्जनानर्हत्वात्। आर्या छन्दः॥ ८॥

ग्रन्थकार स्वकृत ग्रन्थ के प्रति अपनी शुभकामना प्रकट करते हैं—रसगङ्गाधर इत्यादि। **'रसगङ्गाधर' (रसरूप गङ्गा को धारण करने वाला, अथवा रस के विषय में गङ्गाधर-शिव के सदृश) नामक यह निबन्ध चिरकाल तक विजयी बने सर्वोत्कृष्ट होकर रहे और अन्यञ्ज मनोहर स्वभाव से ही उत्तम कवियों (काव्यकारों तथा काव्यालोचक-कोविदों) के समाजों का अनुरञ्जन करता रहे। परोत्कर्षासहिष्णु दुराग्रही दुर्जनों का मनोरञ्जन भले ही इस ग्रन्थ से न हो पर जो सज्जन गुणग्राही होंगे, उनका हृदय इस ग्रन्थ के अध्ययन से अवश्य ही सुखी होगा, यह बात यहाँ 'निसर्गसुन्दर' इस कविकुल विशेषण से अभिव्यक्त होती है। अलङ्कार यहाँ यमक है।**

तत्र तावत् काव्यलक्षणसूत्रमवतारयति—

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालङ्कारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यताऽवच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

तत्र चिकीर्षिते ग्रन्थे। कीर्तिर्यशः, परमाह्लादो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यत्वेनाद्वितीय आनन्दः, गुरूणां राज्ञां देवतानां च प्रसादः स्तुतिविरचनाकलनाभ्यां प्रसन्नता चादिर्येषां, तानि तादृशान्यनेकानि प्रयोजनानि फलानि यस्य तत् तथोक्तम्, तथाभूतस्य, काव्यस्य वक्ष्यमाणलक्षणक-कविकर्मविशेषस्य, व्युत्पत्तेर्नैपुण्यलक्षण-तद्विषयकविशेषज्ञानस्य, कवेः काव्यकर्तुः, सहृदयस्य तद्रसा-स्वादयितुश्च, परमावश्यकतया नितरामपेक्षितत्वेन, गुणा माधुर्यादयः, अलङ्कारा अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चादयो येषां तादृशैः रसभावप्रभृतिभिर्हेतुभिः, निरूपणीये उद्देशलक्षण-परीक्षाभिर्विवेचनीये, तस्मिन् काव्ये, विशेष्यताऽवच्छेदकं काव्यनिष्ठायाः 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इति शाब्दबोधीयविशेष्यतायाः, अवच्छेदकमन्यूनानतिप्रसक्तो धर्मः, च तथा, तदितरभेदबुद्धौ 'काव्यं काव्येतरेभ्यो भिन्नं रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वात्' इति भेदानुमितौ, साधनं हेतुभूतं, तस्य काव्यस्य लक्षणं तावदादौ निरूप्यते प्रतिपाद्य विवेच्यत इत्यर्थः। इह तत्रेति तावन्निरूप्यत इत्यनेन सम्बद्धम्। प्रथमेनादिपदेन व्यवहारज्ञान-कान्तासम्मितोपदेशयोरेवादानम्, कीर्ति-परनिर्वृत्योः कण्ठतः, धनप्राप्ते राजप्रसादजन्यत्वेन, प्रत्यवायधुतेश्च गुरु-देवताप्रसादसाध्यत्वेन प्रतिपादनात्। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥' इति।

अत्रैव चतुर्वर्गप्राप्तेरप्यन्तर्भावः।

प्रदीपकृद्दर्शितदिशा कविसहृदययोः काव्यप्रयोजनभेदो यथायथमवधार्यः। कवेः कवित्वं न तदनुभवप्रयोजकम्, किन्तु सहृदयत्वमेव। आवश्यकताशब्दस्य साधनमस्मद्रसमञ्जरी-सुरभिटिप्पनेऽवलोकनीयम्। द्वितीयेनादिपदेन रसभावाद्यष्टकस्य ग्रहणम्। निरूपणं हि शाब्दबोधानुकूलो व्यापार उद्देश-लक्षण-परीक्षारूपः। तस्मिन्निति सप्तम्यर्थो निष्ठत्वम्। केषांचिन्मते प्रकारस्यापि विशेष्यताऽवच्छेदकत्वस्वीकारात् काव्यासाधारणधर्मस्य तल्लक्षणस्य काव्ये प्रकारत्वेऽपि तन्निष्ठविशेष्यतावच्छेदकत्वमक्षुण्णमवधारणीयम्। काव्यलक्षणज्ञानस्यैव तत्र प्रवृत्तिप्रयोजकत्वेन तद्विषयकेच्छीयविषयताऽवच्छेदकत्वं च तस्यैवावसेयम्।

अब ग्रन्थकार काव्यलक्षण की अवतारणा करते हैं—'तत्र कीर्ति' इत्यादि। यश, लोकोत्तर आनन्द, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता, प्रभृति अनेक जिस काव्य के प्रयोजन हैं, उस काव्य की व्युत्पत्ति (निपुणता-रूप-तद्-विषयक-विशिष्ट-ज्ञान) कवि, (काव्यनिर्माता) और सहृदय (काव्यानन्द का अनुभव करने वाला) के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये पहले काव्यलक्षण का निरूपण करते हैं। यदि यहाँ आप यह शङ्का करें कि कविसहृदयों को काव्यज्ञान कराने के लिये पहले काव्यलक्षण निरूपण की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि गुण, अलङ्कार, रस, भाव आदि के ज्ञान से ही तो काव्य का ज्ञान होगा, फिर उन्हीं वस्तुओं का निरूपण पहले करना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि गुण अलङ्कार आदि के निरूपण के बाद जो 'काव्यं गुणादिमत्' ऐसा ज्ञान होगा—चाहे कराया जायगा, वह तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि काव्यत्व का ज्ञान न हो जाय। यदि आप पूछेंगे ऐसा क्यों? तो मैं कहूँगा कि उक्त ज्ञान में काव्य विशेष्य है, और गुणादि विशेषण अतः 'काव्यम्' ऐसा ज्ञान पहले से रहना आवश्यक है, कारण? यदि विशेष्य स्वयम् असिद्ध-अज्ञात रहेगा तब उसमें विशेषण नहीं लगाया जा सकता और 'काव्यम्' इस विशिष्ट ज्ञान में काव्यत्व-रूप-विशेषण-ज्ञान (जो कारण है) की अपेक्षा है, अतः 'काव्यं गुणादिमत्' इस ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक (जो प्रवर्तक ज्ञान विषय होने से इष्टतावच्छेदक भी है) का अर्थात् 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वरूप' काव्यत्व का निरूपण पहले करते हैं। पहले लक्षण निरूपण करने का दूसरा कारण यह भी है कि किसी एक वस्तु से किसी दूसरी वस्तु में भेद रहता है, इसका समझना व्यवहार के लिए उपयोगी है, उस भेदज्ञान के बिना कोई व्यवहार चल ही नहीं सकता, मान लीजिये कोई जङ्गली 'जो घट तथा पट में कोई भेद नहीं समझता' अगर व्यवहार में प्रवृत्त हो तो क्या होगा? घट का कार्य पट से और पट का कार्य घट से लेने लगेगा। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि 'किसी एक वस्तु में तदतिरिक्त समस्त वस्तुओं से भेद है' यह समझना आवश्यक है। यह नियम काव्य के सम्बन्ध में भी लागू होगा अर्थात् काव्य अतिरिक्त सकल पदार्थों से भिन्न है ऐसा ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है, अन्यथा लोग काव्यानन्द को घड़ों में ढूंढने लग जायँ, और काव्य में इतरभेद ज्ञान, प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्भव नहीं, कारण? काव्य अमूर्त वस्तु है, फिर अगत्या उस ज्ञान के लिये अनुमान प्रमाण की शरण लेनी होगी, जैसे—'काव्यं काव्येतरस्मात् भिन्नम्'—काव्य काव्यातिरिक्त वस्तु से भिन्न है,' क्यों? 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक-शब्दत्वात्'—रमणीय अर्थों का प्रतिपादन करने वाला जो शब्द तद्रूप होने से, यही हेतु दिया जायगा अर्थात् सब जगह इतर भेदानुमिति में लक्षण ही हेतु होता है, इस लिये भी प्रथम काव्यलक्षण निरूपण की आवश्यकता समझनी चाहिये।

काव्यं लक्षयति—

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ॥ १ ॥

रमणीयस्य स्वज्ञानद्वारक-विलक्षणचमत्कारकारणतया सुन्दरस्यार्थस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या-न्यतमस्य, प्रतिपादको बोधकः शब्दः काव्यं काव्यपदेन व्यपदेश्य इति शब्दार्थः। रमणी-यार्थप्रतिपादकत्वे सति शब्दत्वमिति तावल्लक्षणत्। तत्र रमणीयस्यानुरागाद्यर्थस्य व्यञ्जके कटाक्षनिक्षेपाद्यर्थेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेष्यदलम्। अत्र चमत्कारकार्थबोधके 'घटमानय' इत्यादिवाक्येऽतिप्रसङ्गनिरासार्थमर्थस्य रमणीयत्वविशेषणम्। रमणीयार्थनिरूपितस्य वाच-कत्वस्य निवेशे तादृशार्थव्यञ्जके, व्यञ्जकत्वस्य निवेशे च तथाविधार्थवाचके शब्देऽव्याप्तिं तिरयितुं तदुभयसाधारणस्य प्रतिपादकत्वस्य प्रवेशः। रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणेऽ-तिव्याप्तिं परिहर्तुं चार्थस्य प्रवेशोऽवसेयः।

काव्य लक्षण के स्वरूप कहते हैं—'रमणीय' इत्यादि।

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला—अर्थात् जिस शब्द से रमणोय अर्थ का बोध

हो, वह शब्द काव्य है। इस लक्षण में यदि 'शब्द' पद नहीं कहें, अर्थात् 'रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाला जो हो वह काव्य है' इतना ही लक्षण करें, तो रमणीय अनुराग रूप अर्थ को व्यक्त करने वाला रमणी-कटाक्ष-निक्षेप भी काव्य हो जायगा, अतः 'शब्द' का निवेश लक्षण में किया गया है। अर्थ में रमणीय विशेषण लगाने का फल, अरमणीय-अर्थ-बोधक 'घटमानय' इत्यादि साधारण वाक्यों में काव्यत्व का निरास समझना चाहिये। वाचक, लक्षक, व्यञ्जक ये जो तीन प्रकार के शब्द साहित्यशास्त्र में स्वीकृत हुए हैं, वे तीनों ही काव्य कहला सकते हैं, यदि उनके अर्थ (वाच्य अथवा लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य) रमणीय हों, इसी अर्थ को सूचित करने के लिये लक्षण में 'वाचक अथवा व्यञ्जक' न कहकर सामान्य 'प्रतिपादक' पद कहा गया है। रमणीय शब्द के प्रतिपादक तो व्याकरण के भी शब्द हैं, उनमें काव्यत्वापत्ति न हो जाय इसलिये 'अर्थ' पद का निवेश समझना चाहिये।

लोकरुचिवैचित्र्येणार्थनिष्ठाया रमणीयताया अव्यवस्थानाद्व्यवस्थितिमाचष्टे—

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता।

चकारस्त्वर्थकः। लोकोत्तरस्यालौकिकस्य, आह्लादस्यानन्दस्य, जनकमुत्पादकं यज्ज्ञानं, तद्गोचरतातन्निरूपितविषयतारूपाऽर्थनिष्ठा रमणीयतेत्यर्थः।

अर्थ में रमणीयता क्या हो सकती है? यदि आप कहें अच्छा लगना ही अर्थ में रमणीयता है, तो मैं कहूँगा कि बात आपकी ठीक है, परन्तु यह रमणीयता अव्यवस्थित होगी, कारण? रुचिभेद से एक ही अर्थ किसी को अच्छा और किसी को बुरा लग सकता है, अतः ग्रन्थकार व्यवस्थित रमणीयता का निर्वचन करते हैं—'रमणीयता च' इत्यादि।

जिसके ज्ञान से लोकोत्तर (अलौकिक) आनन्द उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है।

नन्वाह्लादनिष्ठं लोकोत्तरत्वं सातिशयं निरतिशयं वा?, आद्ये तन्निवेशेऽपि बहुविधानामानन्दानां पूर्ववत् सङ्ग्रहेणाननुगमः, द्वितीये तु ब्रह्मानन्दस्यैव तेन ग्रहणादनुपपत्तिरित्यतो लोकोत्तरत्वं निर्वक्ति—

लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।

आह्लादगत आनन्दनिष्ठः, चमत्कारत्वं विस्मयलक्षण-चित्तविस्तारात्मकवृत्तिवृत्तिधर्मविशेषोऽपरः पर्यायो नामान्तरं यस्य तादृशः, तथा अनुभवः सहृदयसमवेतं प्रत्यक्षं चर्वणालक्षणं साक्षी प्रमाणं यस्मिंस्तथाभूतश्च, जातिविशेषो विलक्षणसामान्यम्। अनुभवसाक्षिकत्वकथनेन 'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' इति दर्पणदर्शितस्तत्र प्रत्यक्षेतरप्रमाणविरहो बोध्यते। तथा चान्येषामानन्दानामेतादृशलोकोत्तरत्ववैधुर्यात् सङ्ग्रहीतुमशक्यत्वान्न दोषः।

अब प्रश्न यह उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किसको कहेंगे? अर्थात् आनन्दगत लोकोत्तरत्व यदि सातिशय (जिससे बड़ा दूसरा भी आनन्द हो सकता हो, ऐसा) विवक्षित मानेंगे, तब लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि व्यक्तिभेद से-रुचिभेद से भिन्न-भिन्न आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायगा, जिससे अव्यवस्था बनी ही रहेगी। यदि आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरतिशय (जिससे बड़ा दूसरा आनन्द न हो) विवक्षित कहेंगे, तो ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त आनन्द (काव्यानन्द, जिसको विषयसम्पृक्त होने के कारण ब्रह्मानन्द सहोदर होने पर भी उससे भिन्न माना गया है) संगृहीत नहीं हो सकेगा, जिसका संग्रह करना ही इस आयोजन का मुख्य उद्देश्य है, इसलिये इन दोनों से विलक्षण लोकोत्तरत्व का निर्वचन करते हैं—'लोकोत्तरत्वञ्च' इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ का लोकोत्तरत्व सातिशय, निरतिशय, कुछ नहीं, घटत्व, पटत्व जैसा आनन्द में रहने वाला एक जातिविशेष है, चमत्कारत्व जिसका दूसरा नाम है, सहृदयों का अनुभव ही इस जाति की सत्ता में प्रमाण है, अर्थात् जिस जिस आनन्द में सहृदयों को 'लोकोत्तरः, लोकोत्तरः' ऐसा अनुभव हो, वही आनन्द लोकोत्तर है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने

भी इस प्रसङ्ग में कहा है—'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' अब अव्यवस्था की शङ्का नहीं हो सकती है।

नन्वीदृशं लोकोत्तरश्चमत्कारं को जनयतीत्याकाङ्क्षायामाह—

कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा।

चस्त्वर्थे। तदवच्छिन्ने चमत्कारत्वरूप-लोकोत्तरत्वजात्यवच्छिन्नेऽलौकिकाह्लादे, पुनः-पुनरनुसन्धानं काव्यार्थस्य भूयोभूयः समानविषयकः स्मृतिविशेष आत्मा स्वरूपं यस्य, तादृशो भावनाविशेषस्तु कारणमित्यर्थः। इह न्यायनयोक्तभावनाऽऽख्यसंस्कारस्य व्यवच्छेदाय पुन-रित्याद्युपात्तम्। काव्यार्थस्य निरन्तरस्मरणेनैव लोकोत्तराह्लादो जन्यते, नत्वन्यादृशार्थज्ञान-मात्रेणेत्याशयः। केचित् तार्किकाङ्गीकृतभावनायाः संस्कारात्मकत्वेन ज्ञानजन्यत्वात् पुनःपु-नरनुसन्धानादात्मा यस्येति व्यधिकरणबहुव्रीहिरिहेत्यपि वदन्ति।

पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करने वाले कारण का निर्देश करते हैं—'कारणं च' इत्यादि। चमत्कारत्वापरपर्याय लोकोत्तरत्व जाति से अवच्छिन्न-परिचित अर्थात् विशिष्ट लोकोत्तर आनन्द में पुनः पुनः अनुसन्धानरूप अर्थात् धारावाहिक, भावनाविशेष शाब्दबोधात्मक-अनुभव ही कारण है। सार यह समझना चाहिये कि जब हम किसी काव्यवाक्य को सुनते हैं, तब शक्ति स्मरणादि जो शाब्दबोध की सामग्री मानी गई है, तदनुसार पहले वाच्यार्थ बोध होता है, तदुत्तर यदि वहां व्यङ्ग्य अर्थ रहा, तो व्यञ्जना वृत्ति द्वारा उसका बोध होता है, जो सहृदयों को अच्छा लगता है, अतः सहृदयजन बार बार उस बोध को करना चाहते हैं, जिसके लिए पुनः पुनः उन शब्दों को पढ़ते हैं, इस तरह सम्पन्न की गयी वह बोधधारा सहृदयों की आत्मा में पूर्वोक्त लोकोत्तर आनन्द को उत्पन्न करती है। जहां व्यङ्ग्य अर्थ नहीं रहता, वहां विलक्षण वाच्यार्थ की तादृश बोधधारा (भावना) ही आनन्द की सृष्टि करती है।

आह्लादे लोकोत्तरत्वनिवेशस्य फलं दर्शयति—

'पुत्रस्ते जातः' 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्याह्लादस्य न लोको-त्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः।

प्रसक्तिरापत्तिः। यद्यप्येतद्वाक्यद्वयार्थज्ञानेनापि कश्चनानन्दो जन्यत एव, किन्तु तदा-नन्दस्य प्रागुक्तभावनाविशेषजन्यत्वाभावाल्लोकोत्तरत्वस्य विरहेण रमणीयार्थप्रतिपादकत्व-विधुरतया नैतद्वाक्यद्वये काव्यलक्षणातिव्याप्तिरित्यभिसन्धिः।

आनन्द में लोकोत्तर विशेषण लगाने का फल कहते हैं—'पुत्रस्ते' इत्यादि। यद्यपि 'तुम्हारे घर में लड़का पैदा हुआ' 'तुमको मैं धन दूँगा' इन वाक्यों से होने वाली भावना भी आनन्ददायिनी है, तथापि ये वाक्य काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इन वाक्यार्थों की भावना से होने वाला आनन्द लोकोत्तर नहीं है, सहृदयों को उस आनन्द में लोकोत्तरत्व की प्रतीति नहीं होती। मूल लक्षण में यद्यपि 'शब्दः' यह एकवचनान्त प्रयोग किया गया है, तथापि वह एकत्व संख्या विवक्षित नहीं है, अतः संक्षेपतः काव्य का यह स्वरूप हुआ कि 'जिस शब्द अथवा जिन शब्दों के अर्थ की भावना करने से किसी अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, उसको अथवा उनको काव्य कहते हैं'।

अथ काव्यलक्षणनिष्कर्षं क्रमेण प्रपञ्चयति—

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक-शब्दत्वम्, यत्प्रतिपादि-तार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकताऽवच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकताऽ-वच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।

इत्थमनुना प्रकारेणोक्तार्थसिद्धौ सत्यां, चमत्कारस्य लोकोत्तराह्लादस्य जनिका या भावना काव्यार्थविषयकपुनःपुनरनुसन्धानम्, तस्या विषयो योऽर्थः, तस्य प्रतिपादकत्वे सति

शब्दत्व काव्यत्वमिति फलितमिति सर्वत्रान्वयः। अस्मिन् प्रथमलक्षणे प्रागुक्तं ज्ञानपदं विहाय भावनापदप्रवेशस्य प्रयोजनं किमिति चेत्, श्रूयताम्—यत्र कस्यचित् पुंसः सामग्रीबलेन काव्यार्थविषयकं तदितराचमत्कारकार्थविषयकं चैकमेव समूहालम्बनात्मकं ज्ञानं जायेत, तत्र तदितरवाक्यार्थस्यापि चमत्कारजनक-तत्पुरुषसमवेत-काव्यार्थविषयकज्ञानीयविषयताऽऽश्रयत्वेन तत्प्रतिपादकशब्दे काव्यवदकाव्येऽपि काव्यत्वं तदितरवाक्ये प्रसज्येत। भावनानिवेशे तु, तस्याः स्मृतिविशेषरूपत्वेन समूहालम्बनात्मकत्वविरहाद् विषयान्तरस्य तज्ज्ञाने प्रवेशासम्भवान्न दोषः। पुनःपुनरनुसन्धानस्य हि युगपदनेकविषयकतायाः फलबलेन सामग्रीसंवलनासम्भवः कथञ्चित् कल्पनीयः। संस्कारस्यापि क्वचित् समूहालम्बनत्वमन्यत्र व्यवस्थापितमिति तदुपादानान्न दोषनिस्तारः।

अत्रापि लक्षणेऽतिव्याप्तेर्'यत्प्रतिपादिते'त्यादिना द्वितीयं लक्षणं विहितम्। तथाहि—यत्र कस्यचित् काव्यवाक्यार्थविषयिका निरन्तरोत्पद्यमानतया धारावाहिनी स्मृतिविशेषरूपा भावना जायेत, तत्र चमत्कारजनकभावनाविषयीभूतानां सर्वेषामेव समानाकाराणां तेषां वाक्यार्थानां प्रतिपादकत्वात्स्वरूपे तादृशवाक्यकदम्बके काव्यलक्षणातिव्याप्तिः स्फुटैव। तत्र हि सर्वेषां तादृशवाक्यानां चमत्कारानाधायकत्वात् काव्यत्वं न कस्यापि सम्मतम्, अपित्वेकस्यैव तेषु कस्यचिदित्यापत्तिरेषितुमपि न शक्या। येन यादृशानुपूर्वीमता शब्देन, प्रतिपादिते बोधिते, अर्थे निष्ठा वृत्तिमती, या विषयता, तन्निरूपिता या भावनानिष्ठा विषयिता, तदवच्छेदकं भावनात्वम्, चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपित-भावनानिष्ठजनकताया विषयतासम्बन्धेनावच्छेदकम्, तादृशानुपूर्वीमत्त्वं काव्यत्वमिति लक्षणार्थः। तथा च प्रकृतवाक्यसमूहरूपशब्दस्य चमत्कारजनकत्वविरहात् तादृशानुपूर्वीमत्त्वाभावान्नातिव्याप्तिः। आनुपूर्वी तु तद्वर्णोत्तर-तद्वर्णत्वरूपः श्रावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदको धर्मः।

अस्मिन्नपि लक्षणे यदादिपदप्रतिपाद्यार्थानां प्रकारतया शाब्दबोधे विषयीभावाद् वृत्तिज्ञानाधीनतत्तदुपस्थितीनां कारणत्वेनापेक्षणाद् गौरवम्, यत्तच्छब्दयोरव्यवस्थितार्थकतयाऽननुगमश्च दूषणं दुरुद्धरमिति स्वविशिष्टेत्यादिना तृतीयं लक्षणमभिहितम्। अत्र हि संसर्गविधया भासमानानां तदर्थानामुपस्थितेः शाब्दबोधेऽनपेक्षणाल्लाघवम्, यत्तच्छब्दविरहादननुगमाभावश्च व्यक्तमवसीयते। स्वशब्दस्तूपात्तोऽपि वैशिष्ट्यघटकार्थोपस्थापकत्वेनानुगतार्थक एव। स्वशब्देनात्र चमत्कारत्वस्य ग्रहणम्। तथा च स्वविशिष्टा चमत्कारत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपिता या भावनानिष्ठा जनकता भावनायामर्थस्य विषयतासम्बन्धेन विशेषणात्। तदवच्छेदको योऽर्थः, तत्प्रतिपादकत्वं सम्बन्धः, तेन सम्बन्धेन चमत्कारत्वविशिष्टत्वे सति शब्दत्वं काव्यत्वमिति पर्यवसितम्।

तादृशचमत्कारत्ववत्त्वसमानाधिकरणं तदेव काव्यं 'काव्य'मित्याद्यनुगतप्रतीतिविषयताऽवच्छेदकतयाऽऽस्वादविशेषजनकताऽवच्छेदकतया वा सिद्धं जातिविशेषरूपमुपाधिरूपं वा लक्ष्यताऽवच्छेदकमिति व्याख्यातारः।

लक्षणमिदं जगन्नाथस्य न सर्वथा स्वोपज्ञम् 'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥ काव्यम्' इत्याग्नेयेन, काव्यमुपक्रम्य 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिभट्टेन च प्रतिपादनात्। खण्डनन्तु केवलशब्दवृत्तिकाव्यत्वाङ्गीकारनिरसनप्रसङ्गेन पुरस्ताद्व्यक्तीभविष्यति।

अब नव्य न्याय की शैली से काव्यलक्षण का परिष्कार करते हैं—'चमत्कारजनक' इत्यादि। चमत्कार (लोकोत्तर आनन्द) को उत्पन्न करने वाली जो भावना (ज्ञानधारा)

उसका विषय (जिसकी भावना हो वह) जो अर्थ, तत्प्रतिपादक शब्द का नाम हुआ काव्य और तादृश शब्दत्व का काव्यत्व। इस प्रथम परिष्कृत लक्षण में ज्ञान पद न कह कर ज्ञानधारा-वाचक-भावना-पद क्यों कहा गया, इस शङ्का का समाधान निम्नलिखित समझना चाहिये। कभी-कभी ज्ञातव्य विषयक ज्ञान सामग्री से होने वाला ज्ञान अकस्मात् विषयान्तरोद्बोधक सामग्री के जुट जाने से उदासीन वस्तु को भी विषयक बना लेता है— अर्थात् ज्ञातव्य तथा उदासीन-दोनों का एक ही ज्ञान हो जाता है, ऐसे ज्ञान को समूहालम्बन ज्ञान कहते हैं, अब आप कल्पना कीजिये कि—जहां 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि काव्यार्थ-विषयक-चमत्कारकारी ज्ञान में उद्बोधकान्तर-समवधान से घटरूप अर्थ भी भासित हो गया, वहां काव्यार्थ विषयक होने के नाते चमत्कार-जनक-ज्ञान का विषय घटरूप अर्थ भी हुआ, अतः उस घटरूप अर्थ के प्रतिपादन करने वाला 'घटः' इत्याकारक शब्द में भी काव्यत्व प्राप्त हो जायगा, उसी काव्यत्वापत्ति को हटाने के लिए ज्ञान पद न कह कर भावना पद कहा गया है। भावना पद कहने पर आपत्ति इसलिये नहीं हुई कि एक बार भले ही उद्बोधकान्तर के जुट जाने से काव्यार्थ विषयक ज्ञान में घटरूप अर्थ भासित हो जाय परन्तु काव्यार्थ विषयक ज्ञानधारा में उसका भासित होना असम्भव है, कारण ? अकस्मात् जुटने वाला उद्बोधक बराबर जुटता रहेगा, ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है। यदि कोई वादी ऐसा दुराग्रह करे कि—हां, महाशय, जब-जब काव्यार्थ-विषयक ज्ञान हुआ तब-तब, उद्बोधक जुटता ही रहा, उदासीन घटादि रूप अर्थ उस ज्ञान में भासित होता ही गया, तब तो भावना पद निवेश से भी निस्तार नहीं, अतः 'यत्प्रतिपादितार्थ' इत्यादि द्वितीय परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता हुई, जिससे वादी का उक्त दुराग्रह भी दूर हो जाय, कहने का आशय यह है कि-'शून्यवासगृहम्' इत्यादि काव्य वाक्य तथा 'घटः' इन दोनों शब्दों से प्रतिपादित-अर्थ-विषयक-भावना के एक होने पर भी काव्य शब्द प्रतिपादितार्थ विषयक भावनात्व, एवं 'घटः' इत्यादि उदासीन शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व एक नहीं, भिन्न है। इस स्थिति में चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक (परिचायक) काव्य शब्द प्रतिपादितार्थविषयक भावनात्व ही हो सकता है, दूसरा नहीं, क्योंकि—जिसका जो धर्म अन्यून (अल्पदेश में न रहने वाला) और अनतिप्रसक्त (अधिक देश में न रहने वाला) होता है, वही धर्म उसका अवच्छेदक हो सकता है, उदासीन 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावनात्व शुद्ध 'घटः' इत्यादि शब्द-प्रतिपादितार्थ-विषयक-भावना पर भी है, जहां चमत्कार-जनकता नहीं है, अतः वह अधिक देशवृत्ती (अतिप्रसक्त) धर्म होने से चमत्कार-जनकता का अवच्छेदक समूहालम्बन स्थल में नहीं होगा, फिर द्वितीय लक्षण के हिसाब से उक्त स्थल में आपत्ति नहीं हुई। किन्तु इस द्वितीय लक्षण में भी एक नई आपत्ति यह उपस्थित हो जाती है कि—यह लक्षण उस यत् और तत् पद से घटित है, जिसका अर्थ अननुगत है—अर्थात् कोई एक निश्चित नहीं है, अतः तादृश यत्तत् पद घटित लक्षण भी अननुगत होगा, फिर लक्षण बनाने का उद्देश्य (अनुगम करना) सिद्ध नहीं हो सकेगा, दूसरी बात यह है कि काव्यपद शक्यतावच्छेदक गुरु हो जाने से गौरव भी होगा, अर्थात् लक्षण को लघु होना चाहिये, सो नहीं हुआ, इसलिये 'स्वविशिष्टजनकता' इत्यादि तृतीय लक्षण का अवतार समझना चाहिये। तृतीय परिष्कार के अनुसार काव्य का लक्षण 'चमत्कारत्ववत्व' मात्र हुआ, जो न बड़ा है, न यत्, तत् पद घटित ही, अतः गौरव किंवा अननुगम की शङ्का जाती रही। यहां लोकोत्तरत्व का पर्यायवाची चमत्कारत्व जाति विशेष माना गया है, जो, यद्यपि साक्षात्सम्बन्ध (समवाय) से चमत्कार—लोकोत्तर आनन्द में ही रह सकता है, काव्य में नहीं तथापि ग्रन्थोक्त 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ प्रतिपादकता' रूप परम्परा सम्बन्ध से काव्य में रहेगा। यद्यपि यह सम्बन्ध लम्बा अवश्य है, तथापि सम्बन्ध लक्षण घटक नहीं कहलाता, इसलिये अब उक्त दोषों का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित हो सकता,

ऐसा समझना चाहिये। इस सम्बन्ध में स्वपद से चमत्कारत्व का ग्रहण करना चाहिये, समवाय सम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उसकी (तन्निरूपित) जनकता रहेगी भावना (ज्ञानधारा) में, उस जनकता से निरूपित विषयता सम्बन्धावच्छिन्न अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात्—विषयता सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह (काव्यार्थ) भी भावनानिष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा—उस, काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता सम्बन्ध से स्व (चमत्कारत्व) शब्द में रहेगा। इसी तरह से लक्षण का समन्वय करना चाहिये।

इत्थं स्वकीयं काव्यलक्षणं प्रतिपाद्य काव्यप्रकाशकृतस्तत् खण्डयितुमुपक्रम्य तत्र प्रथमं विशेष्यदलेऽर्थस्य निक्षेपमाक्षिपति—

यत्तु प्राञ्चः—'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः । तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्, 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' 'काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादिविश्वजनीनव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च ।

तुना वक्ष्यमाणाऽरुचिः सूच्यते । प्राञ्चः काव्यप्रकाशकाराः । आहुरित्यग्रिमेणान्वयः । विचार्यते युक्तायुक्तत्वमितिशेषः । विश्वेभ्यः सर्वेभ्यो जनेभ्यो हितो विश्वजनीनो व्यवहारः । प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये । एवकारः शब्दार्थयोरर्थमात्रस्य व्यवच्छेदकः ।

प्राचीनैः शब्दार्थोभयस्य काव्यत्वमङ्गीक्रियत इति न शोभनम्, यतः शब्दार्थयोः काव्यत्वस्य ज्ञापकं किञ्चिदपि प्रमाणं नोपलभ्यते । किञ्चार्थस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्योच्चारणलक्षणपाठायोग्यत्वेन 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादिरूपः, अर्थस्यापि काव्यपदार्थत्वेन पृथक् तदुल्लेखानर्हत्वात् 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' इत्यादिरूपः, अर्थस्य श्रवणासम्भवात् काव्यपदार्थत्वेनैव सङ्ग्राह्यत्वाच्च 'काव्यं श्रुतम्, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादिरूपश्च सर्वानुमतो व्यवहारो नोपपद्यते । अर्वाचीनमते तु प्रमाणान्तराभावेऽपि, शब्द विशेषमात्रस्य काव्यत्वाभ्युपगमेन प्रादुर्भवन्ती तद्व्यवहारोपपत्तिरेव प्रमाणीभवतीति तत्त्वम् ।

अब पण्डितराज स्वसम्मत काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद प्राचीन आचार्य द्वारा किए गये काव्य लक्षणों के खण्डन प्रसङ्ग में सर्वप्रथम काव्यप्रकाशकार मम्मट कृत लक्षण की चर्चा करते हैं—'यत्तु-प्राञ्चः' इत्यादि। काव्यप्रकाशकार ने 'दोषरहित, गुण तथा अलङ्कार सहित शब्दार्थ युगल' को काव्य माना है, हां, अलङ्कार के अंश में इतनी छूट उन्होंने अवश्य दी है कि—कहीं-कहीं स्पष्ट अलङ्कार नहीं रहने पर भी और अंश के रहने पर शब्दार्थसमूह को काव्य कहा जा सकता है, परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ के विचार से यह लक्षण ठीक नहीं है, कारण ? पहले 'शब्दार्थ युगल' को काव्य मानने में कोई प्रमाण नहीं। प्रत्युत 'काव्य जोर से पढ़ा जा रहा है, काव्य से अर्थ समझा जाता है, काव्य सुना अर्थ ज्ञात न हो सका' इत्यादि सार्वजनिक व्यवहार से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, अर्थ नहीं क्योंकि 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानने पर उक्त व्यवहार नहीं बन सकते-अर्थात् यदि अर्थ भी काव्य होता तो उसका पाठ कैसे सम्भव हो सकता, अर्थ के भी काव्य के अन्दर आ जाने पर काव्य से अर्थ का समझना भी नहीं बन पड़ता, और अर्थमिश्रित काव्य का श्रवण भी समुचित नहीं जान पड़ता, अतः शब्दमात्र को ही काव्य मानना ठीक है 'शब्द अर्थ' दोनों को नहीं।

प्रतिपक्षिपक्षमुपक्षिप्याक्षिपति—

व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्यादप्येवम्, यदि काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात् । तदेव तु न पश्यामः ।

व्यवहारः 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादिशब्दप्रयोगरूपः। अवयवावयविभावरूपशक्य-सम्बन्धमूलकगौणवृत्त्या। पराभिमते काव्यप्रकाशकारादिसम्मते। काव्यशब्दशक्तेः काव्यपद-निष्ठाभिधायाः। प्रमापकं ज्ञापकम्। तदेव शब्दार्थोभयशक्तिग्राहकं प्रमाणमेव।

यथा 'पूर्वे पञ्चालाः' इत्यादौ समस्तपञ्चालदेशवाचकानां पञ्चालादिशब्दानां तदेकदेशे लक्षणया प्रयोगः, तथैवोक्तव्यवहारेषु शब्दार्थोभयवाचकस्य काव्यशब्दस्य स्वार्थैकदेशे शब्द-मात्रे लक्षणायाः स्वीकारेण व्यवहाराणामुपपत्तिः स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, काव्यपदनि-ष्ठायाः शब्दार्थोभयनिरूपिताभिधाया ग्राहकस्य कस्यचिदपि प्रमाणस्यानुपलम्भादिति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि—जहाँ शब्दमात्र के लिये काव्य पद का प्रयोग किया गया हो, वहाँ लक्षणावृत्ति से काम लिया गया है, अर्थात्-उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्यपद का लाक्षणिक प्रयोग है, शब्दार्थ युगल वाचक काव्यपद का प्रयोग लक्षणावृत्ति के द्वारा केवल शब्द में भी हो सकता है, जैसे समस्त-पाञ्चाल-देश-वाचक पाञ्चाल शब्द का प्रयोग 'पूर्वे पाञ्चालाः' इत्यादि स्थलों में देश के एक भाग में भी लक्षणा से होता है, इस तर्क का उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि—आपका यह (लक्षणा द्वारा काम चलाने वाला) कथन तब सङ्गत हो सकता था, जब आप किसी प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध कर दें कि काव्यपद का मुख्य (वाच्य) अर्थ 'शब्द और अर्थ' दोनों ही हैं। परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं दृष्टिगोचर होता।

ननु तत्र कथं प्रमाणाभावः, प्रमाणान्तरविरहेऽपि काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनोक्तेरेव प्रमाणत्वादित्यत आह—

विमतवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव।

अनुपपत्तिप्रकटनेन तन्मतनिराकरणपरैरस्माभिस्तद्वाक्यमेव कथं प्रमाणत्वेन विश्वसनीय-मिति भावः।

यदि आप कहें कि प्रमाण क्यों नहीं दृष्टिगोचर होता? क्या आप शब्दप्रमाण को नहीं मानते? अर्थात् आचार्य मम्मट का वाक्य ही शब्दार्थ युगल को काव्यपद वाच्य होने में प्रमाण है। हाँ, शब्द को मैं प्रमाण मानता हूँ, परन्तु आप्त के शब्द को—वादी के शब्द को नहीं, मम्मट तो वादी हैं उन्हीं के साथ मेरा विवाद है फिर उनके शब्द को ही प्रमाण कैसे मान लूँ?

उपसंहरति—

इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्ताद् व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्ध्यन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे।

इत्थं प्रतिपक्षिवाक्यस्याश्रद्धेयत्वेनाप्रामाण्येन। प्रागुक्तात् 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' इत्यादि-रूपात्। शब्दविशेषे रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दमात्रे। को नाम नैवकश्चित्। ईष्टे शक्नोति।

इदमुच्यते—'शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।'

इति तार्किकसिद्धान्तादिह व्याकरणादिशक्तिग्राहकप्रमाणान्तरानुपलम्भेऽपि पूर्वं कथितो व्यवहार एव काव्यपदस्य शब्दमात्रशक्तिग्रहे प्रमाणम्, तस्यापि शक्तिग्राहककोटावुल्लेखात्।

इस तरह जब कि 'शब्द और अर्थ' दोनों में काव्यपद की अभिधाशक्ति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, तब पूर्वोक्त व्यवहाररूप प्रमाण से शब्दमात्र में सिद्ध होने वाली काव्य-पद-शक्ति को कौन रोक सकता है।

एकतरपक्षे विनिगमनाविरहादुभयत्र शब्दार्थयोः काव्यशब्दशक्तिं स्वीकुर्वतां मतं निराकरोति—

एतेन विनिगमनाऽभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम्।

एतेन पूर्वोक्तव्यवहाररूपविनिगमकसद्भावेन । एकतरपक्षपातिनी युक्तिर्विनिगमना । प्रत्युक्तं खण्डितम् ।

इसी से 'शब्दमात्र को काव्य मानने में कोई विशेष युक्ति नहीं है, इसलिये 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य मानना चाहिये' इस तर्क का भी उत्तर हो जाता है, क्योंकि शब्दमात्र को काव्य मानने में पूर्वोक्त-लौकिक-व्यवहाररूप-विनिगमक (एकतरपक्षपातिनीयुक्ति) वर्तमान है ।

पर्यवसितमाचष्टे—

तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे, तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य ।

प्राक् प्रदर्शितव्यवहारैर्यदा काव्यपदस्य शब्दविशेषमात्रे शक्तिर्निर्धारिता, तदा तादृशशब्दमात्रवृत्त्येव काव्यस्य लक्षणं कथयितुमुचितम्, न पुनः शब्दार्थोभयवृत्तीति सारम् ।

इस तरह विशिष्ट प्रकारक शब्द को ही काव्य सिद्ध हो जाने पर तदनुसार शब्दमात्रगत-काव्यलक्षण बनाना उचित है, न कि अपनी ओर से काव्यरूप में कल्पित-शब्दार्थ युगल-गत लक्षण बनाना ।

स्वमतं द्रढयितुं प्रसङ्गादाह—

एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात् ।

एषैव शब्दविशेषमात्रवृत्तित्वस्वीकृतिरेव । गतिरुपायः। आदिपदेनेतिहासप्रभृतिपरिग्रहः । अन्यथा वेदत्वादेरपि शब्दार्थोभयवृत्तित्वस्वीकारे । दुरवस्थातत्तद्व्यवहारविरोधापत्तिः ।

'वेद उच्चैः पठ्यते' 'वेदादर्थोऽवगम्यते' 'वेदः श्रुतः, अर्थो न ज्ञातः' इत्यादितत्तद्व्यवहारेभ्यो वेदपुराणादिशब्दानामपि शब्दविशेष एव शक्तिमवधार्य शब्दविशेषमात्रवृत्त्येव वेदादिलक्षणं विधेयम् । शब्दार्थोभयवृत्तितल्लक्षणनिर्माणे तु काव्यवद् व्यवहारविरोधः स्फुट एवेत्याशयः ।

एतच्च 'स्वर्गविशेषजनकताऽवच्छेदकजातिभेदकफलोद्देश्यकभ्रमाजन्यप्रयत्नविषयवाक्यपरम्परा ग्रन्थः । तद्वृत्तिग्रन्थत्वं जातिः । ग्रन्थत्वव्याप्या एव वेदत्वादिजातयः ।' इत्यादिसन्दर्भेण काव्यप्रकाशविवरणे विस्तरेण प्रपञ्चितम् ।

स्वमत को पुष्ट करने के लिये प्रसङ्ग प्राप्त विषयान्तर की चर्चा करते हैं—'एषैव च' इत्यादि । वेद, पुराण, इतिहास, प्रभृति के लक्षणों के सम्बन्ध में भी यही उपाय करना होगा, अर्थात् इन सबों का लक्षण भी शब्दविशेष मात्र वृत्ती ही बनाना चाहिये अन्यथा वहाँ भी इसी तरह की गड़बड़ी होगी, कहने का तात्पर्य यह है कि—यदि शब्दार्थ समूह को वेद आदि मानेंगे तो 'वेद जोर से पढ़ा जाता है, वेद से अर्थ समझा जाता है, वेद सुना, अर्थ समझ में नहीं आया' इत्यादि व्यवहार विरुद्ध हो जायँगे ।

प्राचीनमतं पुनरापाद्यावद्यति—

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः । किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव ।

आहुरित्यनेन यत्त्वित्यन्वेति । अविशिष्टं तुल्यं साधारणमिति यावत् । रागस्य सङ्गीतानुशासनोक्त-गीतस्वरविशेषस्य भैरवादिसञ्ज्ञकस्य । गीतशब्दानां रसव्यञ्जकता ध्वनिकृता तृतीयोद्द्योते दर्शिता । लक्षणीयत्वापत्ते रागस्यापि रसव्यञ्जकतयाऽऽस्वादोद्बोधकत्वलक्षण-

लक्ष्यताऽवच्छेदकाक्रान्तत्वेन तत्र काव्यलक्षणातिव्याप्त्यापत्तेः। सर्वेषां नाट्याङ्गानां भरतोक्तानां मातोद्यकरणाङ्गहारादीनाम्। प्रायशो बाहुल्येन, तेन कस्यचित् तदभावोऽपि। तथात्वेना-स्वादोद्बोधकत्वेन। तथात्वापत्तिः। काव्यत्वातिव्याप्तिः।

'अलौकिकास्वादस्यैव काव्यस्य प्रधानप्रयोजनत्वेनाभियुक्तोक्तेस्तद्व्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वं वक्तुं युक्तम्। आस्वादव्यञ्जकता च क्वचिच्छब्दे क्वचिदर्थे क्वचिच्चोभयत्रेत्यनायत्या शब्दार्थयो-रेव काव्यत्वमभ्युपगन्तव्यम्, न पुनः शब्दमात्रे' इति केषांचिन्मतमसङ्गतम्, आस्वादव्यञ्ज-कत्वमात्रस्य रसव्यञ्जकेषु रागेषु कतिपयेषु नाट्याङ्गेषु चातिप्रसक्तत्वात्। न चेष्टाऽऽपत्तिः, तेषामुपदेशादिप्रयोजनान्तरानुत्पादकत्वादित्याकूतम्।

यहाँ मम्मट-मत-समर्थक कुछ लोग एक और नवीन तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कथन यह है कि—काव्य उसको कहना चाहिये, जिससे रस का उद्बोध होता हो, जिससे सहृदयों को अलौकिक आह्लाद प्राप्त होता हो और उस आह्लाद को देने की शक्ति शब्द और अर्थ दोनों में समानरूप से है, अतः 'शब्द और अर्थ' दोनों को काव्य कहना न्याय प्राप्त है। पण्डितराज का कथन है—आपका यह तर्क ठीक नहीं। यदि रस को उद्बुद्ध करने वाली जो भी चीज हो उसको काव्य माना जाय तो राग को भी काव्य मानना पड़ेगा क्योंकि ध्वनिकार 'आनन्दवर्धन' आदि सभी साहित्यिक मनीषियों ने राग को रस व्यञ्जक माना है। यदि आप कहें कि—राग को भी काव्य मान लेने में आपत्ति ही क्या है, तो सुनिये—रसव्यञ्जक होने से यदि किसी को काव्य माना जाय, तो फिर राग मात्र को ही काव्य मान लेने से छुटकारा थोड़े ही मिल जायगा, नाटक के जितने अङ्ग (नृत्य, वाद्य, नेपथ्य सामग्री, आदि) हैं सभी को काव्य मानना पड़ेगा, जो किसी को भी इष्ट नहीं हो सकता।

आंशिकं मतान्तरं निरस्यति—

एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम्।

एतेन रागादिष्वतिप्रसङ्गेन। रसोद्बोधसामर्थ्यं व्यञ्जना, तच्च शब्दवदर्थेऽप्यक्षतमित्यु-भयोरेव काव्यत्वम्। लक्ष्यत्वं काव्यत्वस्येति शेषः। अपिना पूर्वमतसंग्रहः।

इसी कारण से 'जो रसोद्बोधन में समर्थ हो—जिससे सहृदयों का आत्मानन्द जाग्रत् हो उठे—वही काव्यलक्षण का लक्ष्य है' यह कथन भी खण्डित समझना चाहिये।

उक्तमतानि पुनर्विकल्पोपन्यासेन दूषयति—

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्? प्रत्येकपर्याप्तं वा? नाद्यः, 'एको न द्वौ' इति व्यवहारस्येव 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारस्या-पत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् काव्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः।

प्रवृत्तिनिमित्तं शक्यताऽवच्छेदकम्, 'वाच्यत्वे सति, वाच्यवृत्तित्वे सति, वाच्योपस्थि-तिमकारत्वम्' इति तल्लक्षणस्यान्यत्राभिधानात्। व्यासक्तं व्यासज्यवृत्ति एकमेवोभयं व्याप्य तिष्ठत्। प्रत्येकमेकस्मिन्नेकस्मिन् शब्दे चार्थे च पर्याप्तं पर्याप्तिसम्बन्धेन विद्यमानम्, नतूभयवृत्ति। वाशब्दो विकल्पार्थकः। नाद्यः पक्षः सङ्गत इति शेषः, स च काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासक्तत्वप्रतिपादकः। द्वितीयस्तु प्रत्येकपर्याप्तत्वप्रतिपादकः।

प्रत्येकवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकस्य, व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितानिरू-पकस्य तु भेदस्येष्टत्वात् 'एको न द्वौ' इति व्यवहारः 'घटो न घटपटौ' इत्यादि व्यवहारवद् यथाभवति, तथैव प्रकृते काव्यत्वस्य शब्दार्थोभयव्यासज्यवृत्तितायाः स्वीकारे श्लोकवाक्यात्म-कशब्दमात्रपर्याप्तिविरहाच्छ्लोकवाक्यत्वावच्छिन्नानुयोगिताक-तादृशशब्दार्थोभयत्वावच्छिन्न-

प्रतियोगिताकभेदस्य सुवचत्वेन 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इति व्यवहारो भवेत्। शब्दमात्र-पर्याप्त्यङ्गीकारे तु भेदीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकानुयोगिताऽवच्छेदकयोरैक्याद् 'घटो न घटः' इत्यादिवत्त्र तथा व्यवहारस्यापत्तिः। शब्दे चार्थे च प्रत्येकमपि काव्यत्वं पर्याप्त्या वर्तत इत्यास्थाने पुनः शब्दांशे पृथक् काव्यत्वम् अर्थांशे च पृथक् तदादाय सर्वाभिमत एकस्मि-न्नपि काव्ये 'काव्यद्वयमिदम्' इति व्यवहारस्यापत्तिः। न चैतावता का क्षतिरिति वाच्यम्, तादृशस्थले 'नैकं काव्यम्' इत्याकारकौत्तरकालिकबाधग्रहविरहात् 'एकं काव्यम्' इति प्रमाऽऽत्मकप्रतीत्युच्छेदापत्तेरिति भावः।

महामहोपाध्यायगोकुलनाथचरणास्तु—'यद्यप्यर्थो न कविकर्म, तथाऽपि प्रथमप्रकाश्य-मेवात्र कर्माभिधीयते। अन्यथा शब्दनित्यतावादे मौनिना लिखित्वा ज्ञापिते च शब्देऽपि कविकर्मत्वं न स्यात्। तथाच विनिगमनाविरहादर्थविशेषावरुद्धः शब्द इव शब्दविशेषाव-रुद्धोऽर्थोऽपि लोकोत्तरचमत्कारव्यञ्जकतया काव्यमित्युभयोः प्राधान्येन निर्देशः। 'काव्यं शृणोति' इति व्यवहारस्त्वर्थांशेऽपि शाब्दबोधार्थकशृणोतिनोपपादयितुं शक्यते 'आत्मा श्रोतव्यः' इति वत्। यत्तु 'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली' इति वचनम्, तत्र व्यवच्छेदः समुच्चय एव, नत्ववच्छिन्नत्वम्, विनिगमनाविरहात्। 'रसवच्छब्दार्थोभयत्वं काव्य-लक्षणम्। तत्र गीतादावतिव्याप्तेर्वारणायार्थः, अभिनेयार्थवारणाय शब्दोऽप्युपात्तः।' इत्याहुः।

नागेशभट्टास्तु—'यदित्वास्वादव्यञ्जकत्वस्याप्युभयत्राप्यविशेषा चमत्कारिबोधजनकज्ञान-विषयताऽवच्छेदकधर्मवत्त्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्तलक्ष्यताऽवच्छेदक-स्योभयवृत्तित्वाच्च 'काव्यं पठितम्' 'श्रुतं काव्यम्' 'बुद्धं काव्यम्' इत्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते' इत्यादिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः[1] सङ्गच्छते। लक्षणयाऽन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वाद् 'एको न द्वौ' इति वन्न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्। एव मास्वादादौ वैलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि निर्बाधमिति नान्यमतमपि दुष्टमित्युच्यते, तत्त्वस्तु तथा।' इत्याचक्षते।

म० म० गङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—'अत्रेदमवधेयम्' 'तददोषौ शब्दार्थौ' 'अदोषं गुणवत् काव्यम्' इत्यादिषु प्रदर्शितानां दोषाभावगुणालङ्काराणां काव्यसामान्यलक्षणोद्देश्यताऽवच्छे-दककोटिप्रवेशो नास्त्येव। उद्देश्यता पुनः शब्दार्थयोरेव, न तु शब्दमात्रे, शब्दमात्रे कविसं-रम्भगोचरत्वायोगेन लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्मताया उभयत्राप्यविशेषात्, कव्युच्चारणकर्म-तायाः शब्दे, कविसमवेतरसबोधौपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानकर्मताया अर्थे सत्त्वात्। अर्थपदेन वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनस्त्रिविधस्यापि विवक्षायाः सर्वैरेवालङ्कारिकैस्त्रितयनिरूपणेना-वश्यमभ्युपगन्तव्यतया सर्वविधस्यापि व्यङ्ग्यस्य निरुक्तज्ञानकर्मतया काव्यत्वस्य दुर्वारत्वात्।

इत्थं च कविकर्तृकरसविषयकज्ञानौपयिकसामग्रीसङ्घटनविषयकज्ञानविषयत्वं शब्दार्थयो-रनुगतं काव्यत्वम् 'अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तु शब्दस्य सहकारिता' 'अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सह-

---

१ तथाच 'तदधीते तद्वेद। किमर्थमुभावप्यर्थौ निर्दिश्येते। न योऽधीते वेत्त्यप्यसौ। यस्तु वेत्त्य धीतेऽप्यसौ। नैतयोरावश्यकः समावेशः। भवतिहि कश्चित् सम्पाठं पठति नवेत्ति, तथा कश्चिद् वेत्ति, न च सम्पाठं पठति।' इति भाष्यम्। 'यो हि यं ग्रन्थमधीते, स तं स्वरूपतोऽवश्यं वेत्ति। यं च स्वरूपतो वेत्ति, सोऽवश्यमधीत इति भावः। नैतयोरिति—अर्थाववोधो वेदनमभिप्रेतम्, न तु स्वरूपमात्रवेदनम्। तत्र परस्परव्यभिचारदर्शनादुभयोपादानमित्यर्थः। सम्पाठमिति—अर्थनिरपेक्षं स्वाध्यायं पठतीत्यर्थः।' इति च तत्प्रदीपः।

कारितया मतः।' इत्युक्तदिशोभयस्यापि निरुक्तसामग्रीघटकतायाः सूपपादत्वात्। इत्थं च न लास्याङ्गानां काव्यत्वापत्तिः, तस्य कविकर्तृकनिरुक्तज्ञानविषयताया अभावात्, विषयान्तर-व्यासक्तसामाजिकमनसां तद्विषयाभिमुख्यपरिहारपूर्वकं काव्यार्थभावना प्रवणतासम्पादकत्वेन रसोद्बोधं प्रति परम्परया प्रयोजकत्वेऽपि प्रदर्शितसामग्रीघटकताया अभावाच्च।

अत एवार्थदोषाणामर्थगुणानामर्थालङ्काराणामर्थशक्तिमूलकध्वनीनां च निरूपणमुप-पद्यते। शब्दमात्रस्य काव्यत्वे तद्गतानामेव दोषगुणालङ्कारध्वनीनां निरूपणस्यौचित्येन भूयसामर्थगतानां तेषां निरूपणस्याप्रसक्त्या तन्निरूपणस्योन्मत्तप्रलापत्वापत्तेः। न च तेषा-मुत्तमाद्यन्यतमकाव्यपदार्थप्रवेशाभावेऽपि रसोपयोगितामात्रेण निबन्धनमुपपद्यत इति वाच्यम्, काव्याङ्गनिरूपणं प्रतिज्ञाय तेषां निरूपणस्यासङ्गत्यापत्तेर्दुस्समाधानत्वात्। प्रत्युत त्वदापादितप्रकारेण लास्याङ्गानां निरूपणीयताऽऽपत्तेस्त्वन्मत एव दोषत्वात्। एवं च 'काव्यं श्रुतम्' इत्यादिप्रतीतीनामपि ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तिताया महाभाष्यकारादिनिरु-क्तत्वेन 'ऋचः पठति' इत्यादिप्रतीतीनामिव भाक्तत्वमेव।

'एतेन वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति शब्दमात्रे काव्यसामान्यलक्षणयोगितां प्रतिजा-नानः, स्वयमेवाग्रे-दृश्यश्रव्यविभेदेन पुनः काव्यं द्विधामतम्' इत्यभिदधत्। पूर्वापरविरोधम-प्यनाकलयन् दर्पणग्रन्थोऽन्योऽपि तज्जातीयो ग्रन्थश्चिन्त्य एवेति सहृदया विभावयन्तु।' इति व्याहरन्ति।

तदेतन्निखिलमपि समासेन प्रदर्शितमस्माभिः साहित्यमीमांसायां काव्यलक्षणनिरूपण-प्रसङ्गेन।

'शब्द और अर्थ' दोनों काव्य नहीं हैं इस सिद्धान्त के समर्थन में पण्डितराज कुछ और नवीन युक्ति बतलाते हैं— 'अपिच' इत्यादि। इस सन्दर्भ का भाव यह है कि किसी समुदाय में ही रहने वाला धर्म व्यासज्यवृत्ति कहलाता है—जैसे द्वित्व, बहुत्व आदि, और एक में रहने वाला धर्म कहलाता है, प्रत्येक पर्याप्त जैसे मनुष्यत्व आदि। अब विचार यह करना है कि काव्य-पद-प्रवृत्ति-निमित्त (काव्यत्व) किस कोटि का धर्म है? शब्दार्थ समूह में रहने वाला, व्यासज्यवृत्ती? किंवा शब्द और अर्थ में रहने वाला, प्रत्येक पर्याप्त? अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य कहलाते हैं, अथवा प्रत्येक पृथक् पृथक्? यदि आप प्रथम पक्ष को कबूल करते हैं, तब तो जैसे 'एक, दो नहीं है, घट, घट-पटोभय नहीं है' ये सब व्यवहार होते हैं—अर्थात् एक में दो का भेद मानते हैं, दो के अवयव प्रत्येक एक को दो नहीं कह सकते, उसी तरह 'श्लोक वाक्य काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् श्लोक वाक्य को आप काव्य नहीं कह सकेंगे, क्योंकि वाक्य, काव्य का एक अवयव मात्र है। यदि द्वितीय पक्ष को अपनाते हैं, तब भी एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य है' ऐसा व्यवहार होने लगेगा, अर्थात् शब्दभाग को लेकर एक काव्य और अर्थभाग को लेकर दूसरा काव्य कहलायगा, इष्टापत्ति तो कर नहीं सकते, कारण? इष्टापत्ति करने से एक पद्य में होने वाली 'यह एक काव्य है' इस प्रमात्मक प्रतीति का उच्छेद हो जायगा। 'वह प्रतीति प्रमात्मक नहीं है' यह भी आप नहीं कह सकते, क्योंकि जब उत्तरकाल में बाध ज्ञान नहीं होता, तब उस प्रतीति को भ्रम कैसे माना जा सकता है।

पर्यवसितं निगमयति—

तस्माद् वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

शास्त्रं स्मृतिदर्शनादि। एवकारोऽर्थनिष्ठत्वं व्यवच्छिनत्ति। इह वक्तव्यं प्रागुक्तमेव।

इसलिये वेद, शास्त्र, (स्मृति, दर्शन प्रभृति) और पुराणों के लक्षणों की तरह काव्य का लक्षण भी शब्दनिष्ठ ही होना चाहिये। अर्थात् शब्दमात्र को काव्य मानना चाहिये,

शब्द-अर्थ दोनों को नहीं। यद्यपि महामहोपाध्याय 'गोकुलनाथ उपाध्याय', महावैयाकरण 'नागेशभट्ट' और महामहोपाध्याय 'गङ्गाधरशास्त्री' ने भिन्न-भिन्न युक्तियों से शब्द-काव्यत्व-वाद का खण्डन कर शब्दार्थ युगल में काव्यत्व को स्थिर किया है, तथापि मैं ग्रन्थ विस्तारभय से यहाँ उन सब युक्तिकों का उल्लेख नहीं करता हूँ। जिज्ञासुओं को संस्कृतटीका से उनका ज्ञान करना चाहिये।

इत्थं मम्मटभट्टोक्तकाव्यलक्षणघटकं विशेष्यदलं निरस्य विशेषणदलमपि निरसितुमुपक्रमते—

लक्षणे गुणालङ्कारादिनिवेशोऽपि न युक्तः, 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधिविषेधजीवनाभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः।

लक्षणे काव्यसामान्यलक्षणे। प्रथमेनादिपदेन दोषाभवाः, मध्यमेन सहचरीप्रभृतिः, चरमेण च वल्लभासत्तिप्रमुखं परामृश्यते। 'उदितं मण्डलं विधोः' इति चन्द्रबिम्बकर्तृकोदयक्रियाऽर्थकम्। दूत्याद्युदीरितशब्दानामभिसरणविध्यादिभिर्व्यङ्ग्यैः सह यथासङ्ख्यमन्वयः। तथा चाभिसरणस्य विधिर्व्यङ्ग्यो दूत्याः, निषेधोऽभिसारिकायाः, जीवनाभावश्च विरहिण्याः 'गतोऽस्तमर्कः' इति च सूर्यकर्तृकास्तङ्गमनार्थकम्। अव्याप्त्यापत्तिश्च तयोर्गुणालङ्काराभावात्।

यदि काव्यसामान्यलक्षणे सगुणत्वं सालङ्कारत्वं शब्दार्थयोर्निवेश्येत, तर्हि 'उदितं मण्डलं विधोः' इति वाक्यस्य दूत्या नायिकां प्रत्यभिहितस्याभिसारं कुर्वितिव्यञ्जकतया, अभिसारिकया दूतीं प्रति कथितस्य 'तमसां ध्वंसादिदानीं कथमभिसरिष्यामि' इति व्यञ्जकतया, विरहिण्योदीरितस्य 'वियोगवेदनाबाहुल्येन मम जीवनमधुनाऽसम्भवि' इति व्यञ्जकतया च काव्यत्वेन सर्वसम्मतस्यापि गुणालङ्कारवैधुर्यात्तत्त्वं न स्यादित्यव्याप्तिः स्पष्टैव। एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादावपि प्रकरणवैलक्षण्येन तत्तदर्थव्यञ्जकत्वेऽपि गुणालङ्कारविरहात् काव्यत्वस्याव्याप्तिरापद्येत। तस्मान्न सामान्यलक्षणे गुणालङ्कारनिवेशः समुचितः। न वा दोषाभावनिवेशोऽपि, तथा सति हि। 'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि पद्ये तत्तदर्थव्यञ्जकतया ध्वनिकारादिभिरुत्तमकाव्यत्वेनाभ्युपगतेऽपि द्विधा विधेया विमर्शदोषसंस्पर्शात् काव्यत्वस्यापि स्यादव्याप्तिरिति तात्पर्यम्।

प्रदीपकारास्तु—'नीरसे स्फुटालङ्कारविरहिणि न काव्यत्वम्, यतो रसादिरलङ्कारश्च द्वयं चमत्कारहेतुः। तथा च यत्र रसादीनामवस्थानम्, न तत्र स्फुटालङ्कारापेक्षा। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—'अत एव रसानुगुणार्थविशेषनिबन्धनमलङ्कारविरहेऽपि छायाऽतिशयं पुष्णाति।' इति तस्मात् सालङ्कारत्वमात्रं न विशेषणम्, किन्तु स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वम्।' इत्यवोचन्।

परेतु गुणालङ्कारयोः काव्ये सर्वत्र स्थितिरावश्यकी, तदभावे विच्छित्तिविशेषानाधानात् काव्यत्वमेव दुर्वचम्, तत्त्वस्य तत्प्रयोज्यत्वात्। अन्यथा चित्रवृत्तान्तवर्णनपराणामितिहासभागानामपि तत्त्वापत्तिः। अत एव 'नहि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेनात्मलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।' इति ध्वनिकारेणाप्युक्तम्। लोकदृष्टान्तस्त्वलौकिके काव्यवस्तुनि सर्वथा नोपयुज्यते। अन्यथा लोकविरुद्धा दुःखकारणेभ्योऽपि काव्ये सुखोत्पत्तिर्नोपपद्येत। विभावादिनिमित्तकारणनाशेऽपि रसरूपकार्यनाशाभावश्च लोकप्रतिकूलो नोपपद्येत। गुणसत्तया रससत्ताऽप्यवसातुं शक्यैव, व्यापकत्वात्। 'नहि प्रणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशाः' इति केनाप्युच्यते' इत्यादिः कस्यचिदुक्तिस्त्वाग्रहनिबन्धनैव, उपपादकवैधुर्यात्। अन्यथा मीमांसकाङ्गीकृताऽर्थापत्तिर्विहस्तीभवति। शब्दार्थयोर्गुणवत्ता तु व्यङ्ग्यव्यञ्जक-

भावेन 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्यभियुक्तोक्तेः। निर्गुणशब्दार्थयोः काव्यलक्षणाव्याप्तिस्त्विष्टैव, 'अचलस्थितयो गुणाः' इत्यभिधानात्। अलङ्कारस्त्वस्फुटोऽपि चमत्कारकः, स्फुटस्तु सुतराम्, 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताऽऽननम्' इतिप्रतिपादनात्। किञ्च नञोऽल्पार्थकत्वेन तस्या स्फुटत्वे तस्य च विवक्षितप्रतीत्यप्रतिबन्धकत्वे पर्यवसानाददोषत्वमपि काव्यसामान्यलक्षणघटकशब्दार्थविशेषणमुचितमेव। तथाच 'न्यक्कारः' इत्यादौ तत्तद्व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिजनितचमत्कृतिसम्पदा क्रशीयान् विधेयाविमर्शो विवक्षितां रसादिप्रतीतिं प्रतिबन्धुं तिरोहितशक्तिकत्वेन नेष्ट इति तत्र काव्यत्वाव्याप्तेरसम्भवः। तादृशकाव्यमेव 'दुष्टं काव्यम्' इत्यादि व्यवहारविषयः। 'त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतम्' इत्यादौ तु तादृशव्यङ्ग्यबोधनचमत्कारव्यतिरेकाद् दोषस्य तिरोधानविरहादकाव्यत्वमिष्टमेव' इत्याहुः।

इस तरह मम्मटोक्त लक्षणों में विशेष्य दल का खण्डन हो चुका, अब विशेषण दल का खण्डन करने के लिये लिखते हैं—'लक्षणे गुणालङ्कार' इत्यादि। मम्मट ने जो काव्य लक्षण में 'शब्दार्थौ' के साथ सगुण, सालङ्कार और अदोष ये तीन विशेषण लगाये हैं, वे भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि गुण और अलङ्कार के रहने पर ही काव्य कहलावे, तब 'उदितं मण्डलं विधोः' (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) और 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हुआ) ये सब वाक्य गुण तथा अलङ्कार से रहित होने के कारण काव्य नहीं कहे जा सकेंगे। यदि आप पूछें कि—इन वाक्यों को काव्य मानते ही क्यों हैं? इनको काव्य माना ही जाय, यह जरूरी तो है, नहीं, फिर अगर ये वाक्य काव्य कहलावें, तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि—चमत्कारी व्यङ्ग्य अर्थ (जो काव्य का जीवन माना गया है) जब यहाँ है तब उन वाक्यों को काव्य कैसे नहीं मानें? अर्थात्—उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम वाक्य को जब कोई दूती बोलती है, तब 'चान्दनी बरस रही है, मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है, अब कांटे चूभने का भय नहीं, अतः सौक से तुम अभिसार करने के लिये सङ्केत स्थान पर जा सकती हो' यह व्यङ्ग्य अर्थ ज्ञात होता है। उसी वाक्य को जब अभिसारिका स्वयं बोलता है, तब 'चन्द्रमा के इस प्रसन्न प्रकाश में सङ्केत स्थान तक कैसे जाऊँ? दूर से भी देख कर लोग मुझे पहचान लेंगे, फिर तो मेरी सब प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायगी' यह व्यङ्ग्य स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि वह वाक्य विरहणी के मुख से निकलता है, तब 'उद्दीपक इस चन्द्रिका को देख कर मेरी विरह वेदना अत्यधिक बढ़ रही है अतः अब मेरा मरण निश्चित है' यह व्यङ्ग्य विदित होता है। द्वितीय वाक्य से भी प्रसङ्ग भेद प्रयुक्त असंख्य व्यङ्ग्य अवगत होते हैं, जैसे चरवाहों को 'अब गायों को रोको,' दूर जाने वाले पथिकों को 'अब आगे नहीं जाना चाहिये' दिन भर धूप में चलने वालों को 'अब ताप नहीं है' धार्मिकों को 'अब सन्ध्या की उपासना करनी चाहिये' इत्यादि व्यङ्ग्य ज्ञान होता है। अतः इन वाक्यों को काव्य मानना आवश्यक है।

संस्कृत टीकाकार महोदय ने यहाँ भी प्राचीनों की विविध युक्तियों का विवरण देकर बहुत कुछ मम्मट-मत की मरमती की है, जिसको जिज्ञासुजन संस्कृत टीका देख कर समझें।

पुनराशङ्क्य समादधाति—

न चेदमकाव्यमिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। गुणत्वालङ्कारत्वादेरननुगमाच्च। 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च।

इदम् 'उदितं मण्डलं विधोः' इति वाक्यम्। अकाव्यं गुणालङ्कारहीनत्वात्। चमत्कारित्वं चमत्कारः।

ननु 'उदितम्' इत्यादौ गुणालङ्कारशून्यत्वादव्याप्तिरिष्टैवेति चेत्, मैवम्, यतश्चमत्कृतिरेव काव्यतायाः प्रधानं साधनम्। तान्तु गुणालङ्कारापेक्षया भूयसीमेव त्रिविधं व्यङ्ग्यमु-

त्पादयति । तच्च वस्तुस्वरूपमिहापि चकास्त्येवेति कुतः काव्यत्वाव्याप्तिः । अन्यथा पटैः प्रकाशकारादिभिर्गुणालङ्कारयुक्तत्वाद् यत् किञ्चित् काव्यमित्यङ्गीक्रियते, तदस्माभिरपि व्यवस्थापकविरहादकाव्यमित्युच्येत । तस्माच्चमत्कार एव प्राधान्येन तत्त्वप्रयोजकोऽङ्गीकार्यः । इत्थं चमत्कृतेरिहाप्यनुव्यवसीयमानतयाऽकाव्यत्वमस्य वक्तुं न युक्तम् । किञ्च गुणानामलङ्काराणां च प्राचीननवीनमतभेदेनानियमाद् गुणत्वमलङ्कारत्वं चानुगतं न सम्भवतीति कथं तयोः काव्यलक्षणे प्रवेशः स्यात् ।

यदि च 'रसवृत्तित्वे सति रसोपयोगित्वम्' गुणत्वम्, 'शब्दार्थान्यतरवृत्तित्वे सति परम्परया रसोपकारकत्वम्' अलङ्कारत्वं चानुगतमित्युच्यते, तर्हि शब्दार्थयोरिहादोषाविति विशेषणाद् दोषाभाव एव काव्यत्वाद् दुष्टं काव्यम्' इति सर्वजनीनव्यवहारस्यानुपपत्तिरेवापत्तिः प्रतिपत्तव्या । न च 'दुष्टं काव्यम्' इत्यत्र काव्यपदस्य गुणालङ्कारमात्रवत्त्वेन काव्यसदृशे शब्दार्थोभये लक्षणेत्यपि वक्तुं युक्तम्, काव्यलक्षणे दोषाभावनिवेशे बलवत्प्रमाणविरहेण मुख्यार्थान्वयबाधलक्षण-लक्षणाकारणवैधुर्येण लक्षणाया असम्भवात् । अधिकमिह वक्तव्यं तु प्रागुक्तमेव ।

'यह काव्य नहीं है' ऐसा आप किसी तरह नहीं कह सकते, कारण? काव्य के जीवातुभूत चमत्कार के रहने पर भी यदि आप उन वाक्यों को काव्य नहीं मानेंगे तो आप जिसे काव्य मानेंगे, उसको भी दूसरे काव्य मानने के लिये तैयार नहीं होंगे। काव्य लक्षण में गुण और अलङ्कार के निवेश को असङ्गत सिद्ध करने का यह भी दूसरा पर्याप्त कारण है कि—गुणत्व और अलङ्कारत्व का अनुगमनी नहीं है—अर्थात् आज तक यह निश्चित नहीं हो सका कि गुण और अलङ्कार क्या हैं, कितने हैं, भिन्न-भिन्न अलङ्कारिक उनकी भिन्न-भिन्न संख्या मानते हैं। इस स्थिति में अनुगमक लक्षण में उनका निवेश अनुचित है, क्योंकि जो स्वयम् अननुगत (अनिश्चित) हैं, वे दूसरे को अनुगत (निश्चित) नहीं बना सकते । यदि आप 'रस में रह कर जो साक्षात् रस को उपकृत करे वह गुण है और जो शब्द अथवा अर्थ में रह कर परम्परया रस का उपकार करे, वह अलङ्कार है' इस तरह गुण और अलङ्कारों का अनुगम कर दिखायेंगे, तब भी 'दोष रहित' कहना तो अनुचित ही है, क्योंकि लोक में 'यह काव्य दुष्ट है' ऐसा व्यवहार होता है। अर्थात् काव्यपद दोष रहित ही में नहीं अपितु दोष सहित में भी प्रयुक्त होता है। यदि आप कहें कि—दोष सहित में काव्यपद का प्रयोग मुख्य नहीं, गौण है—अर्थात् निर्दोष वाचक काव्य पद की सदोष में वहाँ लक्षण है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण? मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि अथवा प्रयोजन (जो लक्षण के कारण माने गये हैं) के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती ।

प्राचीनमतेन पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्, 'मूले महीरुहो विहङ्गमसंयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्यं पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तिताया अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानां हारादिवदुपस्कारकाणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च ।

स्वरसवाहिनः स्वारसिकस्य । विश्वजनीनानुभवस्य सर्वलोकानुकूलप्रत्यक्षस्य । अपिः पूर्वोक्तखण्डनहेतुं समुच्चिनोति । तस्य दोषाभावस्य । अयोगादसम्भवात् ।

यथा तार्किका वृक्षस्य मूलावच्छेदेन पक्षिसंयोगं शाखाऽवच्छेदेन तदभावं चावसाय पक्षिसंयोगाभावं तत्राव्याप्यवृत्तिं मन्वानाः 'पक्षिसंयोगवान् वृक्षः पक्षिसंयोगाभाववान्' इति व्यवहरन्ति, तथैव प्रकृते काव्ये यत्किञ्चिद्देशावच्छेदेन दोषस्य तदितरदेशावच्छेदेन दोषाभावस्य च सम्भवादव्याप्यवृत्तिं दोषाभावमादाय 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहारः सम्भवत्येवेति न काचिदनुपपत्तिरितिचेत् , स्यादेवम् , यदि तद्वत् 'इदं वाक्यं पूर्वार्धावच्छेदेन (दोषविरहात्) काव्यम् , उत्तरार्धावच्छेदेन तु (दोषवत्तया) अकाव्यम्' इति सर्वलोकानुभवः स्यात् । स एव तु नानुव्यवसीयते । तर्हि कथमव्याप्यवृत्तित्वं दोषाभावस्य स्वीकर्तुं शक्यम्। तस्याव्याप्यवृत्तित्वाभावे वा कथं व्यवहार उपपद्यताम् । अथ यदि काव्यस्य सामान्यलक्षणे दोषाभावमनिवेश्य विशेषलक्षणे च निवेश्य काव्यसामान्यतात्पर्येण 'दुष्टं काव्यम्' इति व्यवहार उपपाद्येत, तदा सगुणौ सालङ्काराविति विशेषणद्वयमेव सब्दार्थयोर्नोपपद्यत इति दोषस्तदवस्थ एव । तथाहि—यथा शौर्यादयो गुणा लोकस्यात्मनिष्ठा; हारादयश्चालङ्काराः शरीरनिष्ठाः, नतु शरीरीभूताः, तथा माधुर्यादयो गुणाः काव्यस्य रसनिष्ठाः, अनुप्रासोपमाऽऽदयश्चालङ्काराश्शब्दार्थनिष्ठाः, नतु तद्रूपा एवेति शब्दार्थलक्षणस्य काव्यस्य सगुणत्वादिविशेषणानुपपत्तिरिति तात्पर्यम् ।

वस्तुतस्त्वलङ्काराणामुपस्कारकत्वेऽपि शब्दार्थाव्यतिरेकस्य ध्वनिकाराद्यङ्गीकारान्न शरीरघटकत्वानुपपत्तिः । समाधानान्तरमपि प्रागुक्तरीत्या विधेयम् ।

'अदोष' इस विशेषण को सङ्गत सिद्ध करने के लिये प्राचीनों ने एक और नवीन युक्ति दी है, उसका भी खण्डन करते हैं 'न च संयोगाभाववान्' इत्यादि । पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि जैसे एक ही तरु के मूल देश में पक्षि प्रभृति का संयोग और शाखा देश में उसका अभाव जब रहता है, अर्थात् वृक्ष की जड़ में पक्षी बैठा हो और डाल पर वह न बैठा हो तब 'संयोगाभाववान् वृक्षः संयोगी' (संयग रहित वृक्ष संयोग वाला है) ऐसा व्यवहार होता है, उसी तरह एक भी वाक्य अंश भेद से दोष रहित (काव्य) और दुष्ट (अकाव्य) कहलायगा । परन्तु यह कथन भी उनका उचित नहीं, क्योंकि 'मूले महीरुहो विहङ्गम संयोगी न शाखायाम' (वृक्ष की जड़ में पक्षी है और डाल पर नहीं) ऐसी स्वारसिक प्रतीति सब लोगों को होती है, अतः संयोग को अव्याप्यवृत्ती माना है, तद्‌वत् यदि 'यह पद्य पूर्वार्ध में काव्य है और उत्तरार्ध में नहीं' ऐसी प्रतीति होती रहती, तो काव्यत्व को भी अव्याप्यवृत्ती मान सकते थे, सो होती नहीं । अर्थात् अवाप्यवृत्ती पदार्थ ही एक आधार पर अंश भेद से कहीं रहता, कहीं नहीं भी रहता, जैसे, उक्त संयोग। जो पदार्थ व्याप्यवृत्ती है, (जैसे काव्यत्व) वह तिल में तेल जैसे जब रहेगा, तब सम्पूर्ण आधार में ही, नहीं तो कहीं नहीं, अतः उक्त दृष्टान्त के मुताबिक दोष रहित दुष्ट' यह व्यवहार नहीं हो सकता है । एक बात और है—जिसके कारण गुण तथा अलङ्कार काव्यलक्षण में प्रविष्ट नहीं हो सकते । वह यह है कि जिस तरह सुरता एवं वीरता प्रभृति आत्मा के धर्म हैं, शरीर में नहीं रह सकते, वैसे ही गुण भी काव्यात्मा रस के धर्म हैं, शब्द और अर्थ (जो काव्य के शरीर हैं) में नहीं रह सकते हैं और जिस तरह अलङ्कार (हार आदि) शरीर को शोभित करने वाली चीजें हैं, शरीर के अवयव नहीं, उसी तरह काव्यालङ्कार, अनुप्रास, उपमा प्रभृति काव्य शरीर–शब्दार्थ को अलङ्कृत करने वाले हैं, अतः उसके (शरीर स्थानीय शब्द अर्थ के) अवयव नहीं हो सकते हैं ।

पर्यन्ते विश्वनाथकृतं काव्यलक्षणमाक्षिपति—

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् , तन्न, वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । नचेष्टाऽऽपत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्या-

कुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि, कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि कथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेतिवाच्यम्, ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।

रसवद् रसादिव्यञ्जकं वाक्यमितिशेषः। यस्त्वलङ्कारप्रधानानां प्रधान्येन वस्तुव्यञ्जकानाम् 'पन्थिअ ! ण एत्थ' इत्यादीनाम्, प्राधान्येनालङ्कारव्यञ्जकानाम् 'महिलासहस्सभरिए' इत्यादीनां च। अकाव्यत्वापत्ते रसादिव्यञ्जकत्वाभावात्। सम्प्रदायः पारम्परिकः समुदाचारः। आकुलीभाव उच्छेदः। तथा चेत्यादीना सम्प्रदायस्य प्रदर्शनम्। जलस्य प्रवाहो निपतनं नीचैर्गमनम्, उत्पतनमुच्चैर्गमनं च। कपीनां बालानां बालिकानां च विलसितानि क्रीडाश्चेष्टा वा। आदिपदेन पक्षिप्रभृतीनां परिग्रहः। तत्रापि जलप्रवाहादिवर्णनेष्वपि। यथाकथञ्चित् परम्परया स्वव्यञ्जकविभावादिप्रतिपादकत्वेन। स्पर्शः सम्बन्धः। अतिप्रसक्तत्वेनातिव्याप्तत्वेन। अप्रयोजकत्वान्निष्फलत्वात्। अर्थमात्रस्य सर्वेषामेव पदार्थानाम्।

रसादिव्यञ्जकवाक्यमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे काव्यत्वेन सर्वानुमतेष्वपि वस्तुमात्रस्यालङ्कारमात्रस्य वा व्यञ्जकेषु वाक्येष्वव्याप्तिः। तदापत्तेरभ्युपगमे तु प्राचीनसम्प्रदायस्योच्छेदः। तद्रक्षायै तेषु विभावादिद्वारकरसादिसम्बन्धकल्पनायां तु 'गौश्चलति' इत्याद्यचमत्कारकवाक्येष्वतिव्याप्तिः स्यादितिसारम्।

इह शब्दमात्रस्य काव्यत्वाङ्गीकारे पुरस्तात् प्रतिपादितानि दूषणान्यप्याकलनीयानि।

शास्त्रिचरणास्तु—'प्रकृते रसरूपेण परिणंस्यमानरत्यादिविषयकसंस्कारोद्बोधकताया असार्वत्रिकत्वादियं प्रौढिः, विशिष्टवाक्यार्थानां रसतात्पर्यकत्वाभावे तत्सामग्रीघटकोद्बोधकताया अभावात्। यत्र त्वस्ति तत्तात्पर्यकत्वम्, तत्राक्षेपादिष्यत एव विशिष्टबोधजननमुखेन चमत्कारित्वम्। यथाऽऽह—

> 'सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
> झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥' इति।

एवञ्च जलप्रवाहादिवर्णनेऽप्युक्तरीत्या महावाक्यार्थधीद्वारा वा रसोद्बोधकत्वस्य सत्त्वात् काव्यत्वस्य न क्षतिः।' इति व्याजह्रुः।

अब पण्डितराज, दर्पणकार विश्वनाथकृत काव्य लक्षण की खण्डनात्मक समीक्षा करते हैं—'यत्तु' इत्यादि। 'विश्वनाथ' ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है, उनके हिसाब से काव्य में रस का रहना नितान्त आवश्यक है, उसके बिना कोई वाक्य काव्य नहीं कहला सकता। परन्तु उनका उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं जँचता। कारण ? यदि उनका कथन मान लिया जाय, तब जिन काव्यों में वस्तु-वर्णन अथवा अलङ्कार-वर्णन ही मुख्य है—अर्थात् 'पथिक ! नात्र संस्तरमस्ति, महिलासहस्रभरिते' इत्यादि स्थलों में जहाँ क्रमशः वस्तुव्यङ्ग्य तथा अलङ्कारव्यङ्ग्य का बोध ही चमत्कारजनक है—वे सब काव्य, काव्य नहीं कहला सकेंगे। वे सब वाक्य काव्य नहीं ही हैं, ऐसी इष्टापत्ति तो नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसी इष्टापत्ति करने पर महाकवियों की चिरकाल से आने वाली व्यावहारिक परम्परा उच्छिन्न हो जायगी। उन लोगों ने समय-समय पर जल के प्रवाह, वेग, पतन, उच्छलन और भ्रमण, एवं बन्दरों और बालकों की क्रीड़ाओं का वर्णन अपने में किया है। क्या आप उनको अकाव्य कहेंगे ? यदि आप कहें कि नहीं जी, हम उनको अकाव्य क्यों कहेंगे, वे सब काव्य हैं और इसलिये काव्य हैं, कि उनमें रस का स्पर्श है, क्योंकि वे सब वर्णित

पदार्थ किसी न किसी रस के उद्दीपन विभाव ही तो रहते, फिर रस का सम्बन्ध तो हो ही गया। इसका उत्तर पण्डितराज कहते हैं वाहजी, ऐसा रस स्पर्श भी कहीं काव्य कहलाने का कारण हो सकता है ? यदि हाँ, तो फिर 'गौश्चलति, मृगो धावति' (बैल चलता है, मृग दौड़ता है) ये सब वाक्य क्यों नहीं काव्य कहलाते ? जब कि किसी तरह रसस्पर्श यहाँ भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सभी वस्तुएँ विभाव-अनुभाव अथवा व्यभिचारी भाव हो सकती हैं, फिर तो दुनिया के सभी वाक्य काव्य कहलाने लग जायँ। अतः रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानना युक्तिसङ्गत नहीं। म० म० गङ्गाधर शास्त्रीजी ने यहाँ भी पण्डितराज के मत का खण्डन किया है, उनकी विचारशैली संस्कृत टीका में देखनी चाहिये।

इत्थं काव्यस्य लक्षणं निरूप्य कारणं निरूपयति—

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणताऽवच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वा खण्डम्।

तस्य काव्यस्य। चस्त्वर्थकः। कविगता कविसमवेता। केवला तन्मात्रम्, न तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि। प्रतिभा नव नवोन्मेषशालिनी बुद्धिः, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते।' इति प्राच्योक्तेः। सा प्रतिभा। काव्यस्य घटनाया रचनाया अनुकूलस्य जनकस्य शब्दार्थोभयस्य उपस्थितिः स्मृतिझटिति स्फूर्तिरिति यावत्। अनुकूलत्वान्तमुपस्थितिविशेषणं वा। तद्गतं प्रतिभानिष्ठम्। स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धेन काव्यं प्रति समवायेन प्रतिभा कारणमिति कार्यकारणभावात्मकानुकूलतर्कमूलकात् 'स्वविषयकज्ञानसमवायित्वसम्बन्धावच्छिन्नकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतिभानिष्ठा कारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्, घटनिष्ठकारणतानिरूपितदण्डनिष्ठकारणतावत्' इत्यनुमानात् सिद्धः प्रमाणितः, 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' इति जातिलक्षणसमन्वयाच्च जातिविशेषः। उपाधित्वस्य त्यागे जातित्वस्य चाङ्गीकारे तत्र बीजानुपलम्भान्नीलघटत्ववत् सखण्डोपाधिरूपं वा प्रतिभात्वम्। तस्य च नवनवोन्मेषशालित्ववैशिष्ट्याद्खण्डत्वासम्भवाद् 'अखण्डम्' इति पाठस्त्वसङ्गत एव।

काव्ये प्रतिभामात्रस्य कारणत्वं तु न विचारसहम्, अनुपहसनीयकाव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताया दण्डचक्रादिन्यायेन प्रत्येकं प्रतिभाप्रभृतिषु त्रिष्वपि स्वीकारस्यापरिहार्यत्वात्। तथा चाहुः शास्त्रिणः—अत्र 'प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्, भृशोत्पत्तिकृदभ्यासः' इति क्रमेण विशिष्टकाव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकतावाद एवोपपन्नः। शक्तिर्हि द्विविधा उत्पादिका व्युत्पादिका च। आद्यया पदसङ्घातस्य योजनेऽपि, द्वितीयस्या अभावे विनेयसमवेतविलक्षणवाक्यार्थधियोऽसम्भवेन लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यस्य कविगतस्याभावाद् विशिष्टकविकर्मतायास्तत्सत्त्व एव सम्भवात्। तत्र द्वितीयैव निपुणता नाम। अभ्यासो लोकोत्तरत्वं प्रत्येवोपयुज्यते। तथा च लोकोत्तरवर्णनानिपुणताविशिष्टकविकर्मरूपं काव्यं प्रति त्रितयस्यैकसामग्रीघटकत्वमुचितमेव।' इति।

इदं पुनरिहावगन्तव्यम्—केचन 'मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य। अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः शक्तिशब्दव्यपदेश्यं कवित्वबीजभूतं भावनामयं वासनास्वरूपं वा देवताप्रसादादिजन्यं संस्कारविशेषं काव्यकारणीभूतप्रतिभात्वेनोररीकुर्वन्ति। तथा च 'प्रणिधानसहकृते चेतसि यो झटित्युद्बुध्यते

क्लिष्टपदपदार्थगोचरः संस्कारः, सा प्रतिभा विद्वदादिपदप्रवृत्तिनिमित्तम्।' इति तदीयमाख्यानम्।

परे तु 'असौ कविरमुं विषयं घटयत्विति सारस्वतेच्छास्वरूपं देवताप्रसादमेव शक्तिमभिधाय तत्त्वेनाभिदधते। अपरे तु देवताप्रसादादिजन्यमदृष्टमेव प्रतिभामभ्युगत्य कवित्वस्य निमित्ततयाऽचक्षते।

तत्र नाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, संस्कारस्य तादृशस्मृत्यात्मकस्फूर्तिमात्रजनकत्वेन काव्यं प्रत्यजनकत्वात्, 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभोच्यते' इति कोशानुशासनविरोधाच्च। न वा द्वितीयः, तादृशदेवतेच्छायाः कालादिवत्साधारणकारणत्वेनासाधारणकारणतया परिगणनानुपपत्तेः। नापि तृतीयः, कार्यमात्रं प्रत्यदृष्टस्यापि साधारणकारणताया एव सर्वसम्मतत्वात्, अदृष्टस्य प्रतिभाकारणताया वक्ष्यमाणत्वेन काव्यं प्रत्यन्यथासिद्धेर्दुर्वारत्वाच्च।

तस्मादुल्लिखितकोशसाहाय्येन काव्यघटनानुकूलपदपदार्थविषयकझटितिस्फूर्तिवपुषं बुद्धिविशेषमेव प्रतिभापदार्थं काव्यजनकतया निश्चिन्वन्त्यर्वाञ्चः।

पूर्वोक्त रीति से काव्यलक्षण निरूपण कर लेने के बाद पण्डितराज काव्यकारण का निर्देश करते हैं—'तस्य च कारणम्' इत्यादि। मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने 'शक्ति, निपुणता और अभ्यास' इन तीनों को काव्य के प्रति कारण माना है। परन्तु पण्डितराज ऐसा नहीं मानते, वे कहते हैं—केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है और प्रतिभा कहते हैं—काव्यनिर्माण के लिये जो शब्द तथा अर्थ अनुकूल, उपयुक्त हों, जिनसे काव्य निर्माण हो सके, उनकी उपस्थिति को, अर्थात् काव्यनिर्माण के लिये जहाँ जिस शब्द की और जिस अर्थ की आवश्यकता हो, वहाँ तत्काल उसका स्मरण हो जाना प्रतिभा है। कोशकार ने भी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कही है। प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व एक जाति विशेष है, जिसकी सिद्धि के प्रसङ्ग में निम्नलिखित बातें समझनी चाहिये—जाति की सिद्धि दो प्रकार से होती है, किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुगताकार (एक तरह की) प्रतीति से होती है, जैसे घटत्व आदि जाति की सिद्धि सब घटों में होने वाली 'घटः, घटः' इस तरह की एकाकार आपामर प्रतीति से होती है और किसी-किसी जाति की सिद्धि अनुमान से होती है, जैसे द्रव्यत्व आदि जाति की। अब हमें यह विचार करना है कि प्रसङ्ग प्राप्त प्रतिभात्व जाति की सिद्धि कैसे होगी? उत्तर यह है कि अनुमान से। अर्थात् स्व (काव्य) विषयक-ज्ञान-समवायित्व-सम्बन्ध से काव्य के प्रति समवाय सम्बन्ध से प्रतिभा कारण है, इस कार्यकारण भाव के सिद्ध हो जाने पर तन्मूलक अनुमान (जिसका आकार संस्कृत टीका में लिखित है) प्रतिभात्व जाति की सिद्धि होगी। आशय यह है कि सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न हुआ करती हैं, अतः प्रतिभा में रहने वाली कारणता भी किसी धर्म से अवच्छिन्न अवश्य होगी और वह धर्म प्रतिभात्व से अतिरिक्त हो नहीं सकता। यद्यपि यहाँ भी यह शङ्का उपस्थित की जा सकती है कि—उक्त अनुमान से जिस प्रतिभात्व की सिद्धि हुई, वह जातिरूप है, धर्ममात्र नहीं, इसमें क्या प्रमाण? इसका उत्तर यह है कि उस प्रतिभात्व को धर्ममात्र मानने से उसका अनन्त ध्वंस, अनन्त प्रागभाव और अनन्त सृष्टि मानने पड़ेंगे, क्योंकि धर्मरूप में वह प्रतिभात्व अनित्य ही होगा। इसी गौरव के भय से प्रतिभात्व को नित्य जाति मान लेते हैं, ऐसा मान लेने से कोई क्षति हुई ही नहीं और लाघव हुआ, सो लाभ अलग। अथवा प्रतिभात्व को जाति न मान कर नीलघटत्व के ऐसे सखण्ड उपाधि ही मान लें।

काव्यकारणीभूतायाः प्रतिभायाः कारणमाह—

तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्, क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ।

तस्याः प्रतिभायाः। क्वचिन्न तु सर्वत्र। महापुरुषा विपुलतपोमाहात्म्यभाजः सिद्धपुरुषाः। प्रसादोऽनुग्रह इत्यनर्थान्तरम्। आदिपदेनोग्रतपस्याप्रभृतेः परिग्रहः। अदृष्टं पुण्यम्। विलक्षणा नानविधलोकवृत्त-शास्त्र-काव्येतिहासप्रभृतिपर्यालोचनप्रसूता, व्युत्पत्तिर्निपुणता विशिष्टज्ञानमिति यावत्। विलक्षणः काव्यज्ञशिक्षाप्रयोज्यः। काव्यस्य करणे निर्माणेऽभ्यासः पौनःपुन्येन प्रवृत्तिश्च हेतुरिति शेषः।

कस्यचिद् देवताऽऽदिप्रसादजन्यादृष्टेनैव, कस्यचित् पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेवोत्पादिता प्रतिभा काव्यं जनयतीतिसारम्।

काव्यकारणीभूत प्रतिभा का क्या कारण है, इसका अब विचार करते हैं—'तस्याश्च हेतुः' इत्यादि। प्रतिभा के कारण दो हैं—एक तो, किसी देवता अथवा किसी महात्मा पुरुष की प्रसन्नता से उत्पन्न भाग्यविशेष और दूसरा—विलक्षण (विविध लोकाचार, शास्त्र, काव्य, इतिहास, प्रभृति के पर्यालोचन से होने वाली) व्युत्पत्ति (निपुणता—विशिष्ट ज्ञान) और पुनः पुनः काव्य बनाने का अभ्यास—अर्थात् किसी में देवता या महात्माओं की कृपा से नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरूपा प्रतिभा उत्पन्न होती है और किसी में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा उत्पन्न होती है, दोनों ही प्रतिभाओं का कार्य यह होता है कि काव्यधारा प्रवाहित हो उठती है—उक्त प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति काव्य-निर्माण करने में सफल सिद्ध होता है।

अदृष्टादीनां स्वातन्त्र्येण प्रतिभां प्रति कारणत्वं व्यवस्थापयति—

न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनाऽपि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः।

त्रयमदृष्टं व्युत्पत्तिरभ्यासश्च, कारणमिति शेषः। तौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ। प्रसादपदं तज्जन्यादृष्टपरम्। प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनादिति शेषः।

अयं भावः—प्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमणिन्यायेनैव कारणता, अन्यथा कर्णपूर[1]प्रभृतीनां बाल्य एव व्युत्पत्त्यभ्यासवैधुर्येऽपि प्रतिभोत्पत्तेर्दर्शनाद् व्यभिचारः स्यात्। पृथक्कारणत्वे तु कार्यताऽवच्छेदककोटावव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेन व्यभिचारो वारणीयः।

नागेशभट्टास्तु—'विलक्षणत्रितयजन्यप्रतिभा चातिविलक्षणा, तज्जन्यं काव्यं चातिविलक्षणमेवेति न दोषः' इति वदन्ति।

प्रतिभा के प्रति अदृष्ट, पृथक् और व्युत्पत्ति तथा अभ्यास, पृथक् कारण हैं, सम्मिलित नहीं, इसी बात को युक्ति से स्पष्ट करते हैं—'न तु त्रयमेव' इत्यादि। कहने का भाव यह है कि अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास ये तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते हैं, ऐसी बात नहीं है, अपितु पूर्वोक्त रीति से कहीं अदृष्ट स्वतन्त्र तथा प्रतिभा का उत्पादक होता है, और कहीं व्युत्पत्ति तथा अभ्यास मिलकर प्रतिभा की सृष्टि करते हैं। यदि तीनों मिलकर ही प्रतिभा की सृष्टि करें, तब तो किसी बालक में महापुरुषों के कृपामात्र से जो प्रतिभा उत्पन्न होती देखी गई है, (कवि कर्णपूर के विषय में इस तरह की किंवदन्ती है) वहाँ उक्त कार्यकारणभाव व्यभिचरित हो जायगा, अर्थात् जिस बच्चे ने कभी व्युत्पत्ति नहीं बनायी, अभ्यास नहीं किया फिर भी उसमें केवल महापुरुष कृपा से प्रतिभा उत्पन्न हो गई, उसमें सम्मिलित कारणवादी के हिसाब से कारण के बिना ही कार्य हुआ, इसी को व्यभिचार कहते हैं।

---

१. पञ्चवर्षवयस्कस्य मूकस्य कर्णपूरस्य मुखे प्रसद्य श्रीकृष्णचैतन्येनाङ्गुल्यग्रं प्रवेश्य सद्यो विलक्षणा कविताशक्तिराविर्भावितेति जनश्रुतिः।

दर्शितस्य व्यभिचारस्य वारणमाशङ्क्य निरस्यति—

न च तत्र तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम्, गौरवान्मानाभावात् कार्यस्यान्यथाऽप्युपपत्तेश्च ।

तत्र महापुरुषादिप्रसादमात्रात् प्रतिभोत्पत्तिस्थले । तयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः । तस्मिन्नेव बालेऽन्यस्मिञ्जन्मनि विद्यमानयोः । कल्पनमनुमानम् । न चेति वाच्यमित्यनेनानुषक्तम् । गौरवं तादृशानुमानविधानेन । मानाभावस्तत्त्रितयस्य समुदितस्य कारणतायाम् । कार्यस्य प्रतिभायाः । अन्यथाऽपि केवलादृष्टेनापि ।

यथा नास्तिकग्रन्थेषु मङ्गलाभावेऽपि समाप्तिदर्शनादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयं तन्मङ्गलमनुनीयते, तथैव कविकर्णपूरादिबालेष्वपि साम्प्रतिकव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेऽपि प्रतिभोत्पत्तिदर्शनाज्जन्मान्तरीयौ व्युत्पत्त्यभ्यासावनुमेयाविति व्यभिचाराभावात् त्रयाणां समुदितानां कारणतायाः सिद्धिरितिपूर्वपक्षाशयः ।

जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासयोरिहानुमितौ गौरवम् । तथा मङ्गलसमाप्त्योः कार्यकारणभावः प्रमाणान्तरसिद्ध इति तत्र क्वचिदुपस्थितव्यभिचारवारणाय मङ्गलानुमानभारः सोढव्यो भवति, प्रकृते तु कार्यकारणभाव एव प्रमाणभाव इति तद्गौरवमसहनीयमेव । किञ्च यदि व्युत्पत्त्यभ्यासौ विनाऽदृष्टात् क्वचिदपि प्रतिभा नोत्पद्येत, तदैवानायत्या तत्कल्पनमौचितीं चुम्बेत् । न तु तथा प्रकृत एव व्यभिचारस्य स्फुटत्वात् । एतावतैव कार्यानुपपत्तिरेवात्र मानमित्यपि न वक्तुं शक्यम् । तस्मात् कुतो व्युत्पत्त्यभ्यासयोरिह कल्पना, कथं वा समुदितानां त्रयाणां कारणतेत्युत्तरपक्षस्य तात्पर्यम् ।

अदृष्ट आदि समुदित कारणतावादी द्वारा उक्त व्यभिचार वारण के लिये उपस्थित किये गये समाधान का खण्डन करते हैं—'न च तत्र तयोः' इत्यादि । जहाँ कहीं आपको व्युत्पत्ति अभ्यास के बिना अदृष्टमात्र से प्रतिभा उत्पन्न होती दीखती है, वहाँ भी अदृष्टमात्र से प्रतिभा नहीं हुई है, अपितु अदृष्ट, व्युत्पत्ति, अभ्यास इन तीनों से ही, यद्यपि उसने इस जन्म में व्युत्पत्ति तथा अभ्यास नहीं किये, तथापि जन्मान्तर (पूर्वजन्म) में अवश्य किये होंगे, ऐसी कल्पना करेंगे, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही तो करेंगे और अनुमिति सामग्री को जुटाने में गौरव होगा । दूसरी बात यह कि—इन तीनों को सम्मिलितरूप में प्रतिभा के प्रति कारण मानने में प्रमाण भी नहीं है । यदि आप कहें कि प्रमाण है, क्यों नहीं, कार्यानुपपत्ति भी तो एक प्रमाण है—अर्थात् तीनों को कारण बिना माने कार्य होता नहीं, अतः तीनों को कारण मानिये ? परन्तु यह दलील भी सङ्गत नहीं, कारण ? जब अदृष्टमात्र से कार्य होते देखते हैं, तब कार्यानुपपत्तिरूप प्रमाण का यहाँ अवसर ही नहीं है ।

उत्तरपक्षस्याशयं विवृणोति—

लोके हि बलवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते । अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते ।

लोके सर्वत्रप्रकृतेतरस्थलेषु । आगमः श्रुतिः, तदादयः स्मृतीतिहासप्रभृतयः । प्रमाणस्य बलवत्त्वं श्रुत्यादिरूपत्वात् । अन्यथा बलवत्तरश्रुत्यादिप्रमाणहेतुककारणतानिर्णयाभावे तु । पूर्ववृत्ते प्रागृजाते कारणताया निर्णये निश्चयात्मकज्ञाने । भ्रमत्वस्य प्रतिपत्तिः प्रतीतिः । एवकारस्तादृशनिर्णयस्य प्रामाण्यव्यावृत्त्या कार्यासाधकत्वं सूचयति ।

यदि श्रुत्यादिप्रमाणैः कार्यकारणभावेऽवधारितेऽपि क्वचिद्व्यभिचार आपतति, तर्हि तत्र तादृशप्रमाणानुरोधेनोपस्थितव्यभिचारवारणाय जन्मान्तरीयकारणानुमानविधानगौरवमगत्या मृष्यते। तादृशप्रमाणविरहे तु तादृक्कार्यकारणभावज्ञानस्यैव भ्रमात्मकत्वमङ्गीक्रियत इति सम्प्रदायः। प्रकृते तु प्रमाणाभावान्नैव तदनुमितिरिति भावः।

उक्त बातों का ही स्पष्टीकरण करते हैं—'लोके हि' इत्यादि। नास्तिक ग्रन्थों में मङ्गल के बिना समाप्ति हो जाने से उपस्थित व्यभिचार वारण के लिये जैसे आचार्यों ने जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना करने में होने वाले गौरव को सह्य माना है, उसी तरह यहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति एवम् अभ्यास की कल्पना करने में जो गौरव होगा, उसको सहना चाहिये। हाँ, दृष्टान्त तो आपने खोज निकाला, परन्तु यहाँ वह लागू नहीं हो सकता, क्योंकि वेदादि प्रबल प्रमाणों से जब किसी कार्य के प्रति कोई कारण निश्चित हो चुका रहता है और किसी स्थलविशेष पर उस कार्यकारणभाव में व्यभिचार (कारण के बिना भी कार्य हो जाना या कारण के रहने पर भी कार्य का न होना) उपस्थित होता है, तब अगत्या (क्योंकि वेदादि मिथ्या नहीं हो सकते) जन्मान्तरीय कारण की कल्पना की जाती है, परन्तु जहाँ वेदादि प्रमाण से कार्यकारणभाव निश्चित नहीं हुआ है बल्कि स्वयं हम आप एक प्रकारके कार्यकारण भाव को मान बैठे हैं, वहाँ यदि पीछे किसी जगह व्यभिचार आपतित होता है, तब यही समझा जाता है कि हम लोगों का कार्यकारणभाव ज्ञान सही नहीं था, भ्रम था अर्थात् 'मङ्गल समाप्ति के प्रति कारण है' ऐसा कार्यकारणभाव वेदबोधित है, अतः नास्तिक ग्रन्थ में व्यभिचार होते देखकर नास्तिक-कृत-जन्मान्तरीय मङ्गल की कल्पना की जाती है, यहां तो प्रतिभा के प्रति अदृष्टादित्रितय की कारणता वेदादिबोधित नहीं अपितु स्वकल्पित है, अतः इस जगह व्यभिचार उपस्थित होने पर जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति अभ्यास की कल्पना नहीं की जा सकती है वरन् समुदित कारणता ज्ञान भ्रम है—कार्यजनन में असमर्थ है, यही माना जायगा।

तत्र मतान्तरं निराकरोति—

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्, कियन्तंचित् कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि सञ्जातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।

नापीति वदितुं शक्यमित्यनेनान्वेति। केवलपदं स्पष्टार्थम्, एवकारोपादानात्। कारणं प्रतिभां प्रतीति शेषः। अदृष्टं पुण्यम्, पापस्य प्रतिबन्धकत्वात्। अपिः प्रागुक्तपक्षस्य समुच्चायकः। काव्यकरणेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विरहेण प्रतिभानुदयात्। कथकपि केनापि तादृशविद्वदविरतसहवासादिना प्रकारेण। व्युत्पत्त्यभ्यासयोः सतोरिति शेषः।

अदृष्टाभावेऽपि क्वचित् व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामेव प्रतिभोत्पत्तेरुपलम्भेन व्यभिचारान्न सर्वाः प्रतिभाः प्रत्यदृष्टमेव कारणम्, किन्तु व्युत्पत्त्यभ्यासावपि। किञ्च यद्यदृष्टमेव कारणं स्यात्, तर्हि तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः प्रागपि कदाचित् प्रतिभा प्रादुर्भूय काव्यं जनयेदित्यभिप्रायः।

अब अदृष्टमात्र कारणतावाद का निराकरण करते हैं—'नापि' इत्यादि। यदि कोई कहे कि व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को पृथक् कारण मानने की आवश्यकता ही क्या है? अदृष्टमात्र को सब जगह प्रतिभा के प्रति कारण मान लीजिये तो सो भी ठीक नहीं, कारण? कतिपय मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो बहुत काल तक काव्य बनाना नहीं जानते, पर कुछ समय के बाद जब किसी तरह व्युत्पत्ति तथा अभ्यास हो जाता है, तब उनमें प्रतिभा उत्पन्न हो जाती है, वे काव्यनिर्माण करने लगते हैं अर्थात् वहां अदृष्ट के अभाव में

भी केवल व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति देखते हैं, अतः उन दोनों को भी पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना उचित है।

तत्राप्याशङ्कां खण्डयति—

तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः।

तत्रापि किञ्चित्कालानन्तरोत्पन्नव्युत्पत्त्यभ्यासोत्तरजायमानप्रतिभोत्पत्तावपि। अदृष्टस्याङ्गीकारे कारणत्वेनेति शेषः। ताभ्यां व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्याम्। तस्याः प्रतिभायाः। प्रसक्तेरुत्पत्त्यापत्तेः।

ननु तादृशस्थले तत्र पुरुषेऽदृष्टं तिष्ठत्येवेति तेनैव प्रतिभा जन्यते, न तु व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यामिति चेत्, तदादृष्टस्य तत्र जन्मनः प्रभृत्येव विद्यमानतया व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तेः पूर्वमपि प्रतिभोत्पत्तिरापद्यत इत्यदृष्टमात्रस्य कारणत्वं दुर्वचमेवेति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि अदृष्ट तो अदृष्ट ही है वह दृष्टिगोचर तो होता नहीं, फिर वहां (जहां आप व्युत्पत्ति अभ्यासमात्र से प्रतिभोत्पत्ति मानते हैं) अदृष्ट नहीं है इसमें क्या प्रमाण ? मैं कहूँगा कि वहां भी अदृष्ट है, उसीसे प्रतिभा उत्पन्न होती है, तो यह दलील भी युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि यदि वहां अदृष्ट था और उसीसे प्रतिभा उत्पन्न हुई, तो व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पहले उनमें वह अदृष्ट प्रतिभा को क्यों पैदा कर दिया ? व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से पूर्व वे क्यों काव्य बनाने में असमर्थ रहे ? अर्थात् 'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः' के हिसाब से व्युत्पत्त्यभ्यास प्रयुक्त ही वहां प्रतिभोत्पत्ति माननी पड़ेगी।

भूयोऽत्राभिनिवेशिनो मतमुपन्यस्य निरस्यति—

न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति वाच्यम्, तादृशानेकस्थलगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने लाघवात्। अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी।

न चेति वाच्यमित्यनेनानुषक्तम्। तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासप्राक्कालिकादृष्टहेतुकप्रतिभोत्पत्तौ। अदृष्टान्तरमन्यदृष्टं पापरूपम्। कल्प्यं प्रतिभाऽनुत्पत्तेरनुमेयम्, प्रत्यक्षाविषयत्वात्। एकमदृष्टं प्रतिभोत्पत्तौ साधकम्, अपरं च बाधकमित्यदृष्टद्वयम्। व्युत्पत्त्यभ्यासयोः क्लृप्तत्वं च प्रतिबन्धकादृष्टनिवर्तकत्वेन। एवशब्दोऽदृष्टद्वयकल्पनाव्यावृत्तिपरः। लाघवन्त्वत्र पक्षे प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनाभावात्। प्रागुक्ता सरणिः क्वचिददृष्टं क्वचिच्च व्युत्पत्त्यभ्यासौ प्रतिभायाः कारणमित्येवं स्वीकारः। ज्यायसी श्रेष्ठा दोषवैधुर्यात्।

नन्वत्र व्युत्पत्त्यभ्यासतः प्राक् प्रतिभाया उत्पादकादृष्टस्य सत्त्वेऽपि प्रतिबन्धकादृष्टस्य सत्त्वान्न तदुत्पत्तिरिति चेत्, तर्हि नवीनादृष्ट-तत्प्रतिबन्धकत्वयोः कल्पनागौरवमेव दूषणम्। मतान्तरे तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ पुनः क्लृप्तावेव, तद्धेतुता केवलं कल्पनीयेति लाघवम्। तस्माददृष्टस्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च तृणारणिमणिन्यायेन पृथगेव प्रतिभां प्रति कारणत्वमिति प्रागुक्तमेव युक्तमिति सारम्।

यदि आप कहें कि जिस मनुष्य में कुछ दिनों के बाद प्रतिभा देखने में आती है, उसमें पहले कोई बुरा अदृष्ट था, जिसने प्रतिभा की उत्पत्ति के कुछ दिनों के लिये रोक रखा था, किसी तरह उस दूरदृष्टि के हटने पर शुभ अदृष्ट ने अपना काम किया, प्रतिभा उत्पन्न हुई, इस तरह अदृष्ट मात्र को प्रतिभा के प्रति कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती, व्यर्थ व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को कारण की श्रेणी में घुसेड़ने से क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि—व्युत्पत्ति तथा अभ्यास होने पर ही काव्य बनाने वाले प्रायः अधिक होते हैं, इसलिये अनेक जगहों पर दो-दो (अच्छे और बुरे) अदृष्ट मानने की अपेक्षा प्रतिभोत्पत्ति को

रोक देने वाले दुरदृष्ट के नाश करने के लिये आप जिन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की कल्पना करते हैं—जिनके आगमन से प्रतिबन्धक दुरदृष्टि नष्ट हो जाता है, उन्हीं (व्युत्पत्ति और अभ्यास) को कारण मान लेना समुचित है—अर्थात् प्रतिबन्धक अदृष्टि को हटाने के लिये जब आपको भी व्युत्पत्ति और अभ्यास की कल्पना करनी ही पड़ती है, तब एक प्रतिभोत्पादक अदृष्ट और एक प्रतिभोत्पत्ति-प्रतिबन्धक अदृष्ट इन दो-दो अदृष्टों को मान कर व्यर्थ गौरव-भार को ढोने से क्या लाभ? अतः पूर्वोक्त मार्ग (अर्थात् अदृष्ट को पृथक् और व्युत्पत्ति-अभ्यास को पृथक् प्रतिभा के प्रति कारण मानना) ही श्रेष्ठ है।

नन्वेवमप्यदृष्टमात्रोत्पन्नप्रतिभास्थले व्युत्पत्त्यभ्यासरूपतत्कारणाभावेऽपि प्रतिभालक्षण-कार्योत्पत्तिदर्शनाद् व्यतिरेकव्यभिचारः स्यादेवेत्यत आह—

तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः।

प्रतिभावृत्तिवैलक्षण्यमदृष्टाव्यवहितोत्तरोत्पद्यमानत्वं व्युत्पत्त्यभ्यासाव्यवहितोत्तरोत्पद्य-मानत्वं च।

अदृष्टाव्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रत्यदृष्टं कारणम्, व्युत्पत्त्यभ्यासा-व्यवहितोत्तरजायमानप्रतिभात्वावच्छिन्नं प्रति तु व्युत्पत्त्यभ्यासौ कारणमिति कार्यताऽवच्छे-दककोटावव्यवहितोत्तरत्वनिवेशाददृष्टोत्पन्नप्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासौ न कारणमिति व्युत्प-त्त्यभ्यासयोरभावेऽपि प्रतिभाया उत्पत्तौ नैव व्यभिचार इत्यभिसन्धिः।

अब यहाँ यह शङ्का उठती है कि जब आप प्रतिभा के प्रति अदृष्ट को अलग और व्युत्पत्ति-अभ्यास को अलग कारण कहते हैं—अर्थात् दो कार्यकारण भाव मानते हैं, तब दोनों कार्यकारण भावों में व्यतिरेक व्यभिचार होगा, क्योंकि कारण दो हैं और कार्य एक, ऐसी स्थिति में अदृष्ट के बिना व्युत्पत्ति-अभ्यास से और उसके बिना अदृष्ट से प्रतिभा होगी। इसका उत्तर यह है कि—अदृष्ट के बाद होने वाली प्रतिभा के प्रति अदृष्ट और व्युत्पत्ति-अभ्यास के बाद होने वाली प्रतिभा के व्युत्पत्ति-अभ्यास को कारण मानना ही मेरा अभीष्ट—अर्थात् जैसे कारण दो हैं, वैसे कार्य भी दो ही हैं, एक नहीं, अतः व्यभिचार की शङ्का समाप्त हो गई।

नन्वथापि भिन्नयोर्द्वयोः प्रतिभयोर्द्वे काव्ये प्रति पृथक्कारणत्वे मिथो व्यभिचार आपते-देवेत्याचष्टे—

प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणताऽवच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः।

अत्रापि द्वितीयस्मिन् प्रतिभाकाव्यकार्यकारणभावेऽपि। स व्यभिचारः।

प्रतिभात्वं हि काव्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताऽवच्छेदकतयैव सिद्धमतः काव्यं प्रति प्रतिभा कारणमिति सामान्याकारेणैव कार्यकारणभावः। तथासति यदि व्यभिचार आपद्यते, तर्हि पूर्वोक्तं वैलक्षण्यमादाय विलक्षणकाव्यं प्रति विलक्षणप्रतिभा करणमित्येवं विशेषाकारेण कार्यकारणभावमवलम्ब्य व्यभिचारो वारणीय इत्याकूतम्।

इह विकल्पार्थक-वाशब्दोपादानेन कल्पद्वयमुपस्थाप्यते। तत्र प्रथमः कल्पः प्रसङ्गादे-वोपात्तः प्रकृतानुपयोगित्वात्। यद्वा सामान्यरूपेण कार्यकारणभावप्रदर्शनमप्यावश्यकमेव 'ययोर्विशेषेण कार्यकारणभावः, तयोः सामान्येनापि' इति न्यायात्।

अब कहते हैं कि—अच्छा भाई, यहाँ तो आपने व्यभिचार-पाप से पिण्ड छुड़ाया, परन्तु जब दो तरह की (अदृष्टजन्य और व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्य) प्रतिभा से काव्यरूप एक कार्य होगा, तब फिर वह व्यभिचार उपस्थित हो जायगा। यहाँ समाधान दो प्रकार

से हो सकता है—१. एक तो यह कि जैसे काव्यरूप कार्य एक मानते हैं, वैसे प्रतिभारूप कारण को भी एक ही मान लेंगे—अर्थात् कारण (प्रतिभा) में अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्ति-अभ्यासजन्यत्व विशेषण नहीं देकर 'काव्य के प्रति प्रतिभा कारण है' इस तरह एक ही सामान्य कार्यकारणभाव बनायेंगे जिसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि काव्य निर्माण के लिये प्रतिभा चाहिये, वह प्रतिभा कैसे बनी ? किससे बनी ? इस गवेषणा की आवश्यकता नहीं, सब प्रतिभाओं से कार्य (काव्य) एक सा ही होगा। २. दूसरा समाधान पूर्वोक्त रीति से कार्य को भी दो बना देना है—अर्थात् अदृष्टजन्य प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति अदृष्टजन्य प्रतिभा और व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा के बाद होने वाले विलक्षण काव्य के प्रति व्युत्पत्ति-अभ्यास-जन्य-प्रतिभा को कारण मान लेने से व्यभिचार की सम्भावना जाती रहेगी।

अथ पूर्वकार्यकारणभावे व्यभिचारमापाद्यापनुदति—

न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिः, तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्, तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणताऽवच्छेदकानवच्छिन्नत्वात्।

कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावो ह्यन्वयव्यभिचारः, स चात्र व्युत्पत्त्यभ्यासात्मककारणसत्त्वेऽपि प्रतिभारूपकार्यानुत्पत्तेः प्रसक्त इति चेन्न यथा प्रतिभानिष्ठं वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकम्, तथैव व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठमपि, तच्च वैलक्षण्यमिह व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यदि स्यात्, तदा प्रतिभा जायेतैव, न च जायते प्रतिभेति कारणताऽवच्छेदकावच्छिन्नत्वाभाववतोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोरत्रोदासीनतया तत्सत्त्वे प्रतिभाऽनुदयस्य व्यभिचाररूपत्वाभावादिति भावः।

इस प्रसङ्ग में एक बात और विचारणी यह रह जाती है कि—बहुत मनुष्य ऐसे भी देखने में आते हैं, जो जीवन भर व्युत्पत्ति और अभ्यास करते रहे, परन्तु उनमें प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई, काव्य बनाने की लालसा उनकी अपूर्ण ही रह गई। अब सोचिये कि वहाँ कारण के रहने पर भी कार्य क्यों नहीं हुआ ? और जब किसी भी हेतु से कारण के रहने पर कार्य नहीं हुआ, तब अन्वय व्यभिचार क्यों नहीं हुआ ? उत्तर दोनों का एक है कि—विलक्षण व्युत्पत्ति अभ्यास को ही हम प्रतिभा के प्रति कारण मानते हैं, फिर आप जहाँ सामान्यतः उसके रहने पर भी प्रतिभा नहीं देखते, वहाँ समझना चाहिये कि उस व्युत्पत्ति-अभ्यास में वह विलक्षणता नहीं थी, अतः प्रतिभा नहीं हुई और जब कारण कार्य कुछ भी नहीं हुआ, तब व्यभिचार कैसा ?

ननु व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठं वैलक्षण्यमदृष्टासहकृतत्वमेव वक्तव्यम्, तच्चात्र तयोरस्त्येवेति कुतो व्यभिचार इत्यरुचेः पक्षान्तरमुपाददाति।

पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः।

तत्र तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासतः प्रतिभोत्पत्तौ। पापविशेषस्य दुरदृष्टस्य। दोषो व्यभिचारः।

सत्यपि व्युत्पत्त्यभ्यासात्मके कारणे तत्र दुरदृष्टरूपस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावादेव न प्रतिभोत्पत्तिर्भवतीति नान्वयव्यभिचार इति भावः।

व्युत्पत्ति-अभ्यास-गत-वैलक्षण्य का निर्वचन असम्भव है, अतः पक्षान्तर कहते हैं—'पापविशेषस्य' इत्यादि। कहने का आशय यह है कि व्युत्पत्ति-अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हो तो, वहां कोई विशिष्ट प्रकार का पाप (बुरा अदृष्ट) प्रतिबन्धक था, अतः कारण विशेष (व्युत्पत्ति-अभ्यास) के रहने पर भी प्रतिभा उत्पन्न नहीं हुई।

ननु तर्हि प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य कारणताकल्पनादेव गौरवमित्यत आह—

प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादित्रयहेतुतावादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा।

अविशिष्टा तुल्या।

प्रतिबन्धकादृष्टाभावस्य करणत्वकल्पनं न नवीनम्, यन्मे गौरवाय कल्पेत, अपि तु शक्तिव्युत्पत्त्यभ्यासानां समुदितानां कारणत्वं वदद्भिर्भवद्भिरपि कल्पनीयमेव प्रतिबन्धक-संसर्गाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणतायाः सर्वसिद्धान्तसिद्धत्वादित्याशयः।

यदि आप कहें कि—इस तरह प्रतिबन्धक पाप के अभाव को कारण मानने में गौरव होगा, तो इसका उत्तर पण्डितराज यह देते हैं कि यह गौरव मुझे ही नहीं सबको सहना पड़ता है, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को कार्यमात्र के प्रति सामान्य कारण माना गया है, अतः यह गौरव, शक्ति आदि तीनों इकट्ठे कारण मानने वाले मम्मट के मत में भी दुर्निवार ही है।

हेतुप्रदर्शनेनोक्तमर्थं द्रढयति—

प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेक-प्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात्।

कवेर्विहितेत्यादिविशेषणं प्रतिभाऽऽदिकारणसमवधानप्रत्यायकम्।

यत्रानेककाव्यानिरचितवतोऽपि कवेः क्रुद्धः प्रतिवादी स्वकीयमन्त्रादिप्रभावेण कियतो दिवसान् यावद् वाचः स्तम्भनं करोति, तत्र तत्कवेरेकमपि काव्यं तदा नोत्पद्यते, कवि-तत्प्रतिभाप्रभृतिकारणानां सद्भावेऽपि प्रतिबन्धकस्य मन्त्रादिजन्यादृष्टस्य सत्त्वादितीहापि यदि प्रतिबन्धकसन्निधानात् कार्यं न जायते, तर्हि न किञ्चिदद्भुतमित्यभिप्रायः।

शक्त्यादि समुदित हेतुतावादी के मत में भी प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना क्यों आवश्यक होगा? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—'प्रतिवादिना' इत्यादि। ऐसा देखने में आता है कि जो पूर्ण प्रतिभाशाली है, अनेक उत्तम काव्य बनाकर कवि के प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त हो चुका है, वह भी तब कुछ काल के लिये काव्य बनाने में असमर्थ हो जाता है, जब कोई तान्त्रिक प्रतिवादी उसकी वाणी को मन्त्रबल से स्तम्भित कर देता है, अब सोचिये कि ऐसा क्यों होता है? प्रतिभा उसमें है ही, फिर उससे काव्य क्यों नहीं बनता? अगत्या प्रतिवादिकृत-मन्त्र-प्रयोग को प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, अतः प्रतिबन्धक सामान्याभाव की कारणता मेरे मत (प्रतिभामात्र काव्य के प्रति कारण है, इस पक्ष) में और आपके मत (शक्त्यादि समुदित कारणतावाद) में भी अयत्न सिद्ध है।

इत्थं काव्यस्य कारणं निरूप्य प्रकारान् व्याहरति—

तच्चोत्तमोत्तमो-त्तम-मध्यमा-धमभेदाच्चतुर्धा।

तत् काव्यम् उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अधमं चेति चतुर्विधमित्यर्थः।

इस तरह से काव्यकारण के निरूपण कर लेने के बाद काव्य के भेदों को कहते हैं— 'तच्च' इत्यादि। जिस काव्य के सम्बन्ध में इतनी विवेचना की गई है, उस काव्य के चार भेद हैं। १. उत्तमोत्तम, २. उत्तम, ३. मध्यम और ४. अधम।

तत्र प्रथमं प्रकारं सूत्रेण लक्षयति—

शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥२॥

यत्र काव्ये, शब्दो वाचकः, अर्थो वाच्यश्च[1] गुणीभावितात्मानौ व्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽप्रधानी-कृतस्वरूपौ कमपि चमत्कारातिशयाधानेनानिर्वचनीयं प्रधानमर्थम् अभिव्यङ्क्तो व्यञ्जनया बोधयतः, तत् काव्यमाद्यमुत्तमोत्तमं भवतीत्यर्थः। एतदेव ध्वनिकाव्यमन्यैरभिहितम्।

---

१. वाच्यपदमिह लक्ष्यव्यङ्ग्ययोरपि संग्राहकम्। अन्यथा तयोरुपसर्जनीभावेन व्यञ्जकतायामव्याप्तिः।

तथा च ध्वनिग्रन्थः—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्तः, काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' इति ।

जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) दोनों अपने को गौण (अप्रधान) बनाकर किसी (चमत्कार जनक अत एव प्रधान) अर्थ को अभिव्यक्त करें—व्यञ्जना वृत्ति द्वारा समझावें, उसे 'उत्तमोत्तम' काव्य कहते हैं ।

लक्षणघटकपदकृत्यमभिदधाति—

कमपीति-चमत्कृतिभूमिम्, तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोर्निरासः। अपराङ्ग-वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय—गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्याभिप्रायकम् ।

भूमिराश्रयस्तदुत्पादनात् । अतिगूढादिपदमसुन्दरव्यङ्ग्यस्याप्युपलक्षकम् । निरासो व्यावृत्तिः । अपरादिपदश्च सन्दिग्धप्राधान्य-तुल्यप्राधान्य-काक्काक्षिप्तव्यङ्ग्यानामप्युपसंग्राहकम् । इति विशेषणतोपस्थापकः, तद्विशेषणमेव स्वापेक्षयेत्यादिप्रतिपाद्यम् । स्वशब्दो व्यञ्जकग्राही । गुणीभावितेत्यादिविशेषणेनाप्यतिगूढव्यङ्ग्यादीनां निरासः सम्भवतीति सूचयितुं द्वयोः सहैवोक्तिः ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराष्टकेऽस्य लक्षणस्य नातिव्याप्तिः, अतिगूढव्यङ्ग्य-स्फुटव्यङ्ग्या-सुन्दरव्यङ्ग्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारानाधायकत्वात्, तेषु ततोऽवशिष्टेषु च प्रकारेषु व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थापेक्षया प्राधान्यस्य विरहात् । अपराङ्गव्यङ्ग्यादिषु कतिपयेषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कार-जनकत्वान्न प्रथमांशेनैव निर्वाह इत्याशयः ।

लक्षण वाक्य में निविष्ट पदों का फल दिखलाते हैं—'कमपीति-चमत्कृतिभूमि' इत्यादि । इस लक्षण में 'कमपि' पद से चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः जिसमें व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ़ (छिपा हुआ) अथवा अत्यन्त स्पष्ट (वाच्य सा) हो, वह काव्य उत्तमोत्तम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसे व्यङ्ग्य चमत्कारजनक नहीं रहते हैं । असुन्दर व्यङ्ग्य का भी वारण इसी विशेषण से समझना चाहिये । अपराङ्ग (अर्थात् किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग) और वाच्यसिद्ध्यङ्ग (अर्थात् जिसके बिना वाच्य अर्थ की सिद्धि असम्भव हो) व्यङ्ग्य भी चमत्कारजनक होते हैं, अतः इस भेद में उनका भी ग्रहण न हो जाय, इसलिये लक्षण में 'अपने को गौण बनकर' कहा गया है जिसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ (वाच्यादि) से व्यङ्ग्य में प्रधानता होनी चाहिये, सो अपराङ्ग प्रभृति व्यङ्ग्यों में नहीं होती अर्थात् वे सब व्यङ्ग्य स्वयं गौण रहते हैं, अतः वे (तादृश व्यङ्ग्य वाले) काव्य भी उत्तमोत्तम नहीं हो सकते हैं ।

प्रतिज्ञाऽनुरूपं स्वीयं पद्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

कश्चिन्नववधूवृत्तान्तं वर्णयति—

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥'

अहो अद्भुतम्, सविधे दयितस्य सन्निधौ, शयिताऽपि प्रणयिसखीजननिर्बन्धाद् भोगावासस्य विविक्तत्वादनुरागाङ्कुरोत्पत्तेश्च कृतशयनाऽपि, मनोरथान् स्वहृदि विद्यमानान् नानाऽऽकारकक्रीडाविषयकाभिलाषान्, सफलीकर्तुं चरितार्थयितुं तदनुरूपमाचरितुमिति यावत्, अनीश्वरा त्रपासाध्वसातिरेकेणासमर्था, दयिता 'जाता वामतयैव सम्प्रति मम प्रीत्यै नवोढप्रिया' इत्युक्तेः प्रेयसी नायिका, दरमीषन्मीलती त्रपौत्सुक्यसाङ्कर्येण सङ्कुचती नयने

लोचने यस्यास्तादृशी सती, दयितस्य परिचयवशेन किञ्चित्प्रणयोद्गमनात् प्रियस्य, आननाम्बुजं मुखकमलं, निरीक्षते केवलं विलोकते, न तु चुम्बितुमालिङ्गितुमाघ्रातुं वोपक्रमते, नापि नयने नितरां निमीलयति, न वा तादृङ्निरीक्षणाद् विरमतीत्यर्थः।

इह सविधशयनरूपकारणस्य सत्त्वेऽपि मनोरथसफलीकरणलक्षणकार्यानुद्गमाद् विशेषोक्तिमहोशब्दः प्रकाशयति। वियोगिनी छन्दः।

अब 'निर्मायनूतनमुदाहरणानुरूपम्' इस प्रतिज्ञा के अनुसार पण्डितराज स्वरचित पद्य उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं—'शयिता' इत्यादि। नववधू अपने प्रियतम के समोप सोई है, परन्तु आश्चर्य है कि वह अपने मनोगत मनोरथों को सफल बनाने में असमर्थ है—वह चाहती तो बहुत कुछ है, किन्तु लज्जा और भय ने उसे इस प्रकार दबा रखा है, जिससे वह कुछ कर नहीं पाती, इस स्थिति में प्रियतम की अभिलाषायें भी पूर्ण नहीं हो पातीं, यह स्वतः सिद्ध है, फिर भी वह प्रियतम की दयिता है, प्रेयसी है, हो क्यों नहीं, केलि-विमुख भी नवोढ़ा पत्नी सहृदय प्रेमियों के लिये, अप्रीतिकर नहीं, अपितु प्रीतिवर्धक ही होती है। इससे पाठक यह नहीं समझें कि वह केवल पति के बगल में मुर्दा सी पड़ी है, वह बराबर प्रियतम के मुखकमल को देख रही है, चूमने का, आलिङ्गन करने का साहस भले ही उसे न हो पर देखने से वह विरत नहीं होती, हाँ, उसके देखने में भी कुछ विलक्षणता अवश्य है, इच्छा रहने पर भी उसकी उत्सुक आँखें सर्वथा विस्फारित नहीं, वरन् कुछ कुछ मुंदी हुई सी रहती हैं। यहाँ 'अहो' पद समीपशयनरूप कारण के रहने पर भी मनोरथ साफल्यरूप कार्य के अभावरूप विशेषोक्ति अलङ्कार को प्रकाशित करता है।

अत्र व्यङ्ग्यं निर्दिशति—

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविधशयनाक्षिप्तस्य रहःस्थानादेरुद्दीपनस्य च विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यते।

रह एकान्तम्, तथा च यदि तत् स्थानमेकान्तं न स्यात्, तदा साऽपत्रपापारवश्यात् तत्र नायकस्य समीपे कथमपि न शयीतेति नायकसमीपशयनान्यथाऽनुपपत्त्या तत्स्थानस्यैकान्तत्वं कल्प्यते। निरीक्षणे तादृशत्वमीषन्मुकुलीकृतनेत्रकत्वम्। नयनेषन्मीलनेन लज्जा, निरीक्षणेन चौत्सुक्यं सूच्यते। संयोग आलम्बनादिभिः सह स्थायिभावस्य रतेः सम्बन्धः। रतिश्चात्र नायकालम्बना नायिकाऽऽश्रया, तस्याश्चेह परिपोषेण निरीक्षणस्य च प्रवृत्तत्वेन सम्भोगशृङ्गाररसरूपता।

इह नायिकानिष्ठरतेः स्थायिभावस्य नायकरूपालम्बनविभावेन, एकान्तस्थानरूपोद्दीपनविभावेन, मुकुलीकृतनयननिरीक्षणलक्षणानुभावेन, लज्जौत्सुक्यरूपाभ्यां व्यभिचारिभावाभ्यां च सम्बन्धात् प्राधान्येन सम्भोगशृङ्गाररसास्वादः, वाच्यवाचकयोस्तु गुणीभाव एवेति सुतरामुत्तमोत्तमत्वमस्य काव्यस्य सिद्धयतीत्याशयः।

अब यहाँ ग्रन्थकार इस पद्य से होने वाले उस व्यङ्ग्य को दरसाते हैं, जिसके बल पर यह श्लोक उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण होता है—'अत्र' इत्यादि। यहाँ नायिका-निष्ठ-रति का, आलम्बनविभावनायक वाच्य है, एकान्तस्थानरूप-उद्दीपन-विभाव, पति-पत्नी के समीपशयन से आक्षिप्त होता है, नायिका-कर्तृक-नायक-मुख-निरीक्षणरूप-अनुभाव भी वाच्य ही है, लज्जा तथा औत्सुक्यरूप-व्यभिचारी भाव क्रमशः नयन-गत-दर मीलन से और निरीक्षण से व्यक्त होते हैं। इन सब भावों के संयोग से नायक-विषयक-नायिका-निष्ठ-रति (स्थायी भाव) व्यङ्ग्य होती है, जो परिपुष्ट होने से सम्भोग

... यहाँ का यह व्यङ्ग्य अत्यन्त चमत्कारी है तथा शब्द अर्थ गौण है, अतः उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण संघटित हुआ।

नन्वालम्बनादीनि तत्र किं स्वरूपाणीत्याकाङ्क्षायामाह—

आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते।

वक्ष्यते पुरस्तादस्मिन्नेवानने 'एवमेषां स्थायिभावानाम्' इत्यादिना सन्दर्भेण।

आलम्बन, उद्दीपन, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायिभावों के स्वरूप आगे (इसी आनन में) कहेंगे।

अत्र नायिकेच्छाविशेषस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यतामाशङ्क्य परिहरति—

नच 'यद्ययं शयितः स्यात्, तदाऽस्याननं चुम्बेयम्' इति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमत्रेति वाच्यम्, 'मनोरथान् सफलीकर्तुमसमर्था' इत्यनेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः, स्वशब्देन मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण तादृशेच्छाया अपि निवेदनात्।

अयं नायकः। शयित इति जाग्रतो लज्जा-प्रत्यालिङ्गनादिभीत्योः सम्भवः। इति शब्दो नायिकेच्छाऽऽकारपरामर्शकः। एवकारः प्रागुक्तव्यङ्ग्यव्यावर्तनपरः। स्वशब्देनेत्यस्य विवरणं मनोरथपदेनेति।

नायिकायाः सव्रीडं सस्पृहं च नायकमुखनिरीक्षणेन मूलोल्लिखिताकारिकेच्छैवात्र प्राधान्येन व्यज्यत इति कस्यचिन्मतम्, अयुक्तमेव, यतः सर्वेषां मनोरथानां नायिकाया हृदि सद्भावो मनोरथान् सफलीकर्तुमनीश्वरेत्यनेन विशेषणेन सूच्यते, तथा च मनोरथ-चुम्बन-विषयकेच्छयोः सामान्यविशेषभावादयमिच्छाविशेषोऽपि मनोरथपदेनेच्छात्वरूपसामान्यधर्म-प्रकारकप्रतीतिगोचरः क्रियत एवेति वाक्यपदवीमारूढश्चमत्कारविशेषानाधानान्न प्रधानमितिसारम्।

इस श्लोक में नायिका का इच्छा विशेष ही प्रधान व्यङ्ग्य क्यों नहीं है? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—'न च यद्ययं शयितः' इत्यादि। शङ्का करने वालों का अभिप्राय है कि इस पद्य में 'सलज्जित नायिका सस्पृह भाव से नायक के मुख को बारबार देख रही है' यह बात वर्णित है, जिससे 'यदि यह (नायक) सो गया हो, तो मैं इसका मुख चूम लूँ' इस तरह की नायिका की इच्छा व्यङ्ग्य होती हैं, फिर इसी व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर यहाँ काव्यलक्षण का समन्वय करना चाहिए, पूर्वोक्त रतिरूप व्यङ्ग्य को प्रधान मानकर नहीं। समाधान का आशय यह है कि नायिका की उक्त इच्छा यहाँ व्यङ्ग्य हो ही नहीं सकती, क्योंकि 'नायिका अपने मनोरथों को सफल करने में असमर्थ है' यह बात इस पद्य में वर्णित है, जिससे यह सूचित होता है कि नायिका के हृदय में सब मनोरथ वर्तमान हैं, और चुम्बन की इच्छा भी एक तरह का मनोरथ ही है—जो सामान्यरूप से मनोरथ पद का वाच्य अर्थ ही होता है, फिर व्यङ्ग्य कैसे होगा?

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च मनोरथपदेन मनोरथत्वाकारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि, 'चुम्बेयम्' इति विषयविशेषविशिष्टेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वे किं साधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्यस्यैव बाधकत्वात्।

विषयविशेषश्चुम्बनम्। चमत्कारपदं तदतिशयपरम्, यत्किञ्चिच्चमत्कारस्य ततोऽपि सम्भवात्। अन्यथा वाच्यप्रधानभेदस्य काव्यत्वानापत्तिः, चुम्बनेच्छाया इत्यादिना द्वितीय-हेतुप्रदर्शनानवकाशश्च।

सामान्यधर्मेणेच्छात्वेनात्रेच्छाया वाच्यत्वेऽपि, विशेषधर्मेण चुम्बनेच्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वं कुतो न स्यादित्यपि वक्तुं न युक्तम्, इच्छाया अभिधाबोध्यत्वेनोत्तमोत्तमकाव्यत्वसम्पादकस्य चमत्कारातिशयस्यैव ततोऽनुदयादित्यर्थः।

यदि आप कहें कि मनोरथ पद से सामान्य इच्छा के वाच्य होने पर भी चुम्बन विषयक इच्छा (जो विशेष है) वाच्य हुई नहीं, फिर उसको व्यङ्ग्य होने में क्या बाधा है? इसका समाधान यह है कि—चमत्कार नहीं होगा—अलौकिक आनन्द की अनुभूति नहीं होगी—बस, यही बाधक है।

व्यङ्ग्यस्य हि प्रकारान्तरेणापि वाच्यत्वे चमत्कारोत्कर्षाजननेन गुणीभावान्न प्राधान्यमिति भावः। तदेवाह—

नहि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणाभिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे, कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात्।

हि यतः। विशेषाकारेण विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन। अभिहितोऽभिधावृत्त्या बोधितो वाच्यः। चमत्कृतिस्तदुत्कर्षः। ईष्टे क्षमते। कथमपि केनापि प्रकारेण वाच्यवृत्तिरभिधा, तयाऽनालिङ्गितस्याबोधितस्य। एवशब्दो वाच्यव्यवच्छेदकः।

आलङ्कारिका हि—

'नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नोगुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च शश्वत् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥'

इत्यभियुक्तोक्तेर्व्यञ्जनावृत्तिमात्रबोध्यस्यार्थस्य चमत्कारोत्कर्षाधायकत्वं मन्यते। प्रकृते तु चुम्बनेच्छाया इच्छात्वेन मनोरथपदवृत्त्यभिधया बोधितत्वान्न चमत्कृतिप्रकर्षोत्पादकत्वमित्याकूतम्। एतच्च गूढव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारनिरूपणे पञ्चमोल्लासे, रसदोषनिरूपणे सप्तमोल्लासे च काव्यप्रकाशे स्फुटम्।

इस पर यदि आप पूछें कि आपके कहने ही से चमत्कार नहीं होगा? या उसके न होने में कुछ युक्ति भी है? इस प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं ही ऐसा नहीं कहता, अपितु अलङ्कार शास्त्र के सभी मर्मज्ञों ने एक स्वर से उसी व्यङ्ग्य को चमत्कारी स्वीकार किया है, जो किसी तरह भी अभिधावृत्ति का स्पर्श न करे, अतः जो पदार्थ सामान्यरूप से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप से व्यङ्ग्य होने पर भी सहृदयों के मन में चमत्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता—अभिधावृत्ति मानो वह छूत का रोग है, जिससे छू जाने पर स्वस्थ व्यङ्ग्य भी अस्वस्थ हो जाता और उसकी चमत्कारजनक शक्ति नष्ट हो जाती है।

ननु कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्पादकत्वाभ्युपगमे 'यदेवोच्यते, तदेव व्यङ्ग्यम्। यथा तु व्यङ्ग्यम्, न तथोच्यते।' इति मम्मटभट्टोक्तेः पर्यायोक्तालङ्कारे वाच्यस्यैव व्यङ्ग्यत्वे चमत्कारिताऽनुपपत्तिरित्यरुचेः पूर्वोक्तखण्डनस्य हेत्वन्तरं व्याहरति—

चुम्बनेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन तद्व्यञ्जने 'चुम्बेयम्' इति शब्दबलाच्चुम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च।

रतिपदं तत्स्थायिकशृङ्गारपरम्। एवकारस्तदितरप्रकारव्यावृत्तिसूचकः। सुन्दरत्वेन चमत्कारविधायकत्वेन। तच्छब्देन रतिहेतुकशृङ्गारस्य परामर्शः। 'चुम्बयामि' इति पाठस्तु भ्रान्तिमूलकः, णिजर्थासङ्गतेः। शब्देत्यादेः शब्दजन्यप्रतीतिविषयीभूतेच्छावदित्यर्थः।

यदा रतिस्थायिकः शृङ्गारः प्रधानतया व्यज्यते, तदैव तदनुभावत्वेन व्यज्यमानायाश्चुम्बनेच्छायाश्चमत्कारोत्कर्षकनकत्वम्, इतरथा तु शाब्दबोधगोचरीभूततादृशेच्छातो वैलक्षण्याभावान्न तत्त्वम्, अतः शृङ्गारस्यैव प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वमिहोचितमिति तात्पर्यम्। इदं पुरः 'सर्वथा वाच्यवृत्त्यचुम्बितस्यैव तथात्वमिति ध्वनिमार्गप्रवर्तकैः सिद्धान्तितत्वात्।' इति सन्दर्भेण ससन्देहालङ्कारनिरूपणे स्फुटीकरिष्यति ग्रन्थकृत्।

नायिका की इच्छा को प्रधान व्यङ्ग्य न मानकर रति को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में दूसरी युक्ति भी देते हैं—'चुम्बनेच्छाया' इत्यादि। चुम्बनेच्छा रति (प्रेम) का फल है, यदि रति न हो, तो चुम्बनेच्छा हो ही नहीं सकती, यदि किसी कारण से हो भी तो उसमें सौन्दर्य नहीं रहेगा, रति के अनुभाव (कार्य) रूप में जब उसकी प्रतीति होती है तभी वह अच्छी लगती है, इस स्थिति में यदि यहाँ रति व्यङ्ग्य न हो तब, चुम्बनेच्छा व्यङ्ग्य होकर भी उसी तरह अचमत्कारी होगी, जिस तरह 'चूमूंगा' इस शब्द से अभिहित होने पर वह अचमत्कारी होती है। अतः रति को प्रधानतया व्यक्त होना आवश्यक है, उसके अभिव्यक्त हो जाने के बाद यदि उसीके अनुभावरूप से उक्त इच्छा भी अभिव्यक्त हो, तो कोई आपत्ति नहीं।

इत्थमिच्छायाः प्रधानव्यङ्ग्यतां निरस्य लज्जाया अपि परेणाशङ्क्यमानां तां निराकरोति—

एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाद्यताऽवच्छेदकतया प्रतीतायां तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात्।

एवं चमत्कारविशेषानुत्पादकत्वेन। अपिः पूर्वोक्तेच्छासंग्राहकः। अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वस्येष्टत्वात् प्राधान्येनेति। अनुवाद्यतोद्देश्यत्वम्। तस्यां त्रपायाम्। मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् प्राधान्येन वाक्यतात्पर्यविषयतासम्बन्धाभावात्।

एवमिह दरेत्यादिपदेन यद्यपि लज्जा व्यज्यते, तथाऽपि तस्या न प्राधान्यम्, यतोऽत्र दरमीलन्नयनात्वमुद्दिश्य निरीक्षणं विधीयत इति निरीक्षणनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताया उक्तविशेषणनिष्ठाया अवच्छेदकत्वं लज्जाया उद्देश्यविशेषणीभूताया इत्युद्देश्यताऽवच्छेदकतया प्रतीयमाना लज्जाऽत्र न विधेयीभवितुमर्हति। न चाविधेयीभूयोऽर्थस्तात्पर्यीयमुख्यविशेष्यतामाश्रयितुं शक्नोति। न वा तदनाश्रयणेऽपि कस्यचन प्राधान्यमित्यभिसन्धिः।

'लज्जा ही इस पद्य में प्रधान व्यङ्ग्य है' इस मत का खण्डन करते हैं—'एवं त्रपाया' इत्यादि। किसी-किसी का मत है कि यहां 'नेत्रों को कुछ-कुछ मुकुलित करती हुई' इस नायिकाविशेषण से जो लज्जा व्यक्त होती है, उसीको प्रधान व्यङ्ग मान कर इस श्लोक में तन्मूलक काव्यता स्वीकार करनी चाहिये। परन्तु यह मत ठीक नहीं, क्योंकि यहां नायिका को उद्देश्य बना कर निरीक्षण का विधान किया गया है और उस उद्देश्यभूत नायिका का विशेषण है, 'दरमीलन्नयना–' 'कुछ-कुछ नेत्रों को मुकुलित करती हुई' जिससे लज्जा अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार से लज्जा की प्रतीति उद्देश्यतावच्छेदक (उद्देश्य विशेषण) रूप में होती दीखती है, फिर वह लज्जा, प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकता है? अर्थात् जो अंश विधेय रहता है, उसीमें वाक्य का तात्पर्य होता है और तात्पर्यविषयभूत अर्थ ही मुख्य वाक्यार्थ कहलाता है, अतः लज्जा किसी तरह मुख्य वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता है।

पुनरपराऽऽशङ्क्य समादधाति—

न च दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यताऽवच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम्, एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात्।

उभयत्र वैशिष्ट्यं सामानाधिकरण्येन। तस्या त्रपायाः। एवमपि विशिष्टस्य विधानेऽपि। तत्कार्यत्वेऽपि त्रपाजन्यत्वेऽपि। मात्रशब्देन त्रपाप्रभृतीनां व्यावृत्तिः।

इदमुच्यते—दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य विधानेन यद्यपि लज्जाया विधेयकोटिप्रविष्टेन नयनेषन्निमीलनेन व्यङ्ग्यतया नोद्देश्यताऽवच्छेदकत्वम्, तथाऽपि तस्याः प्राधान्यं दुरूहमेव, यतो नयनेषन्निमीलनमेव लज्जाजन्यमिति तेनैव स्वकारणीभूता लज्जा व्यज्यते, समस्तेन नयनेषन्निमीलनविशिष्टेक्षणेन विधेयेन तु स्वहेतुभूता रतिरेव सूचयितुं शक्यत इति सर्वतोमुखं पार्यन्तिकं प्राधान्यं लज्जाया न सम्भवति।

यदि आप कहें कि लज्जा को प्रधान वाक्यार्थ न मानने में आपने जो युक्ति दी है, वह तब ठीक होती, यदि हम लज्जा का भान उद्देश्यतावच्छेदक रूप में मानते होते, उसीको हम नहीं मानते हैं, हम तो दरमीलन्नयनात्व विशिष्ट निरीक्षण को विधेय मान कर विधेयतावच्छेदक (विधेय विशेषण) रूप में ही उसका भान स्वीकार करते हैं—अर्थात् वह निरीक्षण ऐसा है, जिसमें नेत्र कुछ-कुछ मुकुलित हो रहे हैं, यही वक्ता का अभिप्राय है, अब तो लज्जा को प्रधान व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं उठ सकती। इसका उत्तर यह है कि इस तरह लज्जा को आप विधेयकोटि में ले आ सकते हैं, परन्तु तब भी वह मुख्य नहीं हो सकती, क्योंकि नेत्रों का कुछ-कुछ मुकुलित होना, भले ही लज्जा का कार्य हो, किन्तु निरीक्षण उसका कार्य नहीं हो सकता, वह तो रति (प्रेम) का ही कार्य है, फिर प्रधान-विधेय-निरीक्षण से अभिव्यक्त होने वाली रति को प्रधान न मान कर, विधेय विशेषण-नयन-गत-दर-मीलन से व्यक्त होने वाली लज्जा को प्रधान मानना युक्तिसङ्गत नहीं होगा।

ननु मीलन्नयनात्वमात्रमत्र विधेयमास्ताम्, तथा च समग्रविधेयदलव्यङ्ग्यतया त्रपायाः प्राधान्यमक्षतमेवेत्याशङ्कां निराकरोति—

त्रपाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्तेः।

यद्यत्र त्रपामात्रस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं कवेरभिमतं स्यात्, तर्हि स निरीक्षणपर्यन्तं नोपाददीत, ईषन्नयननिमीलनेनैव तदभीष्टस्य त्रपाव्यञ्जनस्य सिद्धेः अधिकोपादानस्य निष्फलत्वापत्तेश्च। रतेः कार्यत्वेन तद्व्यञ्जकं निरीक्षणमप्युपाददता कविना प्राधान्येन रतेरेव व्यङ्ग्यता बोधिता। तस्मान्नात्र त्रपायाः प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वस्य बोधनायेषन्मीलन्नयनात्वस्य विधेयतेत्यभिप्रायः।

इसके बाद भी यदि आप यह प्रमाणित करें कि हम निरीक्षण को भी विधेय नहीं मानेंगे, अपितु निरीक्षण करने वाली नायिका को उद्देश्य बनाकर दरमीलन्नयनात्व का ही विधान करेंगे, फिर तो प्रधान-विधेय-व्यङ्ग्य होने के नाते लज्जा प्रधान होगी। इस प्रमाण का उत्तर यह है कि—हां! भाई! आप वाद में बड़े निपुण हैं, इस तरह लज्जा को प्रधान बना सकते हैं, परन्तु बनाना नहीं चाहिये, कारण? यदि इस तरह से लज्जा को ही प्रधानतया व्यक्त करना कवि को अभिमत होता, तो कवि निरीक्षण की बात ही नहीं उठाते, केवल इतना ही कहते कि 'आंखों को मुकुलित कर रही है', लज्जा की अभिव्यक्ति तो तावन्मात्र से हो ही जाती, अर्थात् लज्जा को प्रधान मानने में 'देखती है' यह कथन निष्प्रयोजन ही नहीं होता वरन बाधक भी होता है, अतः रति को ही प्रधान व्यङ्ग्य मानना चाहिये, लज्जा को नहीं।

ननु विधेयकोटौ विशेष्यविशेषणभावं विपर्यस्य निरीक्षणविशिष्टेषन्मीलन्नयनात्वमेव विधेयीकरणीयम्, तथा चेह विधेयविशेष्यांशव्यङ्ग्यत्वेन त्रपायाः प्राधान्यं स्यादेवेत्याशङ्कां निरस्यति—

वाच्यवृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव, व्यञ्जनया तस्यां तथा अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात्।

वाच्यस्य बोधिका वृत्तिर्व्यापारोऽभिधा तया वाच्यवृत्त्या। अनुभावत्वं लोके तत्कार्यत्वेन। तस्यां रतौ। तस्यास्त्रपायाः। गुणीभावोऽप्राधान्यम्। प्रत्ययः प्रतीतिः।

अभिधावृत्त्या यथा रतेरनुभावो निरीक्षणं प्राधान्येन, त्रपाया अनुभावो नयनेषन्निमीलनन्तु तदङ्गत्वेन प्रत्याय्यते, तथैव व्यञ्जनयाऽपि रतेः प्राधान्येन, त्रपायास्तदङ्गत्वेन प्रत्यायनमेवोचितम्, इतरथा 'भावप्रधानमाख्यातं, सत्त्वप्रधानानि नामानि' इति यास्कसिद्धान्तविरोधो दुष्परोधो भवेदिति तात्पर्यम्।

लज्जा को गौण व्यङ्ग्य मानने में ही औचित्य की रक्षा भी होती है इसी बात को स्पष्ट करते हैं—'वाच्यवृत्या' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि रति का कार्य 'देखना' और लज्जा का कार्य 'आंखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' दोनों वाच्य हैं, जिनमें रति का कार्य 'देखना' प्रधान है और लज्जा का कार्य 'आंखों को कुछ कुछ मुकुलित करना' गौण है, अब आप सोचिये कि इन दोनों कार्यों से व्यक्त होने वाले कारण-रति तथा लज्जा में किसको प्रधान होना उचित है? उत्तर स्पष्ट है कि वाच्य कोटि में जिसका कार्य प्रधान है, व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से व्यक्त होने वाला वह कारण प्रधान और वाच्यकोटि में जिसका कार्य गौण है व्यङ्ग्यकोटि में उस कार्य से अभिव्यक्त होने वाला वह कारण गौण हो यही समुचित है, क्या अब भी रति को प्रधान और लज्जा को गौण होने में कुछ सन्देह किया जा सकता है? नहीं, अर्थात् वाच्यकोटि में जब निरीक्षण प्रधान है, तब व्यङ्ग्यकोटि में उस निरीक्षण से अभिव्यक्ति रति प्रधान होगी और वाच्यकोटि में गौण-नयन-गत-दर-मीलन से व्यक्त होने वाली त्रपा व्यङ्ग्यकोटि में भी गौण ही रहेगी।

व्युत्पत्तिनिमित्तं किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणमिति योजना। नायको वयस्यं व्याहरति, स्वयं वा विमृशति—

'गुरुमध्यगता मया नताङ्गी, निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥'

गुरूणां श्वश्रूप्रभृतीनां मध्यगता तन्निकटस्थानोपविष्टा, नताङ्गी शालीनतौचित्यात् सन्नतावयवा, सा, मया, नीरजकोरकेण कमलमुकुलेन, मन्दं शनैर्निभृतमिति यावत्, निहता नितरां ताडिता, दरमीषत् कुण्डलस्य ताण्डवं नटनं, यत्र, तद् यथा स्यात्, तथा, किञ्च नताऽस्थानखलीकरणजन्यमन्युना नम्रीभूता भ्रूलतिका यत्र तद् यथा स्यात्, तथा, चकितं श्वश्र्वादिसान्निध्यान्मयि साभ्यसूयं च माम्, अवलोक्य ('धृष्ट! किमेवं गुरुजनमध्ये खलीकरोषि' इति मनसैवोपालभमाना) घूर्णिता भ्रान्ताऽऽसीदित्यर्थः।

निघातस्य मान्द्येन कुण्डलताण्डवस्येषत्त्वं, गुरुमध्ये निघातेन भ्रूनमनं चोपपाद्यत इति हेतुहेतुमद्भावेन काव्यलिङ्गालङ्कारो मालभारिणीच्छन्दश्च।

इह 'दुर्विदग्ध! किमिदं रहसि विधेयं गुरुजननिकटेऽपि विहितवानसि' इति वस्तुव्यञ्जनपुरस्सरं नायकविषयकोऽमर्षो व्यभिचारिभावो वाच्यवाचकापेक्षयाऽधिकचमत्कारितया प्राधान्येन व्यज्यत इत्यस्योत्तमोत्तमकाव्यत्वम्।

पूर्वोक्त उदाहरण रस (सम्भोग श्रृंगार) का दिया गया था, अब भाव (हर्ष आदि व्यभिचारीभाव) का उदाहरण देते हैं—'गुरुमध्यगता' इत्यादि। नायक अपने मित्र से कह रहा है अथवा स्वयं मन में सोच रहा है—सास, ननद प्रभृति गुरुजनों के बीच बैठी हुई तथा शालीनता को प्रकट करने के लिये नम्रमुखी, प्रिया को मैंने धीरे से—अर्थात् लोगों की आँखें बचा कर एक कमल कलिका से मार दिया। (मार पड़ने के बाद) उसने तीर्यक् दृष्टि से मुझे देखा और फिर दूसरी तरफ घूम गई—मुख फेर लिया। यद्यपि

गुरुजनों के मध्य में बैठी हुई नवीना कुलकामिनी का पति की ओर देखना शालीनता का विरोधी था पर वह बेचारी करे तो क्या? पति महोदय के असामयिक आचरण से वह क्षुब्ध हो उठी थी—उसके हृदय में अमर्षभाव जाग उठा था, अतः पति पर एक तीर्यक् दृष्टि डालने के लिये वह विवश हो गई, फिर भी उसे अपनी शालीनता-मर्यादा का ध्यान था, अतएव वह साफ मस्तक उठा कर न देख सकी, नवा अपने अमर्ष को ही स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकी, उसका देखना ऐसा हुआ, जिससे कान के कुण्डल थोड़ा नाच उठे तथा भ्रूलतायें नीची हो गईं—अर्थात् उसके इस दर्शन व्यापार को पति के अतिरिक्त कोई जान भी न सका। यहाँ प्रहार-गत-मान्द्य-कथन से कुण्डल-नर्तन की अल्पता तथा गुरुजनों के मध्य में उस प्रहार के होने से भ्रूलता का नम्रीभाव उत्पन्न किये जाते हैं, अतः हेतुहेतुमद्भावमूलक का व्यङ्ग्य अलङ्कार वाच्य है।

तदेवाचष्टे—

अत्र 'घूर्णिताऽऽसीत्' इत्यनेन 'असमीक्ष्यकारिन्! किमिदमनुचितं कृतवानसि' इत्यर्थसंवलितोऽमर्षश्चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात् प्राधान्येन व्यज्यते। तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः।

संवलितो विशिष्टः, वैशिष्ट्यं चाङ्गाङ्गिभावेन, तथाहि—वस्तुरूपव्यङ्ग्यस्यामर्षं प्रति पोषकत्वेनाङ्गत्वम्। विश्रान्तिधामत्वं पार्यन्तिकास्वादविषयत्वम्। तत्रामर्षे। अर्थो वाच्यो वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्यश्च। गुणोऽङ्गमप्रधानमिति यावत्। पूर्वोदाहरणे व्यङ्ग्यस्य वाच्यार्थापेक्षयैव प्राधान्यं दर्शितम्, इह तु वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थापेक्षयाऽपीति वैलक्षण्यमीक्षणीयम्।

इस श्लोक में 'घूर्णितासीत्-घूम गई' इस उक्ति से 'ऐ अविचारिन्- असामयिक काम करने वाले! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया' इस अर्थ से युक्त अमर्ष (व्यभिचारीभाव) प्रधान रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ वस्तु व्यङ्ग्य के रहने पर भी उक्त भावव्यङ्ग्य ही क्यों प्रधान होगा, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये उसकी प्रधानता में कारण का निर्देश करते हैं—'चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात्'। आशय यह है कि सहृदयहृदयों में उक्त वस्तु-व्यङ्ग्य को आधार बना कर उठी हुई आस्वादधारा पर्यवसान में उक्त भावव्यङ्ग्य के आस्वाद में ही विश्रान्त होती है, अतः वह भावव्यङ्ग्य ही प्रधान है। प्रथम उदाहरण में वाच्यार्थ से ही व्यङ्ग्यार्थ में प्रधानता दिखलायी गई थी और इस द्वितीय उदाहरण में वाच्यार्थ तथा वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ दोनों की अपेक्षा भावव्यङ्ग्य की प्रधानता कही गई है।

पुनः किञ्चिद्विलक्षणमुदाहरणान्तरं दर्शयति—

यथा वा—

अचिरप्रवत्स्यत्पतिकनवोढवधूवृत्तं कश्चिद् वक्ति—

'तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥'

या नवोढवधूः, सुतनुः सुन्दरी नितरां कोमलाङ्गी; अत एव तल्पे केलिनिलयस्थशय्यायां, गताऽपि कथञ्चन सहचरीसहस्रानुरोधेन शयितापि च (का चर्चा बहिःस्थितायाः) श्वासस्य पत्युर्निश्श्वासस्य, आसङ्गमीषत्सम्पर्कम् (का कथोपगूहनादीनाम्) न सेहे नैव ममर्ष (किन्त्वङ्गानि समकोचयद् बहिरपससार वा) सा (सैव, न त्वन्या) सम्प्रति प्रियविदेश-यात्रापूर्वरात्राविदानीं, हृदयगतं सशङ्केन प्रियेण हृदये वक्षसि निहितं, प्रियस्य पाणिं करम्, मन्दं भाविविरहातङ्केन शनैः (न तु प्रागिव तरसैव) आक्षिपति नवोढा जातिस्वभावात् स्वस्थानं प्रापयन्त्यपसारयतीत्यर्थः। काव्यलिङ्गालङ्कार उपगीतिश्छन्दश्च।

इह श्वासेन सहावश्यकः प्रियस्यान्वयः पदार्थैकदेशतया दुर्घटः। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य-भावाद्यभावेन गतशब्दस्य पौनरुक्त्यं च सहृदयानां हृदयं दुनोति।

ग्रन्थकार पुनः उत्तमोत्तम काव्य का ही एक और विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, वह विलक्षणता क्या है ? इस जिज्ञासा की शान्ति अग्रिम प्रसङ्ग से होगी। जिसका पति कहीं दूर देश में जाने के लिये तैयार बैठा है, उस प्रवत्स्यत्पतिका नवोढ़ा वधू का वृत्तान्त 'तल्पगताऽपि' इस पद्य में वर्णित है। पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—जो अतिकोमलाङ्गी सुन्दरी, नव-प्रणयिनी (सहचरियों के अनुरोध से) पलङ्ग पर सोई हुई भी, पति के श्वास के ईषत्सम्पर्क को भी (आलिङ्गनादि की बात ही क्या ?) नहीं सह सकती थी—अर्थात् पति के श्वास के लगने से भी अङ्गों को सिकोड़ने लगती थी, वही सम्प्रति (पति के विदेश जाने की पूर्व रजनी में) हृदय पर रक्खे हुये शङ्कित पति के हाथ को भाविविरहातङ्क से धीरे-धीरे (न कि पूर्ववत शीघ्रता से) हटा रही है। यहाँ 'सम्प्रति' पद के अर्थ से आक्षेप-गत-मान्द्य की उपपत्ति की जाती है, अतः 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है।

उदाहरणमिदं विवरीतुमवतरणिकां भणति—

इदञ्च पद्यं मन्निर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकाङ्क्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यायते—

अयं तल्पगतेत्यादिश्लोको यद्यपि जगन्नाथपण्डितराजरचिते भामिनीविलासाभिधप्रबन्धे नवोढाप्रकरणे पठित इति तत्प्रकरणघटकश्लोकान्तरसम्बद्धतया पूर्वं व्याख्यातुमशक्योऽपि किञ्चिद्व्याख्यायत इति सारम्।

यह पद्य पण्डितराज-रचित-'भामिनीविलास' नामक-प्रबन्ध का है, अतः इसका सम्बन्ध दूसरे पद्यों से भी है, इसलिये यद्यपि इस पद्य की व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं की जा सकती, तथापि दिशा प्रदर्शन के अभिप्राय से कुछ-कुछ व्याख्या कर दी जाती है।

व्याख्यानमेव निर्दिशति—

या नववधूः पल्यङ्कशयिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणापि सङ्कुचदङ्गलतिकाऽभूत्, सा, सम्प्रति प्रस्थानपूर्वरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पितं हृदि पाणिं नववधूजातिस्वाभाव्यादाक्षिपति, परन्तु सन्दम्।

पल्यङ्कः खट्वाविशेषः। श्वासस्यासहनादेवाङ्गलतासङ्कोचः। आसङ्गाक्षेपपदयोराङीष-दर्थकः। प्रवत्स्यन् विदेशं गमिष्यन् पतिर्यस्याः सा प्रवत्स्यत्पतिका। स्वभाव एव स्वाभाव्यम्, ब्राह्मणादिगणस्याकृतिगणतया तदन्तर्गते सर्ववेदादिगणे स्वभावशब्दस्य पाठं कल्पयित्वा 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति पाणिनीयसूत्रेण स्वार्थे ष्यञोविधानाद् रूपं साधनीयम्। नववधूनां जातेर्नववधूत्वस्य स्वाभाव्यान्निसर्गात्। प्रियस्य पाण्यर्पणे शङ्का प्राग्वत् सरभसनिवारणपलायनादेः। आक्षेपस्य मान्थर्ये प्रवत्स्यत्पतिकात्वोचिता सत्वर-भाविप्रियविप्रयोगाद् भीतिरुपपादिका।

जो बात पद्य के अर्थरूप में लिखी गई है उसीको ग्रन्थकार अपनी भाषा में कहते हैं—'या नववधूः' इत्यादि। कहने का अभिप्राय यह है कि—नवोढ़ाओं के हृदय में पति के प्रति प्रेम नहीं रहता है, अथवा अल्प प्रेम रहता है, ऐसी बात नहीं है. प्रेम तो अधिक ही रहता है, परन्तु उस प्रेम के साथ लज्जा और भय का भाव भी मिले रहते हैं, जो स्वाभाविक भी है अतः वे (नवोढ़ायें) पति के पास जाने में हिचकिचाती रहती हैं, लेकिन सखियाँ खींचातानी कर उन्हें पति की शय्या पर सुलाकर ही छोड़ती हैं। इस तरह वे पति की शय्या पर पड़ी अवश्य रहती है पर कुछ खिंची-तानी सी अर्थात् पति जो कुछ चाहते रहते हैं उनमें वे सम्मिलित नहीं होतीं, स्थिति यह हो जाती है कि पति के श्वासों का लगना भी उन्हें असह्य सा प्रतीत होता रहता है, फिर अगर पति उनके देहों पर हाथ रखना चाहें तो उसको वे नवोढायें कैसे बर्दास्त कर सकती हैं, फल यह होता है कि जभी पति महाशय उनके अङ्गों पर हाथ रखते, तभी वे उन हाथों को उठाकर दूर फेंक देती हैं, इसी तरह नवदम्पतियों की रातें आशा तथा असफलताओं के बीच में झूलती रहती हैं, परन्तु

जब वह रात आती है, जिसके प्रभात में पति महाशय चले जायँगे, तब स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है, उस अन्तिम रात में पति सशङ्क होकर भी कुछ साहस से काम लेने के लिए कृत सङ्कल्प से हो जाते हैं, परन्तु उन्हें प्रायः साहस से काम लेने का अवसर नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उधर नववधुओं की दशा-मनोवृत्ति भी पहले जैसी नहीं रह जाती, वे सोचती हैं क्या आज भी ये निगोड़ी लज्जा और भय मेरा पीछा नहीं छोड़ेंगे ? यदि ऐसी बात हुई, तब तो बड़ा अनर्थ होगा, न जाने कब फिर उनसे (पति से) भेंट हो, नहीं, आज किसी तरह भय या लज्जा को अपने पास फटकने नहीं दूँगी, इस तरह वे नवोढायें प्रस्थान पूर्व रजनी में सन्नद्ध होकर ही पति की शय्या पर जाती हैं, फिर भी जब पति के हाथ उनके हृदय पर पड़ते हैं तब वे एक बार कुछ चौंक उठती हैं, और पति के हाथों को भी अपने हृदय पर से अलग अवश्य करती हैं। हाँ! इतना अन्तर अवश्य रहता है कि आज पति के हाथों को दूर हटाने में वह वेग नहीं रहता जो और दिनों में रहता था, अर्थात् नववधू-जाति-स्वभाव से बद्ध होने के नाते वे हाथों को हटाती जरूर हैं, परन्तु धीरे-धीरे।

उपादानसङ्गतये व्यङ्ग्यं प्रकटयति—

अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते।

अत्र तल्पेत्यादिपद्ये। शनैर्न तु वेगेन। स्वस्थानप्रापणमात्मा स्वरूपं यस्येति बहुव्रीहिः। एतेन रभसनिवारणाभावः सूचितः। आक्षेपे मान्द्यं रतेरनुभावः, प्रणयसद्भाव एव तस्य सम्भवात्। रतेः स्थायितोपादानाद् रसरूपत्वं प्रतीयते। संलक्ष्यक्रमत्वमेव रतिव्यङ्ग्यस्येह पूर्वोदाहरणद्वयाद्विशेषः।

यहाँ 'मन्दमाक्षिपति' का वाच्यार्थ है धीरे-धीरे अपने स्थान पर रख देना, जिससे रतिनामक स्थायीभाव (जो सम्भोगशृङ्गार के रूप में परिणत हो जाता है) संलक्ष्यक्रम होकर अभिव्यक्त होता है, क्योंकि रति के बिना हाथ का धीरे-धीरे हटाना सम्भव नहीं है।

ननु रत्यादीनां स्थायिनामन्यत्र सर्वैरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताया एव व्यवस्थापनादिह रतेः संलक्ष्यक्रमतया व्यङ्ग्यत्वमसङ्गतमित्यतोऽभिदधाति—

उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्।

उपपादयिष्यते रसनिरूपणप्रकरणेऽत्रैवानने मयेति शेषः। तथाहि—यत्र प्रकरणस्य स्पष्टार्थकतया द्रुततरं प्रतीयमानैर्विभावादिभिः सहृदयानामतिशीघ्रं रसपदवीमासादयतां रत्यादीनां प्रतीतिर्जायते, तत्र वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावेन कल्पितस्यापि पूर्वापरीभावरूपस्य क्रमस्याशुतरभावितया सम्यग् लक्षयितुमशक्यत्वेनासंलक्ष्यक्रमत्वम्। यत्र तु प्रकरणस्यास्पष्टार्थकतया विभावादीनां प्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिप्रतीतावास्वादपदवीप्रापकसामग्रीसंचलनविलम्बात् क्रमस्य सम्यग् लक्ष्यता, तत्र रत्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम्। यथा प्रकृतश्लोके—'सम्प्रति' इति शब्देन पूर्वापरसन्दर्भसम्बद्धेन 'तस्या नववधूभावे पूर्वमन्यादृशः सङ्कोच आसीत्, सम्प्रति तु क्रमेण न्यूनतयाऽन्यादृश एवाभूत्' इत्याद्यर्थस्य विलम्बेन प्रत्यायनाद् रत्यादिप्रतीतेर्विलम्बितया संलक्ष्यक्रमत्वम्।

परे तु—'वाच्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे वाच्यप्रतीतावेव विलम्बेन रत्यादिव्यङ्ग्यप्रतीतेर्न संलक्ष्यक्रमत्वम्। व्यङ्ग्यार्थतात्पर्यग्राहकप्रकरणस्यास्पष्टार्थकत्वे तु गूढव्यङ्ग्यवच्चमत्कारोदयविलम्बात् सहृदयवैमुख्येनोत्कर्षव्याघात एवेति कुतो रत्यादिव्यङ्ग्यस्य संलक्ष्यक्रमता' इति व्याहरन्ति।

यदि यहाँ कोई यह शङ्का करे कि आजतक सभी आलङ्कारिक आचार्यों ने तो रति आदि स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही माना है, फिर आप यहाँ रति को संलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य क्यों और कैसे कहते हैं, इसी प्रसङ्ग में ग्रन्थकार लिखते हैं—'उपपादयिष्यते च' इत्यादि। अर्थात् स्थायीभाव भी क्यों और कैसे संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य हो जाते हैं, यह बात आगे कही जायगी, तात्पर्य यह है कि प्राचीन सभी आचार्य स्थायीभावों को असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य मानते हैं, उनका आशय है कि यद्यपि स्थायीभावों-रसों की प्रतीति के पूर्व विभाव आदि की प्रतीति अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि उन दोनों प्रतीतियों में कार्य कारणभाव है, विभावादि-प्रतीति, कारण है, और रसादि-प्रतीति, कार्य, अतः उन दोनों में पूर्वापरीय (आगे पीछे का) भाव अवश्य है, परन्तु मध्य के समय अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका वह क्रम (पूर्वापर भाव) हमें लक्षित नहीं होता, जैसे जब हम कमल के सौ पत्तों को एक के ऊपर एक के हिसाब से रखकर उनमें सूई को चुभाते हैं, तब यद्यपि एक के बाद ही दूसरे पत्ते में छेद होता होगा पर मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्तों में छेद हो गया। इसके विरुद्ध पण्डितराज का कथन है कि हाँ, स्थायी-भाव असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य है, पर सब जगह नहीं, जहाँ प्रकरण स्पष्ट रहता है, वहाँ विभावादि-प्रतीति में विलम्ब नहीं होता और सहृदयों को ऐसा ही भान होता है कि एक साथ ही विभावादि तथा स्थायीभाव की प्रतीति हो गई, और जहाँ प्रकरण स्पष्ट नहीं रहता वहाँ तो विभावादि की प्रतीति में ही अति विलम्ब हो जाता है, फिर वहाँ क्रम लक्षित क्यों नहीं होगा? अर्थात् स्थायीभाव भी दोनों प्रकार के होते हैं, कहीं संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य और कहीं असंलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य, प्रकृत पद्य में प्रकरण स्पष्ट नहीं है अतः यहाँ का रतिरूप स्थायीभाव संलक्ष्य-क्रम-व्यङ्ग्य ही है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी यही सिद्धान्त है।

अस्य काव्यप्रकारस्य स्वकपोलकल्पितत्वं परिहर्तुं प्राचीनमतसंवादं दर्शयति—

अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति।

अमुमुत्तमोत्तमरूपम्। अभ्यासार्थकस्यापि मनतेरुपसर्गयोगात् स्वीकारार्थकत्वम्। ध्वनिकारप्रभृतय इति शेषः। व्यङ्ग्यस्य वाच्यवाचकापेक्षयाऽधिकचमत्काराधायकत्वे ध्वनिकार-प्रभृतयः प्राचीनाचार्या यं ध्वनिमाचक्षते, स एवायम्, न तु नूतनः कश्चित् प्रकार इति भावः।

काव्य के इसी (उत्तमोत्तम) भेद को प्राचीन आचार्य ध्वनि काव्य कहते हैं।

अथ 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्ये ध्वनित्वस्थापनार्थमप्पय्यदीक्षितावलम्बितां व्याख्यानपद्धतिं दूषयितुमुपपादयति—

यत्तु 'चित्रमीमांसायामप्पय्यदीक्षितैः' 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इति पद्यं ध्वन्यु-दाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—'उत्तरीयकर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरि-हाराय निश्शेषग्रहणम्। ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोग-चिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम्। स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तव तु स्तनयोस्तट उपरिभाग एव दृश्यते, इयमाश्लेषकृतैव।

तथा 'निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात् प्राचीनरागस्य किञ्चिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय 'निर्मृष्टरागः' इति रागस्य निश्शेषमृष्टतोक्ता। पुनः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्घाटनाय 'अधरः' इति विशिष्य-ग्रहणम्। 'उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव।' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम्।' इत्यन्तेन सन्दर्भेण 'तटादिघटिता वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा 'सम्भोगाङ्गानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधानव्य-ङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति।' इति।

'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडाऽऽगमे
वापीं स्नातुमितो गताऽसि, न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

इत्ययं पूर्णः श्लोकोऽमरुशतकघटकः । नायकमानेतुं प्रहितां तमुपभुज्य समायातां दूतीमुद्दिश्य स्नानकार्यप्रकाशनद्वारा सम्भोगं प्रकाशयन्त्या विदग्धोत्तमनायिकाया उक्तिरियम् । अयि ! मिथ्यावादिनि ! 'मत्प्रसादनेनापि नायको नायातः' इति मृषाभाषिणि ! बान्धवजनस्य बान्धवो 'बन्धुमित्रयोः' इति हैमकोशाद् मद्रूपस्य मित्रजनस्य अज्ञातः स्वार्थान्धतयाऽविभावितः पीडाऽऽगमः क्लेशप्राप्तिर्यया, तथाभूते !, दूति ! सन्देशहारिणि ! (न तु सखि ! नापि यथार्थवादिनि ! मत्प्रतारणाकर्तृत्वात्) इतो मदन्तिकात्, स्नातुं सलिलावगाहनं कर्तुम्, वापीं दीर्घिकाम्, गताऽसि, अधमस्य नितरामनुचिताचरणान्नीचस्य, तस्य नायकस्य, अन्तिकं समीपं तु पुनः, न गताऽसि । (यतः) तव स्तनयोर्वक्षोजयोः, तटं प्रान्तसमदेश उपरिभागो वा निश्शेषं यथा स्यात् तथा च्युतं गलितं चन्दनं श्रीखण्डं घुसृणं वा यतस्तादृशमस्ति । तथा—अधरो निम्नोष्ठः, निश्शेषं यथा स्यात्तथा (न त्वीषत्) मृष्टः प्रक्षालितो रागस्ताम्बूलरसरक्तिमा यस्य, तादृशोऽस्ति । तथा—नेत्रे नयने, दूरं प्रान्तभागेऽत्यन्तं वा अनञ्जने कज्जलरहिते स्तः । तथा—इयं पुरोलक्ष्यमाणा तनुर्देहयष्टिः तन्वी (सद्यः स्नानात्) कोमला, पुलकिता जातरोमाञ्चा चास्तीत्यर्थः ।

उत्तरीयवसनसङ्घर्षणादपि स्तनयोश्चन्दनच्युतिः सम्भवतीति तत्परिहाराय—निश्शेषेत्युक्तम् । तथा च निश्शेषं चन्दनच्युतिः उत्तरीयवसनसङ्घर्षणान्न सम्भवति, किन्तु सम्मर्दनबहुलात् सम्भोगादेव । तथाऽपि निश्शेषचन्दनच्युतेः प्रक्षालनप्रधानात् स्नानादपि सम्भव इति तदीयं स्नानसाधारण्यं निवारयितुं-तटपदमुपात्तम् । तेन तु स्तनोपरिदेश एव चन्दनच्युतिः सम्भोगादेव न तु स्नानादिति सम्भोगस्य व्यञ्जनम् । एवं ताम्बूलभक्षणे विलम्बादपि पूर्वरागस्य म्लानिः सम्भवतीति-निरित्युपसर्ग उपात्तः । तथा च ताम्बूलभक्षणविलम्बाद् रागस्यात्यन्तम्लानिर्नोपपद्यते, अपि तु सम्भोगादेवाधरपानप्रधानात् 'कामिनामधरास्वादः सुरतादतिरिच्यते' इति कामशास्त्रानुशासनात् । तथाऽपि रागात्यन्तम्लानेः स्नानादपि सम्भव इत्यसाधारण्यं सम्पादयितुमधरपदस्योपादानम् । तथा चोत्तरोष्ठस्य चुम्बनं कामशास्त्रप्रतिकूलमित्यधरमात्रस्य रागात्यन्तम्लानिः सम्भोगादेवेति तद्व्यञ्जनम् । आदिपदप्रतिपाद्यन्तु नेत्रयोरञ्जनात्यन्तराहित्यं तनोस्तानवं पुलकितत्वं च । तथा चाञ्जनग्रहणविलम्बात् स्नानाच्च नेत्रयोः किञ्चिदेवाञ्जनराहित्यं सम्भवति, न त्वत्यन्तमिति नेत्रयोरत्यन्ताञ्जनराहित्येन सम्भोगमात्रजन्येन तद्व्याञ्जनम् । एवं तनोस्तानवं पुलकित्वं च कार्श्यात् स्नानादपि किञ्चिदेव सम्भवति, न तु प्रभूततरमीदृशमित्येतत् सम्भोगमात्रजन्यमित्यतोऽपि तद्व्यञ्जनम् । दूरशब्दस्यात्यन्तवाचकत्वं व्यक्तम्, प्रान्तभाग इति तु मानसिकोऽर्थः । 'तटादिघटिताः' इत्यादि 'आचरन्ति' इत्यन्तं वाक्यं निर्गलितार्थबोधकम् । वाक्यार्थो निश्शेषेत्यादीनां विशेषणवाक्यानामर्थाः । आदिपदेन सुरतसम्मर्दसङ्ग्रहः । प्रधानव्यङ्ग्यः सम्भोगः साहायकं सहायस्य कर्म-उपकरणम् ।

इह स्नानात् सम्भोगाच्च सम्भविनोऽपि स्तनचन्दनच्युतिप्रभृतिपदार्था निरादिशब्दार्थसम्बन्धमहिम्ना सम्भोगमात्रजन्यत्वेन प्रत्याय्यमानाः प्रतिपादयिष्यमाणेनाधमपदार्थेनोप-

स्क्रियमाणाः प्राधान्येन सम्भोगमेवावगमयन्तः काव्यस्य ध्वनित्वं सम्पादयन्तीत्याकूतम् ।

प्रसिद्ध आलङ्कारिक 'अप्पयदीक्षित' ने 'चित्रमीमांसा' नामक अपने निबन्धन में 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य को ध्वनिकाव्य का उदाहरण माना है और उसमें ध्वनि-काव्यता की सिद्धि करने के लिये उस पद्य की व्याख्या अपने ढङ्ग से की है, परन्तु उनकी व्याख्या 'पण्डितराज' को अभिमत नहीं, अतः 'पण्डितराज' 'दीक्षित' के मत का खण्डन करने के लिये पहले उनके मत का उपपादन करते हैं—'यत्त' इत्यादि । किसी विरहिणी नायिका ने एक दूती को दूर स्थित अपने प्रियतम को बुला लाने के लिये भेजा, किन्तु वह दूती स्वयम् उससे सम्भोग करके लौट आई और नायिका के पास आकर झूठमूठ बात बनाने लगी कि—'तुम्हारा नायक लाख अनुनय-विनय करने पर भी नहीं आया' इत्यादि । चतुर नायिका को असल बात समझ में आ गई, परन्तु वह उस बात को स्पष्ट कैसे कहे, अतः उस नायिका ने स्नान साधारण वाक्यार्थों के द्वारा उस बात को व्यक्त किया, इसी प्रसङ्ग पर 'निःशेषच्युतचन्दनम्' यह पद्य 'अमरुशतक' में कहा गया है, (सम्पूर्ण पद्य संस्कृत टीका में देखना चाहिये)अर्थ इसका यह है कि–हे झूठ बोलने वाली दूती ! तूँ अपने बान्धव की (मेरी) पीड़ा को नहीं समझ सकी—उसके दिल में जो वेदना है—उसको नहीं जान सकी, अतएव तूँ उस अधम (नायक) के पास न जाकर वावड़ी नहाने चली गई । यह बात तेरी चेष्टाओं से स्पष्ट सूचित हो रही है, देखो, तेरे स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है, नीचे के होठ की लाली (ताम्बूलकृत) बिलकुल नष्ट हो गई है, नेत्र अत्यन्त अञ्जन रहित हो गए हैं और दुर्बल यह तेरा शरीर रोमाञ्चयुक्त हो उठा है यह तो हुई इस पद्य की सामान्य व्याख्या, अब 'दीक्षित की विशिष्ट' व्याख्या सुनिये—उनका कथन है कि 'स्तनों का चन्दन वस्त्र के सङ्घर्ष से भी मिट सकता है, सो नहीं समझा जाय इसलिये नायिका के मिटने का विशेषण 'सर्वथा' कहा, जिससे यह सूचित होता है कि चन्दन का सर्वथा मिट जाना मर्दन के बिना वस्त्र के सङ्घर्ष मात्र से सम्भव नहीं । इसी तरह स्नान से भी चन्दन को मिटने की सम्भावना थी, उस सम्भावना को दूर करने के लिये चन्दन का विशेषण 'ऊपर भाग का' कहा, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्नान से यह नहीं हुआ है क्योंकि स्नान से जब चन्दन मिटेगा, तब समग्र स्थान का, पर तेरा चन्दन तो स्तन के ऊपरी भाग में ही मिटा है ऐसा आलिङ्गन से ही हो सकता है । इसी प्रकार ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने से भी होठ की लाली नष्ट हो जा सकती है, परन्तु यहाँ सो नहीं है, यह स्पष्ट करने के लिये ताम्बूल नाश का विशेषण 'बिलकुल' कहा, अर्थात् ताम्बूल खाये बहुत देर हो जाने पर भी होठ की लाली बिलकुल नष्ट नहीं हो सकती, अलबत्ते कुछ फीकी हो जाय, इसी तरह स्नान से भी यह लाली नष्ट नहीं हुई है इस बात को सूचित करने के लिये 'अधर' पद कह दिया, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह लाली का विनाश चुम्बन से ही हुआ है स्नान से नहीं क्योंकि स्नान से यदि लाली नष्ट होती तो ऊपर तथा नीचे दोनों ही होठों की, न केवल निचले होठ की ही, चुम्बन से तो ऐसा सम्भव है, क्योंकि ऊपरी होठ का चुम्बन कामशास्त्र में निषिद्ध है।' यहाँ से लेकर 'यह भी ध्वनि का उदाहरण है' यहाँ तक के सन्दर्भ से 'दीक्षित' ने यह सिद्ध किया है कि 'ऊपर भाग' आदि पदों से युक्त उक्त वाक्यों के जो अर्थ हैं, वे सम्भोग के अङ्ग—आलिङ्गन, चुम्बन आदि के व्यञ्जन या प्रतिपादन के द्वारा मुख्य व्यङ्ग्य (सम्भोग) की अभिव्यक्ति करने में साहाय्य प्रदान करते हैं। सारांश यह है कि इस तरह की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि दूती के अङ्गों में परिलक्षित होने वाले ये विकार नायक के साथ किये गये सम्भोग से ही उत्पन्न हुए हैं, दूसरे किसी तरीके से नहीं ।

खण्डयति—

तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम् , प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वादुपपत्तिविरोधाच्च ।

उपपत्तिर्युक्तिरौचितीत्यनर्थान्तरम्।

अब पण्डित राज 'दीक्षित' कृत पूर्वोक्त विवेचन का खण्डन करते हैं—'तदेतदलङ्कार' इत्यादि। 'दीक्षित' का उक्त विवेचन अनभिज्ञता का सूचक है, अर्थात् वे अलङ्कार शास्त्रों के मर्म को नहीं समझते, अतः वैसा कहते हैं, क्योंकि उनका उक्त विवेचन प्राचीन सब ग्रन्थों से तथा युक्तियों से विरुद्ध है।

प्राचीनग्रन्थस्य काव्यप्रकाशस्य सन्दर्भे विरोधं दर्शयितुमुपन्यस्यति—

तथाहि पञ्चमोल्लासशेषे—'निश्शेषेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि।' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम्।

गमकतया—अनुमितिहेतुत्वेन। कारणान्तरतोऽपि—स्नानरूपकारणादपि। उपभोग एव प्रतिबद्धानि—भवदभिमते दूतीकर्तृकसम्भोगरूपसाध्यव्याप्यानि। अनैकान्तिकानि—स्नानसाधारण्येन व्यभिचारितानि। अस्मिन्नेव पद्ये स्नानजन्यत्वेनोपादीयमानत्वाच्चन्दनच्युतिर्हि सम्भोगात् स्नानाच्च सम्भवन्ती न सम्भोगव्याप्या, तस्मात् कुतस्तया व्यभिचारिण्या सम्भोगोऽनुमातुं शक्य इति सम्भोगावगमनाय व्यञ्जनाशक्तिरभ्युपेयैवेति तद्ग्रन्थाशयः।

चन्दनच्यवनादीनां सम्भोगव्यभिचारित्वं प्रतिपादयताऽमुना ग्रन्थेन सह सम्भोगवाप्यत्वं प्रतिपादयतो दर्शितचित्रमीमांसाग्रन्थस्य विरोधः स्फुटोऽवधारणीयः।

प्राचीन ग्रन्थ से विरोध दिखलाने के लिये 'काव्यप्रकाश' का उद्धरण देते हैं—'तथाहि पञ्चमोल्लासशेषे' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि 'प्रकृत (निःशेषच्युत इत्यादि) श्लोक में जो सम्भोगरूप अर्थ व्यङ्ग्य माना जाता है, उसके ज्ञान के लिये व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं है, अनुमान से ही उस अर्थ का ज्ञान हो जा सकता है' इस मत के खण्डन प्रसङ्ग में मम्मट कहते है कि सम्भोग का ज्ञान अनुमान से तब होता, यदि श्लोक में उक्त चन्दनच्युति प्रभृति सम्भोग व्याप्य होते—अर्थात् सम्भोग से ही वे सब (चन्दनच्युति आदि) होने वाले रहते, सो तो है नहीं, क्योंकि सम्भोग से अतिरिक्त कारणों से भी वे हो सकते हैं, जैसे इसी पद्य में उनको स्नानरूप कारण का कार्य कहा गया है, इसलिये चन्दनच्युति वगैरह सम्भोग के व्यभिचारी (उसके बिना भी होने वाले) हैं, अतः उन हेतुओं से सम्भोग की अनुमिति नहीं हो सकती। यहाँ इस सन्दर्भ को उद्धृत करने का तात्पर्य है कि मम्मट चन्दनच्युति प्रभृति को सम्भोग, स्नान आदि अनेक कारणों से होने वाला साधारण पदार्थ मानते हैं और आप (दीक्षित) बनाते हैं, उसको सम्भोग मात्र से होने वाला असाधारण पदार्थ। अतः मम्मट के ग्रन्थ से आपका विवेचन विरुद्ध हुआ।

काव्यप्रकाशस्यैव पुनः स्थलान्तरं विरोधप्रकाशनार्थमुपाददाति—

तथा तत्रैव तेन—

'भम धम्मिअ! वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मरिओ देण।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥'

इत्यादौ लिङ्गजलिङ्गिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्तिं गतार्थयतो व्यक्तिविवेककृतो मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च सन्दिह्यमानादपि लिङ्गाद् व्यञ्जनमभ्युपगतम्।

तत्रैव—काव्यप्रकाशपञ्चमोल्लास एव। तेन—मम्मटभट्टेन—

भ्रम धार्मिक! विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छनिकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥' इति संस्कृतच्छाया।

पुष्पावचयाय स्वसङ्केतनिकेतनीभूतगोदावरीतीरनिकुञ्जं प्रति प्रयाणाभिमुखस्य कस्यचित् स्वरहस्यप्रकाशशङ्कया वारणाय कस्याश्चन पुंश्चल्या भणितिरियम्। धार्मिक! हे धर्मात्मन्! विश्वस्तः सविश्वासं स्वैरमिति यावत्, न तु प्राग्वत् सत्रासम्, भ्रम कुसुमान्यवचेतुं (मद्गृहपरिसरे न तु गोदावरीतीरे) सञ्चर। यतः स त्वत्प्रात्यहिकत्रासस्य हेतुतया प्रसिद्धः शुनकः श्वा कुक्कुरः, अद्य-अस्मिन्नहनि तेन दुर्दान्ततया सर्वत्र प्रसिद्धेन, प्रायस्त्वया केवलमज्ञातेन, गोदानद्या गोदावरीसरितः, कच्छनिकुञ्जे तीरस्थलतामण्डपे, वासिना सार्वदिकनिवसनशीलेन, न त्वकस्मादागतेन, दृप्तेन प्रसह्य जीवजीवनापहरणदर्पोद्धतेन, सिंहेन केसरिणा, मारितो हत इत्यर्थः। जघनविपुला छन्दः।

अत्र त्रासकारणीभूतस्य शुनो विनाशोपन्यासेन धार्मिकस्य गृहपरिसरे भ्रमणविधानं वाच्यम्। शुनोऽपि भीरोस्तस्य गोदावरीतीरनिकुञ्जे सिंहसद्भावप्रतिपादनेन भ्रमणनिषेधस्तु वस्तुरूपः पुंश्चल्या वक्त्र्या वैशिष्ट्येन व्यङ्ग्यः। विशेषविचारस्त्वस्मदीयध्वन्यालोकदीधितावालोचनीयः।

लिङ्गं पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टोऽनुमानस्य हेतुः, तज्जन्यं यल्लिङ्गिनः साध्यस्य ज्ञानं, तदेवानुमानम्। व्यक्तिर्व्यञ्जना। व्यक्तिविवेककृतस्तार्किकमतानुयायिनो महिमभट्टस्य। प्रत्याचक्षाणेन खण्डयता। अभ्युपगतमङ्गीकृतम्। तेनेत्यभ्युपगतमित्यनेन सम्बद्धम्।

अयमाशयः—'गोदावरीतीरनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणायोग्यम्, सिंहवत्त्वात्' इत्यनुमितिरेवात्र भ्रमणनिषेधलक्षणं व्यङ्ग्यं गोचरयितुमलम्, कृतं व्यञ्जनायाः स्वीकारेणेति महिमभट्टस्य मतं काव्यप्रकाशकारस्तादृशहेतोर्व्यभिचारित्वमसिद्धत्वं च प्रदर्श्याखण्डयत्। तथाहि-क्वचिद्धार्मिकत्वेन स्पर्शदोषाच्छुनो भीरोरपि वीरस्वभावस्य गुरु-प्रभुनिदेश-प्रियाऽनुराग-निधिलाभसम्भावनाऽऽदिपारवश्येन सिंहाधिष्ठानेऽपि स्थाने गमनस्य दर्शनाद्धेतौ व्यभिचारः, तत्र सिंहसद्भावस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धत्वेन पुंश्चल्युच्चारितत्वादप्रमाणीभूततादृशवाक्यमात्रवेद्यतया चासिद्धत्वमिति द्विधा दुष्टेन हेतुनाऽनुमितेः सर्वथाऽसम्भवः। व्यञ्जनापक्षे तु व्यभिचारिणः सन्देहगोचरादपि हेतोर्निर्बाधो व्यङ्ग्यार्थावगमः, तत्र व्याप्त्याद्यनुसन्धानानपेक्षणात्। तथा च प्रकृते हेतोरव्यभिचारित्वप्रदर्शनप्रयासात् काव्यप्रकाशेन सह विरोधः स्फुट एव बोध्यः।

प्राचीन ग्रन्थ से 'दीक्षित' मत में पड़ने वाले विरोध को दृढ़ करने के लिये पुनः काव्यप्रकाश के ही दूसरे स्थल को उद्धृत करते हैं—'तथा तत्रैव तेन' इत्यादि। 'भमधम्मिअ!' इत्यादि श्लोक संलक्ष्य क्रमध्वनि (वस्तुव्यङ्ग्य) का उदाहरण है। किसी व्यभिचारिणी नायिका ने गोदावरी नदी के तटवर्ती किसी कुञ्ज को अपना सङ्केत स्थान बना रखा था, परन्तु कोई एक धार्मिक पुरुष वहाँ नित्य पुष्प चुनने के लिये जाया करता था, अतः उस व्यभिचारिणी ने अपने स्वैर विहार में बाधा पड़ती देख कर उस धार्मिक से कहा—हे धर्मधुरन्धर! अब आप विश्वास पूर्वक (न कि पहले जैसे डरते हुए) घूमिये (फूल चुनने के लिये मेरे घर के अगल-बगल न कि गोदावरी तट पर फिरते रहिये) क्योंकि जिस कुत्ते का भय बराबर बना रहता था, उसको गोदावरी नदी के जलप्राय प्रदेश की झाड़ी में बसने वाले (न कि अकस्मात् आये हुये) मत्त सिंह ने मार डाला। सारांश यह है कि घर के पास कुत्ते से भी डरने वाले पण्डितजी! अब आप धोखे से भी गोदा के कुञ्ज में मत जाइये, क्योंकि वहाँ सिंह रहता है, यदि जाने का दुस्साहस कीजियेगा, तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इस तरह से यहाँ भ्रमण का विधान (घूमो) वाच्य है और

भ्रमण-निषेध (मत घूमो) व्यङ्ग्य, यह व्यञ्जनावादी का मत है, परन्तु लिङ्ग—हेतु से लिङ्गी-साध्य का ज्ञान—जो अनुमान है—उससे व्यञ्जना को गतार्थ (व्यर्थ) करने वाले व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट का कथन है कि यहाँ भ्रमण निषेध का ज्ञान करने के लिये व्यञ्जना का स्वीकार व्यर्थ है, क्योंकि 'गोदावरी तटवर्ती कुञ्ज कुत्तों से डरने वालों के भ्रमण करने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ सिंह है' इस अनुमान से ही उसका (भ्रमण निषेध का) ज्ञान हो ही जायगा। व्यक्ति विवेककार के इस मत के खण्डन के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाशकार कहते हैं कि उक्त अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ के हेतु (सिंह का रहना) में व्यभिचारित्व-अन्यगामित्व तथा असिद्धत्व का सन्देह है अर्थात् स्पर्श दोष से बचने वाला धार्मिक यदि वीर हो तो कुत्ते से डरकर भी सिंह से नहीं डरेग। अथवा डरते रहने पर भी गुरु अथवा प्रभु की आज्ञा, प्रेयसी के अनुराग तथा निधि लाभ की आशा से सिंह युक्त स्थान में भी जा सकता है, इसलिये उक्त हेतु में व्यभिचारित्व (भ्रमणाभावरूप साध्यरहित पक्ष में रहने का) सन्देह है और 'गोदावरी तट पर सिंह है' इसका निर्णय कैसे होगा ? स्वयं तो उस धार्मिक ने देखा नहीं, पुँश्चली नायिका का कथन तो प्रमाण नहीं हो सकता, वह झूठ कहती हो ऐसा भी सम्भव है, अतः उक्त हेतु में असिद्धि का संशय है, यदि आप पूछें कि व्यञ्जनावादियों को भी तो 'सिंह है' इस उक्ति से ही भ्रमण निषेध का ज्ञान होता है, सो कैसे ? इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनावादियों को 'सिंह है' यह उक्ति सत्य है किंवा मिथ्या इस बात की खोज नहीं करनी पड़ती, क्योंकि व्यङ्ग्यकरन में व्यञ्जक का सत्य होना असाधारण (अव्यभिचारी) होना आवश्यक नहीं माना गया है और अनुमान में हेतु का वैसा होना आवश्यक माना गया है। अब स्पष्ट हो गया कि सन्दिग्ध तथा साधारण व्यञ्जक से भी व्यक्ति का प्रतिपादन करने वाले इस प्रकाश ग्रन्थ से असन्दिग्ध तथा असाधारण व्यञ्जक से ही अभिव्यक्ति का समर्थन करने वाला दीक्षित ग्रन्थ विरुद्ध है।

विरोधे ध्वनिकर्तुरपि मतसंवादं दर्शयति—

इत्थमेव च ध्वनिकृताऽपि प्रथमोद्द्योते।

अभ्युपगतमिति ध्वन्यालोक इति च शेषः।

वाच्य-व्यार्थयोः स्वरूपभेदप्रदर्शनप्रसङ्गेन ध्वनिकारोऽप्यत्र व्यभिचारसिद्धिदूषितादपि सिंहसद्भावरूपाद्धेतोर्व्यङ्ग्यस्य भ्रमणनिषेधस्यावगमं स्वीचकारेति तदपि हेतोरव्यभिचारित्वसम्पादकेनाप्पय्यदीक्षितस्य प्रकृतप्रयासेन विरुद्धमेवेत्यभिसन्धिः।

इसी प्रकार ध्वन्यालोककार राजानक 'आनन्दवर्धनाचार्य' ने भी ध्वन्यालोक का प्रथम उद्द्योत में कहा है, अर्थात् उह्नोने भी 'भमधम्मिअ' इस पद्य में साधारण तथा सन्दिग्ध व्यञ्जक व्यङ्ग्य का होना स्वीकार किया है, अतः ध्यन्यालोक ग्रन्थ से भी दीक्षित के उक्त विवेचन विरुद्ध होता है।

तदेवाचष्टे—

एवं च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहासाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः।

एवमुक्तप्रकारेण। व्यञ्जकानां चन्दनच्यवनादीनाम्। साधारण्यं व्याङ्ग्या व्याप्यत्वं व्यभिचारित्वमिति यावत्। ग्रन्थैः काव्यप्रकाशादिभिः। तव ग्रन्थस्य चित्रमीमांसायाः।

प्रामाणिक-प्राचीनग्रन्थेषु व्यभिचारिणाऽपि हेतुना व्यङ्ग्यस्य प्रतीतिः प्रतिपादिता, त्वया पुनः प्रकृते व्यञ्जकहेतूनामव्यभिचारित्वसम्पत्तये महीयान् प्रयासः क्रियत इत्येतत् सर्वथा प्राचीनपथप्रतिकूलत्वादप्रामाकितयोपेक्षणीयमेव स्यादितिसारम्।

इस प्रकार से यह बात स्पष्ट हो गई कि व्यञ्जक चन्दनच्युति आदि की साधारणता (व्यङ्ग्य तथा तदतिरिक्त वस्तुओं से सम्बन्ध रखना) के प्रतिपादन करने वाले प्रकाशकार

आदि के ग्रन्थों से व्यञ्जक की असाधारणता (व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रखना) का प्रतिपादक अप्पय्य दीक्षित का ग्रन्थ विरुद्ध अवश्य है।

ननु व्यञ्जकानां साधारण्येऽपि व्यञ्जनमभ्युपगच्छद्भिः प्राचीनग्रन्थकारैरसाधारण्ये तेषां तत् सुतरामभ्युपगतमेवेति व्यञ्जकासाधारण्य एव व्यञ्जनं प्रतिपादयतो मद्ग्रन्थस्य तद्ग्रन्थैः सह नास्ति विरोध इत्यतोऽरुचेरुपपत्तिविरोधलक्षणं दूषणान्तरं क्रमेणोपपादयति-

किञ्च यदिदं निश्शेषेत्याद्यवान्तरवाक्यार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण व्यङ्ग्यासाधारण्यं सम्पाद्यते, तत् किमर्थमिति पृच्छामः। व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनार्थमिति चेत्, न, व्यञ्जकगतासाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपायत्वात्।

अवान्तरवाक्यानि श्लोकरूपमहावाक्यघटकानि निश्शेषेत्यादिवाक्यानि, तेषामर्था निश्शेषचन्दनच्यवनादयः। व्यावृत्तिर्व्यवच्छेद इत्यनर्थान्तरम्। सम्पाद्यते क्रियते त्वयेति शेषः। व्यङ्ग्यस्य सम्भोगस्य। उपायत्वं प्रयोजकता।

व्यञ्जकानां वाक्यार्थानामव्यभिचारित्वसम्पादनार्थमियानयं प्रयासस्तथाऽपि विफलः, व्यभिचारिभिरपि तैर्व्यञ्जनस्य शतशोऽनुभवादिति भावः।

यदि आप कहें कि जब साधारण व्यञ्जक से भी व्यङ्ग्य का होना प्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्यों को अभिमत है, तब असाधारण व्यञ्जक से उसका होना तो सुतराम् उन लोगों का अभिमत सिद्ध होता है, फिर तो असाधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य का होना (जो दीक्षित का अभिप्राय है) विरुद्ध नहीं होता। अतः अब पण्डितराज युक्तिविरोध दिखलाते हैं—'किञ्च यदिदम्' इत्यादि। पण्डितराज दीक्षितजी से पूछते हैं कि आप जो 'ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि बीच के वाक्यों के अर्थों को वापी स्नान में सङ्गत नहीं होने वाले बता कर केवल व्यङ्ग्य (सम्भोग) के ही सङ्गत होने वाले (असाधारण) बनाते हैं, सो क्यों ? व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति हो सके इसलिये ? यह उत्तर ठीक नहीं, क्योंकि व्यञ्जक का असाधारण होना अर्थात् व्यञ्जक वस्तु व्यङ्ग्यमात्र से सम्बन्ध रक्खे और किसीसे नहीं, इस बात का होना आवश्यक नहीं है।

तदेव व्यभिचारस्थलमुदाहरति—

'ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसंतणं सणीससिअम्।
मह मंदभाइणीए केरं सहि ! तुह वि परिभवइ ॥'

'औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्श्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि ! त्वामपि परिभवति ॥' इति संस्कृतच्छाया।

कामुकान्तिके प्रहितां स्वयमेव तमुपभुज्य तद्वियोगेन व्याकुलीभवन्तीं सखीं प्रति विदितसकलरहस्यायाः कस्याश्चन नायिकाया उक्तिरियम्। अपि सखि ! मन्दः शोभनफलाश्लिष्टश्चासौ भागो भागधेयमस्त्यस्यामिति मन्दभागिनी हीनभाग्या, तस्या मम कृते मदर्थम्, औन्निद्रयं निद्राराहित्यं प्रजागर इति यावत्, दौर्बल्यं दुर्बलता, चिन्ता विषयानुध्यानम्, सनिश्श्वसितं निश्श्वाससहितम्, अलसत्वमालस्यं च त्वामपि परिभवति पीडयतीत्यर्थः।

तथा च 'अर्थे कृतेऽव्ययं तावत् सादृश्ये-वर्तते द्वयम्' इति कोशसारः, 'भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः' इति विश्वश्च। आर्या छन्दः। काव्यप्रकाशसम्मते पाठे तु चतुर्थचरणेऽहहेत्यधिकशब्दसमावेशेन मात्रात्रयाधिक्याद् गीतिश्छन्दः।

'व्यञ्जक का असाधारण होना आवश्यक नहीं है' इसको पुष्ट करने के लिये उस तरह का उदाहरण दिखलाते हैं, जहाँ साधारण व्यञ्जक से व्यङ्ग्य हुआ है—'ओण्णिद्दं' इत्यादि। नायक से स्वयं सम्भोग करके आई हुई दूती की चेष्टाओं को देख कर उससे नायिका

कहती है—हे सखि ! मुझ अभागी के लिये तुझे भी जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और दम फूलना, ये सब पीड़ा दे रहे हैं अर्थात् मेरा दुर्भाग्य ऐसा प्रबल है जिससे मैं स्वयं तो दुःख भोग ही रही हूँ, साथ-साथ मेरे लिये तुझे भी कष्ट भोगना पड़ता है।

प्रकृतोपादानमुपपादयति—

इत्यादौ साधारणानामेवौन्निद्र्यादीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्जकताया अभ्युपगतेः।

आदिमेनादिपदेन दौर्बल्यप्रभृतीनां द्वितीयेन च प्रतिपाद्यायाः सख्याः संग्रहः। अर्थविशेषः कामुकोपभोगः।

अत्रौन्निद्र्यादीनां रोगात् प्रियतमवियोगाच्चापि सम्भव इति रोग-वियोगोभयसाधारणत्वेऽपि वक्त्र्या ज्ञातरहस्याया निभृततर्जनपराया नायिकायाः, प्रतिपाद्यायाः पूर्वमनेकदा दृष्टदुष्टचेष्टायाः सख्याश्च वैशिष्ट्यात् तत्कामुकोपभोगो व्यज्यत इत्याचार्यैरङ्गीकृतम्। तच्चौन्निद्र्यादीनां व्यञ्जकानामसाधारण्यविरहादसङ्गतं स्यादित्यसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वं निश्चीयत इत्याशयः।

यहाँ जागरण आदि व्यञ्जक पदार्थ सर्वथा साधारण हैं, अर्थात् सम्भोग, वियोग, रोग प्रभृति कतिपय कारणों से हो सकते हैं, फिर भी इन (जागरण आदि) व्यञ्जकों से दूती का सम्भोग व्यङ्ग्य होता है, ऐसा सभी आचार्यों ने माना है। यद्यपि आप यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं कि भाई ! जब जागरण आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो सम्भोग, वियोग, रोग सबसे हो सकते हैं, तब उनसे सम्भोग ही क्यों व्यङ्ग्य हुआ ? इसका समाधान यह है कि बोलने वाली नायिका और प्रतिपाद्य दूती में कुछ ऐसी विलक्षणता है, जिस पर गौर करने से सहृदयों के मन में सम्भोगरूप अर्थ अभिव्यक्त हो उठता है। अर्थात् कहने वाली नायिका का मुख तमतमाया सा है, वाणी रुक्ष है, जो समवेदनासूचक नहीं हो सकती इसी तरह दूती के मुख पर भय की छाया है, उसकी दुष्ट चेष्टायें अनेक बार पहले पकड़ी जा चुकी हैं, इन सब विलक्षणताओं पर ध्यान देने से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि दूती अपराधिनी है और नायिका उसे प्रच्छन्नरूप से तर्जना दे रही है। इतना समझ लेने पर दूती के (नायिका के पति के साथ) सम्भोगरूप अपराध को समझने में किसी सहृदय को विलम्ब कैसे हो सकता है ? इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि व्यञ्जक का असाधारण होना व्यङ्ग्य होने का उपाय नहीं है, किन्तु वक्ता और प्रतिपाद्य का वैशिष्ट्य ही उसका नियामक है।

नन्वसाधारण्यस्य व्यञ्जनानुपयोगित्वेऽपि क्वचित्पुनस्तस्य सति संभवे कथनं कथमसङ्गतमित्यरुचेर्दोषान्तरमाह—

प्रत्युतासाधारण्यस्य व्याप्त्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिकूलत्वाच्च।

प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्यार्थकमव्ययम्। व्याप्यत्वेनाभिमतस्य व्यापकाभावाधिकरणावृत्तित्वं व्याप्तिः। यदि व्यञ्जकानामपि हेतूनामनुमितिहेतुवद् व्याप्यत्वरूपमसाधारण्यं कथमपि भवेत्, तर्हि ततो व्यङ्ग्यस्य सुतरामनुमितिरेव स्यात्, तथाच व्यञ्जनाया आनर्थक्यमिति व्यञ्जकासाधारण्यप्रतिपादनस्य व्यञ्जनोच्छेदलक्षणं विपरीतमेव फलमापद्येत, तस्मान्नासाधारण्यं व्यञ्जकानामुचितमित्यभिसन्धिः।

यदि आप कहें कि सर्वत्र असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी भले ही न हो परन्तु स्थलविशेष में अगर व्यञ्जक असाधारण हो तो उसका प्रतिपादन असङ्गत क्यों होगा ? इसी अरुचि को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार दोषान्तर का उल्लेख करते हैं—'प्रत्युत' इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह है कि कहीं भी असाधारण्य व्यञ्जन का उपयोगी नहीं हो सकता,

अपितु प्रतिकूल ही होगा, क्योंकि असाधारण्य अर्थात् व्यञ्जक अर्थ का व्यङ्ग्य अर्थ मात्र से सम्बन्ध रखना व्याप्तिरूप ही सिद्ध होगा, फिर तो उस व्याप्ति से विशिष्ट, व्यञ्जक-रूप हेतु से व्यङ्ग्य का अनुमान ही हो सकता है व्यञ्जन नहीं, सारांश यह कि इस प्रकार मानने पर व्यञ्जनावृत्ति का उच्छेद ही हो जायगा जो व्यञ्जनावादी दीक्षित को भी अभिमत नहीं हो सकता है।

व्यञ्जकासाधारण्यं पुनरपरथा निराकरोति—

अथ तटादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, सलिलार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिनाऽपि तत्सम्भवादिति चेत्, तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन कः पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकूलत्वाद् व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च।

प्रथम आदिशब्दोऽधररागम्लान्यतिशयादीन्, द्वितीयस्तु जलबिन्दुपातादीन् सङ्गृह्णाति। सलिलेनार्द्रं क्लिन्नं यद्वसनं, तत्करणं यस्य यत्र वा, तत्तादृशं प्रोञ्छनं वक्ष = प्रभृत्यङ्गानाम्। 'वापीस्नानव्यावर्तनेनेत्यतः प्राक् 'तटाद्युपादानात्' इति शेषः। पुरुषार्थः पुरुषोद्यमफलम्। व्यभिचारस्य तथाऽपि जागरूकत्वं फलाभावे हेतुः। 'ज्ञातायाः' इत्यत्र 'जातायाः' इति पाठस्तु कस्यचिच्चिन्त्य एव व्यभिचारस्य ज्ञातस्यैव (न तु स्वरूपसतः) व्याप्तिग्रहविघटकतयाऽनुमितिप्रतिबन्धकत्वात्।

तटाद्युपादानेन वापीस्नानं व्यावर्त्य निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां कामुकोपभोगासाधारण्यं सम्पिपादयिषतस्तवाभीष्टसिद्धिर्दुर्घटैव, तेषां स्तनतटात्यन्तचन्दनच्यवनादीनामार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिभिरपि जननसम्भवात् कामुकोपभोगमात्रजन्यत्ववैधुर्येण व्यभिचारस्य जागरूकतयाऽसाधारण्यस्य प्रतिष्ठानासम्भवात्। इत्थं च यथाऽनेकेषु स्थलेषु, तथा कुत्रचिदेकत्रापि स्थले दृष्टोऽपि व्यभिचारोऽनुमितेः प्रतिबन्धक इतीह हेतोर्व्यभिचारितया त्वन्मते व्यङ्ग्यबोधविरह एवापद्येत। मन्मते तु वैयञ्जनिकबोधे हेतुसाधारण्यस्याप्रतिबन्धकत्वान्न क्षतिरिति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस पद्य में 'उपरिभागवाचक तट आदि पदों से रचित वाक्यों का अर्थ यद्यपि ऐसा है जो स्नान प्रभृति में नहीं लग सकते, तथापि वे असाधारण नहीं हैं अर्थात् सम्भोगमात्र से होने वाले नहीं हैं, क्योंकि गीले कपड़े से पोंछ देने पर भी सर्वथा ऊपर भाग मात्र का चन्दन मिट सकता है, और जब वे असाधारण नहीं होंगे, तब अनुमान की बात उठ नहीं सकती, इसके उत्तर में हम प्रश्नकर्त्ता से यह पूछना चाहेंगे कि जब आप 'ऊपरभाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है' इत्यादि व्यञ्जक वाक्यार्थ को असाधारण नहीं बनाना चाहते अर्थात् गीले कपड़े से पोंछने पर भी होने वाले ही मानते हैं, तब वापी स्नान से वे नहीं हो सकते ऐसा कहकर क्या लाभ उठाये ? क्योंकि जैसे एक स्थान पर व्यभिचरित होना, सम्भोग से भिन्न कारण से सम्बन्ध रखना, अनुमान के प्रतिकूल और व्यञ्जन के अनुकूल है, वैसे ही अनेक स्थानों पर व्यभिचरित होना भी। अतः चन्दन मिटने का सम्बन्ध सबसे रहने दीजिये, किसी से उसके सम्बन्ध को विच्छिन्न करने का प्रयास व्यर्थ है।

नन्विहैव श्लोके 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते' इत्येवकारघटितवाक्यमुल्लिखद्भिर्मम्मटभट्टैर्यदेव व्यञ्जकानामसाधारण्यं सूचितम्, तदेव मयाऽपि वापीस्नानव्यावर्तनमुखेनोक्तम्, न तु नूतनं किञ्चिदिति मनसिकृत्याभिधत्ते—

अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकगमनं रमणरूपफलांशश्चेति द्वयं घटकम्। तत्र तावत् तदन्तिकं गताऽसीत्यंशस्य त्वन्मते

व्यङ्ग्यत्वं दुरुपपादम्, त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निश्शेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वात् वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थीभूतविधि-निषेधप्रतिपादकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः।

अपि चेति खण्डनप्रकारान्तरत्वसूचकम्। शरीरमाकारः स्वरूपमिति यावत्। घटकं तदन्तर्वर्ति। त्वन्मत इत्यनेन स्वमते तद्व्यङ्ग्यतायाः सूपपादत्वं सूच्यते। त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां तटादिघटितत्वेन सम्भोगासाधारण्यमित्येवंरूपया। वापीस्नाने तेषां बाधितत्वं सम्भोगासाधारण्यादेव। वाच्यकक्षायामभिधेयकोटौ गतौ प्राप्तौ, प्रधानवाक्यार्थीभूतौ 'वापींस्नातुमितो गताऽसि' 'तस्याधमस्यान्तिकं पुनर्न गताऽसि' इति वाक्यार्थयोः क्रमेण प्रधानीभूतौ यौ विधि-निषेधौ, तयोः प्रतिपादकाभ्यां बोधकाभ्यां 'गता' 'न गता' इति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादिवद्वैपरीत्यलक्षणसम्बन्धमूलकलक्षणलक्षणया, क्रमेण (गतेत्यनेन) निषेधस्य (न गतेत्यनेन) विधेश्च प्रतितेरिति सम्बन्धः।

यदि त्वदभिमतं निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानां सम्भोगमात्रजन्यत्वं स्यात्, तदा वापीस्नानजन्यत्वाभावात् तत्र तेषां बाधितत्वमिति विपरीतलक्षणया गतेत्यनेन गतिनिषेधस्य, न गतेत्यनेन गतिविधेश्च प्रतीतिः, तन्मूलकव्यञ्जनया पुनः प्रयोजनस्य रमणरूपस्य केवलस्य प्रतीतिः स्यादिति 'तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसी'ति सम्पूर्णवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवमेव। मन्मते तु विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्याभावाद् वापीस्नानेऽपि बाधितत्वविरहेणात्र लक्षणायाः प्रसरणाभावात् समस्तवाक्यार्थस्य व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेति तेषामसाधारण्यं विशेषणवाक्यार्थानां दुरुपपादमेवेत्याकूतम्।

दीक्षित-मत-खण्डन-प्रसङ्ग में अब एक दूसरी युक्ति ग्रन्थकार देते हैं—'अपिचात्र' इत्यादि, 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'तूँ (दूती) उसके पास रमण करने गई थी।' इस व्यङ्ग्य में दो अंश हैं। उनमें से एक अंश है 'उसके पास गई थी' यह और दूसरा अंश है 'रमण' जो फलरूप है। अब दीक्षित की व्याख्या के अनुसार 'उसके पास गई थी' यह अंश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी व्याख्या के मुताबिक 'निःशेषच्युतचन्दन' इत्यादि वाक्यों का जो मुख्य अर्थ है 'वापी में स्नान करने गई थी, उस अधम के पास नहीं' वह बाधित है अर्थात् स्नान में नहीं लग सकता। अतः अगत्या 'मुख्यार्थबाधे तद्युक्तः' इत्यादि रीति से यहाँ विपरीत लक्षणा करनी पड़ेगी, जिससे वाच्यकोटि में जहाँ 'नहीं गई थी' है वहाँ 'गई थी' अर्थ होगा, और जहाँ 'गई थी' है, वहाँ 'नहीं गई थी' अर्थ होगा, अन्यथा वाच्य अर्थ सङ्गत ही नहीं हो सकेगा और जब लक्षणावृत्ति से ही 'उसके पास गई थी' यह अंश ज्ञात हो जायगा, तब उस अंश को व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है।

ननु तदन्तिकगमनांशस्यात्र बाधितत्वेन लक्षणागम्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वं कुतो नेत्यत आह—

न हि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता।

उन्मीलिते लक्षणया बोधिते। व्यक्तिवेद्यता व्यञ्जनाबोध्यता।

मुख्यार्थबाधहेतूत्थापितलक्षणाजन्यप्रतीतिविषयोऽर्थो यस्माद् व्यञ्जनाजन्यबोधविषयो न भवति, तस्मात् तदन्तिकगमनांशस्य व्यङ्ग्यत्वमसम्भवीति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि लक्ष्य (लक्षणावृत्ति से समझ में आ जाने वाला) अर्थ व्यङ्ग्य क्यों नहीं हो सकता है? इस शङ्का का समाधान करते हैं—'नहि मुख्यार्थ' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि साहित्य जगत् में औचित्य की रक्षा आवश्यक मानी गई है। 'अनौचित्या-

इते नान्यद्रसभङ्गस्यकारणम्' कहा गया है। और किसी भी वृत्ति से समझ में आ जाने वाले अर्थ को पुनः व्यञ्जना से समझें यह अनुचित तथा व्यर्थ है। अतः लक्षणा से समझा गया 'उसके पास गई थी' यह अर्थ व्यञ्जना से समझने योग्य नहीं रह जाता है, अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं हो सकता है।

उदाहरणप्रदर्शनोक्तमर्थं द्रढयति—

यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः।' इत्यत्र कर्तृविशेषणानुपपत्त्यधीनोल्लासे पूर्णत्वाभावे।

शुष्ककल्पं तडागं निन्दतः कस्यचिद् भणितिरियम्। यत्र यस्मिन् सरसि लुठन्त इतस्ततः परिवर्तमाना न तु स्नानोचितजलाभावेन निमङ्क्तुं शक्नुवन्तः, मानवाः, स्नान्ति, तादृशमिदम्, अहो अद्भुतं, पूर्वं सलिलैररिक्तं, सरः सरोवरमस्तीत्यर्थः। कर्तॄणां स्नानकर्तॄणां विशेषणस्य लोठनस्यानुपपत्त्यधीनः सरसः पूर्णत्वेऽन्वयानुपपत्त्या जनित उल्लासो लाक्षणिको बोधो यस्य, तादृशे पूर्णत्वाभावे रिक्तत्वे न व्यञ्जनेति शेषः।

'लुठन्तः' इति विशेषणपदार्थस्य पूर्णपदवाच्यार्थेऽन्वयस्य बाधाल्लक्षणया प्रत्याय्यमानः पूर्णत्वाभावो यथा व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयो न भवति, तथैव प्रकृते भवदुक्तव्यङ्ग्यप्रथमांशोऽपि न भवेदिति भावः।

अमुमेवार्थं चित्रमीमांसाखण्डने—'एवं च तटादिघटितानां वाक्यार्थानां मुख्यार्थवापीस्नानपक्षे बाधितत्वाद् विरोधिलक्षणया 'वापीं स्नातुं न गताऽसि, किन्तु तदन्तिकम्' इति प्रतिपत्तौ विगलितव्यञ्जनाव्यापारेण यथा—'अहो ! पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः' इत्यत्र 'लुठन्तः' इति विशेषणस्य मुख्येऽर्थेऽनुपपत्त्या विरुद्धोऽर्थो भासमानोऽपि न व्यङ्ग्यः।' इति सन्दर्भेण पण्डितराजः स्वयं स्फुटीचकार।

लक्षणा-बोध्य-अर्थ व्यङ्ग्य नहीं कहलाता, इस बात को उदाहरण दिखलाकर दृढ़ करते हैं—'यथा' इत्यादि। 'अहा ! सरोवर अधिक भरा हुआ है, जिसमें मनुष्य लोटते हुए स्नान करते हैं'। जो जलाशय जल से पूर्ण रहेगा उसमें लोग लोटते हुए स्नान नहीं करते, अपितु डुबकियाँ लगाते हैं, और यहाँ स्नानकर्ता का विशेषण 'लोटते हुये' कहा गया है, जिससे सरोवर का विशेषण जो कहा गया है 'भरा हुआ' उसका अर्थ बाधित हो जाता है अर्थात् उसका अन्वय 'लोटते हुए' के साथ नहीं बैठता, अतः पूर्ण पद की पूर्णत्वाभाव (नहीं भरा हुआ) में विपरीत लक्षणा करनी पड़ती है, इस स्थिति में जैसे 'सरोवर पूर्ण नहीं है अर्थात् शुष्क है' यह अर्थ लक्ष्य ही कहलाता है, व्यङ्ग्य नहीं, वैसे ही दीक्षित की रीति से 'उसके समीप गई थी, नहाने नहीं' यह अर्थ विपरीत लक्षणा के विषय हो जाने से व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता है।

नन्वेवमपि कामुकोपभोगरूपस्य द्वितीयांशस्य व्यञ्जनाबोध्यत्वं त्वक्षतमेवेत्याक्षेपं समादधाति—

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलांशस्य लक्ष्यशक्तिमूलध्वननवेद्यत्वमव्याहतमेवेति चेत्, 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वदति' इत्यादिना सन्दर्भेण भवतैवार्थापत्तिवेद्यतायाः स्फुटं वचनात्।

लक्षणावेद्यत्वेऽपि विपरीतलक्षणाजन्यबोधविषयत्वेऽपि। रमणं कामुकोपभोगः। लक्ष्यस्य बोधिका शक्तिर्वृत्तिर्लक्षणा मूलं यस्य, तादृशं ध्वननं लक्षणामूला व्यञ्जना। चित्रमीमांसाग्रन्थसंवादाय 'वक्तीत्यस्य स्थाने वदतीति पाठ एव निहितः। उत्कृष्टजातिकनायिकाया अपकृष्टजातिकनायकेऽनुरागानौचित्यात् तन्नायिकायास्तत्कथनानौचित्यम्। आदिशब्देन 'नापि

स्वापराधपर्यवसायिदूतीसम्भोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कर्मणा। तादृशं दूतीप्रेषणात् प्राचीनं सर्वं सोढमेवेति नोद्घाटनार्हम्। अन्यथा स्वयं दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेः।' इत्यादि पुरस्तान्मूलेऽप्युपदेक्ष्यमाणं चित्रमीमांसाप्रकरणं परामृश्यते।

अप्पय्यदीक्षितमते रमणरूपफलांशस्यापि व्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, किन्त्वर्थापत्तिगम्यत्वमेव, यतस्तदुक्तरीत्या रमणं विना नायकाधमत्वस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तेनार्थापत्त्यैव स्वोपपादकं तद् बोध्यते, न तु व्यञ्जनया तत्प्रत्याय्यते। तथाहि–जात्या नायकस्याधमत्वमनयोत्तमनायिकयाऽनौचित्याद् दुर्वचमेव, दूतीसम्प्रेषणानुपपत्तेस्तस्मात् पुरातनानामपराधानां सोढत्वाच्च तैरप्यधमत्वं दुरुपपादमेवेत्यनायत्या दूतीसम्प्रेषणोत्तरकालिकं दूतीसम्भोगलक्षणमेव कामानुशासनगर्हितं नायकस्य कर्म तदुपपादकमागूर्यत इति स्फुटतरे तदीयसन्दर्भाशयेऽर्थापत्तिवेद्यत्वमेवात्र व्यङ्ग्यस्येत्यभिप्रायः।

अब यदि यहाँ आप कहें कि 'उसके पास गई थी' यह अंश लक्षणा से ज्ञात हो जाने के कारण व्यङ्ग्य नहीं हो सकता, न हो 'रमण' जो फलरूप होने से मुख्य है—अंशतोलक्षणामूला व्यञ्जना से व्यङ्ग्य होगा ही और उसी मुख्य व्यङ्ग्य को लेकर इस श्लोक में ध्वनिकाव्य का लक्षण सङ्घटित करेंगे। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही 'चित्रमीमांसा' में उस अंश को भी 'अर्थापत्ति' प्रमाण से समझने योग्य कहा है। यदि कोई पूछे कि कैसे? तो सुनिये—'चित्रमीमांसा' में उसने कहा 'अधम का मतलब है अपकृष्ट और अपकृष्ट कोई दो ही तरीके से हो सकता है, जाति से अथवा कर्म से। अब सोचिये कि प्रकृत श्लोक में जो नायिका ने नायक के लिये अधम शब्द का प्रयोग किया है, वह किस आशय से? जाति से अपकृष्ट समझकर अथवा कर्म से? उत्तर स्पष्ट है कि कर्म से ही अपकृष्ट समझकर उक्त प्रयोग नायिका ने किया होगा, क्योंकि उत्तम नायिका किसी भी हालत में अपने पति को जाति से हीन होने के नाते अपकृष्ट नहीं समझ सकती और न उसके चलते अधम ही कह सकती' इत्यादि। अब जरा सहृदयगण गौर करें कि 'रमण' 'अर्थापत्ति' से ज्ञात होगा वा नहीं? मैं कहूँगा अवश्य होगा, क्योंकि नायिका जिस कर्म के चलते नायक को अधम समझने लगी वह कर्म दूतीप्रेषण से पूर्वकाल का नहीं हो सकता, अन्यथा दूती को वह भेजती ही नहीं, फलतः दूती के भेजने के बाद का जो अल्पकाल है, उसी में नायक के द्वारा किये गये किसी कुकर्म को लक्ष्य कर नायिका नायक को अधम कह रही है यह निश्चित है फिर तो अधम कहने से मध्यकालिक नायक का वह दूतीसम्भोग-रूप-कुकर्म अर्थात् लब्ध हो ही जायगा।

ननु दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिवेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वमपि स्यादिति को दोष इत्यत आचष्टे—

अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थताया अस्वीकृतेः।

'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तेन प्रकृते दूतीसम्भोगस्यार्थापत्तिबोध्यत्वेऽन्यलभ्यत्वाद् व्यञ्जनाबोध्यत्वं न स्यादित्यर्थः।

यदि आप कहें कि 'रमण' अर्थापत्तिवेद्य होकर भी व्यञ्जनावेद्य क्यों नहीं कहलायगा? इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'अनन्य' इत्यादि। 'अन्य किसी भी युक्ति से जो समझ में नहीं आ सकता हो, उसी को किसी शब्द का अर्थ मानना चाहिये' ऐसा नियम है। अतः अन्य—अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य समझ में आने योग्य उक्त 'रमण' शब्द का व्यङ्ग्य अर्थ नहीं हो सकता है।

नन्वर्थापत्तेर्व्यतिरेकव्याप्तिधियैव चारितार्थ्यात् प्रमाणान्तरत्वस्य तार्किकादिभिरनभ्युपगमाद् वृत्तित्वाभावाच्चात्र सम्भोगस्य तद्वेद्यत्वेऽपि व्यञ्जनावेद्यत्वं निर्बाधमेवेत्याशङ्कामभ्युपगम्य प्रकारान्तरेण निरस्यति—

अपि च यथाकथञ्चिदङ्गीकुरु वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारम्, तथापि न तवेष्ट-

सिद्धिः, वाच्यानां निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्त-रीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसम्भोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूत-व्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात् ।

यथाकथञ्चिदर्थापत्तेरतिरिक्तत्वाभावादिस्वीकारेण । तव विशेषणवाक्यार्थासाधारण्य-वादिनः । इष्टस्य प्राधान्येन दूतीसम्भोगव्यञ्जकतया प्रकृतकाव्ये ध्वनित्वस्य न सिद्धिः । त्वदु-क्तरीत्याऽसाधारण्येन । प्रकारान्तरेण दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा जात्या वा । गुणीभूतव्य-ङ्ग्यत्वस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यत्वरूपस्य प्रसङ्गादापत्तेः ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि तं विना वाच्याधमत्वादेरनुपपत्त्या तदुपपादकत्वेन व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतत्वादस्य काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेव न तु ध्वनित्वं भवदभि-मतमिति तात्पर्यम् ।

यदि आप कहें कि 'अर्थापत्ति' तो कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, नैयायिकों ने उसको अनुमान में ही गतार्थ किया है, फिर उसको पृथक् प्रमाण मानकर उससे किसी अर्थ को समझने की बात करना उन्मत्त प्रलाप सा है, अतः 'रमण' को व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो पण्डितराज इस तर्क को स्वीकार कर दूसरे तरीके से दीक्षित मत का खण्डन करते हैं—'अपि च' **इत्यादि कहने का तात्पर्य यह है कि यदि 'रमण' किसी तरह व्यङ्ग्य हो सकता है, यह बात मान भी ली जाय तथापि आप को इष्टसिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन मिटना, नीचले होठ का ही रङ्ग उड़ना तथा नायक का अधम होना' ये सब जो वाच्य अर्थ हैं, वे आपके हिसाब से केवल दूती सम्भोग से ही हो सकते हैं, वापीस्नान आदि से नहीं और वह दूती सम्भोग वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त व्यङ्ग्य ही वाच्य अर्थ को सङ्गत बनाने वाला है फिर वह व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ की अपेक्षा गौण हो जायगा, जिससे यह पद्य** 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' **नामक मध्यम काव्य का उदाहरण होगा, 'ध्वनि' नामक उत्तम काव्य का नहीं ।**

उपसंहरति—

एवं चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव ।

एवमुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थासाधारण्येन काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गे च । उपपत्तिविरोधो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, काव्यप्रकाशकाराद्यनुरोधत्यागश्चापिना सूच्यते दूषणम् ।

इस तरह से दीक्षित के मत में युक्ति विरोध भी है, अतः उनका मत असङ्गत है ।

इत्थमत्राप्पय्यदीक्षितदर्शितदिशा सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वमपास्य काव्यप्रकाशाद्यनुरोध-परवशः स्वमतेन पुनरपरथा स्थापयितुमुपक्रमते—

तस्माद् वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषण-वाक्यार्थानाम् ।

तस्मादसाधारण्याङ्गीकारे प्रागुक्तदोषापातात् । वाच्यार्थे वापीस्नाने साधारण्यमेव, न तु व्यङ्ग्यसम्भोगमात्रव्याप्यत्वम् । विदग्धा सहृदया, तथा च 'द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्य-वस्तु' इति नयेन व्यङ्ग्यसम्भोगवाच्यवापीस्नानयोः साधारण्या एव तदुक्तेरौचित्यम्, न तु पामरनारीवत् स्पष्टतरार्थायाः । निरूपितानां बोधितानां कथितानां वा ।

इसलिये यह समझना चाहिये कि अति चतुर नायिका के मुख से निकले हुए 'निःशेष-च्युतचन्दनम्' इत्यादि विशेषणों का अर्थ ऐसा ही होना चाहिये जो वाच्य अर्थ (वापीस्नान) और व्यङ्ग्य अर्थ (सम्भोग) दोनों में साधारण हो अर्थात् दोनों में लग सके, न कि ऐसा जो केवल व्यङ्ग्य सम्भोग में ही लगे ।

न हि विदग्धा नायिका स्फुटतरं वक्तुं शक्नुयाद्रहस्यमिति वाच्यव्यङ्ग्योभयसाधारण्यमेवो-चितं विशेषणवाक्यार्थानामिति सारम् ।

सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वोपपत्तये स्वयं तत्पद्यं विवृणोति—

तथाहि—'अपि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे ! स्वार्थपरायणे ! स्नानकालातिक्रमभयवशेन नदी–मदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वैव, वापीं स्नातुम्, इतो मदन्तिकाद् गताऽसि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाधमस्यान्तिकम् । यतो निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नीरःस्थलम्, वापीगतबहुलयुवजन–त्रपापारवश्यादंसद्वयलग्नाग्र–स्वस्तिकीकृत–भुजलतायुगलेन तटस्थैवोन्नततया मुहुरामर्शात् । एवं त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठो न निर्मृष्टरागः, अधरस्तु तदपेक्षया गण्डूषजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसम्मर्दमावहतीति तथा । किं च—सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग एवानञ्जने । शीतवशात् तानवाच्च तव तनुः पुलकिता, इति । एवं तस्या विदग्धाया गूढतात्पर्यैवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्तेः ।

एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्यार्थस्य झटित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणाऽवकाशः । अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्य–नायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तर–निमित्तक–दुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तक–दुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः ।

स्वार्थपरायण इत्यनेन बान्धवेत्यादिसम्बोधनफलितार्थकथनम् । नद्या नायिकाप्रियस्य च दूरस्थतया तदन्तिकागमने वापीगमने च स्नानकालातिक्रमो हेतुः । इत इत्यस्य विवरणं मदन्तिकादिति । व्यङ्ग्यसम्भोगस्यागूढतापरिहाराय परेत्याद्यधमत्वसम्पादकोपादानम् । वाप्यां गताः स्नानाद्यर्थं स्थिताः, बहुला भूयांसो ये युवजनाः, तेभ्यस्तत्सम्बन्धिनी वा या त्रपा तव युवत्या लज्जा, तस्याः पारवश्यात् तत्पारतन्त्र्यात् । अंसद्वये स्कन्धयुगले, लग्नः सम्बद्धः, अग्रः कररूपोऽग्रभागो यस्य, तादृशं स्वस्तिकीकृतमर्धमुकुलीकृतं च यद् भुजलतायुगलं तेनेति सम्बन्धः । मुहुरामर्शे स्तनतटौन्नत्यं हेतुः । एवं–त्रपापारवश्यात् । त्रपापारवश्यं त्वराया मूलम्, त्वरामूलकश्च सम्यक् क्षालनाभावः । तथा–निर्मृष्टरागः । मात्रशब्देनाङ्गुलिसंसर्गव्यवच्छेदः । शीतेति भावप्रधाननिर्देशः । तानवं कोमलता कार्श्यं च । व्याख्यानपर्यवसानसूचक इति शब्दः । एवमुक्तैः प्रकारैः । तस्या वक्त्र्या नायिकायाः । गूढं साधारणधीशालिजनावेद्यं तात्पर्यमाशयो यस्या इति बहुव्रीहिः । उक्तेर्गूढतात्पर्यत्वे बीजं वैदग्ध्यमेव । अत एवोक्तेरगूढार्थकत्वे तद्भङ्गप्रसङ्गः । मुख्यार्थबाधविरहे विशेषणवाक्यार्थानामुभयसाधारण्यं हेतुः । एवं मुख्यार्थबाधविरहाल्लक्षणाया अप्रसङ्गे । मुख्यार्थे वापीस्नाने । अनन्तरं वाच्यार्थबोधोत्तरम् । वक्त्री विदग्धोत्तमनायिका, बोद्धव्या पुंश्चली दूती, काकुप्रभृतिश्चादिपदेन प्रतिपाद्यते । तात्पर्यार्थस्य वक्त्रीसमवेतेच्छाविषयीभूतलक्ष्यार्थस्य झटिति व्यञ्जनाव्यापारेण विनाऽनाकलनादनुपस्थितेः । स्वप्रवृत्तिप्रयोजकः स्वोच्चारणकारणीभूतः । अपराधान्तरं तीव्रविरहवेदनोपेक्षाऽऽदिरूपा अन्येऽपराधा निमित्तं यस्य, तादृशं दुःखदातृत्वम् । तच्च दुःखं

वाच्यप्रतीतावपराधान्तरनिमित्तकं, व्यङ्ग्यप्रतीतौ तु निषिद्धदूतीसम्भोगनिमित्तकं भासते। आलङ्कारिकसिद्धान्तनिष्कर्ष इत्यनेन स्वमतस्य द्रढिमा सूच्यते।

इदमाकूतम्—इह पामरीवद् विदग्धोत्तमनायिकाया व्यक्ततरार्थकवाक्योपादानानौचित्याद् विशेषणवाक्यार्थानां सम्भोगासाधारण्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिरूपाभीष्टसिद्धेरभावात्, तेषां सम्भोगस्नानयोरुक्तरीत्या साधारण्यमेवोचितम्। अधमत्वसम्पादकधर्मोऽपि दुःखदातृत्वरूप एव ग्रहीतुं युक्तः, वाच्यव्यङ्ग्यकक्षयोरन्वयानुकूल्यात्। पदार्थोपस्थितिकाल एव वाच्यार्थान्वयबाधग्रहवैधुर्याच्च न विपरीतलक्षणा। किन्तु स्नानपक्षीयवाच्यार्थप्रतीतौ वाच्यमात्रविदामवसितायां, प्रकरणादिपर्यालोचनेन काव्यार्थभावनाप्रसाधितधियां सम्भोगपक्षीयोऽर्थः प्राधान्येन वैयञ्जनिकप्रतीतिपदवीमवतरं चमत्कारातिरेकसम्पादकत्वात् काव्यमिदमुत्तमोत्तमीकुर्वन् ध्वनित्वेन व्यपदेशयति। दीक्षितदर्शितदिशा तु ग्रन्थोपपत्तिविरोधो वज्रलेपायित एव।

अब जिससे उक्त दोषों का अवकाश न हो, तथा यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण हो सके, ऐसी व्याख्या उक्त श्लोक की पण्डितराज करते हैं—'तथाहि' इत्यादि। 'दो अर्थ वाले पदों से रहस्य वस्तु को सूचित करना चाहिये' इस नियम के अनुसार चतुर नायिका दूती से कहती है—'हे दूति! तू बड़ी स्वार्थिनी हो, तभी तो मुझ जैसी सखी के दिल में बढ़ती हुई पीड़ा का कुछ भी ख्याल न कर अपने स्नान समय के चूक जाने के भय से मेरे प्रिय के पास नहीं गई, न नदी किनारे ही गई (क्योंकि वह भी दूर था) और सीधे मेरे पास से वापी पर स्नान करने चली गई। दूसरे की पीड़ा को (जानते हुए भी) न जानकर दुःख देने वाला मेरा वह नायक भी अधम ही है (अन्यथा बुलाने के लिये तुझे भेजने की अपेक्षा ही नहीं पड़ती) तू उस अधम के पास नहीं गई वरन स्नान करने चली गई यह बात तेरी चेष्टाओं से ही सूचित हो रही है। देखो तेरी छाती में चन्दन ज्यों का त्यों बना हुआ है पर स्तनों के ऊपर भाग का चन्दन सर्वथा मिट गया है और ऐसा इसलिये हुआ है कि वापी पर बहुतेरे युवक स्नान करते रहे होंगे, अतः तूने लज्जा के मारे अपने मुड़े हुये हाथों को कन्धे पर रखकर केहुनी से स्तनों को मला होगा, जिससे ऊँचे स्तन के ऊपर भाग पर ही सङ्घर्षण हो सका, निम्नभाग में नहीं इसी तरह शीघ्रता से ठीक से न धो सकने के कारण ऊपर के होठ की लाली कुछ-कुछ बनी रही परन्तु नीचे का होठ ऊपरी होठ की अपेक्षा अधिक कुल्लों का जल, दांत स्वच्छ करने की अङ्गुली आदि के सङ्घर्षण लगाने से सर्वथा स्वच्छ हो गया और ठीक से नहीं धो सकने के कारण ही आँखों में जल का ही संसर्ग हो पाया (अङ्गुलियों का नहीं) इसलिये ऊपर ऊपर का ही कज्जल मिट सका (भीतर का नहीं) इसी तरह अधिक ठण्ड पड़ने से दुबला, पतला तेरा शरीर रोमाञ्चित हो गया है।' इस प्रकार चतुर नायिका की उक्ति ऐसी ही होनी चाहिये, जिसका अभिप्राय छिपा हुआ हो, अन्यथा उसकी चतुरता ही नष्ट हो जायगी। इसी तरह से जब इन वाक्यों के अर्थ साधारण (स्नान, सम्भोग आदि अनेक कारणों से होने वाले) होंगे, तब मुख्य (स्नान करने के लिये जाना) अर्थ बाधित नहीं होगा, वक्ता का तात्पर्य झट से समझने में नहीं आवेगा, अतः लक्षणा का प्रसङ्ग ही नहीं उठ सकेगा। वाच्य अर्थ के ज्ञान हो जाने पर जब बोलने वाली नायिका जिसके प्रति यह पद्य कहा जा रहा है, उस दूती जिसको बुलाने के लिये दूती को भेजा गया था, उस नायक तथा वक्तव्य की विलक्षणताओं पर ध्यान दिया गया अर्थात् जब काव्य मर्मज्ञ सहृदय सोचेंगे कि यह नायिका विरहणी है, दूती स्वेच्छाचारिणी है, इस तरह पतिव्रता प्रेयसी की उपेक्षा करने वाला नायक भी व्यभिचारी होगा और नायिका की उक्ति भी अनेक अर्थों से युक्त है, अगर स्नान की ही बात कहनी होती तो फिर इस तरह के दो दो अर्थ वाले पदों के प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी? इत्यादि तब सहृदयों के मस्तिष्क में यह बात आयगी कि हमने जो 'नायिका साधारण दुःख देने के कारण ही नायक को अधम कह रही है' ऐसा

वाच्य अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है अवश्य कोई विशेष कष्ट नायिका को नायक ने दिया है, अतः वह नायक को अधम कह रही है, परन्तु वह विशेष कष्ट कौन सा हो सकता है ? इस तरह जिज्ञासा उत्पन्न होने पर व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि नायक ने इस दूती से सम्भोग किया है जिसका ज्ञान हो जाने से नायिका को दुःख हो रहा है और साथ ही कुछ क्रोध भी, अत एव नायिका पतिव्रता होकर भी पति के प्रति कटु वचन का प्रयोग कर रही है, अधम कह रही है। यही अलङ्कारशास्त्रमर्मज्ञों के सिद्धान्त का सार है।

पूर्वोक्तनीत्यैव पुनरप्पय्यदीक्षितोक्तमधमपदार्थव्याख्यानमपि दूषयति—

एतेन—'अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति। नापि स्वापराधपर्यवसायि-दूतीसम्भोगातिरिक्तेन कर्मणा। तादृशं च दूतीसम्प्रेषणात् प्राचीनं सोढमेवेति नोद्घाटनार्हमितीतरव्यावृत्त्या सम्भोगरूपमेव पर्यवस्यति।' इति यदुक्तम्, तदपि निरस्तम्, विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतितमामनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसह्यतया दूतीं प्रति प्रतिपिपादयिषितत्वादिति दिक्।

एतेन विदग्धोत्तमनायिकया कामुकापराधरूपदूतीसम्भोगस्य सखीसमक्षं स्पष्टमुद्घाटयितुमत्यन्तमनर्हत्वेन, मद्दर्शितदिशा व्यङ्ग्यमर्यादयैव तद्बोधनौचित्येन च। अधमेत्यादिश्चित्रमीमांसाग्रन्थो दीक्षितस्य। जात्याऽधमत्वं द्विजातिभिन्नानाम्, कर्मणा तु द्विजातीनामपि। नायिकाया उत्तमत्वमुच्चकुलोत्पन्नत्वेन विदग्धतया प्रकृत्या च। जात्यपकर्षकथने नायिकाया नीचकुलोत्पन्ननायकानुरागानौचित्यादुत्तमत्वभङ्गप्रसङ्गः। स्वस्य नायिकाया अपराधपर्यवसायी दुःखोत्पादकत्वेनापराधरूपो यो दूतीसम्भोगो नायकस्य दूतीकर्मकोपभोग आदिर्येषां तानि यावन्ति हीनान्यपकर्षप्रयोजकानि कर्माणि, तेभ्योऽतिरिक्तेन भिन्नेन। अतितमाप्राचीनं—दूतीप्रेषणात् पूर्वकाले विहितम्। इतरव्यावृत्त्याऽधमत्वप्रयोजककर्मान्तरव्यवच्छेदेन। इतिशब्दः प्रकृतविचारपर्यवसानम्, दिक्छब्दस्तदग्रिमकोटिसम्भावनां च सूचयतः।

दूतीसम्भोगात्मकनायकापराधस्य स्फुटाख्याने नायिकाया वैदग्ध्यभङ्गप्रसङ्गात् पूर्ववदधमपदमप्यसाधारणस्य तस्य व्यञ्जकमेवेति सारम्।

महामहोपाध्यायगङ्गाधरशास्त्रिणस्तु—'इदमत्र दीक्षिताकूतम्। वाच्यसिद्ध्यङ्ग (व्यङ्ग्य)-रूपमध्यमकाव्यता तत्रैव, यत्र व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतं वाच्यं चर्वणाविश्रमधाम, न तु व्यङ्ग्यार्थान्तरोपस्कारकमपि। यथा त्वयैवोदाहृते—'राघवविरह—' इत्यादि पद्ये। 'कुप्यन्ति' इति कोपस्यैव व्यङ्ग्यार्थोपस्कृतस्य प्राधान्यम्, न तु तेनाप्यन्यद्ध्वन्यते।

यत्र तु वाच्यार्थताऽवच्छेदकमेव स्वरूपेणानुपपन्नं व्यङ्ग्यं स्वोपपादकतया न्यग्भावयति, यथा—'गच्छाम्यच्युत !' इत्यादि पद्ये, 'आमन्त्रणभङ्गिसूचित—' इति सूचनपदार्थताऽवच्छेदकस्याच्युतादिपदध्वननीयार्थमन्तर्भाव्यैव निराकाङ्क्षशाब्दधीपर्यवसायित्वम्, तत्र विशिष्टबोधीयप्राधान्यविरहेऽपि कविसंरम्भपर्यवसानभूमितासामान्यात् पूर्वप्रदर्शितस्वरूपकत्वं न हीयते।

अन्यथा 'स नास्ति कश्चिद् विषयः' इत्यादि प्रकाशदर्शितदिशा सामाजिकप्रतिभामात्रकल्पनीयव्यङ्ग्यविरहासम्भवेन सर्वस्यैव काव्यस्य मध्यमकाव्यदल एवोदाहरणीयताऽऽपत्तेः।

अत एवाहुः—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति । प्राधान्यं चात्रार्थं न तु शाब्दम् , तस्य प्रवृत्त्यादावौदासीन्यात् ।

एवञ्च प्रकृतेऽधमपदव्यञ्जनीय-सम्भोगसम्भावकतामात्र उपयोक्ष्यमाणानां स्तनतटादिपदद्योत्यार्थानां गुणीभावेऽपि सम्भोगस्यावाच्यतया लक्षणाफलत्वेनालक्षणीयतया च स्वतर्कितत्वप्रकारकबुबोधयिषालक्षणार्थप्राधान्यसद्भावेन तत्प्रयुक्तमुत्तमत्वं को निवारयेत् ।

अन्यथा भवदुत्प्रेक्षितदिशावपि वापीगमनोपपादकतामात्रेण गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं कथं निवारणीयम् । प्रत्युत भवत्प्रदर्शितक्रम एष दोषो दुर्वारो वापीगमनस्य वाच्यत्वात् । सम्भोगस्य तु व्यङ्ग्यत्वेन वैपरीत्यात् ।

यदि तु नायिकाविश्रान्तिभूमितायाः सम्भोग एव कल्पनेन परिहरिष्यसि, तर्हि व्यङ्ग्यतामनपह्नुत्य तुष्यतु भवान् । अत एव च नायं काव्यलिङ्गस्य विषयः, उपपाद्योपपादकयोरुभयोरपि व्यङ्ग्यत्वात् । तटादिपदार्थानां केवलाभिधाबलेनोपस्थितानां स्नानसम्भोगसाधारणत्वेन विदग्धनायिकावैशिष्ट्यनिश्चयव्यञ्जनीयावधारणानां पुलकितेत्यत्र तथाविधविरोधस्य च व्यङ्ग्यताया दुरपह्नवत्वात् ।

यत्तु सम्भोगस्य स्तनतटाद्यवधारणव्यञ्जनीयत्वाभ्युपगमेऽनुमानप्रकारान्तपातितया व्यञ्जनाव्यापारनैरर्थक्यभयेन साधारण्येन बोधविषयतोपपादनम् , तत् प्रकाशपञ्चमोल्लासशेषदर्शितदिशाऽधमत्वादेरिव स्तनतटादिमात्रचन्दनच्यव(नादेरपि)प्रमाणप्रतिपन्नताविरहेणाप्रमितस्यानुमापकतानङ्गीकारेण व्याप्तिपरामर्शज्ञाने अनपेक्ष्य, प्रतिभामात्रद्योत्यताया अनुभवसिद्धत्वेन च न किञ्चित् । इतरथा 'उअ णिच्चल !' इत्यादावपि निरुपन्दत्वेनाश्वस्तताया अनुमेयत्वस्यैवापत्तेरिति निपुणतरमालोचनीयम्' इत्याहुः ।

उक्त नीति से ही दीक्षित द्वारा की गई अधम पद की व्याख्या में दोष दिखलाते हैं— 'एतेन' इत्यादि । 'अधम पद का अर्थ अपकृष्ट-हीन है और अपकृष्टता मनुष्य में दो तरह से आसकती है—एक जाति द्वारा दूसरा कर्मद्वारा, अर्थात् हीन जातिके होने से कोई हीन हो सकता है, अथवा हीन कर्म करने से हीन हो सकता है । उन दोनों में अपने नायक की जातिमूलक हीनता को उत्तम नायिका जबान पर नहीं ला सकती है । अब रही कर्ममूलक हीनता, वह अनेक प्रकार की हो सकती है, कारण ? हीन बनाने वाले कर्म विविध हैं, परन्तु उन सब कर्मों में से दूती संभोगरूप हीन कर्म करने वाले अपने नायक को ही उत्तम नायिका हीन-अधम कहती है, वह भी इस लिये कि दूती सम्भोगरूप हीनकर्म, घुमा फिरा कर नायिका का अपना ही अपराध सिद्ध हो जाता है, इस तरह के हीन कर्म करने वाले नायक की उत्तम से उत्तम नायिका को भी लोग कह बैठते हैं—कि जब तुम में कोई खास दुर्गुण है, तब न तुम्हारा नायक तुम जैसी सुन्दरी कुलीना को छोड़कर एक साधारण दूती पर आसक्त है । और वैसे कर्म भी जो दूती को भेजने से पहले हुए थे वे सब सह ही लिए गए थे, अतः वे अब बोलने योग्य रह ही नहीं गए, इस लिये और सब कर्मों के छूट जाने से नायक का दूतीसम्भोगरूप हीन कर्म ही ऐसा सिद्ध होता है, जिससे रुष्ट अथवा खिन्न होकर नायिका उसको अधम कहने लगी है' इत्यादि जो दीक्षित ने कहा है, वह भी पूर्वोक्त खण्डन युक्ति से ही खण्डित है, क्योंकि चतुर तथा उत्तम नायिका सखियों के समक्ष में ही उस (दूती) के साथ किए गए सम्भोग रूप अपने नायक के अपराध को स्पष्ट कहे, यह परम अनुचित है, अतः यह समझना चाहिए कि सह लिए गए नायक के पुराने अपराध ही आज नायिका के मन में किसी कारण से असह्य हो उठे हैं, जिससे नायिका इन अपराधों को ही दूती के सामने बोल उठी ।

एवं प्रथमं प्रकारमुत्तमोत्तमं निरूप्य द्वितीयमुत्तमं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ।

यत्र यस्मिन् काव्ये । अप्रधानं व्यङ्ग्यान्तरापेक्षया वाच्यापेक्षया च गुणीभूतम् । एवकारोऽवधारणे, तेन न कथमपि प्रधानमित्यर्थः । द्वितीयमुत्तमं काव्यम् ।

यस्मिन् काव्ये वाच्यार्थापेक्षया व्यङ्ग्यार्थान्तरापेक्षया च गुणीभूतो न तु प्रधानं व्यङ्ग्यार्थः स्वज्ञानद्वारा चमत्कारस्य जनको भवति, तद् द्वितीयमुत्तमं काव्यमित्यर्थः ।

इस तरह से काव्य के प्रथम भेद 'उत्तमोत्तम' का निरूपण कर चुकने के बाद अब काव्य के द्वितीय भेद 'उत्तम' का लक्षण बतलाते हैं—'यत्र' इत्यादि । जिस काव्य में व्यङ्ग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय 'उत्तम' नामक काव्य कहलाता है, अर्थात् जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की अपेक्षा तथा अन्य व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा भी गौण हो—किसी भी अर्थ से मुख्य नहीं हो—फिर भी चमत्कारजनक हो, वह 'उत्तम' काव्य है ।

लक्षणवाक्य एवकारनिवेशस्य फलमाह—

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादायातिव्याप्तिवारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव ।

प्रधानीभूतं गुणीभूतमिति च व्यङ्ग्यस्यैव विशेषणं न विरुद्धम् , वाच्य–व्यङ्ग्यान्तररूपनिरूपकभेदात् । तेन द्वितीयकाव्यलक्षणासमन्वयेन, तस्यापरव्यङ्ग्याङ्गभूतव्यङ्ग्यस्य, ध्वनित्वमुत्तमोत्तमत्वमेव, न तूत्तमत्वम् , व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यात् ।

एवशब्दस्य निवेशाभावे यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानं सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयमित्येव लक्षणं स्यात् । तथासति—'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥' इत्यादिष्वपराङ्गव्यङ्ग्योदाहरणेषु शृङ्गाररूपव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्येऽपि प्रधानीभूतव्यङ्ग्यकरुणरसापेक्षयाऽप्रधान्याल्लक्षणसमन्वयेनातिव्याप्तिः स्यात् । एवशब्दस्य निवेशे तु तस्य सर्वथाऽप्राधान्यं विवक्षितमिति शृङ्गारव्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्याल्लक्षणसङ्गमनाभावान्नातिव्याप्तिः

न चात्र वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षया शोकोत्कर्षकतया प्राधान्यादेवकारनिवेशेऽप्यतिव्याप्तिः स्यादेवेति वाच्यम् , व्यङ्ग्यरसापेक्षया वाच्यवस्तुनः प्राधान्यं निबध्नतश्चमत्कारोत्कर्षस्य सद्भावे प्रमाणाभावात् , प्रदीपोद्द्योतयोः शृङ्गारस्यैव करुणोत्कर्षकताऽभिधानाच्च, वाच्यापेक्षया शृङ्गारस्यैव प्राधान्यात् ।

शृङ्गारपदन्त्वत्र शृङ्गाररसस्थायिभावरतिपरम् , रसस्यापरिच्छिन्नात्मकतया पराङ्गत्वासम्भवात् । प्रधानीभूतकरुणरसमादाय ध्वनित्वम् , गुणीभूतं शृङ्गारस्थायिरतिमादाय चापराङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतत्वं चेत्याकलनीयम् ।

लक्षणवाक्य में 'अप्रधान होकर ही' इस अवधारण–नियम का निवेश क्यों किया गया इसका फल दिखलाते है—'वाच्यापेक्षया' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि उक्त अवधारण नहीं करेगें, तब 'व्यङ्ग्य अप्रधान होकर चमत्कारजनक हो' यही लक्षण होगा, और ऐसा लक्षण होने पर जहाँ का व्यङ्ग्य वाच्य अर्थ से प्रधान और मुख्य व्यङ्ग्य से गौण होगा, वहाँ उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी, जैसे 'अयं स रसनोत्कर्षी, पीनस्तन विमर्दनः । नाभ्यूरुजघनस्पर्शी, नीवीविस्रंसनः करः ॥' इस अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य के उदाहरण में (जहाँ शृङ्गार तथा करुण दोनों रस व्यङ्ग्य है, परन्तु आलम्बन नायक

की मृत्यु हो जाने से करुण मुख्य और श्रृङ्गार तदपेक्षया गौण है) वाच्य से प्रधान होने पर भी श्रृङ्गार रूप व्यङ्ग्य करुण से तो गौण है, अतः उक्त लक्षण के संघटित हो जाने से यह श्लोक उत्तम (द्वितीय भेद) काव्य कहलाने लगेगा। अतः 'अवधारण' का निवेश किया गया है। निवेश करने पर दोष नहीं हुआ, क्योंकि उस निवेश से यह मतलब निकलता है कि जो व्यङ्ग्य किसी से प्रधान न हो—सब से गौण ही हो, और वहाँ का श्रृङ्गार करुण से गौण होने पर भी वाच्य से प्रधान है। इस प्रकरण में श्रृङ्गार अथवा करुण पद से रति तथा शोकरूप स्थायीभाव समझना चाहिए अन्यथा रसों के सिद्धान्त दृष्टि से अपरिच्छिन्न पूर्ण घनानन्दस्वरूप माने जाने के कारण उनमें गौण प्रधानभाव असंगत होगा।

चमत्कारकारणमिति निवेशस्य प्रयोजनं प्रतिपादयति—

लीनव्यङ्ग्य-वाच्यचित्रातिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि।

लीनव्यङ्ग्यमस्फुटव्यङ्ग्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य काव्यतृतीयभेदस्य प्रभेदः। वाच्यचित्रमर्थालङ्कारोपस्कृतमविवक्षितव्यङ्ग्यं चित्राख्यं चतुर्थमधमकाव्यम्। तत्र व्यङ्ग्यस्य सर्वथाऽप्राधान्याद् द्वितीयकाव्यलक्षणातिव्याप्तिः स्यादतश्चमत्कारकारणमिति निवेशितम्। तन्निवेशे तु तयोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वविरहान्न दोषः। 'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता। नादृष्टेन न दृष्टेन भवतालभ्यते सुखम्।' इत्यस्फुटव्यङ्ग्योदाहरणे 'यथाऽदृष्टः कदाऽपि न स्याः, तथा कुरु' इति व्यङ्ग्यस्य सत्त्वेऽपि सुखेन सहृदयैरपि प्रत्येतुमशक्यतया यथाऽचमत्कारित्वम्, तथैव 'वाणीर-कुडङ्गुड्डीण सउणि-कोलाहलं सुणन्तीए। घरकम्म-वावडाए वहुए सीअन्ति अङ्गाइँ।'

'वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वत्याः। गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि॥'

(इतिच्छाया) इत्यसुन्दरव्यङ्ग्योदाहरणे 'दत्तसङ्केतो नायको वेतसीलताकुञ्जं प्रविष्टः' इति व्यङ्ग्यस्यापीति तदुपलक्षणमपीदमवगन्तव्यम्। इतरेषां तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकाराणां पूर्वेणैव व्यावृत्तिः। एवं वाच्यचित्रपदं शब्दचित्रस्याप्युपलक्षकम्। यत्तु शब्दचित्रे व्यङ्ग्याभाव इति कैश्चिदुक्तम्, तन्न, तत्रापि बहुत्र भावव्यक्तेरानुभविकत्वादव्यङ्ग्यपदस्याविवक्षितव्यङ्ग्यपरतयैवाभियुक्तव्याख्यानात्।

अब लक्षणघटक व्यङ्ग्य में जो 'चमत्कार का कारण हो' ऐसा विशेषण दिया गया है, उसका प्रयोजन कहते हैं—'लीनव्यङ्ग्य' इत्यादि। वाच्यचित्र काव्यों में व्यङ्ग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्य उपमारूपक आदि के चमत्कार में उसका चमत्कार तिरोहित हो जाता है, फलतः व्यङ्ग्य में चमत्कार नहीं रहता, अतः उन काव्यों में यह लक्षण नहीं जाता है, अब चमत्कार कारण नहीं कहने पर लक्षण उनमें भी चला जायगा, इस लिये 'चमत्कार कारण' कहते हैं। कुछ लोग यहाँ की मूल पंक्ति में लीन व्यङ्ग्य और वाच्य चित्र को अलग अलग दोषस्थल मानते हैं, उनके हिसाब से लीन व्यङ्ग्य अर्थात् अस्फुट व्यङ्ग्य नामक तृतीय काव्य और वाच्यचित्र नामक चतुर्थ काव्य दोनों जगह अतिव्याप्तिवारण के लिये लक्षण में चमत्कार-कारण विशेषण लगाया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

गुणीभूतव्यङ्ग्य-प्रसङ्गसङ्गत्या भट्टमम्मटकृततल्लक्षणे व्याख्यातृनिवेशितं चित्रान्यत्वं निराकरोति—

यत्तु—'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम्, तन्न, पर्यायोक्त-समासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वव्याप्त्यापत्तेः। तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वात्।

'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्ये व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।' इति पूर्णं लक्षणम्। लक्षणे गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणमध्यमकाव्यप्रकारस्येति शेषः। चित्रान्यत्वं चित्रकाव्यभिन्नत्वं दत्तं निवेशितम्। पर्यायोक्तसमासोक्तादयः प्रधानानि येष्विति बहुव्रीहिः। आदिपदेन चमत्कारिव्यङ्ग्यभाजामाक्षेपाप्रस्तुतप्रशंसाप्रभृतीनामलङ्काराणां परिग्रहः।

यदि गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यलक्षणे चित्रभिन्नत्वं निवेश्येत, तर्हि पर्यायोक्तप्रभृत्यलङ्कार-युक्तानां काव्यानामर्थचित्रत्वसत्त्वाद् व्यावृत्त्याऽप्रधानीभूतचमत्कारजनकव्यङ्ग्यसद्भावादिष्ट-मपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं न स्यादतश्चित्रान्यत्वं न निवेशनीयम्। न चैकत्रैव काव्यद्वयव्यव-हारोऽप्रसिद्ध इति वाच्यम्, व्यवहारस्य सर्वालङ्कारिकसम्प्रदायसिद्धत्वादित्याकूतम्।

इदं पुनश्चिन्तनीयम्—पर्यायोक्ताद्यलङ्कृतकाव्येषु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारिताया भवदभि-मतायाः सद्भावेनाव्यङ्ग्यत्वरूपाया अविवक्षितव्यङ्ग्यत्वलक्षणाया वा चित्रताया असम्भवात्। तथाहि—'चक्राभिघातप्रसमाज्ञयैव, चकार यो राहुवधूजनस्य। आलिङ्गनोद्दामविलासबन्ध्यं, रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्।' इत्यादौ पर्यायोक्तोदाहरणे राहुशिरश्छेदनात्मनो व्यङ्ग्यस्य यद्यविवक्षितत्वम्, तर्हि न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, अथवा यदि विवक्षितत्वम्, तदा कुतश्चि-त्रता, व्यङ्ग्यस्य विवक्षिताविवक्षितत्वयोर्विरोधेन गुणीभूतव्यङ्ग्य-चित्रत्वयोरपि विरुद्ध-त्वात्। इत्थं च सर्वालङ्कारिकसम्मतत्वमपि चिन्त्यमेव, ध्वनिकार-मम्मट-प्रदीपकृदाद्य-सम्मतत्वादिति सहृदयैरालोचनीयम्।

यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य का प्रसङ्ग उपस्थित है, अतः एक और विचार करना आवश्यक दीखता है, वह विचार यह है कि काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'अतादृशिगुणीभूतव्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य के लक्षण में चित्रान्यत्व का निवेश आवश्यक बतलाया है। उनका आशय यह है कि जहाँ अलङ्कार प्रधान हो, वह चित्रनामक काव्य का एक पृथक् भेद है। उसमें गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं जाना चाहिए। परन्तु मम्मट का उक्त लक्षण उसमें भी चला जासकता है, अतः यह कहना उचित है कि गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य वही है, जो 'चित्र (अलङ्कार प्रधान) काव्य न हो। पर उन टीकाकारों का उक्त कथन समुचित नहीं, क्योंकि पर्यायोक्ति, समासोक्ति, आक्षेप, अप्रस्तुत प्रशंसा प्रभृति अलङ्कार जहाँ प्रधान हैं, अत एव चित्रकाव्यत्व इष्ट है, वहाँ चित्रान्यत्व घटित गुणीभूत-व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण नहीं घट सकेगा, यदि कोई कहे कि जब उन अलङ्कारप्रधान काव्यों में चित्रत्व इष्ट है तब तो वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का लक्षण न घटे यही उचित है अर्थात् चित्रकाव्य गुणीभूत व्यङ्ग्य भी हो यह आवश्यक नहीं है, इसका उत्तर यह है कि उन अलङ्कार प्रधान काव्यों में चित्रत्व तथा गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व दोनों ही इष्ट हैं, अर्थात् आलङ्कारिकों ने उन अलङ्कार प्रधान काव्यों को दोनों (चित्र तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य) ही माना है।

द्वितीयं काव्यमुदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरहसन्तापं वनवासिनो रामचन्द्रस्य कश्चिद् वर्णयति—

'राघवविरहज्वाला-सन्तापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥' इति।

राघवस्य श्रीरामचन्द्रस्य यो विरहो वैदेहीवियोगः, तस्य वह्नेरिवान्तर्बहिर्दाहकत्वाद् या ज्वाला कीलस्ताप इति यावत्, तया सन्तापितेषूष्ममयीकृतेषु, सह्यस्य तदाख्यदाक्षिणात्य-शैलस्य, शिखरेषु शृङ्गेषु, शिशिरे शीतर्तौ, सुखं वस्त्राद्यभावेऽप्यशीतक्लेशं यथा स्यात्, तथा शयानाः स्वपन्तः, कपयः सुग्रीवस्य वानराः, पवनतनयाय (वैदेहीकुशलवार्तासूचनेन रामस्य सन्तापं शमितवते) हनुमते, कुप्यन्ति पुनश्शीतबाधां सम्भावयन्तस्तमुद्दिश्य क्रुध्यन्तीत्यर्थः। इह रघुनाथसुग्रीवयोरतिवल्लभं कपीनामपि सर्वदा हितकरं हनुमन्तं प्रति तेषामाकस्मिको वाच्यभूतः कोपोऽन्यथाऽनुपपन्न इति तदुपपादकाकाङ्क्षायामनायत्या जानकी-कुशलसूचनविहितरामविरहसन्तापापनोदनात्मा व्यङ्ग्यार्थ एव पुरः परिस्फुरन्नङ्गतां भजन्नपि,

यथा दौर्भाग्येण दासीभावमापन्नाऽपि राजमहिषी, काञ्चनविलक्षणां नैसर्गिकीं सुषमामावहति, तथैव कश्चिद् विलक्षणं चमत्कारं करोतीति व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितोत्कर्षेण द्वितीयकाव्योदाहरणत्वमेतस्य ।

द्वितीय काव्यभेद उत्तम का उदाहरण देते हैं—'राघव' इत्यादि । रामचन्द्र के विरह की ज्वालाओं से (यहाँ ज्वाला की उक्ति से विरह में बह्निरूपता व्यङ्ग्य होती है) तप्त बनाये गये सह्यनामक पर्वत के शिखरों पर, शीत ऋतु के समय में, सुख पूर्वक सोने वाले बन्दर पवनतनय-हनूमान् पर प्रकुपित होते हैं—क्रोध करते हैं ।

तदाह—

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिककपिकर्तृकहनुमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि, दुर्दैववशतो दास्यमनुभवद् राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति ।

शिशिरीकृतः शीतलीकृतः ।

इस पद्य का व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि 'हनूमान् ने जानकी की कुशलवार्ता सुनाकर रामचन्द्र को शीतल बना दिया, अर्थात् हनूमान् के मुख से सीता की सकुशल लङ्का में रहने की बात सुनकर रामचन्द्र का वियोग-ताप शान्त हो गया' और वाच्य-अर्थ है 'हनूमान् पर बन्दरों का सहसा होने वाला कोप' । इन दोनों (व्यङ्ग्य तथा वाच्य) अर्थों में अङ्ग-अङ्गी (पोष्य-पोषक) भाव है, अर्थात् व्यङ्ग्य है पोषक और वाच्य है पोष्य, क्योंकि जो हनूमान् रामचन्द्र तथा सुग्रीव दोनों का कृपापात्र था—स्नेहभाजन था और बन्दरों का भी प्रिय-हित-चिन्तक था, उसी पर अकस्मात् बन्दर सब क्रुद्ध हो उठे, यह वाच्य अर्थ तब तक संगत प्रतीत नहीं होता, जब तक उक्त व्यङ्ग्य अर्थ न समझ लिया जाय अर्थात् जब हम 'हनूमान् ने राम के विरहताप को शान्त कर दिया, जिससे विरह-ज्वाला-तप्त सह्य-शिखर, शीतल हो गये और शीत के मारे बन्दरों के सुख-शयन में बाधा पड़ने लगी' इस व्यङ्ग्य अर्थ को समझ लेते हैं, तब हनूमान् पर बन्दरों का कोप संगत जँचता है । इस तरह से उक्त व्यङ्ग्य अर्थ, वाच्य-अर्थ के साधक होने के कारण यद्यपि गौण हो गया तथापि जिस प्रकार दुरदृष्ट की मारी हुई कोई राजाङ्गना, किसी की दासी बनकर रहने पर भी, अपने सहज-सौन्दर्य को नहीं छोड़ती अर्थात् उस दशा में भी उसकी सुन्दरता झलकती ही है, उसी प्रकार उक्त व्यङ्ग्य में भी (गौण होने के फलस्वरूप) विलक्षण चमत्कार परिलक्षित होता है । अब 'जहाँ व्यङ्ग्य गौण होकर चमत्कार-जनक हो' इस लक्षण का समन्वय, उक्त पद्य में, स्वयं स्पष्ट है ।

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादिप्रागुक्तप्रथमकाव्योदाहरणे द्वितीयकाव्योदाहरणतामाशङ्क्य समादधाति—

नन्वेवं प्रागुक्तमाक्षेपगतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमानं व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्येति चेत्, न यतो ह्यनुदिनसख्युपदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमानं मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्वणागोचरतामाधातुम् ।

प्राक् उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादौ । व्यङ्ग्येनैव विप्रलम्भरतिरूपशृङ्गारस्थायिभावेनैव, न तु वाच्यादिना । उपपाद्यते सङ्गतीक्रियते । अनुदिनं प्रत्यहं यः सखीनामुपदेशः केलिकलासु वामतापरित्यागाय शिक्षा, स आदिर्येषां, ते तदादयः सततसान्निध्य- प्रचुरपरिचयप्रभृतयः, तैः । इदमाक्षेपगतं मान्द्यम् । प्रथमचित्तचुम्बिनीं प्रागेव बुद्धिगोचरीभवन्तीम् । स्वातन्त्र्येण स्वरूप(मन्दत्व)मात्रेण । परनिर्वृतेः परमानन्दस्य, या चर्वणाऽऽस्वादः, तस्या गोचरतां विषयताम् । आधातुं वोढुम् ।

यथा प्रकृते वाच्यस्य हनूमदुपरि कपिकोपस्यान्यथाऽसम्भवादनुपपन्नस्य, हनूमता सीताकुशलनिवेदनेन रामस्य शीतलीकरणं व्यङ्ग्यं कपिसुखसुप्तिव्याघातादुपपादकं वाच्याङ्गीभूय, काव्यमिदमुत्तमोत्तमकक्षातोऽपकर्षति, तथैव 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादौ पूर्वोक्त उत्तमोत्तमकाव्यतृतीयोदाहरणे, वाच्यस्य प्रियकराक्षेपमान्द्यस्य नवोढवधूस्वभावविरुद्धत्वादन्यथाऽनुपपन्नस्य, व्यज्यमाना विप्रलम्भशृङ्गारस्थायिनी रतिरुपपादिकाऽङ्गीभवतीति कथं तत्राप्युत्तमोत्तमत्वम्, वैषम्ये बीजाभावादिति न वाच्यम्, उभयोर्वैषम्यस्य जागरूकत्वात्। तथाहि प्रकृते तद्व्यङ्ग्यमन्तरेण किमप्यर्थान्तरं वाच्यस्योपपादकं नोपलब्धुं शक्यते। 'तल्पगताऽपि च' इत्यादौ त्वाक्षेपमान्द्यं वाच्यं, यथा व्यङ्ग्या विप्रलम्भरतिः, तथैव प्रात्यहिकसखीशिक्षाप्रभृतिरप्युपपादयितुमर्हतीत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्विरह इत्यभिप्रायः।

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादि पूर्वोक्त प्रथम-काव्य (उत्तमोत्तम) के उदाहरण में 'वह भी द्वितीय (उत्तम) काव्य का ही उदाहरण क्यों नहीं ? बल्कि वही होना उचित है' इस शङ्का का उत्थान कर खण्डन करते हैं—'नन्वेवम्' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जैसे 'राघव-विरह-ज्वाला' यहाँ पर अन्यथा (व्यङ्ग्य-ज्ञान के बिना) अनुपपन्न होने वाला, हनूमान् के ऊपर अकस्मात् बन्दरों का क्रोध, (वाच्य) हनूमान् के द्वारा राम की विरह-ताप-शान्ति (व्यङ्ग्य) से उपपन्न किया जाता है, अतः वह व्यङ्ग्य गौण हो जाने से चमत्कारजनक होकर भी स्वव्यञ्जक-पदावली को उत्तमोत्तम काव्य नहीं बना सका, वैसे ही 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' यहाँ पर भी 'प्रियकर को मन्द मन्द हटाना' रूपवाच्य, नव-वधू-स्वभाव-विरुद्ध होने से अनुपपन्न है अर्थात् नवोढा का यही स्वभाव होता है कि अपने अङ्गों पर धरे हुये पति-करों को झट से हटा देती है और यहाँ 'नवोढा मन्द मन्द प्रियकर को हटा रही है' ऐसा कहा हुआ है जो असंगत सा दीखता है। फिर तो रतिरूप व्यङ्ग्य से ही वह (वाच्य) उपपन्न बनाया जायगा अर्थात् जब हम यह समझ लेंगे, कि—उस नवोढा को अब पति से प्रीति होने लगी है और शीघ्र ही उस प्रीतिलता पर विरह के ओले गिरने वाले हैं, तभी नववधू का धीरे-धीरे प्रियकर को हटाना सङ्गत प्रतीत होगा, इस स्थिति में यहां का विप्रलम्भ रतिरूप व्यङ्ग्य भी वाच्य अर्थ के उपपादक होने से गौण ही हुआ, अतः उसे भी उत्तमोत्तम-काव्य-व्यवहार-नियामक नहीं होना चाहिये अर्थात् इन दोनों स्थलों के व्यङ्ग्यों की स्थिति समान है, इसलिये दोनों पद्य उत्तम काव्य के ही उदाहरण हो सकते हैं, उत्तमोत्तम के नहीं, यह है शङ्का। समाधान यह है कि आपने दोनों पद्यों के व्यङ्ग्यों को समान कोटिक समझ रहे हैं, वह आप का भ्रम है क्योंकि दोनों जगहों में वैषम्य स्पष्ट है, देखिये—'राघव-विरह-ज्वाला' यहां का व्यङ्ग्य ऐसा है जिसके बिना वाच्य सिद्ध हो ही नहीं सकता अर्थात् व्यङ्ग्य से भिन्न कोई बात ऐसी नहीं जो वाच्य को सिद्ध कर सके और 'तल्पगताऽपि' यहां का व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है अर्थात् यहां का व्यङ्ग्य ऐसा है जिससे भिन्न बातें भी वाच्य को सिद्ध कर सकती हैं, जैसे दिन दिन के सखियों के उपदेश, सतत सान्निध्य, प्रचुर परिचय आदि से भी 'प्रियकर को धीरे-धीरे हटाना' रूपवाच्य सिद्ध हो सकता है, अतः उसको सिद्ध करने के लिये विप्रलम्भ रति की ही विशेष आवश्यकता नहीं है। फलतः यह सारांश निकला कि वाच्यसिद्धि का अङ्ग वही व्यङ्ग्य कहलाता है, जो वाच्यसिद्धि का एक मात्र कारण हो, विप्रलम्भ-रति-रूप-व्यङ्ग्य ऐसा नहीं है, अतः वह गौण नहीं हुआ फिर वह 'तल्पगताऽपि' इस पद्य को उत्तमोत्तम काव्य क्यों नहीं बना सकता ? यदि आप कहें कि जब सख्युपदेशादि से भी 'तल्पगता' का वाच्य सिद्ध हो जाता है, तब उस वाच्य से विप्रलम्भ रतिव्यङ्ग्य होगी ही क्यों ? इसका उत्तर यह है कि मार्मिक सहृदयों के हृदय में पहले यही बात उठ खड़ी होती है कि 'नववधू होकर भी जो यह धीरे धीरे स्वाङ्ग-पतित-पति-करों को हटा रही है, जल्द नहीं, वह आसन्नविरहकालिक प्रेम की फल-

है। इसको बिना ध्वनित किए सख्युपदेशादि से होने वाला मान्द्य (धीरे धीरे हटाना) पर–आनन्द (जिसके सम्बन्ध में 'ब्रह्मास्वादसहोदरः' कहा हुआ है) के आस्वाद का विषय हो भी तो नहीं सकता।

तुल्यन्यायादाचष्टे—

इत्थं 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादिपद्येष्वधमत्वादीनि वाच्यानि व्यङ्ग्याति‍रिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः।

अधमत्वं नायकस्य। व्यङ्ग्यातिरिक्तेन दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यभिन्नेनापराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेणार्थेन। आपाततस्तत्काले, पर्यन्ते त्वन्यत्र तात्पर्यविरहाद् दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्। निष्पन्नशरीराणि कृतोपपादनानि, वाच्याधमत्वस्य दूतीसम्भोगातिरिक्तापराधैरप्युपपादयितुं शक्यत्वात् गुणीभावो व्यङ्ग्यस्य।

इसी तरह 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि पद्यों में भी अधमत्व प्रभृति वाच्य की सिद्धि जैसे व्यङ्ग्य दूती–सम्भोग से हो सकती है, वैसे ही अपराधान्तर (नायक के दूती–सम्भोग से भिन्न अपराध) से हो सकती है, अतः उक्त व्यङ्ग्य वाच्य–सिद्धि का एक मात्र कारण नहीं है। इसलिये न वह व्यङ्ग्य वाच्यसिद्धि का अङ्ग हुआ, न गौण, यह विदित करना चाहिये।

अधमत्वस्य वाच्यस्योपपत्तिर्यथा व्यङ्ग्येन दुःखजनकेन दूतीसम्भोगेन विधीयते, तथैव वाच्यार्थप्रत्ययावसरेऽपराधान्तरेणापि विधातुं शक्यत इत्यन्यथाऽनुपपत्तिवैधुर्याद् दूतीसम्भोगरूपप्रधानव्यङ्ग्यस्य न वाच्याङ्गत्वमिति भावः। ननु व्यङ्ग्यस्य चमत्कारितायास्तुल्यतया काव्यप्रथम–द्वितीयप्रकारयोर्भेदः कुतः स्वीक्रियत इत्याशङ्कायां ब्रवीति—

अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेषः।

अनयोरुत्तमोत्तमोत्तमरूपयोः। भेदयोः काव्यप्रथम–द्वितीयप्रकारयोः। प्राधान्याप्राधान्याभ्यां व्यङ्ग्यस्येति शेषः। विशेषो वैलक्षण्यं भेद इति यावत्।

यद्यप्युभयोरपि भेदयोश्चमत्कारिव्यङ्ग्यसद्भावात् तुल्यत्वमेव, किन्तूत्तमोत्तमे व्यङ्ग्यस्य वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, उत्तमे पुनरप्राधान्यमिति भेदस्य सहृदयानुभवसाक्षिकत्वात् पृथग्भेदद्वयाङ्गीकार इत्यभिसन्धिः।

इदं पुनरत्र विचारणीयम्—'चमत्कारोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा' इति ध्वनिकारानुशासने जाग्रति, व्यङ्ग्यस्य यदीह वाच्यापेक्षया चमत्कारोत्कर्षः, तर्हि नाप्राधान्यम्, अथाप्राधान्यम्, तर्हि न चमत्कारोत्कर्षः। यदि च व्यङ्ग्यस्य चमत्कारोत्कर्षेऽपि वाच्योपपादकतयाऽङ्गत्वमिष्यते, तदा तदङ्गत्वमप्यकिञ्चित्करम्, चमत्कारोत्कर्षनिबन्धनस्य शिष्टपरिपाटीसम्मतप्राधान्यस्य तथाप्यव्याहतत्वात्। किञ्च यत्र तुल्यचमत्काराधायकत्वेन वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं सन्दिग्धं वा प्राधान्यम्, तयोर्गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारयोर्भवन्मते कुत्रान्तर्भावः? न चाव्याप्तिरेषितुं शक्यते, 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये। जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते।' 'हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः। उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।' इत्यनयोश्चमत्कारस्यापलापानर्हत्वेन मध्यमकाव्यतायाः सर्वसम्मतत्वात्।

यद्यपि उत्तमोत्तम तथा उत्तम इन दोनों काव्य–भेदों में व्यङ्ग्य चमत्कारजनक रहता है—व्यङ्ग्य की चमत्कार–जनकता का अपलाप नहीं किया जा सकता, तथापि उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य प्रधान रहता है और उत्तम का अप्रधान अर्थात् उत्तमोत्तम का व्यङ्ग्य वाच्य-

सिद्धि का अङ्ग नहीं रहता और उत्तम काव्यङ्गय वाच्य-सिद्धि का अङ्ग रहता है, इसलिये इन दोनों भेदों में एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ विशेष अवश्य है, जिसे सहृदयहृदय वाले ही समझ सकते हैं। दोनों प्रभेदों को एक ही क्यों नहीं मान लिया जाय इस शङ्का का अवसर नहीं है। यही इस विशेष प्रदर्शन का तात्पर्य है।

'प्रहरविरतौ' इत्यादावप्पय्यदीक्षितप्रतिपादितं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं निरस्यति—

यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम्।

चित्र-मीमांसाकार अप्पय्यदीक्षित द्वारा दिये गये गुणीभूत व्यङ्ग्य के उदाहरण का खण्डन कराते हैं—'यत्तु' इत्यादि। चित्र-मीमांसाकार ने जो कहा है।

बालाप्रियस्य प्रवासनिवृत्तिकारणं कश्चिद् व्याहरति—

'प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेण वा,
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः॥' इति।

हे प्रिय! वल्लभ! (प्रवासानन्तरं पुनः) त्वं, प्रहरस्यैकयामस्य, विरतौ समाप्तौ? वाऽथवा, अह्नो दिवसस्य, मध्ये प्रहरद्वयान्तराले? वा यद्वा, ततोऽपि मध्याह्नतोऽपि, परेण पश्चादपराह्णे तृतीयप्रहर इति यावत्? किमुत वा किंवा, सकले सम्पूर्णे, अह्नि दिने, याते विगते सायं समये सति, इह मदन्तिके, एष्यस्यागमिष्यसि?, इतीत्येवं रूपैः, सबाष्पगलज्जलैर्बाष्पवन्निष्पतदश्रुमिश्रितैः, आलापैः प्रश्नात्मकभाषणैः, दिनानां शतेन (ननु पञ्चषैर्दिनैः, पक्षेण, मासेन वा) प्राप्यं गन्तुं योग्यं (दूरतरं) देशं जनपदं, यियासतः कार्यानुरोधेन गन्तुमिच्छतः, प्रियस्य वल्लभस्य, गमनं प्रस्थानं, बाला नववधूर्मुग्धा हरति निवारयतीत्यर्थः। पृथ्वी छन्दः।

अस्मिन् पद्ये प्रियपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वम्। जलशब्दस्य पृथक्कथनाद् बाष्प उष्णमात्रम्। अपि च क्रमेण प्रहरान्तमध्याह्न-पराह्ण-दिनान्तमात्रस्य प्रियागमनसमयस्य, नायिकया प्रश्नगोचरी-करणेन व्यज्यमानम् 'समस्तं दिनमेव परमोऽवधिस्तद्विरहे मम जीवनस्य, दिनात्परं तु त्वदनागमने नाहं कथमपि जीविष्यामीति वस्तु' आलापैः प्रियस्य गमनं बाला हरतीति पदकदम्बकाभिधीयमानस्य बालाकर्तृकालापकरणकप्रियगमननिवारणस्योपपादकतयाऽङ्गमिति वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्यरूपगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति दीक्षितस्य कथनन्तु न युक्तम्, यतस्तत्र बाष्पवद्विगलदश्रुमिश्रितालापरूपं वाच्यमेव गमननिवारणलक्षणं व्यङ्ग्यमुपपादयितुमीष्टे, न तु तदर्थं व्यङ्ग्यस्यापेक्षा। तादृशालापानां गमननिवारणक्रियां प्रति प्रकृष्टतमकारणत्वरूपकरणत्वाभावे करणे तृतीयाऽनुपपत्तिश्च वाच्यस्यैव वाच्योपपादकतां साधयति। तस्मान्नात्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्, किन्तु व्यङ्ग्यस्य पार्यन्तिकविश्रान्तिधामतया ध्वनित्वमेव।

कोई नवोढा का पति, किसी दूर देश में जाने के लिये उत्सुक था यात्रा की सब तैयारी कर चुका था, परन्तु गया नहीं, क्यों? इसका कारण किसी ने बतलाया है—'प्रहरविरतौ' इत्यादि। प्रिय! क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे या दोपहर में अथवा उसके भी बाद? किंवा समूचा दिन बीत जाने पर ही लौटोगे? गरम-गरम आँसू-सहित इन आलापों से बाला (नवोढा), जहाँ सैकड़ों दिनों में पहुँचा जा सकेगा, उस देश में जाने के लिये उद्यत अपने प्रेमी के गमन का वारण कर रही है।

तदाह—

अत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति, तन्न,

सबाष्पगलज्जलानां 'प्रहरविरता'वित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात्। 'आलापै'रिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्य हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः।

गुणीभावोऽप्राधान्यम्। प्रकृत्यर्थस्यालापपदवाच्यस्य।

पूर्वोल्लिखितवाच्यव्यङ्ग्ययोर्मध्ये प्रियगमनहरणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया वाच्य एव विनिगमनाहेतुः करणतृतीयैवेति पृथक् तदुपन्यासो बोध्यः।

इस श्लोक में नवोढानायिका अपने प्रेमी से एक पहर के बाद, दो पहर में, अपराह्न में, अथवा शाम तक आने की बात पूछती है और उसके बाद में आने की बात नहीं पूछती—अर्थात् कल, परसों, तरसों, आओगे, ऐसा प्रश्न नहीं करती जिससे सारा दिन पूर्ण अवधि है, उसके बाद तेरे विरह में मैं न जी सकूँगी' यह व्यङ्ग्य होता है। परन्तु यह व्यङ्ग्य प्रेमी के गमन का निवारणरूप वाच्य की सिद्धि में अङ्गभूत है अर्थात् प्रेमी का गमन तभी रुक सकता है, जब वह यह जानले कि 'यह मेरी नवोढा प्रेयसी मेरी अनुपस्थिति में एक दिन के बाद न जी सकेगी'। इस तरह से वह व्यङ्ग्य वाच्य–सिद्धि के अङ्ग हो जाने से गौण है और चमत्कारी भी, अतः यह गुणीभूत व्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है। परन्तु यह चित्रमीमांसाकार का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उष्ण–अश्रुधारा–मिश्रित 'क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे' इत्यादि उक्ति से ही 'प्रियगमन–निवारण रूप वाच्य उपपन्न हो जाता है इसके लिये व्यङ्ग्य की कोई अपेक्षा नहीं है—अर्थात् व्यङ्ग्य अवगत होने पर ही वह वाच्य उपपन्न होगा ऐसी बात नहीं है, 'आलापैः'—आलापों से यहाँ करण अर्थ में तृतीया हुई है और करण वही कहलाता है जो क्रिया का प्रकृष्टतम साधक हो, अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त आलाप ही निवारण क्रिया को सिद्ध करने वाले हैं। अतः उक्त व्यङ्ग्य गौण नहीं है, फिर यह पद्य गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण कैसे हो सकता है? यह तो ध्वनि (उत्तमोत्तम) काव्य का ही उदाहरण है, क्योंकि उक्त वस्तु व्यङ्ग्य बहुत ही चमत्कारी है और प्रधान भी।

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्ध्यङ्गताऽत्र सम्भवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादाविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गताया दूतीसम्भोगादौ सम्भवाद् गुणीभावापत्तेः।

व्यङ्ग्यस्य ततःपरं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमीत्यस्य। अपिनाऽऽलापरूपो वाच्यार्थः समुच्चीयते।

गमननिवारणरूपवाच्यस्य तादृशालापरूपवाच्येनोपपत्तावपि, ततःपरमित्यादिव्यङ्ग्यस्यापि वाच्योपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमस्य काव्यस्य न दुरुक्तमिति न युक्तम्, यत एवं सति, 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि नायकाधामत्वरूपवाच्यस्य निश्शेषस्तनचन्दनच्यवनादिरूपवाच्येनैवोपपत्तावपि दूतीसम्भोगरूपव्यङ्ग्यस्यापि तदुपपादकत्वसम्भवाद् वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं भवतोऽप्यनभिमतमापद्येत। तस्माद् वाच्येनैवोपपत्तौ, व्यङ्ग्यस्योपपादकत्वसम्भवेऽपि न गुणीभाव इति भावः।

उक्त खण्डन के बाद दीक्षित मतको स्थिर करने वाली एक और नवीन युक्ति का उत्थान कर पुनः खण्डन करते हैं—'न च' इत्यादि। यदि आप कहें कि 'प्रहर विरतौ' यहाँ 'आलापों से' इस तृतीयान्त पद के वाच्यार्थ से यद्यपि 'गमननिवारण' रूप वाच्य की सिद्धि होती है, तथापि उक्त व्यङ्ग्य से भी तो उस वाच्य की सिद्धि हो सकती है, अत एव हमने उस व्यङ्ग्य को गुणीभूत कहा है, तो यह युक्ति भी आपकी संगत नहीं है क्योंकि वाच्य सिद्धि की क्षमता मात्र रखने पर यदि व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जाय तो 'निश्शेषच्युत-

चन्दनम्' इत्यादि पद्य में भी 'दूती सम्भोग' रूप व्यङ्ग्य गुणीभूत हो जायगा, क्योंकि वह व्यङ्ग्य भी नायक की अधमतारूप वाच्य को सिद्ध करने की योग्यता रखता है, और उस दूतीसम्भोग को गुणीभूत मानना तो आपको भी इष्ट नहीं है, अतः ऐसा मानना चाहिए कि वाच्य से यदि वाच्य की सिद्धि हो जाती हो तब व्यङ्ग्य से उसकी सिद्धि की सम्भावना रहने पर भी उस (व्यङ्ग्य) को गुणीभूत नहीं समझा जाय।

ननु नायिकायास्तादृशालापा नायकस्य गमनोत्तरं विदेशे चिरस्थितेर्निवारकत्वेनापि कृतकृत्या भवितुं शक्नुवन्तीतिपूर्वोक्तवाच्योपपादनसामर्थ्यमिह व्यङ्ग्यस्यैव, न तु वाच्यस्यापीति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमभ्युपगत्य प्रकारान्तरेण ध्वनित्वं व्यवस्थापयति—

अस्तु वा 'ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्ध्यङ्गतया गुणीभावः, तथाऽपि नायकादेर्विभावस्य, बाष्पादेरनुभावस्य, चिन्तावेगादेश्च सञ्चारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्।

अस्तु वेत्यभ्युपगमार्थस्य गुणीभाव इत्यनेन सम्बन्धः। तथाऽपि तादृशसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि। ध्वनित्वं काव्यस्येति शेषः।

यद्यपि वस्तुलक्षणं व्यङ्ग्यमिह गुणीभवति, तथाऽपि विप्रलम्भशृङ्गाररसरूपव्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन काव्यस्य ध्वनित्वं सेत्स्यत्येवेत्याशयः।

नागेशभट्टास्तु—'आन्तरालिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यादिव्यवहारस्योपपद्यमानतया विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत्' इति चिन्त्यम्, अन्यथा 'ग्रामतरुणम्' इत्यादिगुणीभूतव्यङ्ग्यीयप्रकाशाद्युक्तोदाहरणानामप्यसङ्गत्यापत्तौ व्याकुलीस्यात्। तत्रापि व्यङ्ग्यसङ्केतभङ्गेन वाच्यसुखमालिन्यातिशयरूपानुभावमुखेनैव विप्रलम्भाभासपोषणम्, न केवलेन सङ्केतभङ्गेन, तस्याकर्तव्यत्वबुद्ध्याऽपि सम्भवात्' इतीह व्याजह्रुः।

न हि सर्वत्र पार्यन्तिकेनैव व्यङ्ग्येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वव्यपदेशः, किन्त्वान्तरालिकेनापि सः। इतरथा 'ग्रामतरुणम्' इत्यादौ पार्यन्तिकव्यङ्ग्ये शृङ्गाररसाभासे जाग्रति, ध्वनित्वस्यैवानिवार्यतयाऽऽन्तरालिकं वस्तुरूपव्यङ्ग्यमादाय विहित आलङ्कारिपरम्पराया गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसिद्धान्तो नितरां व्याकुप्येत। तस्मादयं पण्डितराजस्य प्रौढिवाद एवेति तदभिप्रायः।

उक्त वस्तुव्यङ्ग्य को गुणीभूत मान लेने पर भी 'प्रहर विरतौ' इत्यादि पद्यको मुख्य विप्रलम्भ-शृङ्गाररूप व्यङ्ग्य के अनुसार ध्वनिकाव्य का ही उदाहरण मानना समुचित है, यही बात अब कहते हैं—'अस्तु वा' इत्यादि। तात्पर्य है कि यदि आप कहें कि नायिका के 'एक पहर बाद आओगे' इत्यादि अश्रुमिश्रित आलाप तो 'विदेश में अधिक दिनों तक नहीं ठहरना' इस बात को सिद्ध करके भी चरितार्थ हो सकते हैं, फिर उन आलापों में 'सर्वथा जाने का निवारण' रूप अर्थ को सिद्ध करने का सामर्थ्य नहीं है, वह सामर्थ्य यदि है तो 'उसके बाद मैं न जी सकूँगी' इस व्यङ्ग्य में ही, अतः यह व्यङ्ग्य गुणीभूत अवश्य है। इस पर पण्डितराज कहते हैं—अच्छा, उक्त व्यङ्ग्य को वाच्यसिद्धि का अङ्ग बनाकर गौण समझिये किन्तु नायक प्रभृति विभाव, अश्रु आदि अनुभाव तथा चित्तावेग आदि संचारीभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार के कारण जो ध्वनि काव्यता इस पद्य में प्राप्त होती है, उसको कौन रोक सकता है। वस्तुतः यहाँ दीक्षित मत के खण्डन करने में पण्डित राज जगन्नाथ का दुराग्रह ही झलकता है। क्योंकि सर्वत्र चरम व्यङ्ग्य के आधार पर ही 'ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य' काव्य की व्यवस्था हो, आन्तरालिक (बीच के) व्यङ्ग्य के आधार पर नहीं, ऐसा नियम आलङ्कारिकों से आदृत नहीं है, अन्यथा (तादृश-

नियम के आदर करने पर) 'ग्रामतरुणम्' इत्यादि पद्य में भी चरम शृङ्गाररसाभास रूप व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनि काव्यता ही हो जायगी, फिर तो 'संकेत भंग' रूप बीच के व्यङ्ग्य को आधार मान कर उक्त पद्य को गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना आलङ्कारिकों का असङ्गत ही जो जायगा। इस दृष्टिकोण से देखने पर 'इसके बाद मैं न जी सकूंगी' इस आन्तरालिक व्यङ्ग को आधार मानकर 'प्रहर-विरतौ' इत्यादि श्लोक को गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का उदाहरण मानना दीक्षित का अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

अथ तृतीयप्रकारं मध्यमकाव्यं लक्षयति—

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम्।

व्यङ्ग्यचमत्कारस्याधिकरणेऽवर्तमानो व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणः। तत्त्वं च वाच्यचमत्कारे व्यङ्ग्यचमत्कारस्यास्फुटत्वात्।

यत्र काव्ये व्यङ्ग्यप्रतीतिजन्यश्चमत्कारो लेशतः प्रादुर्भवन्नपि वाच्यप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य सर्वतोमुखीनस्यान्तर्निगीर्णः स्पष्टतयाऽनुभवगोचरतां नाचामति, तत् तृतीयं मध्यमं काव्यमित्यर्थः।

इह व्यङ्ग्यचमत्कारस्य सर्वथाऽसद्भावस्तु नाभिधेयः, तथासति वाच्यचमत्कारस्याप्यसम्भव इत्यनुपदमेव स्फुटीकरिष्यति मूलकृत्।

अब काव्य के तृतीय भेद 'मध्यम' का लक्षण करते हैं—'यत्र' इत्यादि। जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे—अर्थात् जिस काव्य में व्यङ्ग्य अर्थ का चमत्कार लघु अंश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत न हो, वह 'मध्यम' नामक काव्य कहलाता है।

मध्यमं काव्यमुदाहरति—

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृत-जलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति।

तनयः (हिमालयस्य) सुतश्चासौ मैनाकस्तन्नामा शैलः, तस्य (इन्द्रभिया समुद्रान्तर्लीनस्य) गवेषणायान्वेषणाय, लम्बीकृताऽऽयतीकृता, जलधेः समुद्रस्य, जठर उदरे, प्रविष्टा, हिमगिरेर्हिमाचलस्य, भुजा बाहुरिवाचरतीति तस्याः, भगवत्याः परमेश्वर्याः, भागीरथ्या गङ्गायाः, सखी सहचरी, यमुनेत्यर्थः।

अत्र श्वेतायतपूरप्रवाहा गङ्गा हिमालयस्य भुजेव, समुद्रपूरे निमग्नस्य तनयस्य मैनाकस्यान्वेषणाय प्रविष्टेति सदृशाचारार्थकक्यङः सत्त्वादुपक्रम उपमायाः, पर्यवसाने तु सम्भावनायाः प्रतीतेरुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कारस्य कारणम्। गङ्गायाः स्वच्छता-पातालपर्यन्तानुधावनप्रभृति व्यङ्ग्यं तु पश्चात् प्रतीतिपदवीमवतरदपि तावन्तमेव चमत्कारं कर्तुं प्रभवति, यावान् वाच्यचमत्कारकुक्षावेव निक्षिप्तो भवति, न त्वधिकं पृथक् प्रतीयते, यथा स्वभावगौराङ्ग्याऽनभिज्ञनायिकया कल्पितस्य काश्मीरद्रवेणाङ्गरागस्य प्रभया तस्या अङ्गानां गौरता तिरोधीयते।

ततश्चात्र व्यङ्ग्यचमत्कारस्य वाच्यचमत्कारे निलीनतयाऽस्फुटत्वाद् व्यङ्ग्यचमत्कारासामानाधिकरण्यं वाच्यचमत्कारस्येति तृतीयप्रकारत्वमित्याशयः।

मध्यम काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा यमुनावर्णने' इत्यादि। (यह यमुना) उस गङ्गा की सखी है, जो, मानो, अपने पुत्र मैनाक को खोजनेके लिये लम्बी की हुई तथा समुद्र के उदर में पैठी हुई हिमालय पर्वत की भुजा है।

तदाह—

अत्रोत्प्रेक्षा वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः। श्वैत्य-पातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पितकाश्मीर-द्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते।

एवकारः श्वैत्यादिव्यङ्ग्यं व्यवच्छिनत्ति। चमत्कृतिहेतुत्वं ज्ञानद्वारकम्। मैनाकस्य समुद्रान्त×पातालद्वारस्थतया पातालतलचुम्बित्वप्रतीतिः। सन्नपीति कथनेनात्रभेदे व्यङ्ग्यचमत्कारासद्भावनिवेशाभावः पुष्यते। नायिकाया नागरिकेतरत्वेन प्रसाधनानभिज्ञता सूच्यते। काश्मीरं सम्प्रति 'केसर' इति प्रसिद्धं गन्धद्रव्यम्। द्रवो रसः। यथा प्रसाधनानभिज्ञया ग्राम्य-नायिकया स्वतः सुषमाजनकमपि स्वकीयाङ्गगौरत्वं कल्पितेन पीततरकाश्मीराङ्गरागेणाच्छादितं नैव मुख्यतमां सुषमां जनयति, तथा प्रकृतोदाहरणे व्यज्यमानतया यत्किञ्चिच्चमत्कार-जनकोऽपि भागीरथीश्वेतिमादिश्चमत्कारकतमवाच्योत्प्रेक्षाचमत्कारेणाच्छादितः प्राधान्यं नाद-धातीति काव्यतृतीयप्रभेदत्वमेवैतस्येति तात्पर्यम्।

यहाँ संस्कृत में 'क्यङ्' प्रत्यय से और हिन्दी में 'मानो' पद से वाच्य होने वाली उत्प्रेक्षा (अलङ्कार) ही चमत्कार का कारण है। यहाँ उत्प्रेक्षा शुद्ध नहीं अपितु उपमोप-क्रमोत्प्रेक्षा है, यह समझना चाहिए क्योंकि 'क्यङ्' प्रत्यय सदृश आचार अर्थ में व्याकरण से अनुशिष्ट है, अतः आरम्भ में उपमा की प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में सम्भावना की ही प्रतीति स्थिर रहती है। यद्यपि इस गद्यांश में, गङ्गा में की गई हिमालय-भुजोत्प्रेक्षा से गङ्गा की 'श्वेतता' और 'पुत्र मैनाक को खोजने के लिये समुद्र के उदर में पैठी हुई' इस उक्ति से गङ्गा का 'पाताल के तह तक पहुँचना' व्यङ्ग्य होते हैं, जो किसी अंश में चमत्कार-जनक भी है ही, तथापि वह चमत्कार वाच्य उत्प्रेक्षा के चमत्कार के भीतर छिपा हुआ है, जैसे किसी ग्राम्य नायिका की गौरता, केसर-रस के लेप के भीतर छिप जाती है। कहने का सारांश यह है कि वाच्य उत्प्रेक्षा की प्रतीति से होने वाला चमत्कार स्पष्ट है—प्रदीप्त है, और उसके सामने उक्त व्यङ्ग्य की प्रतीति से पीछे होने वाला चमत्कार अस्पष्ट है—क्षीण है, अतः यह मध्यम काव्य का उदाहरण ठीक है।

सर्वथा व्यङ्ग्यासद्भावनिवेशाभावबीजमुपपादयति—

न तादृशोऽस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामधातुं प्रभवति।

मनागीषत्। अनामृष्टप्रतीयमानोऽस्पृष्टव्यङ्ग्यो व्यङ्ग्यसम्बन्धशून्य इति यावत्। व्यङ्ग्य-सम्बन्धेनैव वाच्यस्य चमत्कारिता, सर्वथा तदभावे तु रमणीयताविरहात् काव्यत्वमेव न स्यादतो यत्किञ्चिद्व्यङ्ग्यसम्बन्ध आवश्यकः। अत एव व्यङ्ग्यासद्भावो न निवेशित इति भावः।

इस मध्यम नामक काव्य के तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि कोई भी वाच्य अर्थ ऐसा है ही नहीं, जो थोड़ा भी व्यङ्ग्य अर्थ के साथ बिना सम्बन्ध रक्खे स्वयं चमत्कार को पैदा कर सके—अर्थात् वाच्य अर्थ को चमत्कारी होने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध किसी व्यङ्ग्य से रहे। फिर यदि इस तृतीय भेद में व्यङ्ग्य का सर्वथा न रहना ही अभीष्ट मान लिया जाय, तब तो असम्भव ही हो जायगा—एक भी लक्ष्य नहीं मिलेगा।

नन्वलङ्कारप्रधानानि काव्यान्येतेषु प्रभेदेषु क्वान्तर्भवन्तीत्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम्।

एवशब्दः प्रथमचतुर्थप्रकारव्यवच्छेदकः। जागरूको 'राघवविरह—'इत्यादाविव चमत्का-

रविशेषाधायकतया चर्वणागोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थोपपादकत्वेनाप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्र, तथाऽजागरूकः 'तनयमैनाक–'इत्यादाविव चमत्कारविशेषानाधायकतया चर्वणाऽगोचरो गुणीभूतो वाच्यार्थापेक्षयाऽप्रधानीभूतो व्यङ्ग्यो यत्रेति च बहुव्रीहिः। इत्थमलङ्कारश्चमत्कारितया प्रधानं यत्र तदलङ्कारप्रधानम्। अलङ्कारपदमर्थालङ्कारपरं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्।

इदमुच्यते—समासोक्तिप्रभृतिष्वलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभावेऽपि चमत्कारितया तत्प्रधानककाव्यस्य द्वितीयभेदेऽन्तर्भावः। दीपकादिष्वलङ्कारेषूपमाऽऽदिरूपव्यङ्ग्यस्य तु तदभावात् तत्प्रधानकाव्यस्य तृतीयभेदेऽन्तर्भावः। इत्थमलङ्कारप्रधानं सकलमपि काव्यमुक्तभेदद्वय एवान्तर्भवति।

अलङ्कार प्रधान काव्यों का अन्तर्भाव किस भेद में होगा? इस जिज्ञासा की शान्ति करते हैं—'अनयोरेव' इत्यादि। इन दोनों (द्वितीय तथा तृतीय) ही भेदों में व्यङ्ग्य यद्यपि गुणीभूत रहता है, तथापि, एक (द्वितीय) में, व्यङ्ग्य, जागरूक—अर्थात् चमत्कार–विशेषजनक होने से अनुभव योग्य रहता है, और एक (तृतीय) में व्यङ्ग्य, चमत्कार–विशेष–जनक नहीं होने से अनुभव के अयोग्य। अतः समासोक्ति प्रभृति जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग गौण होकर भी चमत्कारी हों उन अलङ्कारों से युक्त काव्यों का द्वितीय भेद में और दीपक आदि जिन अर्थालङ्कारों में व्यङ्ग्य गौण तो हों ही, साथ–साथ चमत्कारी भी नहीं हों, उन अलङ्कारों से युक्त काव्यों का तृतीय भेद में अन्तर्भाव समझना चाहिए।

अथ चतुर्थं प्रकारं काव्यस्य लक्षयति—

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम्।

शब्दार्थयोश्चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारनिमित्तकं प्रतीतिद्वारकं च। उपस्कारो गुणाधानम्। अत एवाङ्गता शब्दचमत्कृतावर्थचमत्कृतेः।

यत्र हि वाच्यार्थप्रतीतिजन्यचमत्कारपोषितस्य शब्दप्रतीतिजन्यचमत्कारस्य प्राधान्यम्, न तु कथञ्चित् सतोऽप्ययोग्यतयाऽविवक्षितस्य व्यङ्ग्यस्य, तदधमं नाम चतुर्थं काव्यमित्यर्थः।

अब काव्य के चतुर्थ प्रकार 'अधम' का लक्षण करते हैं—'यत्रार्थचम' इत्यादि। जिस काव्य में वाच्य अर्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान हो, उसको 'अधमकाव्य' कहते हैं। इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यङ्ग्य अवश्य रहता है, परन्तु वह रह कर भी चमत्कार जनक न होने से अविवक्षित रहता है अतः उसकी प्रधानता नहीं रहती ऐसा समझना चाहिए।

चतुर्थं काव्यमुदाहरति—

यथा—

भक्तः कश्चिद् भगवन्तं स्तौति—

'मित्रात्रिपुत्रनेत्राय, त्रयीशात्रवशत्रवे।
गोत्रारिगोत्रजत्राय, गोत्रात्रे ते नमो नमः॥' इति।

मित्रः सूर्योऽत्रिपुत्रश्चन्द्रश्च नेत्रे यस्य, तस्मै, त्रय्या ऋग्यजुस्सामवेदानां शात्रवस्यापहारकतया रिपोर्हयग्रीवदैत्यस्य शत्रवे नाशकाय, गोत्राणां पर्वतानां पक्षच्छेदनादरेरिन्द्रस्य गोत्रजान् वंश्यान् देवांस्त्रायते रक्षतीति तथाभूताय, गोः पृथिव्या गवां धेनूनां वा त्रात्रे रक्षकाय, ते विष्णवे नमो नमोऽस्त्विति विष्णुपक्षेऽर्थः। शिवपक्षे तु त्रय्या ध्वंसनाच्छात्रवाणामसुराणाम्, यद्वा त्रय्या विज्ञानप्रतिबन्धनाच्छात्रवस्य कामदेवस्य शत्रवे, गोर्वृषस्य त्रात्रे, ते शिवायेति विशेषः।

तथा च 'सूर्याचन्द्रमसौ विराजः पुरुषस्य दक्षिणवामे चक्षुषी' इति प्रसिद्धिः। 'मित्रं

सुहृदि न द्वयोः । पुंसि सूर्ये' 'गोत्रः, शैले गोत्रं कुलाख्ययोः' इति मेदिनी । 'स्त्रियामृक्साम-यजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यमरः । 'गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे शीतकरे पुमान् । अर्जुनी-नेत्रदिग्बाण-भूवागादिषु योषिति' इतिविश्वश्च ।

इह वृत्त्यनुप्रासात्मकशब्दालङ्कारप्रयोज्यश्चमत्कार एव कविसंरम्भगोचरतया प्रधानम् । वाच्यार्थप्रतीतिजन्मा, भगवद्विषयक-वक्तृनिष्ठ-रतिभावादिव्यङ्ग्यप्रतीतिजन्मा वा लेशतः सन्नपि चमत्कारोऽस्फुटत्वाल्लीनोऽङ्गतामेव भजतीति निर्बाधश्चतुर्थकाव्यलक्षणसमन्वयः ।

चतुर्थ 'अधम' काव्य का उदाहरण देते हैं—'यथा, मित्रात्रि' इत्यादि । कोई भक्त भगवान् की स्तुति करता है—मित्र-सूर्य और अत्रिपुत्र-चन्द्र जिनके नेत्र हैं, त्रयी वेदों के शत्रुओं (असुरों) के जो शत्रु हैं तथा गोत्र-पर्वत के अरि-शत्रु (इन्द्र) के गोत्रजों-वंशजों (देवताओं) के त्राता-रक्षक हैं, उन गोत्राता (गोपाल) अथवा वृषभवाहन (शिव) आपको बार-बार नमस्कार है ।

तदाह—

अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना ।

यहाँ वृत्त्यनुप्रासरूप शब्दालङ्कार का चमत्कार ही प्रधान है क्योंकि कवि का मुख्य प्रयास उसी अंश में हुआ है यह शब्द श्रवण से स्पष्ट प्रतीत होता है । अर्थ का चमत्कार अथवा भक्तनिष्ठ भगवद्विषयक भावरूप व्यङ्ग्य का चमत्कार लेशतः यद्यपि है तथापि वह शब्द के चमत्कार में छिपा हुआ है ।

न्यायप्राप्तस्य काव्यपञ्चमप्रकारनिरूपणस्याकरणान्न्यूनतामापादयति—

यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत् पञ्चममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम् । यथैकाक्षर-पद्यार्धावृत्तियमक-पद्मबन्धादि ।

काव्यस्य विधा प्रकारः । एकाक्षरानुप्रासो यथा—'दाददो दुद्दुद्दादी दादादो दूददी-ददोः । दुद्दादं ददे दुद्दे ददाददददोऽददः ।' इति । समुद्गापरनामकं पद्यार्धावृत्तियमकं यथा—'अयशोऽभिदुरालोके कोपधामरणादृते । अयशोभिदुरालोके कोपधा मरणादृते ॥' इति । पद्मबन्धो यथा—'मारमासुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा । मात्तधूर्त्तमावासा सा वामा मेऽस्तु मारमा ॥' इति । आदिपदेन द्व्यक्षराद्यनुप्रासमहायमकापराख्यपद्यावृत्तियमक-चक्र-खड्ग-मुरज-हार-नाग-शक्ति-गोमूत्रिका-सर्वतोभद्रबन्धादीनि दुष्करशब्दसन्निवेशानि गृह्यन्ते ।

मित्रात्रीत्यादिपद्येऽर्थचमत्कारोऽस्फुटोऽप्यस्त्येव । यत्र पुनरेकाक्षरानुप्रासादिशालिपद्येषु काममर्थचमत्कारो नास्त्येव, किन्तु केवलं शब्दचमत्कारः स्फुरति, तादृशानामपि बहूनां काव्यानामुपलम्भाच्छब्दचमत्कृतिमात्रवान् पञ्चमोऽपि काव्यप्रकारः कुतो नात्र गणित इत्यभिप्रायः ।

यद्यपि जिस काव्य में अर्थ का चमत्कार बिलकुल नहीं हो और शब्द का चमत्कार हो जैसे एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्तियमक, पद्मबन्ध आदि, उस काव्य के पाँचवाँ भेद 'अधमाधम' की भी गणना काव्य प्रभेदों में करनी चाहिए ।

समादधाति—

तथाऽपि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूप-काव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन, महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्रतत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम् , वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात् ।

अयं भावः—एकाक्षरादिचित्रेष्वार्थिकचमत्कारस्य सर्वथाऽनुपलम्भाद् रमणीयार्थप्रति-

पादकशब्दत्वरूपं मदुक्तकाव्यसामान्यलक्षणमेव यदा न समन्वेति, तर्हि तेषु मन्मते वास्तविकं काव्यत्वमेव नास्तीति कुतस्तत्प्रकारत्वेन तेषां गणना स्यात्। का वा तदगणने ग्रन्थस्य न्यूनता स्यात्।

ननु माघादिमहाकविभिश्शिशुपालवधादिमहाकाव्येषु सन्निवेशितानामेकाक्षरादिचित्राणां कथं काव्यत्वमिति चेत्, सत्यम्, नास्त्येव तेषु वास्तविकं काव्यत्वम्, रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वाभावात्। तैस्तु गतानुगतिकतयैव प्राचीनानां महाकवीनां परम्पराया अनुरोधेन तथा विहितम्, न तु वस्तुतत्त्वविवेकेन। तद्विवेकपुरस्सरं प्रवर्तमानैरस्माभिस्तु तातकूपक्षारजलन्यायेन तदुपेक्षितमेव, असद्विषये महाजनानुसरणस्यानौचित्यात्।

तदाहुरिह शास्त्रिणः—'सर्वथाऽर्थरहितसन्निवेशमात्रे चमत्कृत्यनिर्वाहकतया दुष्करशब्दसन्निवेशनिर्वाहणीयविशिष्टवाक्यार्थधीजनकस्यैकाक्षरादिचित्रस्य कथञ्चिदपि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्याचमत्कृतिविशेषजनकत्वेऽपि काव्यत्वं नाङ्गीक्रियते। इति।

वयन्तु—न ह्येकाक्षरादिचित्रेषु सर्वथाऽर्थराहित्यम्, चमत्कृतिराहित्यं वा, अनुभवविरोधात्, तच्छुश्रूषया प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। आर्थिक एव चमत्कारः काव्यत्वप्रयोजको न तु शाब्दिक इति त्वभियुक्तोक्त–चित्रोदाहरणेष्वव्याप्तिमुपेक्षमाणेन प्राचीनस्थितिलङ्घनैकव्रतेन भवतैव केवलं व्याह्रियते, न तु केनाप्यन्येन। कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्यं तु 'भ्रम धम्मिश्च !' इत्यादावपि तुल्यमेव। एवं सत्यर्थचमत्काराच्छब्दचमत्कारस्य निकर्षेऽपि प्राचीनकविपरम्पराऽनुमतं निकृष्टकाव्यत्वमेकाक्षरादिचित्रेषु निर्बाधमेवेति विद्मः।

किन्तु 'एकाक्षरपद्य' आदि रचनाओं में जब अर्थकृत चमत्कार बिलकुल नहीं रहता, तब तो वे शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादन करने वाले नहीं हुए, फिर तो मेरे हिसाब से उन शब्दों में काव्य का सामान्य लक्षण ही सङ्घटित नहीं होता, अतः काव्यप्रभेदों में उनकी गणना करने की बात सर्वथा असङ्गत है। यद्यपि महाकवियों (माघ आदि) ने प्राचीन परिपाटी के अनुरोध से अपने काव्यों में जहाँ तहाँ उस तरह की रचनायें की हैं, तथापि हमने उस तरह का काव्य–भेद इसलिये नहीं माना कि वास्तविकता का ही अनुरोध करना उचित है न कि अन्धपरम्परा का।

मम्मटादिसम्मतं काव्यस्य त्रिप्रकारत्वमात्रं निराकर्तुमुपक्रमते—

केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते।

केचित् काव्यप्रकाशकारप्रभृतयः प्राचीनाचार्याः, इमानिहोक्तानुत्तमोत्तमादीन्, चतुरः काव्यस्य भेदान् प्रकारानपि, अगणयन्तोऽमन्वाना उत्तमत्वेन मध्यमत्वेनाधमत्वेन च त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव, न तु चतुष्प्रकारकं काव्यमाचक्षते कथयन्तीत्यर्थः। नामानुल्लेखेन तन्मतेऽरुचिः सूच्यते।

कुछ सज्जन काव्य के ये चार भेद नहीं मानते। वे—उत्तम मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के ही काव्य मानते हैं।

निराकरोति—

तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः।

अर्थालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यं ह्यर्थचित्रम्, शब्दालङ्कारयुक्तमविवक्षितव्यङ्ग्यन्तु शब्दचित्रम्, तयोरविशेषेण तुल्यतया, अधमत्वं निकृष्टकाव्यत्वं वक्तुमयुक्तम्, तारतम्यस्य तयोर्न्यूनाधिकभावस्य, स्फुटं स्पष्टम्, उपलब्धेरनुभवादित्यर्थः।

अर्थचित्रेऽधिकचमत्कारस्य शब्दचित्रे च न्यूनचमत्कारस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात् काव्यप्रकाशकारादिसम्मतमुभयोः साम्यमयुक्तमित्याशयः ।

इह तरतमयोर्भावस्तारतम्यमित्यनुकरणे तरतमशब्दात् ष्यञ् । अन्यथा केवलप्रत्ययपरतायां साधुत्वं दुर्घटम् ।

उनके सम्बन्ध में पण्डितराज का कथन है कि अर्थ-चित्र (अर्थालङ्कारों से युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य काव्य, जो प्रकृत ग्रन्थ के हिसाब से तृतीय भेद में आता है) और शब्द-चित्र (शब्दालङ्कारों से युक्त अविवक्षित व्यङ्ग्य, काव्य, जो इस ग्रन्थ के अनुसार चतुर्थ भेद में समाविष्ट होता है) दोनों को एक सा-अधम-ही कहना समुचित नहीं, क्योंकि उन दोनों में तारतम्य-न्यूनाधिक भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है अर्थात् अर्थचित्र में अधिक चमत्कार का और शब्द चित्र में उसकी अपेक्षा कम चमत्कार का अनुभव होता है, फिर दोनों को एक कोटि में घसीट कर लाना अनुचित है

पूर्वोक्तामयुक्तिमुपपादयति—

को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' 'स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्–' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात् । सत्यपि तारतम्ये यद्येकभेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ।

'भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् । ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला, निमीलिताक्षीवभियाऽमरावती ॥' इति प्रथमस्य, 'तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः । अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य, पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥' इति द्वितीयस्य, 'अच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः । भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।' इति तृतीयस्य च पद्यस्य शेषांशः । प्रथमं मम्मटभट्टेन, द्वितीयमप्पय्यदीक्षितेन चार्थचित्रोदाहरणतयोपन्यस्तम्, तृतीयन्तु मम्मटेन शब्दचित्रोदाहरणतयेत्यवसेयम् ।

आद्ययोरुत्प्रेक्षाऽर्थालङ्कारस्यैव चमत्कारितया, व्यङ्ग्यस्य लेशतः सतोऽपि चमत्कारानुपधानादर्थचित्रत्वमिति सम्प्रदायविदः ।

प्रदीपकारास्तु—'विनिर्गतम्' इत्यादौ हयग्रीवप्रभावातिशयलक्षणव्यङ्ग्यस्य जागरूकतया विवक्षणादर्थचित्रत्वं व्यपास्य 'मध्ये व्योम स्फुरति सुमनो धन्वनः शाणचक्रं, मन्दाकिन्या विपुलपुलिनाभ्यागतो राजहंसः । अह्नश्छेदे त्वरितचरणन्यासमाकाशलक्ष्म्याः, संसर्पन्त्याः श्रवणपतितं पुण्डरीकं सुधांशुः ॥' इति रूपकप्राचुर्यशालिनि स्वकीयपद्ये तद् व्यवस्थापयाञ्चक्रुः ।

एवं तत्तारतम्याभिज्ञतया । काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिशाली रसास्वादकुशलो वा सहृदयः, आहारादिमात्रनिपुणोऽज्ञो ग्राम्यजनस्तु पामरः । अविशेषमवैलक्षण्यं तुल्यत्वमिति यावत् ।

इदमाकूतम्—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च' इत्यभियुक्तोक्तेरत्यन्तविजातीयचमत्कारवत्तया विरुद्धधर्माध्यासाद् विभिन्नयोरपि, शब्दार्थचित्रयोर्यद्येकप्रकारत्वं स्वीक्रियते, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्यमात्राल्पहेतुकभेदभाजोर्ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च काव्ययोर्विभिन्नप्रकारत्वं कुतोऽङ्गीक्रियते, तयोरप्येकप्रकारत्वमूरीक्रियताम् ।

कौन ऐसा होगा जो सहृदय होकर—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥[1]

तथा

सच्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽऽबभासे ॥[2]

इत्यादि काव्यों के साथ—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाऽह्नाय वः ।
भिन्द्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घा दरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥[3]

इत्यादि काव्यों का केवल निम्नश्रेणी के अल्पज्ञ जन जिनकी प्रशंसा करते हैं, साम्य कह सकता है। और तारतम्य के रहने पर भी यदि दोनों को एक भेद में गिना जाय, तब जिनमें बहुत ही कम (व्यङ्ग की प्रधानता और अप्रधानता का ही) अन्तर है, उन 'ध्वनि' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को अलग अलग भेद में गिनने का दुराग्रह क्यों ? अतः काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिसङ्गत है।

ननु यत्र लक्ष्ये शब्दचमत्कृतिरर्थचमत्कृतिश्च सहैव तिष्ठतः, तस्यातिरिक्तप्रकारत्वं स्यादिति चेत्, न तयोश्चमत्कृत्योः सामानाधिकरण्येऽपि सूक्ष्मेक्षिकया क्वचिदेकस्याः प्राधान्यमपरस्या अप्राधान्यं लक्षितं स्यादेव। ततश्च पूर्वोक्तलक्षणानुसारमर्थचमत्कृतेः सूक्ष्मेऽपि प्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वम्, शब्दचमत्कृतेः प्राधान्येऽधमकाव्यत्वं व्यपदेश्य-मित्याह—

यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यम्, तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्यालोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम्।

ऐकाधिकरण्यं समानाधिकरणत्वम्।

जिस लक्ष्य में शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कार दोनों साथ साथ हों, वह क्या काव्य का एक अतिरिक्त (पञ्चम) भेद होगा ? नहीं तो उसका समावेश किस भेद में होगा ? इसका उत्तर देते हैं—'यत्र च' इत्यादि। आशय यह है कि यदि किसी काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार एक साथ रहेगा, तब वहाँ विचार से काम लेना होगा

---

१. इस पद्य में हयग्रीव राक्षस का प्रभाव वर्णित है। इसका अर्थ इस प्रकार है—अपने इष्टजनों को सम्मान देने वाले तथा अनिष्टजनों के सम्मान को नष्ट करने वाले जिस हयग्रीव का स्वेच्छा-पूर्वक भी (न कि आक्रमण करने के लिये) अपने भवन से निकलना सुनकर घबड़ाए हुए इन्द्र के द्वारा शीघ्रता से गिरवाई गई हैं अर्गलें (कीलें) जिसमें ऐसी अमरावती (देव-पुरी) मानो भय से नेत्र मूंद ली है।

२. यह पद्य युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग का है। इसका अर्थ इस प्रकार है—सैन्य-सम्मर्द से जो धूलि उड़ी, उसकी जड़ शोणित ने काट दी अर्थात् शोणित से धरा आर्द्र हो गई जिससे भूतल से ऊपर उठती हुई धूलि का ताँता टूट गया, पर अकाश में धूलि उड़ती ही रही। (इस अवस्था में) वह धूलि ऐसी शोभित होती थी मानो आग के केवल अङ्गारे शेष रह गए हैं उससे जो पहले निकल चुका था वह धुआँ ऊपर उड़ रहा है।

३. यह गङ्गा का वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—वह गङ्गा आपकी मन्दता-अज्ञता को शीघ्र दूर करे, जल प्रायः प्रदेश के गड्ढों में छात=दुर्बल-तदितर=प्रबल, स्वतन्त्रतापूर्वक उछलते हुए, और स्वच्छ जल की परम्परा से नष्ट हो रहे हैं मोह-अज्ञान जिनके ऐसे महर्षिगण, हर्षपूर्वक जिसमें स्नान तथा दैनिक कर्म (सन्ध्यावन्दन) करते हैं और जो (गङ्गा) दीख पड़ने वाले, विशाल मेढकों का आवास स्थानभूत कन्दराओं से युक्त है और बड़े बड़े पेड़ों के द्रोह (गिराने) में अधिक-शक्तिशाली महान् तरङ्ग ही जिस (गङ्गा) का गहरा गर्व है।

अर्थात् यदि शब्द का चमत्कार प्रधान होगा तो चतुर्थ अधम काव्य में और यदि अर्थ का चमत्कार प्रधान होगा तो तृतीय मध्यम काव्य में समावेश किया जायगा। अतिरिक्त काव्यभेद मानने की आवश्यकता नहीं है।

ननु यत्र सूक्ष्मेक्षिकायामपि द्वयोरर्थ-शब्दचमत्कृत्यो तुल्यमेव, (न त्वेकस्याः कस्याश्चिन्न्यूनमधिकं वा) प्राधान्यं स्यात्, तत्र का गतिरित्याकाङ्क्षायामाख्याति—

समप्राधान्ये तु मध्यमतैव।

मध्यमता प्रागुक्तकाव्यतृतीयप्रकारत्वम्, व्यङ्ग्यचमत्कृत्यसमानाधिकरणवाच्यचमत्कृतेरुपलम्भात्। शब्दचमत्कृतिप्राधान्यस्य तूपलम्भेऽप्यविरोधित्वम्।

यदि सूक्ष्म-विचार करने पर भी प्रधानता का निर्णय न हो अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों का समान ही प्राधान्य लक्षित हो, तब क्या होगा—उसका समावेश कहाँ किया जायगा ? इसका समाधान करते हैं—'समप्राधान्ये' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि उस स्थिति में उसको मध्यम काव्य ही माना जायगा, क्योंकि व्यङ्ग्य-चमत्कार-रहित, वाच्य-चमत्कार वहाँ उपलब्ध रहेगा और शब्द-चमत्कार की प्रधानता रहने से भी कोई विरोध नहीं होगा।

चमत्कृतिद्वयतुल्यप्राधान्यमुदाहरति—

यथा—

कविरुदितं भानुमन्तं वर्णयति—

> 'उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पन्धयानां
> निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम्।
> उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
> सङ्घातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत्॥'

फुल्लानां विकसितानां, पङ्केरुहाणां कमलानां, पटलात् समूहात्, पटले समूहे वा पतन्तो निस्सरन्तः, पतन्तः प्रत्यासीदन्तो वा, ये पुष्पन्धया भ्रमराः, तेषामुल्लासो नैशकुशयकोशबन्धनमोचकत्वात्, स्वच्छन्दमरन्दभरास्वादसामग्रीसम्पादनाद्वा आनन्दः, तद्धेतुर्वा, शोकः प्रियतमविप्रयोगजन्मा चित्तवृत्तिविशेष एव तापातिशयदानाद् दावानलो वनवह्निः, तेन विकलं खिन्नं, हृदयं मनो यासां ताः शोकदावानलविकलहृदः, तासां शोकदावानलविकलहृदाम्, कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाकवधूनाम्, आश्वासनविधानान्निस्तारश्शोकसागरपारगमनं तत्सम्पादको वा, तामसानां तिमिरनिकराणां तमस्स्वभावतया तमस्विनीसञ्चरणशीलोलूकादीनां वा, उत्पातो विनाश उच्चाटनं तन्निदानं वा, उपहतं तिमिरावरणाद् विनष्टं महऽपदार्थसार्थग्राहकप्रकाशो येषां, तादृशां चक्षुषां दृशां तत्तिमिरावरणतिरोधापनात् पक्षपातः साहायकं तत्कारको वा, अयमुदीद्यमाणः, कोऽपि दीपक-खद्योतादिविलक्षणः, धाम्नां तेजसां, सङ्घातः समुदायः सूर्यः, उदयगिरेः पूर्वाचलस्य प्रान्ततः शिखरात्, प्रादुरासीत् प्रातराविरभूदित्यर्थः।

इहायमिति निर्देशेऽद्यतनभूतकाले लङ्विधिश्चिन्त्यः। वैवक्षिकत्वाङ्गीकारेण वोपपाद्यः पकाराद्यक्षरासकृदावृत्तेः 'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा। एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास इष्यते।' इति दर्पणलक्षितो वृत्त्यनुप्रासः शब्दालङ्कारः, पूर्वोक्तवर्णावृत्तेर्वृत्त्यनुप्रासस्य वैशिष्ट्यात् 'आवृत्तवर्णसम्पूर्णं वृत्त्यनुप्रासवद् वचः। ओजः स्यात्' इति प्राचीनलक्षित ओजोऽभिधानश्शब्दगुणश्च शब्दं भूषयति, तथाऽञ्जसैव स्फुटतयाऽर्थावगमात् 'यस्मादन्तःस्थितः सर्वः स्पष्टमर्थोऽवभासते। सलिलस्येव सूक्तस्य सप्रसाद इति स्मृतः' इति प्राचीनलक्षितः

प्रसादनामाऽर्थगुणः, सूर्यरूपे तेजस्सङ्घाते पुष्पन्धयोल्लासत्व–कोकसीमन्तिनीशोकनिस्तारत्व–तामसोत्पातत्व–चक्षुःपक्षपातत्वलक्षणधर्मचतुष्टयारोपात् 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः' 'माला तु पूर्ववत्' इति प्रकाशलक्षितं मालारूपकम्, उल्लासादिधर्मकारणस्य तेजःपुञ्जस्योल्लासादिकार्यैरभेदेनाभिधानात् 'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह' इति पुनर्दर्पणलक्षितो हेत्वलङ्कारो वा वाच्यार्थं प्रसाधयतीति शब्दस्यार्थस्य च चमत्कारस्तुल्यकक्ष एवेत्युभयोः प्राधान्यान्मध्यमकाव्यत्वम् । शब्देऽलङ्कारगुणयोरर्थे च गुणालङ्कारयोरुपन्यासेनात्र क्रमविपर्यासोऽवशेयः । ताद्रूप्यारोपापेक्षया तादात्म्याध्यासे विच्छित्तिविशेष इत्यर्थालङ्कारान्तरोपादानस्य निदानम् । 'यत्तूल्लासादीनां तत्कार्यत्वात् कथं रूपक'मित्यलङ्कारान्तरोपादानबीजप्रदर्शनं टीकाकृतः, तच्चिन्तनीयम्, 'मुखं चन्द्रः' इत्यादावपि बाधग्रहे जाग्रत्येव तत्त्वारोपाद् रूपकस्य सर्वसम्मतत्वात्, कार्यकारणयोरभेदस्याप्येवं बाधग्रासादलङ्कारान्तरोपादानस्याप्यसङ्गतत्वाच्च ।

शब्द और अर्थ दोनों का चमत्कार जहाँ समानरूप से प्रधान है ऐसे उदाहरण का निर्देश करते हैं—'यथा, उल्लासः' **इत्यादि । 'मयूरभट्ट' अपने सूर्यशतक नामक ग्रन्थ में उदयाचलावलम्बी प्रातः कालिक सूर्य का वर्णन करते हैं । खिले हुए कमलों के समूह से निकलते हुए अथवा खिले हुए कमलों के समूह पर गिरते हुए (रातभर मधुपान करने के कारण अथवा मधुपान की आशा से) मत्त, भ्रमरों का उल्लास, (आनन्ददायक) शोकरूप दावानल से विकल हृदय वाली चक्रवाकियों का निस्तार (प्रिय–वियोग–सम्पादक होने से शोक–कारणीभूत–रात्रि का अन्त करके दुःख का नाशक) अन्धकार के समूहों का उत्पात (नाशक) और अन्धकार के कारण जिनके तेज नष्ट हो गए हैं उन नेत्रों का पक्षपात, (सहायक) यह कोई तेजःपुञ्ज, उदयाचल के प्रान्त–भाग से प्रादुर्भूत हुआ ।**

तदेवाह—

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य, प्रसादगुणयोगादनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्यस्य, चमत्कृत्योस्तुल्यस्कन्धत्वात् सममेव प्राधान्यम् ।

लकारादीनामप्यावृत्तेर्वृत्त्यनुपप्रासस्य प्राचुर्यम् । ओजसः शब्देन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात् प्रकाशनोक्तिः । तुल्यस्कन्धत्वं साम्यम् । अन्यत् सुगमम् ।

यहां पकारादि अक्षरों की बारबार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास की प्रचुरता है और सम्पूर्ण श्लोक में उस वृत्यानुप्रास के वर्तमान रहने से इस पद्य की पदावली 'ओजगुण' को व्यक्त करती है, इसलिये इस पद्य में शब्द का चमत्कार प्रधान है और प्रसाद–गुण–युक्त होने से शब्द–श्रवण के बाद शीघ्र ज्ञात हुए 'रूपक' अथवा 'हेतु' अलङ्कार–रूप वाच्य–अर्थ का चमत्कार भी प्रधान ही है । अतः इस पद्य को मध्यम काव्य कहना उचित है ।

अथ रसध्वनिलक्षणाय समासेन ध्वनिप्रकारान् निर्देष्टुमवतरणमभिदधाति—

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासङ्ख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते—

तत्र तेषु चतुर्षु काव्यप्रकारेषु मध्ये, उत्तमोत्तमस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य ध्वनेः । असङ्ख्यभेदस्यापि विभावादिभेदानन्त्यप्रयोज्यानन्तप्रकारकत्ववद्–रसादिध्वनिघटितत्वात् प्रातिस्विकरूपेणागणनीयप्रकारस्यापि, सामान्यतोऽविशेषरूपेण, केऽपि साधारणाः, भेदाः प्रकाराः, निरूप्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इत्यर्थः ।

यद्यपि रसादिध्वनिघटितत्वाद् ध्वनिप्रकारा विशेषरूपेण सङ्ख्यातुमशक्या इति तन्निरूपणमशक्यमेव । तथापि केचन परिगणिता विवक्षितान्यपरवाच्या–विवक्षितवाच्यत्वादिसामान्यधर्मपुरस्कारेण भेदा इह निरूप्यन्त इति सारम् ।

उक्त चार प्रकार के काव्यों में 'ध्वनि' नाम का जो उत्तमोत्तम काव्य है, उसके यद्यपि असङ्ख्य-भेद हैं अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि के भेद से ध्वनि-काव्य के भेद अनन्त हो सकते हैं अतः उन सब भेदों का एक एक कर उल्लेख करना असम्भव है तथापि सामान्य-रूप से कुछ भेदों का यहां उल्लेख किया जाता है।

तानेव ध्वनिसामान्यभेदान् निरूपयति—

द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः—रस-वस्त्व-लङ्कारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्यसंलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद् रस-भाव-तदाभास-भाव-शान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानां ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च।

अन्यत्राभिधामूलत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनेः प्रथममुपादेयत्वेऽपि सूचीकटाहन्याये-नोपादानलाघवाल्लक्षणामूलस्याविवक्षितवाच्यध्वनेरेव प्रागुपादानम्। इह त्वभिधाया लक्ष-णोपजीव्यत्वात्। तन्न्यायमुपेक्ष्य प्रकृतमेव क्रममनुसृत्य तदिति न विपर्यासः। द्विविधः सामान्यरूपेणेतिशेषः। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। अभिधामूलत्वादेव विवक्षितवाच्यत्वं, लक्षणा-मूलत्वादेव चाविवक्षितवाच्यत्वमवसेयम्। तथाहि—विवक्षितो वाच्यताऽवच्छेदकरूपेणान्वय-बोधविषयत्वेनापेक्षितोऽन्यपरोव्यङ्ग्योपसर्जनीभूतो वाच्योऽर्थो यत्र, स विवक्षितान्यपरवा-च्योऽभिधामूलो ध्वनिः, पदार्थोपस्थित्यवसर एवान्वयबाधे जागरूकेऽविवक्षितो वाच्यजात्या-दिरूपेणान्वयबोधविषयतयाऽनपेक्षितो वाच्योऽर्थो यत्र, स चाविवक्षितवाच्यो लक्षणामूलो ध्वनिः। चकारः समुच्चयार्थकः। तत्र तयोर्ध्वन्योर्मध्ये। आद्योऽभिधामूलो विवक्षितान्यपर-वाच्यध्वनिः। त्रिविधो रसध्वनिर्वस्तुध्वनिरलङ्कारध्वनिश्चेति त्रिप्रकारकः। रसपदं रस्यन्त आस्वाद्यन्त इति व्युत्पत्तियोगाद् रस-भाव-रसाभास-भावाभास-भावशन्ति-भावोदय-भाव-सन्धि-भावशबलतानामुपलक्षणं प्रत्यायकम्।

अन्यत्र रसध्वनेः पश्चान्निर्दिष्टत्वेऽपीह सर्वप्राधान्यबोधनाय पूर्वनिर्देशः। द्वितीयो लक्षणा-मूलोऽविवक्षितवाच्यध्वनिः। चकारस्त्वर्थकः। पदार्थान्तरान्वययोग्यत्वायोग्यत्वाभ्यां वाच्यस्य विवक्षाविवक्षे बोध्ये।

ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अभिधामूलक और दूसरा लक्षणामूलक। उनमें प्रथम अर्थात् अभिधामूलक ध्वनि-काव्य के पुनः तीन भेद होते हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि। यहां 'रस-ध्वनि' पद, असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि (जिसमें व्यञ्जक-ज्ञान और व्यङ्ग्य-ज्ञान के बीच में होने वाला क्रम (पूर्व-पश्चाद्-भाव) लक्षित नहीं होता) का बोधक है, अतः 'रस-ध्वनि' पद से रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता सब का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वे सब असंलक्ष्य-क्रम-ध्वनि के अन्दर आ जाते हैं। द्वितीय अर्थात् लक्षणामूलक-ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—एक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और दूसरा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। (यहां यह विशेष समझना चाहिये कि 'अभिधामूलक ध्वनि को 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' और 'लक्षणामूलकध्वनि' को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहते हैं)।

रसध्वनेः प्राधान्यं शब्देन बोधयन् स्वरूपस्य निरूपणमवतारयति—

एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

एवं—पूर्वोक्तरसध्वन्यादिभिः प्रकारैः, पञ्चात्मके-पञ्चस्वरूपे, ध्वनौ (घटकत्वस्य सप्त-म्यर्थतया) ध्वनिघटकस्य, रसध्वनेः प्रथमस्य, परमरमणीयतयाऽलौकिकास्वादजनकत्वेन, तदात्मा तस्य रसादिध्वनेः, आत्मा जीवनाधायकत्वात् प्रधानम्, रसो वक्ष्यमाणस्वरूपः, तावदादौ (सर्वेभ्यः प्रथमम) अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः।

रसादिध्वनेः परमरमणीयत्वं तु 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' इतीतरव्यवच्छेदार्थमेवकारमुपनिबध्नता ध्वनिकृताऽपि प्रतिपादितम् ।

इस तरह ध्वनि-काव्य के सामान्यतः पांच भेद हैं। उनमें 'रस-ध्वनि' सबसे अधिक रमणीय (आस्वाद-जनक) होता है, इसलिये रसध्वनि की आत्मा (साररूप होने से प्रधान) जो 'रस' है, उसका निरूपण पहले करते हैं।

प्रथममाचार्याभिनवगुप्तादिसम्मतं रसस्वरूपमाह—

समुचित-ललित-सन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः, सहृदयहृदयं प्रविष्टैः, तदीयसहृदयतासहकृतेन, भावनाविशेषमहिम्ना, विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः, शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च, सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण, तत्काल-निवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा, स्वप्रकाशतया वास्तवेन, निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेवरसः ।

समुचितो रसादिप्रतीत्यनुकूलः, अत एव ललितो मनोरमः, सन्निवेशः शब्दार्थयोर्गुम्फनम्, तेन चारुणा सुन्दरेण, काव्येनोक्तलक्षणेन कविकर्मविशेषेण, समर्पितैरुपस्थापितैः, अत एव सहृदयानां सचेतसां, (न त्वसचेतसामपि) हृदयं प्रविष्टैश्चमत्कारितया मनोरमैः, तदीया तेषां सहृदयसामाजिकानां सम्बन्धिनी (तन्निष्ठा) या सहृदयता वैदग्धी (रसास्वादनचातुरी) तया सहकृतेन विहितसाहाय्येन (उपोद्वलितेन) भावनाविशेषस्य सहृदयेतरदुष्करत्वाद् विलक्षणस्य शाश्वतिकतदर्थानुसन्धानस्य, महिम्ना प्रभावेण, विगलितः प्रतीत्यविषयीभूतः शकुन्तलादिनिष्ठो दुष्यन्तरमणीत्वादिलौकिकोऽसाधारणधर्मो येषां तैः, लोकोत्तर-विभावनानुभावन-व्यभिचारणव्यापारवत्तयाऽलौकिकविभावानुभाव-व्यभिचारि(भाव)-शब्दैः(नामभिः) व्यपदेश्यैर्व्यवहार्यैः, शकुन्तलादिभिः (आदिशब्दो नायिकान्तरबोधकः) आलम्बनकारणैरालम्बनविभावाख्यैः, चन्द्रिकादिभिः (आदिना स्रक्चन्दनादिग्रहणम्) उद्दीपनकारणैरुद्दीपनविभावाख्यैः, अश्रुपातादिभिः (आदिपदेन कटाक्षभुजक्षेपादि गृह्यते) कार्यैरनुभावाख्यैः, च पुनः, चिन्तादिभिः (आदिपदं लज्जादिग्राहकम्) सहकारिभिर्व्यभिचारिभावाख्यैः, (प्रतीतिगोचरीक्रियमाणैः) सम्भूय विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धैर्मिलित्वा, प्रादुर्भावितेनोत्पादितेन, अलौकिकेन लोकोत्तरेणाद्भुतेनेति यावत्, व्यापारेण भावकत्वापरपर्यायेण भावनाविशेषरूपेण (कारणेन), तत्काले तस्मिन् भावनाधिकरण एव समये, तत्कालं वा, निवर्तितमपसारितम्, आनन्दांशस्य चिदात्मरूपस्य, आवरणमवरोधकमज्ञानं यस्य, तादृशेन (भावनाविशेषापसारित-सच्चिदानन्दस्वरूपात्माज्ञानेनेति प्रमातृविशेषणम्), अत एव-आवरणरूपाज्ञानापसारणादेव (यावत्प्रमेयप्रत्ययसम्भवात्) प्रमुष्टो लुप्तः परिमितप्रमातृत्वादिरियत्तावत् (परिच्छिन्न) पदार्थज्ञातृत्वप्रभृतिर्निजधर्मो जीवात्मनैसर्गिकधर्मो यस्य, तादृशेन, प्रमात्रा ज्ञात्रा (सहृदयेन) स्वप्रकाशतया (तादृशज्ञानस्यात्माभेदेनात्मनैव प्रति-

भासात्) प्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वेन, वास्तवेन प्रमात्मक-प्रत्यक्षविषयतया सत्येन, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेर्निजस्यात्मनः स्वरूपेणानन्देन, सहाभेदेन ('रसोऽहम्' इत्यादिप्रतीतेः) गोचरीक्रियमाणोऽनुभूयमानः, प्राक् पूर्वं जन्मान्तरेऽत्र जन्मनि च, विनिविष्टाऽन्तःकरणे प्रविष्टा, वासना रत्यादिविषयकसंस्कारविशेष एव रूपं यस्य, तादृशो रत्यादी रत्युत्साहप्रभृतिस्तत्तद्रसस्थायिभाव एव रस इत्यर्थः ।

इदमुच्यते—रजस्तमोऽभिभवेन सत्त्वगुणोत्कर्षे, श्रव्यकाव्यश्रवणेन, दृश्यकाव्याभिनयदर्शनेन वा, धन्यानां केषांचन सहृदयानां हृदये, रत्यादेः, शकुन्तला-चन्द्रिकाप्रभृतीन्यालम्बनोद्दीपनकारणानि, अश्रुपातादीनि कार्याणि, चिन्तादीनि सहकारिकारणानि च, वस्तुसौन्दर्येण चर्व्यमाणानि, सहृदयसामाजिकनिष्ठवैदग्धीपरिपोषिताया भूयोभूयोऽनुसन्धानलक्षणविलक्षण-भावनाया बलेन, लौकिकासाधारण-शकुन्तलात्व-दुष्यन्तरमणीत्वादिधर्माणां प्रमोषेऽलौकिक-साधारण-कान्तात्वादिधर्मपुरस्कारेण ज्ञायमानान्यलौकिकविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकविभावादिपदवाच्यत्वं प्रतिपद्यन्ते । तैश्च परस्परं सङ्गतेः प्रभावादलौकिको भावकत्वव्यापारः प्रादुर्भाव्यते । तेन तु व्यापारेण, सद्य एव, सच्चिदानन्दरूपस्यात्मनो दीपस्येव शरावादिरावणरूपमज्ञानमपसार्यते । अथाज्ञानस्य विगलनादेव, तस्य सचेतसः, परिच्छिन्नज्ञातृत्वमियत्तानियन्त्रितवस्तुमात्रवेदित्वमादिर्येषां, तेषु जीवधर्मेषु विनष्टेषु, समुज्जृम्भितेषु च सार्वज्ञ्यादिषु परमात्मधर्मेषु, रसस्यात्मनश्च नित्यत्वाज्ज्ञानरूपत्वादानन्दरूपत्वाच्चाभेदेन, जन्मान्तराणामेतज्जन्मनश्च वासनाख्यसंस्काररूपेण पूर्वं हृदि प्रविष्टो भोजकत्वापरपर्यायेण रसनाव्यापारेण, आस्वादपदवीं नीयमानो रत्यादिस्तत्तद्रसस्थायी भाव एव रसोऽस्ति ।

तथा चोक्तम्—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा । रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम् ॥'

'सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्दचिन्मयः । वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः । स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥'

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम् । सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत् ॥'

निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः ॥ इत्यादि ।

अब रस-निरूपण-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम 'मम्मट तथा अभिनवगुप्त' आदि विद्वानों के अभिमत-'रस'-स्वरूप का उल्लेख करते हैं—'समुचित' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अपने जीवन में मनुष्य बहुतेरे भावों का अनुभव करता है, वह कभी किसी से प्रेम करता है, तो कभी किसी का सोच, कभी किसी पर क्रोध करता है तो कभी किसी पर घृणा, कभी किसी से भय खाता है, तो कभी किसी काम में उत्साह दिखलाता है, कभी किसी पर हँसता है, तो कभी किसी बात पर आश्चर्य (विस्मय) प्रकट करता है । इसी तरह कभी वह शान्ति का अनुभव भी करता है । ये अनुभव तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु मनुष्य के हृदय में उनका संस्कार सदा के लिये अमिट हो जाता है अर्थात् वासनारूप में वे सब भाव मानवों के हृदय में सर्वदा बसने लगते हैं । वे ही वासनारूप से मानव हृदयों में बसने वाले भाव साहित्यशास्त्र में रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा, भीति, उत्साह, हास, विस्मय और शम इन नामों से स्थायीभाव कहलाते हैं, जो वस्तुतः एक प्रकार की चित्तवृत्तियां हैं, जिनका वर्णन विशदरूप से आगे स्वयं ग्रन्थकार करेंगे । जब वे स्थायीभाव 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि वेदवाक्य के अनुसार सत्य तथा विज्ञानरूप होने से स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभूत होते हैं, तब वे (स्थायीभाव) ही 'रस' संज्ञा

को प्राप्त करते हैं। उसी अवस्था में 'रसोऽहं' ऐसी प्रतीति हुआ करती है। परन्तु उन स्थायीभावों को आत्मानन्द का साथ तब तक नहीं हो सकता, न उनके साथ उनका अनुभव ही तबतक किया जा सकता, जबतक उस आनन्द स्वरूप आत्मा के ऊपर जो अज्ञान का आवरण छाया रहता है, वह हट नहीं जाय, अतः उस आवरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (क्रिया) की सृष्टि की जाती है। जिस (व्यापार) का नाम है, 'भावकत्व'। जब वह लोकोत्तर व्यापार, आनन्द-स्वरूप-आत्मा को ढकने वाले उस अज्ञानावरण को हटा देता है, तब अनुभवकर्ता में जो अल्पज्ञता रहती है, वह कुछ पदार्थों का ही ज्ञाता हो पाता है-संसार के समस्त पदार्थों का नहीं, वह नष्ट हो जाती है अर्थात् मनुष्य में जो जीवधर्म (अल्पज्ञता परस्पर का भेद-भाव आदि) रहते हैं, वे लुप्त हो जाते हैं और परमात्म-धर्म-सर्वज्ञत्व आदि जागरित हो जाते हैं। तब उस अनुभवकर्ता को आत्मानन्द के साथ रति आदि स्थायीभावों का अनुभव होने लगता है। उस लोकोत्तर 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि, विभाव, अनुभाव तथा सञ्चारीभाव परस्पर मिलकर करते हैं। अब यहां उस 'भावकत्व' व्यापार की सृष्टि करने वाले विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारी-भावों का परिचय प्राप्त करना पाठकों को आवश्यक प्रतीत होगा, अतः संक्षेप में उन भावों का परिचय कराया जाता है। आत्मानन्द के साथ अनुभूत होने पर 'रस' संज्ञा को प्राप्त करने वाले चित्त-वृत्ति-विशेष-स्वरूप, 'रति' आदि स्थायीभाव जिन कारणों से उत्पन्न होते हैं, वे उन स्थायीभावों के आलम्बन कारण कहलाते हैं, और अपने अपने आलम्बन कारणों से उत्पन्न वे स्थायीभाव, जिनसे उद्दीप्त होते हैं, वे कहलाते हैं उद्दीपन कारण। इसी प्रकार उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के उत्पन्न होने पर उनके परिणाम-स्वरूप शरीर आदि में जो कुछ विशेष प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं, वे कहलाते हैं कार्य। इसी तरह उन चित्तवृत्ति-विशेषात्मक स्थायीभावों के साथ ही कुछ और चित्तवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, जो स्थायीभावात्मक चित्तवृत्तियों की सहायता करने के कारण सहकारी कारण कहलाती हैं। उदाहरण के द्वारा ये बातें और अच्छी तरह समझी जा सकती हैं। अतः निम्नलिखित एक उदाहरण पर ध्यान दीजिये—शकुन्तला को देखकर उसके विषय में दुष्यन्त के हृदय में रति-प्रेम उत्पन्न हुआ, अतः उस रति का उत्पादक होने के नाते शकुन्तला आलम्बन कारण हुई, एकान्त स्थान चन्द्र-ज्योत्स्ना, कुसुमित कानन आदि उस प्रेम को उद्दीप्त करने वाले हुये, अतः वे तथा उसी तरह की दूसरी चीजें उद्दीपन-कारण हुईं। इस तरह प्रेम के दृढ हो जाने पर अकस्मात् शकुन्तला दुष्यन्त के लिये दुर्लभ हो गई, उसके विरह में दुष्यन्त रोने लगे उनका वह रोना उस रति का कार्य हुआ और उस प्रेम के साथ ही दुष्यन्त के हृदय में चिन्ता ने भी जन्म-ग्रहण किया—अर्थात् 'शकुन्तला कैसे मिलेगी' इत्यादि तरह की चिन्ता उस रति की सहायता करने वाली हुई, अतः वह सहकारि-कारण हुई। यह उदाहरण तो केवल शृङ्गार-रस विषयक हुआ, इसी तरह करुण आदि रसों के स्थायीभाव शोक आदि के विषय में भी समझना चाहिए। अब उक्त रीति से लोक में जो शकुन्तला प्रभृति रति आदि के आलम्बन कारण होते हैं, चन्द्रिका आदि उद्दीपन कारण होते हैं, उनसे संयोगावस्थान में रोमाञ्च आदि और वियोगावस्था में अश्रुपात आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, एवं हर्ष अथवा चिन्ता आदि रति के सहकारी भाव होते हैं, वे ही सब जब, जहाँ जिस रस का वर्णन हो, उसके उपयुक्त तथा सुन्दर शब्दों के गुम्फन से मनोहर काव्यों के द्वारा उपस्थापित होकर सहृदयों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं, तब सहृदयता तथा काव्यार्थ के पुनः-पुनः अनुसन्धानरूप भावना के प्रभाव से, लौकिक तथा असाधारण शकुन्तलात्व, दुष्यन्तत्व आदि धर्म उनमें से निकल जाते हैं और कान्तात्व आदि अलौकिक तथा साधारण धर्म उनमें आ जाते हैं, अतः जो कारण थे वे विभाव, जो कार्य थे वे अनुभाव और जो सहकारी थे वे व्यभिचारी-भाव कहलाने लगते हैं। इसी अलौकिकीकरण के लिये 'दर्पणकार' आदि आचार्यों ने काव्य में 'साधरणीकृति' नामक एक व्यापार माना है—'व्यापारोऽस्ति विभादेः नाम्ना

साधारणीकृतिः' इत्यादि। इन्हीं अलौकिक विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उत्पादित भावकत्व व्यापार से अज्ञान-रूप आवरण के भङ्ग होने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार वासनारूप में पहले से हृदय में स्थित और 'भोजकत्व अथवा रसना किंवा व्यञ्जना' नामक व्यापार से आस्वाद्य बनाया गया, रत्यादि स्थायीभाव 'रस' है।

उक्तार्थस्य प्रामाणिकत्वं प्रकटयति—

तथा चाहुः—'व्यक्तः सतैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः।' इति।

आहुरित्यत्र 'काव्यप्रकाशे मम्मटभट्टा' इति शेषः। बहुवचनेन तदुक्तौ गौरवं सूच्यते।

आचार्य मम्मट भी अपने काव्यप्रकाश में इसी बात को प्रमाणित करते हैं—'व्यक्तः' **इत्यादि। अर्थात् विभादिकों से जब स्थायीभाव (रति प्रभृति) व्यक्त होता है, तब 'रस' कहलाता है।**

कारिकाघटक 'व्यक्त' पदं विवृणोति—

व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः।

रसनाजन्यास्वादाभिन्नचैतन्यगोचरीकृत इत्यर्थः।

मम्मटोक्त कारिका में विद्यमान 'व्यक्त' पद की व्याख्या करते हैं—'व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः' **इति। 'व्यक्त होने' का अर्थ यह है कि चित् शक्ति का विषय होना—उसके द्वारा भासित होना।**

व्यक्तिरन्यत्र व्यञ्जनैव प्रसिद्धेति प्रकृतेऽपि तद्भ्रान्तेर्निरासार्थमाह—

व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।

चस्त्वर्थे। भग्नमावरणमज्ञानं यस्यास्तादृशी शुद्धा चिच्चैतन्यमास्वाद इह व्यक्तिर्न तु तदास्वाद कारणीभूता रसनावृत्तिः। सा हि—

> 'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
> रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥' इति।

दर्पणोक्तेर्व्यञ्जनाप्रकारविशेषः।

व्यक्ति पद का अर्थ अन्यत्र व्यञ्जनावृत्ति प्रसिद्ध है, अतः यहाँ भी उस पद का अर्थ वही होगा इस भ्रम के निराकरणार्थ कहते हैं—'व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्' **इति। अर्थात् व्यक्ति पद से यहाँ वह शुद्ध आस्वादनरूप चैतन्य विवक्षित है जिनका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है, न कि व्यञ्जनावृत्ति।**

निदर्शनप्रदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन्।

हेत्वर्थको हिः—

यथा शरावादिना मृत्पात्रविशेषेण, पिहित आच्छादितो दीपः (न प्रकाशयति पदार्थान् न वा स्वयं प्रकाशते) तस्यावरणस्य निवृत्तावपसरणे तु, सन्निहितान् समीपस्थान् पदार्थान् घटपटादीन्, प्रकाशयति स्वभासा लोकलोचनगोचरीकरोति, स्वयं दीपश्च, प्रकाशते दृग्विषयीभवति, एवं तथा, आत्मैव ज्ञानरूपत्वाच्चैतन्यम्, अज्ञानरूपस्यावरणस्य विनाशे, सन्निहितानन्तःकरणवृत्तितया सन्निकृष्टान्, विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धैर्विभावादिभिः संवलितान् सम्बद्धान् रत्यादिस्थायिभावान् प्रकाशयति चर्वणागोचरीकरोति, स्वयं च 'रसो वै सः' इत्यादिश्रवणा तदभेदेन प्रकाशत आस्वादविषयीभवतीत्यर्थः।

दृष्टान्त दिखला कर उक्त विषय का समर्थन करते हैं—'यथा हि' **इत्यादि। जैसे 'कशोरे' आदि से ढँका हुआ दीपक सन्निहित वस्तुओं को प्रकाशित नहीं करता है, न स्वयं**

प्रकाशित हो पाता है और उस (कशोरे आदि) ढक्कन के हट जाने पर निकटस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है तथा स्वयं भी दृष्टिगोचर होता है, इसी तरह आत्मरूप—चैतन्य, अज्ञानरूप—आवरण के हट जाने पर अन्तःकरण—वृत्ति—रूप होने से सन्निहित तथा विभावादि से मिश्रित रति आदि स्थायीभावों को प्रकाशित करता है—आस्वाद का विषय बनाता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है—'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार रति आदि से अभिन्न होकर आस्वाद का विषय होता है।

ननु 'मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्' इति परिभाषितस्यान्तःकरणस्य, ये धर्मा वासनारूपा रत्यादयः, ते साक्षादात्मना भासिता भवन्तु, ये तु घटपटादय इव विभावादयोऽन्तःकरणधर्मतो भिन्ना बाह्याः पदार्था अन्तःकरणसंयोगेन परम्परयाऽऽत्मना भासनीयाः, तेषां कथं साक्षादात्मभास्यत्वमित्याशङ्कायां व्याहरति—

अन्तःकरणधर्माणां साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः ।

साक्षिभास्यत्वं साक्षादात्मभास्यत्वम् । पञ्चम्यर्थो हेतुरग्रिमेणा 'विरुद्ध'मित्यनेनान्वेति ।

वेदान्तेऽन्तःकरणधर्मा ज्ञानादयः साक्षादात्मना भास्यत्वात् साक्षिभास्याः, बाह्यत्वादनन्तःकरणधर्मा घटपटादिपदार्थास्त्वन्तःकरणद्वारकेण पारम्परिकसम्बन्धेनात्मभास्या इत्यन्तःकरणभास्या मन्यन्ते । एवं सति प्रकृते वासनारूपाणां रत्यादीनामन्तःकरणधर्मत्वात् साक्षिभास्यत्वेऽपि, विभावादीनामन्तःकरणद्वारेण घटादीनामिव परम्परासम्बन्धेनात्मभास्यानां साक्षादात्मभास्यत्वं विरुद्धमिति न विभावनीयम् , लोके नायिकादिपदार्था घटादय इव बाह्या अपि, काव्ये लोकोत्तरविभावनादिव्यापारवत्तयाऽलौकिकाश्चर्वणावसरे रत्याद्येकीभूतास्तद्वदन्तःकरणधर्मतां भजन्तः साक्षिभास्या भवन्तीति सङ्गतेः सत्त्वादित्याकूतम् ।

'रति आदि स्थायीभावों को आत्म—चैतन्य प्रकाशित करता है' इसमें युक्ति बतलाते हैं—'अन्तःकरण' इत्यादि । तात्पर्य यह है कि वेदान्त—दर्शन के अनुसार संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं अर्थात् नहीं हैं, सत् केवल आत्मा (ब्रह्म) है, बाह्य घट, पट आदि पदार्थ, आत्मा के वृत्ति—रूप हैं अर्थात् अन्तःकरणरूप नली के द्वारा आत्मा—प्रकाश ही घट—पट—रूप में भासित होता है, और अन्तःकरण की वृत्तियाँ सुख—दुःख आदि भी आत्मा—प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं, अन्तर केवल यह होता है कि बाह्य—पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा को अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है और अन्तःकरण वृत्तियों (सुख आदि) को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती, उनको आत्मा स्वयं प्रकाशित करती है अतएव अन्तःकरण वृत्तियाँ साक्षि (आत्म) भास्य कहलाती हैं। रति आदि स्थायीभाव भी अन्तःकरण के धर्म (वृत्तियाँ) हैं अतः साक्षि—भास्य हैं—आत्मा से प्रकाशित होने वाले हैं।

तदेव दृष्टान्तद्वयदर्शनेन द्रढयति—

विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव, रङ्गरजतादीनामिव, साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम् ।

अपीरत्यादिसमुच्चायकः । स्वप्नतुरगादिः स्वप्नावस्थादृष्टान्तः, रङ्गरजतादिस्तु जाग्रद्दशादृष्टान्त इत्युभयनिर्देशः । तुरगोऽश्वः, रङ्गं रजतं च धातू ।

यथा—स्वप्नदशायां प्रत्यक्षीक्रियमाणास्तुरगादयो बाह्यपदार्थाः काल्पनिका इन्द्रियव्यापारोपरमात् साक्षादात्मनैव भास्याः । यथा वा—जाग्रद्दशायां चाकचिक्यदोषाद् रङ्गे रजतस्य भ्रान्तौ जायमानायां रजतं बाह्यं प्रातिभासिकमितीन्द्रियसंयोगशून्यं साक्षादात्मभास्य, तथैव नायिकादयोऽपि बाह्या अपि भावनावलम्बिताः साक्षादात्मभास्या इतीह न कोऽपि विरोध इति तात्पर्यम् ।

रति आदि स्थायीभाव अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षि-भास्य हो सकते हैं परन्तु विभाव आदि अर्थात् शकुन्तला प्रभृति—जो घट-पट के जैसे बाह्य-पदार्थ हैं—का केवल आत्मा के द्वारा भान कैसे होगा—साक्षिभास्य वे कैसे कहलायेंगे अर्थात् उनके भान में घट आदि बाह्य पदार्थों के जैसे आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेनी पड़ेगी, इसका उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'विभावादीनामपि' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि घोड़े, रङ्ग और रजत ये सब बाह्य पदार्थ हैं अतः साक्षिभास्य कहलाने योग्य नहीं है परन्तु सपने में जब घोड़े का ज्ञान होता है अथवा जागते में जब राँगे में रजत का भ्रम, दूरत्व तथा चाकचिक्य आदि दोषों से होता है, तब वे (घोड़े तथा रजत) साक्षिभास्य ही माने जाते हैं अर्थात् केवल आत्मा के द्वारा ही उन चीजों का भान होता है, क्योंकि उस अवस्था में वस्तुतः वे चीजें हैं नहीं केवल काल्पनिक हैं, उसी तरह उन विभावादि को भी साक्षिभास्य मानने में कोई विरोध नहीं अर्थात् शकुन्तला आदि भी भावनारूढ होने पर वास्तविक नहीं काल्पनिक ही हैं अतः उस अवस्था में उन सबों का भान भी आत्मचैतन्य-मात्र से हो सकता है बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं।

नन्वेवमात्मचैतन्याभिन्नत्वाङ्गीकारे रसस्य नित्यत्वे, 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इति सर्वानुभवगोचरौ तदुत्पत्तिविनाशौ कथमुपपादनीयाविति शङ्कां समादधाति—

व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रस उपचर्येते, वर्णनित्यतायामिव, व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ।

व्यञ्जकत्वं रसादिनिरूपितम्। चर्वणाऽऽस्वादः। आवरणभङ्गः प्रागुक्ताज्ञाननाशः। उत्पत्तिविनाशाभ्यामिति हेतौ पञ्चमी, उत्पत्तिविनाशयोः सत्त्वादिति बोधयति। उपचार आरोपः। वर्णानां नित्यता वैयाकरणानां मीमांसकानां चाभिमता। गकारादावुत्पत्तिविनाशावुपचर्येते इति सम्बन्धः।

यथा वैयाकरणादिमते 'उत्पन्नो गकारः' 'विनष्टो गकारः' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयोर्नित्येषु वर्णेषु वस्तुतोऽसम्भवात् तद्व्यञ्जककण्ठताल्वादिव्यापारेषु च सम्भवादारोपः, तथैव रसादिषु नित्येषु 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इत्यादिप्रतीतिगोचरयोरुत्पत्तिविनाशयो रसादिव्यञ्जिकायां विभावादिचर्वणायां विद्यमानयोश्चर्वणाविषयीभूतेषु रसादिष्वारोप इत्यर्थः।

रसादिव्यञ्जकविभावादिचर्वणाया रसाद्यभिन्नतया वास्तविकावुत्पत्तिविनाशौ न सम्भवत इति घटादिकार्येषु विद्यमानावुत्पत्तिविनाशौ प्रथमं कादाचित्कत्वेन साधर्म्येण रसादिचर्वणायां, पश्चात् तद्विषयतया रसादिष्वारोप्येते इति साक्षात्सम्बन्धाभावेऽप्यारोपाङ्गीकाररूपारुचेः पक्षान्तरमुपस्थापितमावरणभङ्गस्य वेति। आवरणभङ्गीयोत्पत्तिविनाशयोर्विभावादिव्यङ्ग्यरसादिचर्वणायामारोप इति तदर्थः। तथा चोक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वम्, तथापि तस्य कादाचित्कतयोपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते।' इति। 'गकारस्याताल्व्यतया ताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ' इति नोचितम्, किन्त्वक्षरसमाम्नायेऽकारस्य, स्थानेषु च कण्ठस्य प्राथम्येनोपदेशाद् 'व्यञ्जककण्ठादिव्यापारस्याकारादौ' इतीह मूले पठितुमुचितम्। तथा-व्यापारस्य = 'उत्पत्त्यादेः' इति त्वपव्याख्यानम्, वर्णोच्चारणानुकूलकण्ठाद्यभिघातक्रियाया एव तद्व्यापारपदार्थत्वादुत्पत्तेरभिव्यक्तेर्वा तज्जन्यत्वेन तद्भिन्नत्वात्।

रस को आत्म-चैतन्य-स्वरूप मानने पर 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार असङ्गत हो जायँगे क्योंकि आत्म-चैतन्य नित्य है, अतः तत्स्वरूप रस भी नित्य होगा, इस शङ्का का समाधान करते हैं—'व्यञ्जक' इत्यादि। जैसे वैयाकरणों के मत में वर्णों को नित्य मानने पर भी उनके (वर्णों के) व्यञ्जक, कण्ठ तालु आदि स्थानों के व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप वर्णों में करके 'गकार उत्पन्न हुआ,

गकार विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार रस के नित्य होने पर भी उसके (रस के) व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा अथवा आवरण-भङ्ग में होने वाले उत्पत्ति और विनाश रस में आरोपित होते हैं, जिससे 'रस उत्पन्न हुआ, विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ 'विभावादि-चर्वणा' का उल्लेख कर पुनः 'अथवा आवरण-भङ्ग' ऐसा उल्लेख इसलिये किया गया है कि रसादि-व्यञ्जक विभावादि-चर्वणा रस से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न ही है, फिर तो जैसे रस में उत्पत्ति-विनाश असम्भव है, वैसे विभावादि-चर्वणा में भी, अतः 'विभावादि-चर्वणा के उत्पत्ति-विनाश, रस में आरोपित होते हैं' ऐसा कहना अनुचित था। गकारवर्ण, व्याकरण के मत से तालुस्थानीय नहीं है अतः 'व्यञ्जकताल्वादि-व्यापारस्य गकारादौ' यह मूलपाठ सङ्गत नहीं होता, इसलिये 'व्यञ्जक-कण्ठादि-व्यापारस्य अकारादौ' ऐसा मूलपाठ मानना चाहिए क्योंकि वर्ण-समाम्नाय में अकार प्रथम है और स्थान में कण्ठ।

नन्वावरणभङ्गे जाते विभावादिचर्वणोपरतावपि, रत्यादिस्थायिनां कथं न तथाऽवभास इत्याक्षेपं क्षपयति—

विभावादिचर्वणाऽवधित्वादावरणभङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

विभावादिचर्वणाऽवधिः सीमा (तदुत्तरं तदसत्त्वात्) यस्येति बहुव्रीहिः। तस्यां विभावादिचर्वणायाम्। प्रकाशस्य चिदानन्दास्वादस्य। विद्यमानः सूक्ष्माकारेणान्तरिति शेषः। यथासमवायिकारणसत्तावधिरेव कार्यसत्ता, तथाऽऽवरणभङ्गस्तावदेव तिष्ठति, यावद् विभावादिचर्वणा भवतीति विभावादिचर्वणायां विनष्टायामावरणभङ्गेऽपि विनष्टे, ज्ञानात्मनि प्रकाशे पुनरज्ञानेनावृते, शरावपिहितदीपवदन्तस्तिष्ठतोऽपि रत्यादिस्थायिनो नास्वाद् इत्यभिप्रायः।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि जब रति आदि स्थायीभाव, वासनारूप में सदा वर्तमान रहता है, तब सर्वदा रस-रूप में उसका भान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जभी तक आत्मा के ऊपर रहने वाला आवरण अज्ञान हटा रहता है, तभी तक आत्मा, रति आदि को भासित करती है, बाद में नहीं और अज्ञान का आवरण आत्मा पर से तभी तक हटा रहता है, जब तक विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है अर्थात् जब विभाव आदि की चर्वणा समाप्त हो जाती है तब आवरण-भङ्ग भी नहीं रहता—आत्मा फिर अज्ञानावरण से ढंक जाती है, अतः उस दशा में स्थायी (रति आदि) विद्यमान रह कर भी प्रकाशित नहीं होता, जैसे दीपक के ढँक जाने पर समीप में पड़ी हुई चीजें भी प्रकाशित नहीं हो पातीं।

मतेऽस्मिन् भावकत्वव्यपारोऽधिकः कल्पनीयो भवतीत्यरुचेर्लाघवाय पक्षान्तरमुपन्यस्यति—

यद्वा—विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति यावत्।

सहृदयस्य निजसहृदयतावशात् स्ववैदग्धीबलात्, उन्मिषितेनाभ्युदितेन, विभावादीनां या चर्वणा, तस्या महिम्ना प्रभावेण (कारणेन) योगिनः समाधौ योगचरमाङ्गे निर्विकल्पनामनीव, तैस्तैश्च स्थायिभी रत्यादिभिः, उपहितं विषयतया सम्बद्धं, स्वमात्मा सच्चिदानन्दलक्षणः स्वरूपं यस्याः (अत एव) आनन्द आकारो यस्यास्तादृशी सच्चिदानन्दात्मरूपरसाभिन्ना तन्मयीभावरूपा रसात्मतादात्म्यावगाहिनी चित्तवृत्तिर्ज्ञानम् (आस्वादः) उपजायते भवतीत्यर्थः।

इहानन्दाकारेत्यस्य तद्विषयेति विवृतिर्न युक्ता, आनन्दस्य रसात्मरूपेण (न तु विषय-

तया) प्रतीतेः । तथा निर्विकल्पकसमाधावानन्दाकारकचित्तवृत्तेरभावमभिधाय समाधिपदेन सविकल्पकसमाधेरेव ग्रहणमित्यभिधानमसमञ्जसम्, आनन्दात्मचैतन्यस्य निर्बीजसमाधावपि सर्वानुमतत्वात् । अत एव रसाद्यास्वादस्य ब्रह्मास्वादसहोदरत्वं सङ्गच्छते । एवं तन्मयीभवनमित्यस्य 'आनन्दविषयतया तत्प्रचुरेत्यर्थः' इति विवरणमपि नोपपत्तिसहम्, आनन्द-रस-चैतन्यानां तादात्म्येन विषयविषयिभावासम्भवात् स्वरूपार्थ एव (न तु प्राचुर्यार्थे) मयटोऽत्र विधानौचित्यात् । श्रद्धाजाड्ये तु भेदमभ्युपेत्य सर्वमुपपादनीयमिति सुधीभिराकलनीयम् ।

अत्र मते रसात्मकतादृश-प्रतीत्युत्पत्तौ केवलं काव्यव्यञ्जनाख्यस्य रसनापरपर्याय-भोजकत्वव्यापारस्यापेक्षा, न तु भावकत्वस्यापीति स्फुटं लाघवम् । ननु भावकत्वव्यापार-मन्तरेणाज्ञानावरणनिरासो दुर्घट इति चेत्, न, यतः प्रकृत्यर्थप्रकारस्यैव भावत्वाद् भावनैव भावकत्वम् । सा च सहृदयस्य स्वीयसहृदयतासहकारेण काव्यार्थविषयिणी पूर्वोत्पन्नैव विभावादीनां साधारणीकरणं प्रमातुरावरणभङ्गं च कर्तुमीशीतेति न तदर्थभावान्तरिक-व्यापारान्तरकल्पनाऽऽवश्यकीत्याशयः ।

उक्त प्रथम पक्ष में अज्ञानावरण को हटाने के लिये एक अलौकिक व्यापार (भावकत्व) की कल्पना करनी पड़ती थी, जिससे गौरव होता था, अतः अब पक्षान्तर का उल्लेख करते हैं—'यद्वा' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि अज्ञानरूप आवरण को हटाने के लिये किसी नवीन व्यापार की कल्पना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सहृदयता की सहायता से परिपक्व बनी हुई काव्यार्थ-विषयक-भावना ही सहृदयों की आत्मा पर छाये हुए अज्ञानावरण को दूर कर देगी और विभावादि का साधारणीकरण भी करेगी, 'भावकत्व' भी तो भावना से अतिरिक्त कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता, 'प्रकृति-जन्य-बोधे प्रकारीभूतो धर्मो भाव-प्रत्ययार्थः' इस नियम के अनुसार भावकत्व का पर्यवसित अर्थ भावना ही होगा । इस लिये ऐसा समझना चाहिए कि उक्त भावना से साधारणीकृत विभावादिकों का जो आस्वादन सहृदय-जन करते हैं, उसका प्रभाव उनके ऊपर सहृदयता के कारण गहरा पड़ता है, और उस प्रभाव के द्वारा काव्यवर्ती व्यञ्जना-वृत्ति से सहृदयों के चित्तों में रति आदि स्थायीभावों से युक्त, अज्ञानावरण से मुक्त आत्मचैतन्यस्वरूप आनन्दाकार वृत्ति उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदयगण उस आनन्द में लीन हो जाते हैं-डूब जाते हैं तन्मय हो जाते हैं, जैसे योगियों के चित्तों में सविकल्पक समाधिकाल में आनन्दाकार वृत्ति होती है अर्थात् उस अवस्था में योगियों को सांसारिक किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे तब ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, उन्हीं स्थायिभावों से युक्त आनन्दाकार चित्तवृत्ति को साहित्यशास्त्र में 'रस' कहते हैं ।

नन्वस्यापि चित्तवृत्तिविशेषरूपस्यानन्दस्य लौकिकतया, लौकिक-स्रक्चन्दनाद्युपभोग-जन्यसुखेभ्योऽविशेषो विशेषो वा ? आद्ये तानि विहाय किमिति परीक्षकः सहृदयोऽस्मै प्रवर्तेत । द्वितीये को नाम स इत्याकाङ्क्षां मनसिकृत्याह—

आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात् ।

अयं पूर्वोक्तश्चित्तवृत्तिविशेषरूप आनन्दः (सुखविशेषः) ब्रह्मानन्दभिन्नत्वाल्लौकिक-सामग्रीजन्यत्वाच्च लौकिकोऽपि, यान्यन्यानि स्रक्चन्दनाद्युपभोगजन्यानि लौकिकसुखानि, तैः साधारणस्तुल्यो नास्ति (किन्तु तद्विलक्षणोऽस्ति), अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वादन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपत्वाभावात् ।

अन्येषां हि लौकिकसुखानामन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचिद्रूपत्वं, रसरूपानन्दस्य तु शुद्ध-चैतन्यरूपतयाऽन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदकरहितत्वादनवच्छिन्नत्वाच्चान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-

चैतन्यरूपत्वम्। रसात्मकानन्दानुभवे चित्तवृत्तेनरानन्दरूपतयैव परिणमनादेतदानन्दस्य तद्वृत्तिरूपावच्छेदकाभावान्निरवच्छिन्नतया, लौकिकसुखान्तरानुभवे त्वन्तःकरणवृत्तिरूपावच्छेदक-सद्भावान्निरवच्छिन्नत्वाभावान्मिथो वैलक्षण्यमिति सारम्।

यदि कोई कहे कि यह चित्त-वृत्ति-विशेषात्मक आनन्द तो अलौकिक नहीं है, अतः लौकिक सुखों से इसमें कुछ विशेष नहीं रहेगा और जब विशेष नहीं रहेगा, तब कोई अन्य लौकिक सुखों को छोड़कर इस काव्यसुख की स्पृहा क्यों करेगा, इस शंका का उत्तर देते हैं—'आनन्दो ह्ययम्' इत्यादि। यद्यपि ब्रह्मानन्द से भिन्न तथा लौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण यह पूर्वोक्त चित्तवृत्ति विशेषात्मक आनन्द (सुखविशेष) लौकिक अवश्य है, तथापि अन्य (स्रक्, चन्दन, वनितादि-उपभोग-जन्य) लौकिक सुखों के समान नहीं अपितु विलक्षण है क्योंकि अन्य लौकिक सुख अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य-स्वरूप रहते हैं अर्थात् उन सुखों के अनुभव करते समय चैतन्य का अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ सम्बन्ध रहता है, और यह रसरूप आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप नहीं अपितु शुद्ध चैतन्यस्वरूप है अर्थात् रसात्मक आनन्द के अनुभव करते समय चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है, अतः वह चित्तवृत्ति उस आनन्द का अवच्छेदक (इयत्ता-ग्राहक) नहीं हो पाती, जिससे यह आनन्द अनवच्छिन्न (इयत्ता-रहित) ही रहता है, यही अन्य लौकिक सुखों की अपेक्षा इस रसात्मक सुख में विलक्षणता है।

उपसंहरति—

इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।

इत्थमुक्तरीत्याऽभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादीनां ये ध्वन्यालोकलोचन-काव्यप्रकाशप्रभृतयो ग्रन्थास्तेषां स्वारस्येनाभिप्रेततया, भग्नमज्ञानरूपमावरणं यस्याः सा भग्नावरणा चित् (विशुद्धचैतन्यम्) तद्विशिष्टस्तद्विषयीभूतो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितं पर्यवसन्नमित्यर्थः।

काव्यप्रकाशे रसनिरूपणप्रकरणे चतुर्थस्याचार्याभिनवगुप्तमतस्यैव सर्वाभ्यर्हितत्वेनोपात्तस्य, साधारणीकृत-चैतन्यविषयीभूतरत्यादिस्थायिभाव एव रस इति सारम्।

अब अभिनवगुप्तादि सम्मत रससम्बन्धी मत का उपसंहार करते हैं—'इत्थं च' इत्यादि। इस तरह अभिनवगुप्त (ध्वन्यालोक की लोचन नामक टीका को बनाने वाले) तथा मम्मट (काव्यप्रकाश के रचयिता) आदि के ग्रन्थों के अनुसार 'अज्ञानरूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' है' यह स्थिर हुआ।

नन्वेवं रसस्य रत्यादिस्थायिरूपतया चैतन्यभिन्नत्वे, चैतन्याभेदप्रतिपादिकाः 'रसो वै सः' इत्यादिश्रुतयो विरुध्यन्तीति सिद्धान्तमतमभिदधाति—

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।

रत्यादीनां विषयतया चिदवच्छेदकत्वम्। रत्यादिविषयकं भग्नावरणं चैतन्यमेव रसो न तु चैतन्यविषयीभूतरत्यादिः, श्रुतिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गादित्याशयः।

इस प्रक्रिया के अनुसार जब रस रति-आदि स्थायीभाव के स्वरूप हुआ चैतन्य-स्वरूप नहीं, तब तो चैतन्य और रस को अभिन्न बतलाने वाली 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुति विरुद्ध हो जायगी, अतः सिद्धान्तभूत मत का उल्लेख करते हैं—'वस्तुतस्तु' इत्यादि। आशय यह है कि उक्त श्रुति के अनुरोध से रति आदि स्थायीभाव जिसके विषय हों, ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' कहना चाहिए, न कि चैतन्यविषयीभूत रत्यादि को।

मतद्वयेऽपि रसस्य नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धमेवेति दर्शयति—

सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय, नित्य स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्।

सर्वथैव–उभयथाऽपि (कल्पद्वयेऽपि) विशिष्टात्मनोऽवच्छेद्यावच्छेदकभावेन चिद्विशिष्टरत्यादिरूपाया रत्यादिविशिष्टचिद्रूपाया वा, अस्या रसादिव्यक्ते रसादिरूपतया मतायाश्रितो वा, पूर्वकल्पे रत्यादेर्विशेष्यत्वाद् विशेषणम्, उत्तरकल्पे रत्यादेर्विशेषणत्वाद् विशेष्यं वा चिदंशं चैतन्यरूपम्, आदायावलम्ब्य, नित्यत्वमुत्पत्तिविनाशराहित्यं, स्वप्रकाशत्वं प्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वं च सिद्धं निष्पन्नमित्यर्थः।

विशेषणतया विशेष्यतया वा चितोऽङ्गीकारे कल्पद्वयेऽपि रसादीनां नित्यता स्वप्रकाशता च परिहीयेतेति सारम्।

दोनों ही मतों में रस की नित्यता तथा स्वप्रकाशता सिद्ध ही है' यही बात कहते हैं— 'सर्वथैव' इत्यादि। ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रति आदि स्थायीभावों को रस कहिये अथवा रति आदि स्थायीभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को, दोनों प्रकारों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रति आदि स्थायीभाव और चैतन्य दोनों ही आंशिकरूप से हैं, अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार में चैतन्य विशेषण और रति आदि विशेष्य है और द्वितीय प्रकार में चैतन्य ही विशेष्य है और रति आदि विशेषण। दोनों ही कल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस नित्य तथा स्वप्रकाश है।

ननु यथा 'नित्यो रसः', 'स्वप्रकाशो रसः' इत्यादिव्यवहारा रसविषयका भवन्ति, तथैव 'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' 'इतरभास्यो रसः' इत्यादयोऽपि व्यवहारा ये भवन्ति, तेषां कथमुपपत्तिरिति पृच्छायां व्याहरति—

रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च।

अस्या विशेष्यं विशेषणं वेति शेषः।

अस्या रसव्यक्तेः, पूर्वस्मिन् कल्पे विशेष्यम्, परस्मिंश्च कल्पे विशेषणं रत्याद्यंशमादाय तु, अनित्यत्वमुत्पत्तिविनाशशालित्वम्, इतरभास्यत्वं परप्रकाश्यत्वं च सिद्धमित्यर्थः।

रत्यादेरनित्यत्वमितरभास्यत्वं चारोप्य रसविषयकाः प्रागुक्तव्यवहारा उपपादनीया इत्यभिसन्धिः।

'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहारों से प्रतीत होने वाली रस की अनित्यता के सम्बन्ध में कहते हैं—'रत्याद्यंश' इत्यादि। कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह चैतन्यांश को लेकर रस नित्य और स्वप्रकाश है, उसी तरह रति आदि अंश को लेकर रस अनित्य भी है और परप्रकाश भी। अतः उक्त व्यवहार भी असङ्गत नहीं कहे जा सकते।

'चर्व्यमाणो रसः' इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये चर्वणां निरूपयति—

चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराऽन्तःकरणवृत्तिर्वा।

अस्य रसस्य पूर्वकल्पे (अभिनवगुप्तादिमते) चिद्गतावरणभङ्गश्चैतन्यावरणाज्ञानध्वंस एव, वाऽथवोत्तरकल्पे (यद्वा मते) तदाकारा रत्याद्यवच्छिन्नात्मानन्दरूपाऽन्तःकरणवृत्तिश्चेतनैव चर्वणेत्यर्थः।

रसचर्वणयोस्तादात्म्यस्यान्यत्र निर्णीतत्वेन लोकोत्तरचमत्कारप्राणत्वादिह चर्वणायाः पूर्वकल्पोक्तमावरणभङ्गरूपत्वमचमत्कारित्वापत्तेर्नोचितमिति पक्षान्तरोपन्यासोऽवसेयः। उभयोस्तादात्म्ये 'रसश्चर्व्यते' इत्यादिव्यवहारास्तु भेदारोपान्निर्वाहणीयाः।

'रसः चर्व्यते' ऐसा व्यवहार प्राचीनकाल से होता आ रहा है, अतः रस की यह

चर्वणा क्या चीज है ? ऐसी जिज्ञासा स्वाभाविक थी, उसी जिज्ञासा की शान्ति के लिये चर्वणा का निर्वचन करते हैं—'चर्वणा च' इत्यादि। चैतन्य के ऊपर से अज्ञानरूप आवरण का हट जाना ही रस की चर्वणा (आस्वादन) है, अथवा अन्तःकरण की आनन्दाकार वृत्ति को रस-चर्वणा समझनी चाहिए। यहाँ अभिनवगुप्त मत की प्रथम व्याख्या के हिसाब से पूर्वकल्प और उनकी द्वितीय व्याख्या के हिसाब से उत्तरकल्प कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

इदानीं रसचर्वणाया ब्रह्मास्वाद् वैलक्षण्यं वर्णयति—

इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।

इयं पूर्वोक्ता रसचर्वणा परब्रह्मणः सच्चिदानन्दस्यास्वादो यत्र तादृशात् समाधेरसम्प्रज्ञातयोगचरमाङ्गात् (वस्तुतस्तु तत्कालोत्पद्यमानपरब्रह्मसाक्षात्कारात्) विलक्षणा भिन्ना, विभावादिभिर्विषयैर्ज्ञेयैः संवलितो विशिष्टश्चिदानन्दो रस आलम्बनं विषयो यस्यास्तत्त्वात्। च पुनरियं चर्वणा काव्यव्यापारमात्रात् केवलया व्यञ्जनया (न तु श्रवणादिव्यापारैः) भाव्योत्पाद्या भवतीत्यतोऽपि ब्रह्मसाक्षात्काराद् भिन्नेत्यर्थः।

परब्रह्मसाक्षात्कारो विषयासंवलितत्वाद् विशुद्धब्रह्मविषयकः श्रवणादिव्यापारजन्यश्च, रसास्वादस्तु विभावादिसंवलितत्वाद् विशिष्टरसविषयको व्यञ्जना(रसना)मात्रजन्यश्चेति तयोर्विषयकारणविशेषाद् विशेषो न यत्नप्रतिपाद्यः। साम्यं पुनरलौकिकनित्यानन्दचिन्मयत्वेन स्फुटम्। न च भेदाङ्गीकारे 'ब्रह्मैव रसः' 'रसो वै सः' इत्याद्यभेदप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तासामपि 'आदित्यो यूपः' इत्यादीनामिव सादृश्य एव तात्पर्यपर्यवसानात्।

अत्रापि समाधिपदस्य सविकल्पकयोगपरत्वं परोक्तं न युक्तम्, पूर्वोक्तयुक्तेः, समाधौ ब्रह्मसाक्षात्कारो न तु समाधिरेव स इति तयोर्भेदस्य सिद्धत्वेनासाध्यत्वाच्च।

ब्रह्मस्वाद से रस-चर्वणा में जो वैलक्षण्य है उसका वर्णन करते हैं—'इयं च' इत्यादि। सविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानन्दस्वाद होता है, उससे यह रस-चर्वणा (रसास्वाद) विलक्षण—भिन्न तरह की है क्योंकि रस-चर्वणा का आलम्बन विभावादि-विषयों (सांसारिक पदार्थों) से मिश्रित आत्मानन्द है और काव्य की व्यञ्जना (व्यापार) से ही यह चर्वणा होती है इसके विरुद्ध ब्रह्मानन्दास्वाद का आलम्बन, विषय-विहीन-शुद्ध आत्मानन्द है और श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप व्यापारों से वह होता है। अतः ब्रह्मास्वाद तथा रसास्वाद में कारण एवं विषय दोनों के भिन्न होने से भेद है ऐसा समझना चाहिए।

अथ रसचर्वणाया आनन्दमयत्वं वाकोवाक्येन व्यवस्थापयति—

अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मानमिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्।

अस्यां रसास्वादलक्षणायां चर्वणायाम्। पर्यनुयोगस्य प्रतिप्रश्नस्य।

यथा समाधिकालिकप्रतीतौ भवदभिमतमानन्दमानन्दस्य भानम्, तथैव रसचर्वणायामपि मदभिमतं तद् भवतीत्युभयोस्तुल्यतायाम्—'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि तादृशः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे॥' इत्युक्तेरेकस्यैव शिरसि प्रश्नसमाधानभारारोपो नोचित इति भावः।

यदि आप पूछें कि इस रसास्वाद में सुख का अंश भासित होता है इसमें प्रमाण क्या है ? तो हम पूछेंगे कि समाधि में भी सुख भासित होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? तात्पर्य यह है कि जैसे समाधि में सुख का भान मानते हैं वैसे ही रसास्वाद में भी सुख का भान मानना चाहिए।

ननु नोभयोस्तुल्यता समाधौ सुखांशमाने शब्दप्रमाणस्य जागरूकत्वादित्याह—

'सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।' इत्यादिः शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत् ।

तत्र समाधिसुखांशभाने—आत्यन्तिकं सकललौकिकसुखातिशायि, बुद्धिग्राह्यं बुद्धिमात्रवेद्यम्, अतएवातीन्द्रियं 'मनसस्तु पराबुद्धिः' इत्युक्तेन्द्रियागोचरीभूतं, यत् सुखं परमाह्लादः, तद्, अयं योगी, वेत्तिसाक्षात्करोतीत्यर्थकः शब्दो गीताषष्ठाध्याये भगवद्वाक्यं, मानमस्तीति नोभयोः साम्यमिति चेद् यदि, कथ्यत इत्यर्थः । 'वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।' इति पद्योक्तांशः ।

यदि आप कहें कि समाधि में सुख भान को 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादि गीता के शब्द प्रमाणित करते हैं अर्थात् गीता में कहा हुआ है कि 'समाधि में जो अत्यन्त सुख है, वह बुद्धि-मात्र से वेद्य है इन्द्रियों से नहीं'। इस तरह से 'समाधि में सुख का भान होता है' इसमें शब्द प्रमाण मिलता है और रसास्वाद में सुख का भान होता है इसमें तो कुछ प्रमाण नहीं मिलता ।

रसचर्वणायामपि सुखांशमाने प्रमाणद्वयं दर्शयति—

अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इत्यादिश्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाणद्वयम् ।

अत्रापि रसास्वादे सुखांशभानेऽपि, स सच्चिदानन्दरूप आत्मा, वै निश्चयेन, रसः इत्यर्थिका, हि निश्चयेन अयमात्मा, रसं, लब्ध्वाऽऽस्वाद्य, एव न त्वन्यथा आनन्दीभवति परमाह्लादरूपतां प्रतिपद्यत इत्यर्थिका च श्रुतिर्वेदः, काव्यरसास्वादसमये सकलसहृयानां सर्वविदग्धानां, प्रत्यक्षमनुभवश्चेति प्रमाणद्वयमुभे प्रमाणे स्त इति कथं न तुल्यतेत्यर्थः ।

रसास्वाद में भी सुख का भान मानने में प्रमाण है, देखिये श्रुति कहती है—'रसोवै सः' (वह आत्मा रसरूप है) और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' (रस को पाकर ही यह आनन्दरूप होता है) इस तरह से समाधि में सुखभानका प्रमापक यदि गीता का शब्द है तो रसास्वाद में उसका प्रमापक वेद-शब्द है, अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि किधर का पलरा भारी है, इतना ही नहीं, 'रसास्वाद में सुखका भान होता है' इसमें तो सकलसहृदय समाज का हृदय भी प्रबलतम दूसरा प्रमाण उपस्थित है । सभी सहृदय रसास्वाद में सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अथ रसचर्वणायाः प्रसङ्गाच्छाब्दापरोक्षज्ञानात्मकत्वं व्यवस्थापयति—

येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता, सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका ।

द्वितीयपक्षे यद्वेतिमते, या इयमुपादीयमाना, रसचर्वणा, उपन्यस्ता प्रतिपादिता, सा शब्दव्यापारभाव्यत्वादभिधाऽऽदिशब्दनिष्ठवृत्तिजन्यत्वाच्छाब्दी शाब्दबोधरूपा, अपरोक्षं प्रत्यक्षविषयीभूतं यत् सुखमानन्द आत्मलक्षणं, तदालम्बनत्वात् तद्विषयत्वाच्च, अपरोक्षात्मिका प्रत्यक्षरूपा चास्तीति शेषः ।

अब इस बात की व्यवस्था करते हैं कि रसचर्वणा शाब्दज्ञानरूप होकर भी अपरोक्षात्मक है—'येयम्' इत्यादि । 'यद्वा' मत में जो आनन्दाकार चित्तवृत्ति को रस की चर्वणा कही गई है वह (चर्वणा) शब्दके व्यञ्जना-व्यापार से उत्पन्न होती है, अतः शाब्दी अर्थात् शाब्द बोधरूप है और प्रत्यक्षसुख अर्थात् आत्मानन्द उस (चर्वणा) का आलम्भन है अतः अपरोक्षात्मक-प्रत्यक्षात्मक भी है । कहने का तात्पर्य है कि यद्यपि शाब्दबोध की

गणना परोक्षज्ञान में ही अन्यत्र की गई है तथापि रसचर्वणा शाब्दबोधरूप होकर भी प्रत्यक्षात्मक है।

दृष्टान्तोपन्यासेनैकस्या एव प्रतीतेः शाब्दत्वं प्रत्यक्षत्वं चोपपादयति—

तत्त्वं वाक्यजबुद्धिवत्।

भवेन्न्यायादिनये शाब्दत्व-प्रत्यक्षत्वयोर्विरोधः, किन्तु वेदान्तमते, वाक्यं 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुतिवाक्यं, तस्माज्जाता बुद्धिर्जीवब्रह्मैक्यप्रतीतिः, तस्या यथा वेदान्तिभिः शब्द-जन्यत्वाच्छाब्दत्वम्, अपरोक्षब्रह्मालम्बनत्वाचापरोक्ष(प्रत्यक्ष)त्वं चाङ्गीक्रियते, तथैव रसप्रतीतेरपि शाब्दत्वमपरोक्षत्वं च स्यादित्यर्थः।

एक ज्ञान में शाब्दत्व तथा प्रत्यक्षात्मकत्व दोनों कहीं कहीं रहते हैं, इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'तत्व'मित्यादि। आशय यह है कि शाब्दत्व और प्रत्यक्षत्व में विरोध नैयायिक लोग मानते हैं, वेदान्ती नहीं, वे तो—'तत्त्वमसि' इस वेद वाक्य से जो जीव तथा ब्रह्म में ऐक्य बुद्धि होती है,—उस बुद्धि को शब्दजन्य होने के कारण शाब्द और अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने से प्रत्यक्षरूप मानते हैं, उसी तरह साहित्यिक भी रसचर्वणा को प्रत्यक्ष और शाब्द दोनों मानते हैं।

आद्यमभिनवगुप्ताचार्यमतमव्यवसितमवगमयति—

इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः।

लौकिककारणादिजनितो वासनारूपेण सहृदयस्य हृदयं प्रविष्टो रत्यादिस्तत्सहृदयत्व-सहकृतभावनाप्रभावाधिगतसाधारण्यालौकिकविभावादिभाव-विभावादिप्रादुर्भावितभावनाविशे-षरूपभावकत्वव्यापारसम्पादितावरणाज्ञानध्वंसेन समुदितसार्वज्ञ्येन सहृदयेनात्मस्वरूपे-णानन्देन सहात्माभेदेनास्वाद्यमानस्तथाविधरत्याद्यास्वादो वा रस इत्यवसितस्य प्रथम-मतस्य सारम्।

यह प्रथम मत आचार्य अभिनव गुप्त का है।

अथ हृदयदर्पणादिनिर्मातुर्भट्टनायकस्य भट्टमम्मटेनाप्युपात्तं मतं द्वितीयत्वेनोपक्षिपति—

(२) भट्टनायकास्तु—ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम्। आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलाऽऽदीनां सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वात्।

ताटस्थ्येनौदासीन्येन स्वसम्बन्धराहित्येन 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्या-कारवत्त्वेनेति यावत्। अनास्वाद्यत्वमचमत्कारित्वम्। आत्मगतत्वेन स्वसम्बन्धितया 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'नित्याद्याकारवत्त्वेनेत्यनर्थान्तरम्। प्रत्यय आस्वादात्मिका प्रतीतिः। दुर्घटोऽसम्भवः। सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वाद् दुष्यन्तेतरसहृदयनिष्ठशृङ्गाररसालम्बनत्वा-भावात्।

अभिज्ञानशाकुन्तलाभिनयदर्शनावसरे यदि सामाजिकानां 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयक-रतिमा'नित्याकारिका प्रतीतिः स्यात्, तदा स्वसम्बन्धराहित्येन तस्याश्चमत्कारित्वं न स्यात् 'सर्वं खल्वात्मनः कामाय प्रियं भवति' इत्यादिश्रवणात्। तथा च तत्र रसत्वमेव न स्यात्, 'रसे सारश्चमत्कारः' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' इत्याद्युक्तेः। शकुन्तला मातृवन्मम पूज्येति ज्ञाने जागरूके, 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमा'निति प्रतीतेरप्यसम्भव इत्यर्थः।

साम्प्रदायिकास्त्वत एव सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानवसायिसाधारण्येन, विभा-वादिप्रतीतिमूरीकुर्वन्तीति—'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च॥ तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥' इत्यादिनाऽन्यत्र स्फुटम्।

अब पण्डितराज 'हृदय-दर्पण' आदि ग्रन्थों के निर्माता भट्टनायक के मत को रस-निरूपण-प्रसङ्ग में द्वितीय स्थान देते हैं—'भट्टनायकास्तु' इत्यादि। भट्टनायक का कथन है कि तटस्थभाव से अर्थात् 'दुष्यन्त शकुन्तलाविषयक रतिवाला है' इस रूप से रसकी प्रतीति होने पर उसमें आस्वाद्यता-चमत्कार नहीं होगा और जब चमत्कार ही नहीं रहेगा तब वह रस होगा ही कैसे? क्योंकि 'रसे सारश्चमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त सर्व-सम्मत है। उदासीन भाव से शकुन्तलादि रति की प्रतीति होने पर उसमें चमत्कार का न होना भी समुचित ही है क्योंकि 'सर्वं खल्वात्मनःकामाय प्रियं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार अपने में प्रतीयमान किसी के प्रेम (रति) में ही चमत्कार (आस्वाद) हो सकता है। यदि आप कहें कि अपने में ही रस की प्रतीति मानिये अर्थात् 'मैं शकुन्तला-विषयक रतिवाला हूँ' ऐसी ही प्रतीति इष्ट है, तब तो आस्वाद होने में कोई बाधा नहीं होगी, सो भी ठीक नहीं क्योंकि जब शकुन्तला आदि सामाजिकों के विभाव नहीं है—उनसे सामाजिकों का कोई नाता नहीं है, तब उक्त प्रतीति हो ही नहीं सकती अर्थात् उदासीन शकुन्तला का प्रेम अपने में समझना बन ही नहीं सकता है।

ननु विभावादिप्रतीतिं विनैव रसप्रतीतिर्भवत्वित्याशङ्कामपास्यति—

विना विभावमनालम्बनस्य रत्यादेरप्रतिपत्तेः।

अनालम्बनस्यालम्बनविभावरूपाधारशून्यस्य। आदिपदेनानुभावादिपरिग्रहः। तेषूद्दीपनादिशून्यस्येति योज्यम्।

रसादीनामुद्गमादि हि कश्चिदर्थमालम्ब्यैव भवतीति तदालम्बनादिभावमन्तरेणानुभविक्यपि रसादिप्रतीतिः सामाजिकानां न सम्भवतीति भावः।

विभाव के विना ही रस की प्रतीति मानें? सो भी संगत नहीं, कारण? आलम्बन रहित रति आदि का ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् प्रेम पात्र के अभाव में भी कोई अपने को प्रेमी समझे यह कैसे सम्भव है।

पुनराशङ्क्य निराकरोति—

न च कान्तात्वं साधारणविभावताऽवच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावताऽवच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्।

अत्रापि शकुन्तलाऽऽदिभूमिकां गृहीतवत्यां नव्यामपि, साधारणविभावताऽवच्छेदकमालम्बनविभावतासमनियतसामान्यधर्मः, कान्तात्वं नायिकात्वम्, अस्त्येव, तस्मात् तदालम्ब्यैव रसोद्गमः स्यादिति च न वाच्यम्, 'भाविज्ञानमप्रमाणम्' इति निश्चयो यद्विषयको नाभूत्, तदप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितं यद् 'इयं ममागम्या' इत्याकारकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानम्, तस्य विरहोऽभावस्तस्य, विशेष्यतैव सम्बन्धस्तदवच्छिन्ना या प्रतियोगिता तन्निरूपकस्य, (तादृशाभाववैशिष्ट्यस्य) विभावताया आलम्बनविभावतायाः, अवच्छेदकस्य समनियतधर्मस्य, कोटौ कुक्षौ, अवश्यं नियमेन, निवेश्यत्वादित्यर्थः।

ननु कल्पितशकुन्तलायामपि विभावताऽवच्छेदकसामान्यधर्मः कान्तात्वमस्त्येवेति तस्या आलम्बनविभावत्वे निर्बाधे, रसप्रतिपत्तिः स्यादेवेति चेत्, न, यतः—न केवलं कान्तात्वमालम्बनविभावताऽवच्छेदकम्, अपि तु स्वस्रादीनां तत्त्वस्य व्यवच्छेदाय, विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेनाप्रामाण्यनिश्चयाविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानाभावेन सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन विशिष्टं कान्तात्वमितीदृशकान्तात्वरूपालम्बनविभावताऽवच्छेदकस्य तत्राभावाद्रसप्रतिपत्तिर्न सम्भवतीति तात्पर्यम्।

कान्ताविशेष्यकागम्यात्वप्रकारकज्ञाने जायमानेऽपि तज्ज्ञानविषयकाप्रामाण्यनिश्चये सति न कार्यसिद्धिरित्यप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितत्वं ज्ञानविशेषणम्।

अनालिङ्गितत्वमविषयत्वम् 'ज्ञानविशेषः' इति त्वपव्याख्यानं ज्ञानविषयतयोर्भेदात्। अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं विशेष्यतया कान्तायामिति विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्तदभावोऽपेक्षितः। 'विशेष्यतासम्बन्धः समवायः' इति विवृतिरपि चिन्तनीयैव, समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशज्ञानाभावस्य सर्वत्र कान्तासु सद्भावात् तादृशाभावविशिष्टकान्तात्वस्य विभावताऽवच्छेदकोटौ निवेशेऽपि 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' इति न्यायेन न स्वस्रादेस्तत्त्वस्य परिहार इत्यापत्तेः स्फुटत्वात्। कान्तात्वस्य तादृशज्ञानाभावस्य चैकत्र कान्तायां सत्त्वात् परस्परं समानाधिकरण्यसम्बन्धः।

यदि आप कहें कि अनालम्बन रति आदि की प्रतीति नहीं हो सकती यह तो ठीक है परन्तु यहाँ आलम्बन का अभाव थोड़े ही है? शकुन्तला प्रभृति आलम्बन उपस्थित है, तब रही बात यह कि शकुन्तला आदि सामाजिकों का विभाव नहीं बन सकती सो बात भी अकिञ्चित् कर ही है क्योंकि किसी नायक को प्रेम (रति) का कारण कहलाने के लिये कान्ता–सुन्दर नायिका का होना ही पर्याप्त है और शकुन्तला आदि सुन्दर नायिकायें हैं ही फिर वे सामाजिकों की रति के आलम्बन क्यों नहीं होंगी? इसका उत्तर यह है कि केवल कान्ता होना ही नायकमात्र की रति के आलम्बन कारण बनने के लिये पर्याप्त नहीं है यदि ऐसी बात मानली जाय तब तो कान्ता होने के नाते मां बहन भी पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन कारण हो जाँय अतः यह कहना पड़ेगा कि जिस नायिका में जिस नायक को 'यह अगम्य है—सम्भोगयोग्य नहीं है' ऐसा ज्ञान न हो, वही नायिका उसी नायक की रति के आलम्बन–विभाव हो सकती है, मां बहनों में तो पुत्र भ्रातादिकों को वैसा (यह अगम्य है) ज्ञान रहता ही है अतः वे उनके प्रेम के कारण नहीं होती। एक बात और कल्पना कीजिये किसी नायिकाके सम्बन्ध में पहले किसी को यह ज्ञान हुआ कि 'यह नायिका अगम्य है' और इस ज्ञान के दूसरे क्षण में उस ज्ञान में अप्रमात्व का निश्चय हुआ अर्थात् उस नायिका को मेरा अगम्य समझना अप्रमाण है ऐसा निश्चय हुआ, तब क्या होगा? वह नायिका उसकी रति का विभाव होगी या नहीं? उत्तर 'हाँ' में ही देना होगा, यदि आप कहें कि उस नायिका में विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव तो नहीं हैं अर्थात् 'यह अगम्या है' ऐसा ज्ञान ही उस नायिका में विशेष्यता सम्बन्ध से है, फिर वह तत्पुरुषीय रति का आलम्बन विभाव कैसे होगी? बात ठीक है, इसीलिये ग्रन्थकार अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान में 'अप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गित' विशेषण लगाया है अर्थात् उस नायिका में शुद्ध अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव के न रहने पर भी अप्रमाण्य निश्चयानालिङ्गितत्वविशिष्ट उक्त ज्ञान का अभाव रहेगा, इसी तरह के अभाव को 'विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव' कहते हैं, अतः वह नायिका उस नायक के प्रेम का आलम्बन अवश्य हो सकती है। अच्छा अब प्रकृत में विचार कीजिये कि इस परिष्कार के अनुसार शकुन्तला आदि सामाजिकों की रीति के आलम्बन विभाव होगी या नहीं? उत्तर ग्रन्थकार का नकारात्मक है कारण? शकुन्तला आदि–जो पूज्य कोटि में हैं—में 'अगम्या' इत्याकारक ज्ञान ही सामाजिकों को रहता है और उस ज्ञान में कभी अप्रामाण्यनिश्चय अर्थात् 'अगम्या' यह ज्ञान मिथ्या है ऐसी धारणा भी नहीं होती, अतः विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक, अप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गित अगम्यात्वप्रकारक ज्ञानाभाव–विशिष्टकान्तात्वरूप विभावतावच्छेदकधर्म शकुन्तला आदि में नहीं है। सारांश यह कि आत्मगतत्वेन रसकी प्रतीति नहीं हो सकती—अर्थात् 'शकुन्तलाविषयक रतिवाला मैं हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं बन सकता है।

उक्तनिवेशाभावे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः ।

अन्यथा शृङ्गारालम्बनविभावताऽवच्छेदकोटावुक्तनिवेशाकरणे । स्वस्रादिपदेनागम्याङ्गनान्तरपरिग्रहः । तत्त्वं भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभावत्वम् ।

अप्रामाण्यनिश्चयविषयागम्यात्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविशिष्टकान्तात्वस्य शृङ्गारालम्बनविभावताऽवच्छेदकतयाऽनभ्युपगमे, भगिनीप्रभृत्यगम्यस्त्रीणामपि, सामान्यधर्मस्य कान्तात्वस्य सत्त्वाद्, भ्रात्रादिनिष्ठशृङ्गारालम्बनविभाववत्वमापद्येत, तस्मादुक्तनिवेश आवश्यक इत्यभिप्रायः ।

कान्तामात्र को रति का विभाव मान लेने पर जो दोष होगा, उसका उल्लेख करते हैं—'अन्यथा' इत्यादि । कहने का सारांश यह है कि रति के आलम्बन विभाव होने के लिये नायिका में जिन सब विशेषों का रहना आवश्यक बतलाया गया है, उनका अङ्गीकार यदि न किया जाय, केवल कान्तात्व को ही विभावतावच्छेदक माना जाय, अर्थात् नायिका होना ही रति के आलम्बन होने के लिये पर्याप्त समझा जाय, तब माँ बहने भी कान्ता होने के नाते पुत्र तथा भ्राता की रति के आलम्बन हो जायगीं, यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ ।

रसान्तरेष्वप्येवं निवेशस्यावश्यकतां प्रकटयति—

एवमशोच्यत्व-कापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ ।

अशोच्यत्वमशोचनीयत्वं, तच्च पुंसः सर्वथा कृतकृत्यत्वाज्जीवद्दशाजायमानविषमयातनानिवर्तनाद्वा, कापुरुषत्वं तु पौरुषोचितानाचरणात् कदाचरणाद्वा । तथाविधस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य ।

एवं शृङ्गाररसोक्तरीत्या, करुणरसादावपि विभावताऽवच्छेदकोटावशोच्यत्वकापुरुषत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसमानाधिकरणविनष्टपुरुषत्वमेवालम्बनविभावताऽवच्छेदकम् । अन्यथा विनष्टस्याशोच्यस्यापि पुरुषस्य विनष्टपुरुषत्वादिसामान्यधर्मयोगात् करुणरसालम्बनविभावत्वमापद्येत (एवमेव रसान्तरेष्वप्यूहनीयम्) इत्याशयः ।

केवल शृङ्गार रस के ही नहीं अपितु अन्य रसों के विभाव के विषय में भी उक्त प्रकार का विचार करना पड़ेगा, यही बात कहते हैं—'एवम्' इत्यादि । आशय यह है कि जैसे शृङ्गार रस में आलम्बन विभावनावच्छेदक केवल कान्तात्व को न मान कर उक्त विशेषणविशिष्ट कान्तात्व को माना गया है, उसी तरह करुण रस के विभावतावच्छेदक भी केवल मृत जनत्व को न मान कर अप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गित, अशोच्यत्व अथवा कापुरुषत्व प्रकारक ज्ञानाभावविशिष्टमृतजनत्व को मानना चाहिये, अर्थात् करुण रस का—शोक का—आलम्बन-विभाव (कारण) केवल मरा हुआ व्यक्ति विशेष नहीं हो सकता, अन्यथा वह व्यक्ति भी शोक का आलम्बन हो जायगा, जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद मरा है—जिसको जीवन मरण में कोई विशेष नहीं भासित होता था, अथवा जो कापुरुष था—निन्दित था, अर्थात् जिसके मरण से लोगों को खुशी ही होती है, अपितु वह व्यक्ति विशेष ही मृत होकर शोक का आलम्बन होता है, जिसमें 'वह अशोच्य था, कुत्सित आचरण करने वाला था' ऐसा ज्ञान हो । शेष विचार शृङ्गार रस के विभाव-निरूपण के अनुसार ही करना चाहिए ।

नन्ववच्छेदककोटिप्रवेशितस्तादृशज्ञानाभावः सुलभ इत्यत आह—

तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः ।

तादृशस्याप्रामाण्यज्ञानाविषयागम्यात्वादिप्रकारकं यज्ज्ञानं, तस्यानुत्पादोऽनुत्पत्तिः, तु

पुनः, तत्प्रतिबन्धकान्तराणां तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिरोधकानामन्येषां, निर्वचनं निरूपणम्, अन्तरेण विना, दुरुपपादो दुर्वच इत्यर्थः ।

शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वप्रकारकज्ञानं तावन्नावरुध्येत, यावदेतद्भिन्नं तत्प्रतिबन्धकं किञ्चिन्न परिकल्प्येत । तन्निवेशे तु विशिष्टविभावताऽवच्छेदकविरहात् प्रकृते रसप्रतीत्यभाव इति भावः ।

यदि आप कहें कि 'शकुन्तला आदि के विषय में सामाजिकों को 'ये हमारे लिये अगम्य हैं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा' यह कथन ठीक नहीं, मैं कहता हूँ उक्त ज्ञान सामाजिकों को नहीं उत्पन्न होगा, इस झगड़े को सुलझाने के लिये कहते हैं 'तादृश' इत्यादि । कहने का तात्पर्य यह है कि परस्त्रीमात्र के विषय में 'यह अगम्य है' ऐसा ज्ञान होना ही सत्पुरुष के लिये उचित तथा सम्भव है, सीता, शकुन्तला, दमयन्ती प्रभृति की तो बात ही क्या ? उन सबको सभी पूज्य समझते हैं, अतः उनके विषय में उक्त ज्ञान का होना अनिवार्य सा है, हाँ, निःसन्देह तब वह नहीं हो सकता, यदि उस ज्ञान की उत्पत्ति को रोक देने वाला कोई प्रतिबन्धक उपस्थित रहे, परन्तु वैसा प्रतिबन्धक कोई दृष्टि-गोचर होता नहीं, फिर तो सामाजिकों को शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान होगा ही ।

तत्र पुनराशङ्क्य समादधाति—

स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत्, न, नायके धराधौरेयत्व-धीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्व-कापुरुषत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात् ।

स्वात्मनीति सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । तथाऽगम्यात्वादिप्रकारकज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धिका । धराधौरेयत्वं भूभारवाहनक्षमत्वम् । धीरत्वं प्राज्ञतमत्वं धृतिविशेषशालित्वं वा । प्रथमेनादि-शब्देन स्वात्मनि सर्वथाऽसम्भाव्यानां प्राचीनकालवृत्तित्व-लोकोत्तरशौर्यादिगुणानां द्वितीयेन चाल्पज्ञत्वादीनां स्वदोषाणां ग्रहणम् । वैधर्म्यं विरुद्धो धर्मः । प्रतिपत्तिर्ज्ञानम् ।

स्वात्मविशेष्यकं दुष्यन्तप्रकारकमभेदसंसर्गकं 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकं सामाजिकस्य यदि जायेत, तर्हि शकुन्तलाविषयकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं सामग्रीविरहान्नैवोत्पद्येत, तत्किं तादृशज्ञानानुत्पत्तये प्रतिबन्धकान्तरकल्पनया, दुष्यन्ताभेदबुद्ध्यैवागम्यात्वप्रकारकज्ञानोत्पत्ति-प्रतिबन्धसम्भवादिति कथनं तु न सङ्गतम्, स्वात्मन्यसम्भाव्यानां धराधौरेयत्वादीनां दुष्यन्तगुणानां, दुष्यन्तेऽसम्भाव्यानामाधुनिकत्वादीनामात्मदोषाणां च मिथोविरुद्धधर्माणां ज्ञाने स्फुटं विद्यमाने, बाधितस्य स्वात्मविशेष्यकदुष्यन्ताभेदज्ञानस्योत्पत्तुमेवाशक्तत्वादित्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि शकुन्तला आदि के विषय में अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान को रोकने वाला प्रतिबन्धक आपको दृष्टिगोचर नहीं होता, यह तो आपका दृष्टि-दोष है, मैं तो प्रतिबन्धक को देखता हूँ और आपको भी दिखला सकता हूँ, 'देखिये—अभिज्ञानशाकुन्तल आदि के अभिनय देखते समय प्रत्येक सामाजिक अपने को दुष्यन्त समझता रहता है, वही दुष्यन्तादिक (जिनकी शकुन्तला आदि प्रेयसियाँ थीं) और अपने में होने वाली अभेद-बुद्धि अर्थात् 'मैं दुष्यन्त हूँ' यह बुद्धि ही शकुन्तला आदि में अगम्यात्व ज्ञान की प्रतिबन्धिका है, यह भी तर्क ठीक नहीं, क्योंकि शकुन्तला आदि के नायक दुष्यन्त आदि प्राचीन काल के धराधीश और धीर पुरुष थे और हम इस युग के क्षुद्र मानव हैं, यह विरुद्ध धर्म जब स्पष्ट प्रतीत होता रहेगा, तब 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस तरह के अभेद ज्ञान का होना ही दुर्लभ है—असम्भव है ।

ननूक्तवैधर्म्यज्ञाने कथञ्चिदजाते, जातेवेच्छामूलकमाहार्यरूपं दुष्यन्ताभेदज्ञानं भवेदेवेत्यरुचेः, प्रकारान्तरेण खण्डनमुपक्रमते—

किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः ।

किञ्चेत्यादिना प्रथमकोप्युपपादनं तत्खण्डनं च । इयं रसत्वेनाभिमता, प्रतीतिः का किमात्मिकेति प्रश्नः । प्रमाणान्तराणां प्रत्यक्षानुमानोपमानानाम् । शाब्दी शब्दजन्या शाब्दबोधरूपा । व्यावहारिकशब्दान्तराणि काव्यातिरिक्तलौकिकव्यवहारप्रयुक्ता अन्ये शब्दाः । नायकमिथुनं नायिका नायकश्च । वित्तिर्बोधः । अस्याः काव्यशब्दजन्यरसप्रतीतेः । अहृद्यत्वमचमत्कारिता ।

इदमुच्यते—रसत्वेनाभिमतेयं सामाजिकप्रतीतिः शब्दजन्यत्वादभिधाऽऽदिवृत्तिसापेक्षत्वाच्च न प्रत्यक्षम् । व्याप्तिग्रहाद्यनपेक्षणान्नानुमानम् । सादृश्यज्ञानामूलकत्वाच्च नोपमानमित्यनायत्या, शाब्दबोधस्वरूपैवाभ्युपगता स्यात् । एवं सति प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारित्वस्य सर्वसम्मतत्वादस्या अपि चमत्कारशून्यतया 'रसे सारश्चमत्कारः' इत्युक्ते रसत्वं न स्यात् । अन्यथा नायकमिथुनवृत्तान्तबोधककाव्यातिरिक्तशब्दजन्याया अचमत्कारकप्रतीतेरपि रसत्वमापद्येति भावः ।

अभिनेयकाव्यजप्रतीतेः शब्दजन्यत्वाभावाच्छब्दत्वं तु चिन्तनीयम् ।

यदि किसी कारण से उक्त विरुद्ध धर्म का ज्ञान न हो, अथवा उक्त विरुद्ध धर्म के ज्ञान होने पर भी इच्छामूलक 'दुष्यन्तोऽहम्' ऐसा आहार्यज्ञान तो हो ही सकता है क्योंकि आहार्यज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान ही बाध्यनिश्चय का प्रतिबध्य होता है, अतः प्रकारान्तर से खण्डन का उपक्रम करते हैं—'किञ्च' इत्यादि । अब हम आपसे पूछते हैं—जिसको आप रस कहते हैं वह सामाजिकों की आत्मा में होने वाली प्रतीति क्या है ? क्या उसका स्वरूप है ? शब्दजन्य तथा अभिधा आदि वृत्ति-सापेक्ष होने से वह प्रतीति प्रत्यक्ष रूप नहीं हो सकती, व्याप्तिज्ञान आदि की अपेक्षा नहीं करने से अनुमिति रूप भी उसको नहीं कह सकते, सादृश्य-ज्ञान-मूलक नहीं होते, उपमित्यात्मक भी नहीं मानी जा सकती, फिर अगत्या शब्द-प्रमाणजन्य होने से शाब्दबोधक रूप ही उस प्रतीति को कहेंगे, परन्तु सो ठीक नहीं, कारण ? प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञानों को सब लोग अचमत्कारी मानते हैं और शाब्दबोध भी प्रत्यक्षातिरिक्त है, अतः यह भी अचमत्कारी होने से रसरूप नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'रसे सारश्चमत्कारः' ऐसा सिद्धान्त है, अन्यथा दिन रात व्यवहार में आने वाले काव्य भिन्न शब्दों के द्वारा ज्ञात हुए स्त्री-पुरुषों के वृत्तान्तों का ज्ञान भी रस संज्ञा को प्राप्त कर लेगा ।

ननु सा प्रतीतिर्मानस्येव भवेदित्याशङ्कायामाह—

नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात् ।

अपिः प्रागुक्तशाब्दधीसमुच्चायकः ।

मानसी ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तिजन्यालौकिकप्रत्यक्षलक्षणाऽपि सा प्रतीतिर्न भवितुमर्हति, चिन्तया पुनःपुनरनुसन्धानरूपभावनया, उपनीतानां 'सुरभिचन्दनम्' इत्यत्र सौरभांशवदलौकिकप्रत्यक्षगोचरीकृतानां, तेषां शकुन्तलाऽऽदीनामेव पदार्थानां या मानसी प्रतीतिः, तस्याः (सकाशात्) अस्याः काव्यशब्दजरसप्रतीतेः, वैलक्षण्यस्य चमत्कृतिप्रयुक्तभेदस्य, उपलम्भादनुभवादित्यर्थः ।

अयमाशयः—सुरभिचन्दनमित्यादौ ज्ञानलक्षणालौकिकसन्निकर्षेण सौरभादीनां स्मरणमिव भानमेव भवति, न तु तत्कृतः कश्चन चमत्कारः। इह तु चमत्कारोऽपीत्युभयोः कार्यभेदाद् भेदस्यानुभवसिद्धत्वान्नैकत्स्यम्।

यदि आप उस प्रतीति को मानस अर्थात् ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति-जन्य अलौकिक प्रत्यक्षरूप कहना चाहें तो सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्ता (पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना) के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये अर्थात् समझे गये उन्हीं शकुन्तला आदि पदार्थों की मानस प्रतीति से काव्यशब्दजन्यरसप्रतीति में विलक्षणता उपलब्ध होती है अर्थात 'सुरभिचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में ज्ञानलक्षणारूप अलौकिक सम्बन्ध से होने वाले सौरभांश-ज्ञान में कोई चमत्कार अनुभूत नहीं होता और यहाँ रसात्मकप्रतीति में वह अनुभूत होता है, अतः रसात्मक प्रतीति मानस नहीं हो सकती।

नन्वेवमनुभूतिभिन्ना सा प्रतीतिः स्मृतिरेवाङ्गीक्रियतामित्यत आचष्टे—

न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात्

चकारेण प्रागुक्तशाब्दबोधादिसङ्ग्रहः। अस्तीति शेषः।

स्मरणानुभवयोः कार्यकारणभावस्य सर्वत्र निर्णीतत्वादिह शकुन्तलादिपदार्थविषयकानुभवस्य प्रागभावादस्य ज्ञानस्य न स्मरणत्वमित्याशयः।

अस्याः प्रतीतेः स्मृतिरूपताऽङ्गीकारे परोक्षात्मकतयाऽचमत्कारित्वप्रसङ्गः स्यादित्यपि न विस्मरणीयम्।

स्मृतिरूप भी रस प्रतीति को नहीं मान सकते, क्योंकि स्मृति के प्रति अनुभव कारण है अर्थात् जिन चीजों का जिस रूप में पहले अनुभव हुआ करता है उन्हीं चीजों का उस रूप में पीछे स्मरण होता है, यहाँ तो शकुन्तला आदि पदार्थों का उसरूप में पहले कभी अनुभव ही नहीं हुआ है, फिर उनका स्मरण कैसे हो सकता है?

इत्थं विकल्पान् निरस्य भट्टनायकसम्मतं रसस्वरूपमुपन्यस्यति—

तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्त-शकुन्तला-देश-काल-वयोऽवस्थाऽऽदिषु, पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना, निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण, विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः।

तस्मात्-पूर्वोक्तरीत्या प्रकारान्तरासम्भवात्। निवेदिताः-श्रव्यकाव्येऽभिधया बोधिताः, दृश्यकाव्येत्विन्द्रियसन्निकर्षेण प्रत्यक्षविषयतां नीताः। पदार्था दुष्यन्तादयो रत्यादयश्च। भावकत्वं हि साधारणीकरणलक्षणः काव्ये विभावादिव्यापारः, तदुक्तम्—

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्या सन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते॥' इति
'साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते॥' इति च।

अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा-शकुन्तलादिविषयकमगम्यात्वादिप्रकारकम् (अत एव) रसस्य ज्ञानलक्षणस्य प्रतिबन्धकत्वाद् विरोधि प्रतिकूलं, यज्ज्ञानं तस्य प्रतिबन्धद्वारा तत्प्रतिबन्धं प्राग् विधाय कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण कान्तात्वादयो ये रसानुकूला रसप्रतीत्युपयोगिनो धर्माः, तेषां पुरस्कारेण वैशिष्ट्येन। अवस्थाप्यन्ते

प्रतीतिविषयीक्रियन्ते । एवम्—उक्तभावकत्वव्यापारेण । साधारणीकृतेषु सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन (विशेषधर्मानवच्छिन्नतया) बोधितेषु । सीतादिशब्दवच्छकुन्तलाशब्दस्य पूर्वनिपात उचितः । देश उपवनादिस्थानम् । कालो वसन्तादिसमयः । वयो बाल्यादि । अवस्था संयोगविप्रयोगादिदशा । आदिपदेन रत्यादि स्थायि-लज्जादिव्यभिचारि-कटाक्षविक्षेपाद्यनुभावादीनां ग्रहणम् । पङ्क्तौ कृतकृत्यत्वाद् विरते सतीति शेषः । पूर्वव्यापारो भावकत्वम् । तृतीयत्वं भोजकत्वस्याभिधा-भावकत्वापेक्षया बोध्यम् । भोगकृत्त्वं भोजकत्वमित्यनर्थान्तरम् । निगरणमधःकरणमभिभव इति यावत् । उद्रिक्तं रजस्तमोगुणावभिभूयाविर्भूतं यत् सत्त्वं (गुणः) तज्जनितेनेति साक्षात्कारविशेषणम् । निजा स्वीया (आत्मरूपा) चित्स्वभावा चैतन्याकारा, या निर्वृतिरानन्दो विश्रान्तिर्वेद्यविषयान्तरपरिहारेणावस्थितिर्लक्षणं स्वरूपं यस्य, तादृशेन, साक्षात्कारेणापरोक्षज्ञानेन, विषयीकृतो गोचरतां नीतः । भावनयोपनीत उपस्थापितः (अत एव) साधारणात्मा सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नरूपः ।

अभिधयोपस्थापितेषु, भावकत्वेन साधारणीकृतेषु विभावादिषु, भोजकत्वेन साक्षात्कारविषयतां नीतो रत्यादिः स्थायी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यः सच्चिदानन्दरूपो रस इत्येतन्मतनिष्कर्षः ।

इस तरह से अनेक विकल्पों का खण्डन कर अब भट्टनायकाभिमत रसस्वरूप का उपपादन करते हैं—'तस्मादभिधया' इत्यादि । अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त एक भी प्रकार ठीक नहीं हो सका, अतः ऐसे समझना चाहिए कि श्रव्यकाव्य में अभिधा के द्वारा और दृश्यकाव्य में चक्षुरिन्द्रिय से पहले शकुन्तला आदि पदार्थों का बोध होता है, उसके बाद काव्य में रहने वाले 'भावकत्व' व्यापार से—शकुन्तला आदि के विषय में जो रस विरोधी 'अगम्या इयम्' इत्यादि ज्ञान होता था—वह रोक दिया जाता है और कान्तात्व आदि रसोपयोगी धर्म के साथ उन (शकुन्तला आदि) पदार्थों की उपस्थिति करा दी जाती है । इस तरह वह 'भावकत्व' व्यापार शकुन्तला, दुष्यन्त, देश, काल, वय और संयोग, वियोग आदि दशा सबको साधारण बना देता है, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं रहने देता कि जिससे रसोद्बोध में बाधा पड़े । बस, इतना कार्य करके वह व्यापार विरत हो जाता है । इसके बाद 'भोगकृत्व-भोजकत्व' नामक तृतीय काव्य व्यापार से रजोगुण और तमोगुण निगीर्ण कर लिये जाते हैं—दबा दिये जाते हैं और सत्त्वगुण उद्रिक्त-प्रवृद्ध हो जाता है, जिससे हम (सामाजिक) सांसारिक समस्त विषयों से छुटकारा पाकर अपने चैतन्यस्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते हैं, बस, उसी साक्षात्कार-आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रति आदि स्थायीभाव 'रस' कहलाता है, जिस स्थायीभाव को पूर्वोक्त 'भावकत्व-भावनाविशेष' साधारण रूप में उपस्थित कर चुका था । यहाँ यह भी एक समझ लेने की बात है कि सत्त्वगुण के उद्रेक से जो आत्मानन्द प्रकाशित होता है, उसी चैतन्यात्मक ज्ञान को 'भोग' कहते हैं, जिसके विषय बन जाने पर रति आदि स्थायी भावों की संज्ञा 'रस' पड़ती है ।

श्रुतिस्वारस्यरक्षायै प्राग्वद् विकल्पयति—

तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः ।

तत्र भोगविशिष्ट इत्यादिरूपे । उभयं भोगविषयीभूतरत्यादी रत्यादिविषयकभोगश्चेति-विकल्पनाद् द्वयम् ।

उक्तिश्रुतिविरोधरूपविनिगमकस्योपलम्भेऽपि 'विनिगमनाविरहादाह—'इत्यवतरणं तु चिन्तनीयम् ।

इस पक्ष में भी प्रथम पक्ष की तरह ही भोग किए जाते हुए अर्थात् चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायीभाव अथवा रति आदि स्थायी भावों का भोग अर्थात् रति आदि से युक्त चैतन्य ये दोनों ही 'रस' हैं ।

आस्वादात्मनोऽस्य रसभोगस्य, ब्रह्मास्वादाद् वैलक्षण्यं सादृश्यप्रदर्शनकपटेन प्रकटयति—

सोऽयं भोगो विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते ।

विषयसंवलनात्—स्वेतरविषयसम्बन्धात् । ब्रह्मास्वादस्य सविधवर्ती—निकटस्थः सदृशः (नत्वेकः) इति यावत् ।

इदमुच्यते—ब्रह्मास्वादोऽविशिष्टविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयासम्पृक्तो निर्विषयः, रसभोगस्तु विभावादिविशिष्टस्थायिविषयकत्वात् स्वभिन्नविषयसम्पृक्तः सविषय इत्युभयोर्भेदः, सच्चिदानन्दशाब्दापरोक्षसाक्षात्काररूपतया च तुल्यत्वम् । रजस्तमसोः सत्त्वेनाभिभूतत्वादनयोः साक्षात्कारयोः केवलानन्दरूपता, लौकिकसुखसाक्षात्कारे तु रजस्तमसोरनभिभवात् कदाचित् दुःखमोहयोरपि सम्भेदस्य सम्भवात् ततो भेदः, सत्त्वरजस्तमसां क्रमेण सुखदुःखमोहलक्षणपरिणतेः साङ्ख्याभिमतत्वात् ।

यह भोग—रसास्वाद, ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती-सहोदर अर्थात् सदृश कहलाता है, ब्रह्मास्वादरूप नहीं, क्योंकि यह रसास्वाद—भोग, विभाव आदि से विशिष्ट स्थायिभाव को विषय रूप में साथ रक्खे रहता है और ब्रह्मास्वाद अपने से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को विषयरूप में साथ नहीं रखता अर्थात् रसास्वाद सविषयक होता है और ब्रह्मास्वाद निर्विषयक, अतः इन दोनों में भेद है, परन्तु भेद के रहने पर भी शब्दजन्य, सच्चिदानन्दमय, अपरोक्ष—साक्षात्काररूप होने से ये दोनों समान कहलाने योग्य अवश्य हैं ।

इदानीमुपसंहरति—

एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य—'अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च ।।' इत्याहुः ।

अंशा व्यापाराः । अभिधेति लक्षणेन्द्रियसन्निकर्षयोरप्युपलक्षणम् , लाक्षणिकदृश्यकाव्ययोरनुरोधात् । भोगीकृतिर्भोगस्य निदानं भोजकत्वम् । भोगो भुक्तिरास्वाद इत्यनर्थान्तरम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'भट्टनायकाः' इत्यनेन सम्बन्धः ।

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि काव्य के तीन अंश हैं अर्थात् काव्य में तीन व्यापार रहते हैं—एक अभिधा, जिससे सर्वप्रथम काव्यार्थों को समझा जाता है, यहाँ अभिधा पद को दृश्य तथा श्रव्यकाव्य के अनुरोध से लक्षणा तथा इन्द्रिय सन्निकर्षों का भी उपलक्षण समझना चाहिए । दूसरा अंश काव्य का है—भावना या भावकत्व, जिससे शकुन्तला आदि का साधारणीकरण होता है और तीसरा अंश है भोगीकृति या भोगकृत्व अथवा भोजकत्व, जिससे रति आदि का रस रूप में आस्वादन होता है ।

अभिनवगुप्तमताद् भट्टनायकमतस्य विशेषमविशेषं च दर्शयति—

मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद् भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः । भोगस्तु व्यक्तिः । भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम् । अन्या तु सैव सरणिः ।

एतस्य भट्टनायकमतस्य, पूर्वस्मात् प्रागुक्ताद् अभिनवगुप्तस्य मताद् , भावकत्वमेव व्यापारान्तरं पूर्वोक्ताद् भिन्नो व्यापारः, तस्य स्वीकार एव विशेषो वैधर्म्यम्, अस्तीति शेषः । एवमग्रेऽपि योजनीयम् । भोगस्तु भुक्तिर्व्यक्तिर्भग्नावरणचिद्रूप आस्वाद इति यावत् । भोगकृत्त्वं भोजकत्वरूपं तु पुनः, व्यञ्जनाद् रसनाख्यवृत्तेः, अविशिष्टमविलक्षणमभिन्नमित्यनर्थान्तरम् । अन्या तदतिरिक्ता तु साऽभिनवगुप्तोक्ता, एव, न तु तद्भिन्ना, सरणिः पद्धतिरित्यर्थः ।

प्रथममते यथा व्यञ्जनाऽज्ञानावरणमपसार्य, सत्त्वोद्रेके सति, भग्नावरणचिदवच्छिन्नरत्यादि, रत्याद्यवच्छिन्न—भग्नावरणचितं वा, सच्चिदानन्दास्वादपदवीं नीत्वा रसत्वेन व्यवहारयति । तथैव द्वितीयमते भोजकत्वं सत्त्वोद्रेके सति, स्वीयभग्नावरणसच्चिदानन्दरूपेण

साक्षात्कारेण, रत्यादिं गोचरयित्वा रसत्वेन व्यवस्थापयतीति व्यञ्जनास्थानीयमेव भोजकत्वम्। केवलं भावकत्वव्यापारस्य स्वीकारो नवीन इत्याकूतम्।

ननु भावकत्वमपि न व्यापारान्तरम्, 'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः' इत्यादिना विभावादीनां साधारणीकरणाय तस्याद्यमतेऽप्यभ्युपगमादिति चेत्, उच्यते, आद्यमते विभावादीनां साधारण्यं सहृदयनिष्ठ-तदीयसहृदयत्वप्रभावित-भावनाविशेषमहिम्नैव सम्पद्यते। इह तु तदर्थं विभावादिनिष्ठस्य नूतनव्यापारस्याङ्गीकार इत्युभयोर्भेदः। 'व्यापारोऽस्ति विभावादेः' इत्याद्युक्तिस्तु द्वितीयमतानुसारिणी। तस्या आद्यमतानुसारिता तु भावकत्वस्य सहृदयभावनाविशेषरूपताऽभ्युपगमेन बोध्या।

पूर्व मत से इस मत में क्या अन्तर है इसकी समीक्षा करते हैं—'मतस्यैतस्य' इत्यादि। अभिनवगुप्त ने जिस वस्तु को 'भग्नावरणचित्' कहा है, उसी वस्तु को भट्टनायक 'भोग' कहते हैं, अर्थात् संज्ञामात्र के भेद रहने पर भी पदार्थ में कोई भेद नहीं है। भोगकृत्त्व या भोजकत्व व्यञ्जना का ही नामान्तर है क्योंकि दोनों का कार्य एक ही है अर्थात् दोनों ही सत्त्वगुणोद्रेक द्वारा अज्ञानावरण को हटा कर रसरूप आत्मानन्द का अनुभव कराते हैं। और तौर-तरीके भी प्रायः दोनों मतों में समान ही हैं, हाँ, एक विशेष इस द्वितीय मत में अवश्य है और वह है नवीन भावकत्व व्यापार का स्वीकार करना अर्थात् द्वितीय मत में साधारणीकरण के लिये एक विलक्षण भावकत्व या भावना नाम का व्यापार काव्य के शब्दों में अभिधा आदि के जैसे मान लिया गया है और प्रथम मत में सहृदयतासहकृत, काव्यार्थों का पुनः पुनः अनुसन्धानरूप भावना से ही साधारणीकरण होगा, इसके लिये काव्य शब्दों में किसी मुख्य व्यापार का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है, ऐसा उपसंहार में मान लिया गया है।

अथ तृतीयं नव्यमतमुपपादयितुमुपक्रमते—

(३) नव्यास्तु—'काव्ये नाट्ये च, कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु, व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना, कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्य-शकुन्तलादिविषयक-रत्यादिरेव रसः।'

नव्या इत्यस्य 'इत्याहुः' इत्यनेन सम्बन्धः। विभावादिषु काव्ये (नाट्यस्य पृथगुपादानात्) श्रव्यकाव्ये, च तथा नाट्ये तौर्यत्रिकमये नटाभिनेये दृश्यकाव्ये, कविना शब्दैर्नटेन चतुर्विधाभिनयैश्च प्रकाशितेषु बोधितेषु सत्सु, व्यञ्जनव्यापारेण व्यक्त्या, शकुन्तलादिरतौ शकुन्तलादिविषयकरतौ, दुष्यन्तादौ दुष्यन्ताद्यधिकरणे, सहृदयेन गृहीतायां ज्ञातायां सत्याम् अनन्तरं तदनु, सहृदयस्य या सहृदयता, तयोल्लासितस्य प्रादुर्भावितस्य, पोषितस्य वा, भावनाविशेषरूपस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनात्मकस्य, दोषस्य वक्ष्यमाणभ्रमकारणस्य, महिम्ना प्रभावेण, कल्पितमात्मन्यसदपि सत्त्वेन ज्ञातमवास्तविकं, यद् दुष्यन्तत्वं तेनावच्छादिते तदवच्छिन्नविशेष्यताभृति अज्ञानावच्छिन्ने तदभाववद्विशेष्यक-तत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपगमाद् दुष्यन्तत्वाभाववन्तमप्यात्मानं दुष्यन्तत्वेन जानाने, सहृदयस्य स्वात्मनि, शुक्तिकाशकले शुक्तिखण्डे वास्तविकरजतत्वाभाववत्यपि रजतत्वेन ज्ञायमाने, इव यथा, समुत्पद्यमानः प्रातिभासिकसत्ताश्रितत्वाज्जायमानः, अनिर्वचयो वास्तविकत्वाभावान्न सन् प्रत्यक्षगोचरत्वाच्च नासन्निति सदसद्विलक्षणतया निर्वचनानर्हः, रजतखण्डः, तथैव साक्षिभास्योऽन्तःकरणाभा-

स्यत्वात् साक्षादात्मभास्यः, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव (न तु तज्ज्ञानादि किञ्चिदन्यत्) रसोऽस्तीत्यर्थः ।

चाकचिक्यदोषेण शुक्तिखण्डे रजतभ्रमे यथाऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यश्च रजतखण्डः प्रातिभासिकसत्तां लभते, तथैव विलक्षणभावनादोषेण सहृदयस्य स्वात्मनि शकुन्तलादि-रत्यादिमद्दुष्यन्तादिभ्रमे, रत्यादिः प्रतिभासमानो रसत्वं लभत इति मतेऽस्मिन् न नवीन-व्यापारकल्पनापेक्षेति सारम् ।

अब रस के विषय में नवीन विद्वानों के तृतीय मत का प्रतिपादन करते हैं—'नव्यास्तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि श्रव्य-काव्य में कवि शब्दों के द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभावों को प्रकाशित करता है, दृश्यकाव्य में नट अभिनयों के द्वारा उनको प्रकाशित करता है, हम (समाजिकों) को श्रव्यकाव्य के पठन से और दृश्य के अवलोकन से उन विभावादिकों का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर हम काव्य की व्यञ्जना-वृत्ति से दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति का ज्ञान करते हैं अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा हम यह समझते हैं कि—'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्'—दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेमी था। इसके बाद हमारी सहृदयता हममें एक प्रकार की भावना पैदा करती है अर्थात् हम सहृदय होने के नाते दुष्यन्त आदि के सम्बन्ध में पुनः पुनः अनुसन्धान करने लग जाते हैं, और वह भावना पुनः पुनः दुष्यन्त आदि के विषय में अनुसन्धान-एक ऐसा दोष है, जिससे हमारी अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाती है, अर्थात् उस भावनारूप दोष के चलते हम अपने को दुष्यन्त समझने लगते हैं और जब हम अपने को दुष्यन्त समझ लेते हैं, तब हमें अपने को शकुन्तला का प्रेमी समझने में कोई बाधा नहीं रह जाती अर्थात् उक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुन्तला विषयक रति भी भासित होने लगती है, जैसे दूरत्व आदि दोषों के कारण जब सीप के टुकड़े अज्ञान से ढक जाते हैं—वास्तविकरूप में नहीं समझ पड़ते, तब उन टुकड़ों में ही चाकचिक्य दोष से चाँदी के टुकड़े उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थात् वे सीप के टुकड़े चाँदी के टुकड़े प्रतीत होने लगते हैं। यद्यपि न हम में शकुन्तला आदि की रति वास्तविकरूप में रहती है, न सीप के टुकड़ों में चाँदीपन तथापि साक्षी-आत्मा उनका भान करा देती है। इस तरह वे दोनों (हम में भासित होने वाली शकुन्तला आदि की रति और सीप के टुकड़ों में प्रतीयमान चाँदीपन) अनिर्वचनीय हैं, अर्थात् उनको कल्पित होने के कारण सत् नहीं कह सकते और प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने के कारण असत् भी नहीं मान सकते, अतः वे सत् असत् इन शब्दों से नहीं कहे जाने योग्य होकर अनिर्वचनीय ही सिद्ध होते हैं। बस, उक्त भावना दोष से 'मैं दुष्यन्त हूँ' इस भ्रम में पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न होने वाली, साक्षिभास्य अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति आदि स्थायीभाव ही 'रस' है।

'उत्पन्नो रसः' 'विनष्टो रसः' इत्यादिव्यवहारसिद्धये रसोत्पत्तिविनाशयोः कारणे प्रतिपादयति—

अयं च कार्यो दोषविशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य ।

अयं रसः । च पुनः । दोषविशेषस्य प्रागुक्तविलक्षणभावनायाः । कार्यो निष्पाद्यः प्रादु-र्भाव्य इति वा । तन्नाशस्य भावनाविशेषरूपदोषध्वंसस्य । नाश्यो ध्वंस्यस्तिरोधाप्यो वा ।

विलक्षणभावनायां सत्यामेव रस उत्पद्यते, तस्यां विनष्टायामेव विनश्यतीति तद्भावनायाः सत्त्वासत्त्वयोरेव रसस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः, यथा शुक्तिधर्मिकभ्रान्तेः सत्त्वासत्त्वयोरेव रजतखण्डस्योत्पत्तिविनाशव्यवहारः। इतरथा नित्ये तस्मिंस्तद्व्यवहारानुपपत्तिरित्यभिसन्धिः।

यह रस पूर्वोक्त भावनारूप दोष का कार्य है और उस दोष के नाश के अधीन ही उसका नाश है अर्थात् प्रथम और द्वितीय मत में रस को नित्य माना गया है अतः परकीय

उत्पत्ति-विनाश के आरोप से 'रस उत्पन्न हुआ, रस विनष्ट हुआ' इत्यादि व्यवहार सिद्ध किये गये हैं परन्तु इस तृतीय मत में आरोप के द्वारा उन व्यवहारों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, कारण ? रस को इस मत में स्वयम् उत्पत्ति-विनाश-शाली मान लिया गया है, उक्त दोष ही रस का उत्पादक है और उसके नाश हो जाने पर रस भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक उक्त दोष का प्रभाव हम पर रहता है, तभी तक शकुन्तला आदि की रति (जो रस है) की प्रतीति अपने में होती है और जब उस दोष का प्रभाव नष्ट हो जाता है तब उस रति की प्रतीति भी अपने में नहीं होती। ठीक भी है, बाध-निश्चय हो जाने पर भ्रम दूर हो ही जाता है, जब हम चाँदी समझकर सीप के टुकड़ों के समीप में पहुँच जाते हैं और यह समझ लेते हैं कि ये सीप के टुकड़े हैं (रजत नहीं) तब रजतत्व (चाँदीपन) की प्रतीति नहीं ही होती है।

प्रसङ्गाद् रसस्यानन्दरूपतां प्रतिपादयति—

स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखपदव्यपदेश्यो भवति।

स्वं रसस्तदुत्तरं तदव्यवहितानन्तरं भावी भविता यो लोकोत्तराह्लादो लौकिकसुखविलक्षणः परमानन्दः, तेनः, सहास्य भेदाग्रहात् 'तस्मादयं भिन्नः' इति ज्ञानाभावात् तादात्म्येन ज्ञायमानत्वात्, सुखपदेन (सुखपदस्यानन्दाद्युपलक्षकत्वेन) सुखानन्दप्रभृतिशब्देन, व्यपदेश्यो व्यवहार्यः, अयं रसो भवतीत्यर्थः।

रसानन्दयोरुत्पत्तिपौर्वापर्येण भेदेऽप्यतिसन्निकर्षाद् दूरस्थभिन्नवस्तुद्वयवद् भेदाज्ञानादैक्यव्यहार इति तात्पर्यम्।

यद्यपि यह (रस) वास्तविक में सुखरूप नहीं है, तथापि 'मैं शकुन्तला विषयक रति वाला दुष्यन्त हूँ' इत्यादि प्रतीति के बाद जो अलौकि सुख होता है, उसमें और उक्त रतिरूप रस में भेद (जो वस्तुतः है) ज्ञात नहीं होता अर्थात् उन दोनों को हम अभिन्न ही समझते हैं, अतः 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार किया जाता है।

ननु रसस्य लोकोत्तरह्लादेन सह भेदाग्रहात् व्यञ्जनासाक्षात्सम्पर्कशून्यतया व्यङ्ग्यत्वम्, अनिर्वचनीयतया वर्णनीयत्वं च न सम्भवतीत्याशङ्कायामभिधत्ते—

स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते।

स्वस्माद् रसात् (रसोत्पत्तेः) पूर्वं प्राक् (अव्यवधानेन) उपस्थितेन व्यञ्जनया प्रतीतिगोचरीभूतेन व्यङ्ग्येन, काल्पनिकत्वाभावान्निर्वचनीयेन च इत्यादिना (दुष्यन्तादिनिष्ठेन) सह, अस्य स्वात्मनिष्ठ-दोषविशेषकल्पित-रत्यादिरूपरसस्य, तदग्रहाद् भेदाज्ञानाद्, भेदाग्रहेऽपि परकीयधर्मलाभासम्भवे तु, वाऽथवा, तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद् व्यङ्ग्यरति-कल्पितरत्योरैक्यारोपात्, अयं रसः, व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्च, उच्यते कथ्यत इत्यर्थः।

सहृदयहृदये यप्राग् वासनारूपेण विनिविष्टो इत्यादिः, स व्यञ्जनागम्यो निर्वचनार्हश्च प्रसिद्धः, तेन सहास्य रसस्य भेदाग्रहादैक्यारोपाद्वा व्यङ्ग्यत्वं वर्णनीयत्वं चोपपद्यत इत्याशयः।

इसी तरह रस वस्तुतः न व्यङ्ग्य है न वर्णन करने योग्य, परन्तु इस रस के उत्पन्न होने से पूर्व व्यञ्जनावृत्ति से जो शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति आदि गृहीत-ज्ञात हुये थे, उसका और दोष के कारण अपने में भासित होने वाली, झूठी, रसरूप, शकुन्तला आदि की रति आदि का भेद ज्ञात नहीं होता अथवा उस वास्तविक और इस कल्पित रति को एक समझ लेते हैं अतः यह रस व्यङ्ग्य और वर्णनीय कहलाता है अर्थात् दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक वास्तविक रति आदि का ज्ञान वस्तुतः हमें व्यञ्जना के द्वारा होता है और उसका वर्णन भी कविगण वस्तुतः काव्यों में करते

हैं अतः वह रति आदि वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय है, अब यह कल्पित रसरूप रति आदि यदि वस्तुतः व्यञ्जना से ज्ञात न भी होता, कवि उसका वर्णन न भी करता, तथापि उस वस्तुतः व्यङ्ग्य और वर्णनीय रति से इस कल्पित रति को अभिन्न समझ लेने के कारण हम ऐसा कहते हैं कि यह व्यञ्जनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है।

सचेतसाऽऽत्मनि कल्पितस्यावच्छादकस्य दुष्यन्तत्वस्य तत्त्वमाचष्टे—

अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशेष्यताऽवच्छेदकत्वम्।

यथा सहृदयस्यात्मनि इत्यादिः काल्पनिकत्वादनिर्वचनीयः, तथैव 'शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकप्रतीतौ रत्यादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितस्वात्मनिष्ठविशेष्यताया अवच्छेदकमवच्छादकप्रतिपाद्यं दुष्यन्तत्वमपि कल्पनामात्रनिष्पन्नत्वादनिर्वचनीयमेवेति सारांशः।

जिस तरह हम सहृदय सामाजिकों में शकुन्तला आदि की रति कल्पना मात्र प्रसूत होने से अनिर्वचनीय है उसी तरह सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी काल्पनिक होने के कारण अनिर्वचनीय ही है। उस दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व अर्थात् आत्मा का अवच्छादन करना क्या वस्तु है यह भी समझ लेना चाहिए। वह यह है कि 'शकुन्तलाविषयक रति वाला मैं दुष्यन्त हूँ' इत्याकारक रत्यादि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होना ही दुष्यन्तत्व में अवच्छादकत्व है अर्थात् उक्त ज्ञान में शकुन्तला की रति 'मैं' पदार्थ में प्रकारतया–विशेषणरूप से भासित हुई है अतः उक्त ज्ञान में विशेष्य हुआ 'मैं' जो वस्तुतः दुष्यन्त नहीं है, इसलिये उस 'मैं' पदार्थ में रहने वाली विशेष्यता का अवच्छेदक–परिचायक दुष्यन्तत्व को नहीं होना चाहिये वरन 'मैं' पदार्थ में रहने वाले धर्म आत्मत्व या स्वत्व को होना चाहिये परन्तु जिस लिये मैं अपने आपको दुष्यन्त समझ रहा था, इसलिये दुष्यन्तत्व ही विशेष्यता का अवच्छेदक होगया और यही अवच्छेदक हो जाना आत्मा को अवच्छादित करना हुआ।

पर्यवसितं प्रतिवादिमतनिरासं प्रकाशयति—

एतेन 'दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्सम्बन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः। स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता।' इत्यादिकमपास्तम्।

एतेन भावनाविशेषस्य दोषत्वाङ्गीकारेण। अतत्सम्बन्धिभिः सहृदयनिष्ठरत्याद्यालम्बनत्वशून्यैः। इत्यादिकं प्रतिवादिमतमपास्तमित्यन्वयः।

विलक्षणभावनात्मकदोषप्रभावादनिर्वचनीयदुष्यन्तत्वेन ज्ञायमाने सहृदयस्यात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतेरनिर्वचनीयाया रसत्वेनाभिमताया भानं न बाधितम्, न वाऽचमत्कारीति सर्वसामञ्जस्ये, द्वितीयमतत्वेनोपन्यस्ताः परकीयाक्षेपा निरस्ता इत्यभिप्रायः।

भट्टनायक के द्वारा द्वितीय मत में उठाई गई अनेक शङ्काओं का इस मत में अवकाश नहीं रह जाता, यही दिखलाते हैं—'एतेन' इत्यादि। आशय यह है कि 'दुष्यन्त आदि में रहने वाली शकुन्तला आदि की रति रसरूप नहीं हो सकती, क्योंकि उदासीन होने से उस रति में सामाजिकों के लिये आस्वाद्यता नहीं रहती। स्वनिष्ठरति की अभिव्यक्ति उस शकुन्तला आदि से होगी ही क्यों? जिससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कहें कि अपने को दुष्यन्त आदि से अभिन्न समझ लेने पर तो शकुन्तला आदि के साथ अपना घनिष्ठ सम्बन्ध ठहर जाता है, फिर शकुन्तला आदि से स्वनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति हो सकती है, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब 'दुष्यन्त प्राचीन युग के धीर सम्राट् थे और मैं वर्तमान युग का एक साधारण मनुष्य हूँ,' 'अतः मैं दुष्यन्त से अभिन्न नहीं हो सकता'

ऐसा बाध्य-निश्चय है, तब उक्त अभेदबुद्धि हो ही नहीं सकती' इन शङ्काओं का इस मत में अवसर ही नहीं आता, क्योंकि इस मत में सहृदयतामूलक भावना विशेषरूप दोष से दुष्यन्त आदि की अभेद-बुद्धि सिद्ध की गई है, जिस (अभेद-बुद्धि) को बाध-निश्चय नहीं रोक सकता। कारण? दोषविशेषाजन्य-अर्थात् दोषमूलक जो नहीं हो उस बुद्धि के प्रति ही बाध-निश्चय को प्रतिबन्धक माना गया है।

नन्वेतन्मते दोषविशेषकल्पनैव भारायत इत्याक्षेपं समादधाति—

यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तम्, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे, तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा।

प्राचीनैरभिनवगुप्तादिभिरपि यदपि, विभावादीनां साधारण्यं शकुन्तलादीनां कान्तत्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वमुक्तम्, तदपि निसर्गतः शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मप्रकारकबोधजनकैः शकुन्तलादिशब्दैः काव्येन प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु, विलक्षणभावनात्मकदोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादं दुःखेनोपपादयितुं योग्यं यतोऽस्ति, अतोऽस्माद् विभावादिसाधारण्यसम्पादकत्वाद्धेतोः, दोषविशेषेऽवश्यकल्प्ये, तेन दोषविशेषेणैव, स्वात्मनि स्वधर्मिका दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि दुष्यन्ताभेदप्रकारकप्रतीतिरपि, सूपपादासुखेनोपपादयितुं योग्येत्यर्थः।

काव्यघटकानां शकुन्तलादिशब्दानां शकुन्तलात्वादिविशेषधर्मावच्छिन्ने शक्तत्वाच्छकुन्तलादीनां कान्तात्वादिसामान्यधर्मप्रकारकप्रतीतिविषयत्वरूपं साधारण्यं दोषविशेषप्रभावेणैव कथञ्चन भवितुमर्हतीति दोषविशेषकल्पना प्राचीनैरप्यङ्गीकृतत्वान्न नवीना। तदर्थं कल्पिते च दोषविशेषे, 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी' इति न्यायेन तेनैव शुक्तौ रजताभेदबोध इव सहृदयात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबोधोऽपि सम्पद्यत इति भावः।

दोष-विशेष की कल्पना भी इस मत की नयी चीज नहीं है, प्राचीन-मतों में भी वह कल्पना करनी पड़ती है यही बात कहते हैं—'यदपि' इत्यादि। मम्मटभट्ट आदि प्राचीन आचार्यों ने शकुन्तला प्रभृति विभावादिकों का साधरणीकरण माना है अर्थात् उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण व्यापार के बल से शकुन्तला आदि अपने व्यक्तिगत धर्म शकुन्तलात्व आदि को छोड़ कर कान्तात्व आदि साधारण धर्म के साथ सहृदयों के सामने उपस्थित होते हैं, परन्तु यह बात दोषविशेष की कल्पना किये विना बन नहीं सकती क्योंकि काव्योंमें शकुन्तला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुन्तला आदि का प्रतिपादन किया रहता है जो शब्द शकुन्तलात्वेन शकुन्तला आदि के बोधक हैं फिर कान्तात्वेन उनका बोध कैसे हो सकता है? अतः भावनारूप दोष की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी अर्थात् यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सहृदयतामूलक भावनारूप दोष के कारण ही हमें (सहृदयोंको) शकुन्तला, साधारण कान्ता के रूप में समझ पड़ती है, इस तरह जब वह दोष मानना ही पड़ा, तब उसी से सहृदयों को अपने में दुष्यन्त की अभेद-बुद्धि भी हो जायगी।

अथ प्रसङ्गात् करुणादिरसस्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतामाशङ्कते—

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्? प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्।

न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तम्, न कल्पितस्येति नायकाना-

मेव दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्, रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः, सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्।

एवमपि शृङ्गारस्याह्लादमयत्वे साधितेऽपि रतिर्यूनोः प्रीतिः, शोकस्त्वभीष्टनाशादिजन्यं वैक्लव्यम्। शोकादेरित्यादिपदेन भय-क्रोध-जुगुप्सानां ग्रहणम्। प्रत्युतोक्तवैपरीत्ये। न चेत्यादिनाऽऽवान्तरिकी शङ्का, रज्ज्वित्यादिना तदुत्तरं च निर्दिश्यते। सत्यस्य वास्तविकस्य। क्लृप्तं निश्चितम्। कल्पितस्य भ्रान्त्या भासितस्य। नायकानामित्यत्रैकवचनमुचितं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्। रज्जौ भ्रान्त्या भासितः सर्पो रज्जुसर्पः। अनुचितापतनमापत्तिः। उचिता-सङ्घटनमनुपपत्तिः। इति चेदित्यन्तं शङ्कादलम्।

प्रणयात्मिकाय रतेर्लोके नायक इव, काव्ये सहृदये सुखविशेषोत्पादकत्वाच्छृङ्गाररसस्या-नन्दमयतायाः सिद्धावपि, शोक-भय-क्रोध-जुगुप्सानां वैक्लव्यादिरूपाणां पुनर्लोक इव काव्येऽप्यनुभावकदुःखजनकत्वस्यैनौचित्यात् करुण-भयानक-रौद्र-बीभत्सरसानामानन्दम-यत्वं नोपपद्यते।

ननु लोके शोकादीनां वास्तविकत्वाद्दुःखजनकत्वमुचितम्, काव्ये तु काल्पनिकत्वात् कथं तत्त्वमिति चेत्, न, तथाऽङ्गीकारे रज्जौ भ्रान्तिभासितस्य सर्पस्याप्यवास्तविकत्वाद् भय-कम्पादिजनकताऽऽनुभविक्यपि न सिध्येत्, काव्ये रतेरपि काल्पनिकत्वेन सुखजनकता न स्यादिति शङ्कापक्षः स्थेयानिति भावः।

अब यहाँ एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि आपने 'रस यद्यपि स्वतः सुखरूप नहीं है तथापि अनिर्वचनीय रति आदि स्थायीभावस्वरूप रस की प्रतीति के बाद जो विलक्षण सुख उत्पन्न होता है, उससे उक्त रति आदिरूप रस में भेद का ज्ञान नहीं होता अतः रस को सुखरूप कहा जाता है' इस विवेचन के द्वारा जो 'अनिर्वचनीयस्थायीभावात्मकरस-प्रतीति के बाद विलक्षण सुख की उत्पत्ति' स्वीकार की है, वह सर्वांश में ठीक नहीं जंचता, क्योंकि वास्तविक शकुन्तला को रति वास्तविक दुष्यन्त में सुख-जनक होती है अतः कल्पित शकुन्तला विषयक रति, कल्पित दुष्यन्त स्वरूप सहृदयों में भी सुख को उत्पन्न कर सकती है, परन्तु वास्तविक, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा आदि तो संसार में दुःख-जनकरूप से प्रसिद्ध हैं, फिर वे जहाँ कल्पित होकर रस बनेगें, वहाँ उनसे सहृदयों में सुख कैसे उत्पन्न होगा? और वे रस सुखरूप कैसे कहलायगें? प्रत्युत उनसे जैसे वास्तविक नायक को दुःख हुआ था उसी तरह सहृदयों को भी उनसे दुःख ही होना चाहिए। यदि आप कहें कि सच्चे शोक आदि से दुःख होता है कल्पित से नहीं, अतः नायकों को जिनमें शोक आदि सत्य थे—दुःख हुआ होगा और कल्पित शोक आदि के अनुभव करने वाले सहृदयों को दुःख नहीं होता, यह तर्क भी संगत नहीं, क्योंकि हम रस्सी में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भय, कम्प होते देखते हैं, आपके हिसाब से वह नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह कि जब आप कल्पित शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति नहीं मानते, तब सहृदयों में कल्पित रति से सुख की उत्पत्ति भी नहीं माननी चाहिए, परन्तु शृङ्गाररस-स्थल में वैसा मान चुके हैं।

अभ्युपगम्य प्रथमकल्पेन समाधत्ते—

सत्यम्, शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव, करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवला-ह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकः, तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लो-कोत्तरव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव, दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्।

सत्यं यथार्थमित्यभ्युपगमः। शृङ्गाररसप्रधानानि शाकुन्तलादीनि, करुणरसप्रधानानि चोत्तररामचरितादीनि काव्यानि। केवलो दुःखासम्भिन्न आह्लाद एव, न तु दुःखमिश्रितः।

सहृदयानां हृदयं साक्षात्कारित्वात् प्रमाणं यत्र स सहृदयहृदयप्रमाणकः। कार्यानुरोधेन कारणानि कल्प्यन्त इति सिद्धान्तः। लोकोत्तरव्यापारोऽत्र मते दोषात्मा विलक्षणभावना।

यथा शाकुन्तलाद्यभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमये सहृदयानां लेशतोऽपि न दुःखानुभवः, तथैव यद्युत्तररामचरिताद्यभिनयदर्शनाद् रसास्वादसमयेऽप्यनुभवसिद्धः, तर्हि सहृदयप्रत्यक्षप्रमाणबलाद् दुःखोत्पत्त्यभावरूपकार्यानुरोधेन दोषरूपविलक्षणभावनैव तत्र (दुःखानुत्पत्तौ) प्रतिबन्धकत्वेन निर्णेया। अन्यत्रापि सुरतावसरे नखदशनाघातरूपविलक्षणव्यापारस्य सुखविशेषजनकत्वं दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं च प्रसिद्धमेव। एवं भावनया प्रतिबद्धं दुःखं तत्र नोत्पद्यत इत्याशयः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि जिस प्रकार श्रृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों से सुख उत्पन्न होता है, उसी तरह करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही उत्पन्न होता है यह बात यदि सहृदयों के हृदय के द्वारा प्रमाणित हो चुकी हो, तब 'कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए' इस नियम के अनुसार लोकोत्तर दोषात्मक उक्त भावना में आनन्द-जनकताके जैसे दुःख-प्रतिबन्धकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस तरह उक्त भावनाको आनन्दका उत्पन्न करने वाला मानते हैं, उसी तरह उसको दुःख का रोकनेवाला भी मान लेगें। सम्भोग कालीन दन्तक्षतादि व्यापार में सुख-जनकत्व तथा दुःख-प्रतिबन्धकत्व दोनों प्रसिद्ध ही हैं।

प्रतिवादिमतं सर्वथोन्मूलयितुं द्वितीयं कल्पमुपन्यस्यति—

अथ यद्याह्लाद एव दुःखमपि प्रमाणसिद्धम्, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति।

अथेति प्रश्नार्थकम्। आह्लादशब्दस्य पुंस्त्वात् प्रमाणसिद्धमित्यस्य विभक्तिविपरिणामः। प्रतिबन्धकत्वं दुःखोत्पत्तेरिति शेषः। उभयं सुखं दुःखं च।

काव्यात् सुखस्य दुःखस्य वोत्पत्तौ सहृदयहृदयानुभव एव प्रमाणमिति करुणरसप्रधानकाव्याकलनात् सहृदयः सुखमिव दुःखमप्यनुभवति, तदा कार्यानुरोधेन दुःखोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं लोकोत्तरव्यापारस्य न कल्पनीयम्, दुःखोत्पत्तेरेव तत्र सुखस्य कारणात् सुखोत्पत्तिः, दुःखस्य च कारणाद् दुःखोत्पत्तिरिति कारणभेदादेकत्र विरुद्धयोरपि सुखदुःखयोरुत्पत्तौ न बाधः।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से सुख और दुःख दोनों ही होते हैं यही बात यदि सहृदय-हृदय-द्वारा प्रमाणित होती हो, तब उक्त भावना में दुःख-प्रतिबन्धकता की कल्पना नहीं करनी चाहिये अर्थात् यह नहीं मानना चाहिये कि उक्त भावना दुःखोत्पत्ति को रोकती है। अपने-अपने कारण से सुख और दुःख दोनों होंगे अर्थात् काव्य के अलौकिक व्यापार से सुख की और शोक आदि से दुःख की उत्पत्ति होगी।

दुःखोत्पत्तिस्वीकारिणि द्वितीयमते पुनराशङ्कते—

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः ?, अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत्।

तत्र करुणरसप्रधानकाव्ये कवीनां कर्तुं सहृदयानां श्रोतुं च प्रवृत्तिः कथं स्यात्, प्रवृत्तिं प्रतीष्टसाधनत्वग्रहस्य कारणतायाः प्रसिद्धेः। प्रकृते दुःखरूपानिष्टसाधनत्वग्रहस्य सद्भावात्ततो निवृत्तेरेवौचित्यादिति पूर्वपक्षः।

अब यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि करुण आदि रस प्रधान काव्यों से दुःख की उत्पत्ति होती है, तब ऐसे काव्यों की रचना करने के लिये कवि की और सुनने के लिये सहृदयों की प्रवृत्ति क्यों होती है ? क्योंकि जब ऐसे काव्य अनिष्ट (दुःख) के साधन हैं, तब उनसे निवृत्त होना ही उचित है।

द्वितीयमत उत्तरयति—

इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।

घर्षणादिश्रमजन्यदुःखरूपानिष्टस्याल्पत्वात् सौरभशैत्यानुभवजन्यसुखरूपेष्टस्य बहुलत्वाच्च यथा चन्दनद्रवलेपे सर्वेषां निर्विचिकित्सा प्रवृत्तिर्भवति, तथैवात्रापि दुःखापेक्षया सुखस्य बाहुल्यात् प्रवृत्तिर्भवतीत्यभिप्रायः।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—'इष्टस्येति'। अर्थात् करुण आदि रसों में दुःख के होने पर भी उसकी मात्रा अल्प रहती है और सुख की मात्रा अधिक, अतः करुण आदिर स-प्रधान काव्यों में प्रवृत्ति होती है, जैसे चन्दन घिसने में अंशतः दुःख के रहने पर भी सौरभ-शीतलता आदि के अनुभव से सुख अधिक होने के कारण चन्दन-लेपन में लोगों की प्रवृत्ति होती है।

प्रथममते प्रवृत्त्युपपादनप्रयोजनाभावमाह—

केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव।

केवलाह्लादवादिनां—

'हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्। शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्। सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः॥'

इत्यादिना करुणरसप्रधानकाव्यादपि सुखमात्रोत्पत्तिवादिनां मतेऽनिष्टसाधनत्वग्रहस्यासम्भवात् तत्र प्रवृत्तिर्निष्प्रत्यूहा निर्बाधैव स्यादिति सारम्।

जो लोग उक्त भावनात्मक व्यापार को दुःख-प्रतिबन्धक मानकर करुण रस प्रधान काव्यों से भी केवल सुख ही मानते हैं उन लोगों की प्रवृत्ति में तो कोई विघ्न बाधा है ही नहीं।

ननु प्रथममते तत्र दुःखानङ्गीकारे दुःखकार्याणि कथमश्रुपातादीनि जायन्त इत्याक्षेपं समादधाति—

अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्।

अश्रुपातप्रभृतयो न केवलं दुःखादेव, अपि तु सुखादपि भवन्तीति प्रकृतेऽश्रुपातादीनामानन्दजन्यानां सम्भवान्न क्षतिः। तदुक्तम्—

'अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः।' इति।

करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी केवल आनन्द ही होता है ऐसी मान्यता वालों से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि करुण आदि रसों में भी केवल सुख ही सुख होता है, तब उसके अनुभव से अश्रुपात आदि क्यों होते हैं? इसी का उत्तर देते हैं—'अश्रुपातादयोऽपि' इत्यादि। अश्रुपात केवल दुःख से ही होता है ऐसी बात नहीं है, किसी-किसी आनन्द के अनुभव से भी वह होता है, करुण रस के अनुभव करते समय जो अश्रुपात होता है वह आनन्दातिरेक के कारण ही-दुःख के कारण नहीं।

निदर्शनदर्शनेनोक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति।

अत एव सुखादप्यश्रुपातादिसम्भवादेव। उपपद्यन्ते युज्यन्ते। जातु कदाचित्। भगवद्वर्णनश्रवणजन्य-दुःखासम्भिन्नसुखजन्यानामश्रुपातादीनां भगवद्भक्तेषु दर्शनात् केवलादप्यानन्दादश्रुपातादीनामुत्पत्तिर्निश्चितैवेतिभावः।

आनन्द से भी अश्रु-पात होता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'अत एव' इत्यादि। भगवत्-कथा-श्रवण-काल में भक्तों की आँखों से अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित होती

रहती है, वह क्या दुःख से ? नहीं दुःख का तो वहां लेश भी नहीं रहता, अत्यधिक आनन्द का ही वह फल है, उसी तरह करुणरसानुभव से होने वाला अश्रुपात आनन्दातिरेक का ही सूचक है, दुःख का नहीं।

करुणरसादावाह्लादोत्पत्तेरयोग्यतां पुनराशङ्कते—

न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादः, तदा स्वप्नादौ सन्निपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम्।

न चेति वाच्यमित्यत्रान्वेति। स्वात्मनि सहृदयस्येति शेषः। सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। स्वप्नादौ स्वप्ने व्यामोहे वा। सन्निपातादौ त्रिदोषज्वरेऽपस्मारादिरोगान्तरे वा। तदारोपे शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे। स आह्लादः। आनुभविकमनुभवप्रमाणसिद्धम्। इहापि करुणरसादावपि। तदेव दुःखमेव।

सहृदयस्य पुत्रवियोगजशोकवद्दशरथोऽहमित्याकारक-शोकादिप्रकारक-स्वात्मविशेष्यक-प्रतीतेरेव यदि करुणरसादावाह्लादः स्वीक्रियते, तर्हि स्वप्न-सन्निपातादावपि कदाचित् सहृदयस्य तादृश्याः प्रतीतेः सम्भवात् तत्राप्याह्लादः स्वीक्रियताम्, पूर्वोक्ततादात्म्यारोपस्योभयत्र तुल्यत्वात्। न च तत्राप्याह्लादोऽभ्युपगन्तुं शक्यः, स्वाप्नादितादृशबोधाद् दुःखस्यैव सर्वानुभवसिद्धत्वात्। एवं सति करुणरसादावपि तादृशप्रतीतेः केवलदुःखोत्पत्तिरेव युक्तेतिपूर्वपक्षाभिप्रायः।

यदि आप यह प्रश्न करें कि करुण आदि रसों में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि का अभेद अपने में मान लेने पर जब सहृदयों को आनन्द होता है, तब स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि रोग में अपने में शोक आदि से युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिये, परन्तु अनुभव सिद्ध तो यह है कि उन अवस्थाओं में दुःख ही होता है, अतः यहां (करुण आदि रसों में) भी केवल दुःख होना ही उचित है।

उत्तरयति—

अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति।

काव्यस्य व्यापारोऽत्र व्यञ्जनावृत्तिः। यत्प्रयोज्या व्यञ्जनाजन्यप्रतीतिविषयाः। य एव लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धाः पदार्थाः, त एव काव्ये समुपनिबद्धास्तदीयव्यञ्जनाव्यञ्जनाव्यापारमहिम्नाऽलौकिकीभूता अलौकिकं सुखमेव जनयन्ति, न तु द्रागपि दुःखमिति सर्वानुभवविरुद्धत्वात् करुणरसादौ न दुःखोत्पत्तिरित्युत्तरपक्षाशयः।

इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कहना है कि यह अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना) की महिमा है कि उसके द्वारा ज्ञात किये गये असुन्दर (दुःखजनक) शोक आदि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द को उत्पन्न करने लगते हैं।

काव्यव्यापारजप्रतीतेरलौकिकतया वैलक्षण्यमेव व्याहरति—

विलक्षणो हि कमनीयकाव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।

इतरव्यापारप्रमाणजन्यानुभवानामचमत्कारितया न कमनीयता, काव्यव्यापारजन्यास्वादरूपानुभवस्य त्वलौकिकतया चमत्कारित्वेन कमनीयतेत्युभयोर्वैलक्षण्यमित्याकूतम्।

अन्य प्रमाणों से उत्पन्न होने वाले अनुभवों की अपेक्षा काव्य के रमणीयव्यापार से उत्पन्न होने वाला आस्वाद (अनुभवविशेष) विलक्षण है। अर्थात् अन्य अनुभवों में चमत्कार नहीं होता और काव्यजन्य अनुभव में वह होता है।

नन्वास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वाभावात् कथं काव्यव्यापारजन्यत्वमित्यत आचष्टे—

जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम् ।

एवं काव्यव्यापारो व्यञ्जना, तज्जन्या या तद्व्यापारान्तररूपा भावना, तज्जन्यत्वे सति रत्यादिविषयकत्वमास्वादस्य काव्यव्यापारजन्यत्वमितिस्वीकारे रसास्वादस्य व्यञ्जनासाक्षाज्जन्यत्वविरहेऽपि तत्त्वमबाधमित्यभिप्रायः ।

यद्यपि इस मत में अलौकिक आनन्दजनक आस्वाद (रस) काव्य की व्यञ्जना से उत्पन्न नहीं होता, फिर पूर्वोक्त वाक्य के 'काव्य के व्यापार से उत्पन्न होने वाला' इस अंश का क्या अर्थ हो सकता है ? इस जिज्ञासा की शान्ति करने के लिये कहते हैं— 'जन्यत्वम्' इत्यादि । उक्त अंश का अर्थ यह है कि काव्य के व्यापार (व्यञ्जना) से उत्पन्न होने वाली उक्त दोषात्मक भावना से उत्पन्न रति आदि का आस्वाद । अतः अब उक्त अंश के अर्थ में दीख पड़ने वाली असंगति समाप्त हो गई ।

तदाह—

तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

जन्यत्वस्य परिष्कृतत्वादित्याशयः ।

इस तरह से व्याख्या कर देने पर यदि रसास्वाद साक्षात् काव्यव्यापारव्यञ्जना से उत्पन्न होने वाला नहीं भी है, तथापि कोई क्षति नहीं ।

अत्रापि प्रागुक्तदोषमुद्धरन् नव्यमतमुपसंहरति—

शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते । इत्याहुः ।

शकुन्तलादिविशेष्यकमगम्यात्वप्रकारकं रसविरोधिज्ञानं सहृदयस्य, 'दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारकेण स्वात्मविशेष्यक-दुष्यन्ताभेदप्रकारक-ज्ञानेन प्रतिबद्धं नोत्पत्तुं तत्र शक्नुयादिति तृतीयं नव्यानां मतं सम्पूर्णम् ।

मतेऽस्मिन् प्राचीनैरेवाङ्गीकृताया भावनाया दोषत्वस्य, रसानां प्रातिभासिकत्वेनानिर्वचनीयत्वस्य चाङ्गीकृतिः, न तु व्यापारान्तरस्य नवीनस्य कल्पनेति लाघवम् ।

अब रही एक बात और वह यह कि शकुन्तला आदि में 'यह मेरे लिये अगम्य है' यह ज्ञान हम सहृदयों को क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि दोषात्मक भावना से जो दुष्यन्त आदि की अभेद बुद्धि अपने में हम लोगों को होती है, उसी बुद्धि से उक्त अगम्यात्वज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् जब हम स्वयं दुष्यन्त बन जाते हैं, तब फिर शकुन्तला को स्वसंभोग योग्य नहीं समझें, यह असम्भव है ।

अथ चतुर्थं परकीयमतमुपन्यस्यति—

(४) परे तु—व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि, प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः ।

तुरीयं मतमिदम् । परेत्विति वदन्तीत्यनेनान्वेति ।

व्यञ्जनव्यापारस्य दुष्यन्तादिनिष्ठ-शकुन्तलादिविषयकरतिग्राहकस्य, अनिर्वचनीयख्यातेः 'साक्षिभास्यः सदसद्विलक्षणः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः' इत्यनुभवविषयीभूतानिर्वचनीयत्वस्य च तृतीयमतेऽङ्गीकृतस्य, अनभ्युपगमेऽनङ्गीकारेऽपि, प्राक् तृतीयमते उक्तस्य दोषस्य भावनाविशेषस्य, महिम्नाप्रभावेणैव, स्वात्मनि स्वात्मविशेष्यकः, दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही दुष्यन्ताद्यभेदविषयकः, शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधः शकु-

न्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदप्रकारको 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारको यो मानसो मनस्सन्निकर्षजन्मा, काव्यार्थस्य भावनाया जन्म यस्य तादृशः, विलक्षणविषयताशाली लोकोत्तर इत्यादिनिष्ठविषयतानिरूपकः, बोध आस्वादः, स एव रस इत्यर्थः।

अब रस के विषय में अन्य विद्वानों के चतुर्थ मत का विवेचन करते हैं—'परे तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि व्यञ्जना व्यापार के जिसे प्राचीन तथा नवीन सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में अवश्य मानते हैं) और अनिर्वचनीय ख्याति के (जिसे नवीन विद्वान् मानते हैं) मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अर्थात् रस को व्यङ्ग्य अथवा अनिर्वचनीय मानना आवश्यक नहीं है। फिर रस है क्या? सुनिये—तृतीय मत में जिस भावनात्मक दोष की चर्चा की गई है, उसके प्रभाव से सहृदयों को एक प्रकार का मानस-मनःसन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला (जिसमें बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं पड़ती) ज्ञान होता है, वही (ज्ञान) 'रस' है। उस ज्ञान में सहृदयों की आत्मा विशेष्य होती है, जिस (आत्मा) में दुष्यन्त आदि का तादात्म्य-अभेद भासित होता रहता है और शकुन्तला आदि की रति आदि प्रकार होता है, अर्थात् 'मैं दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति वाला हूं' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसन्धान से होता है। लोकोत्तर-विलक्षण रति आदि इस ज्ञान के विषय होते हैं अत एव यह ज्ञान विलक्षण-विषयता-शाली कहा जाता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता : कि एक प्रकार के भ्रम को 'रस' कहते हैं।

नन्वेवं स्वप्नकालिकज्ञानस्यापि मानसत्वाद् रसत्वापत्तिरित्यत आह—

स्वप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः। तेन न तत्र तादृशाह्लादापत्तिः।

स्वप्नकालिको हि शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकबोधो मनस्सन्निकर्षजन्यः सन्नपि, न काव्यार्थभावनाजन्य इति न तस्य रसत्वम्, न वा तत्राह्लादविशेष आपद्यत इत्यभिप्रायः।

आप कहेंगे कि यदि इस तरह के मानसज्ञान को ही रस कहा जाय, तब तो स्वप्न आदि में जो इसीप्रकार का मानसज्ञान होता है, उसको भी रस कहना पड़ेगा इसी शङ्का का समाधान देते हैं—'स्वप्नादिस्तु' इत्यादि। स्वप्न आदि में भी इस तरह का मानसज्ञान होता है, यह बात सही है, परन्तु वहाँ का वह ज्ञान काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान से नहीं हुआ रहता, अतः रस नहीं कहला सकता और न उसमें उस प्रकार का आनन्द ही आ-सकता है, क्योंकि काव्यार्थ के अनुसन्धान से होने वाले उस कप्रार का ज्ञान ही रस कहा गया है तथा आनन्दजनक माना गया है।

सहृदये वास्तविकरतेरभावादनुभवे च विषयसत्त्वस्य कारणतयाऽपेक्षणात् प्रकृते रत्यादिबोधस्यासम्भव इत्याशङ्कते—

एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात्?।

एवमपि सहृदयस्य शकुन्तलादिरतिमद्दुष्यन्ताभेदप्रकारकमानसबोधस्वीकारेऽपि, स्वस्मिन् सहृदयात्मनि। इतरत् स्फुटम्।

इस तरह मानने पर भी एक शङ्का यह रह जाती है कि जो रति आदि हम में हैं ही नहीं केवल मनगढन्त हैं, उनका अनुभव ही कैसे होगा? क्योंकि अनुभव के प्रति विषय-सत्ता को कारण माना गया है।

समादधाति—

मैवम्, नह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः।

लौकिकप्रत्यक्षे हि कारणतया विषयस्य वस्तुतः सत्त्वमपेक्ष्यते, भ्रमे तु रज्जावसतोऽपि सर्पस्य भानमिति सहृदयसमवेतरत्यादिप्रतीतेर्दोषजन्यत्वाद् भ्रमत्वेन न वास्तविकविषय-सद्भावापेक्षेति भावः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति ही विषय-सत्ता कारण है अर्थात् लौकिक अनुभव के सम्बन्ध में ही यह नियम है कि जिन वस्तुओं का अनुभव होता है वे आँख, कान, नाक आदि ज्ञान-जनक इन्द्रियों के सामने अवश्य उपस्थित रहते हैं, भ्रम में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् भ्रम विषय के बिना भी होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम विषय (सर्प) के न रहने पर भी होता है, भावनारूप दोषप्रयुक्त यह रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है अतः उस रति आदि विषय के वस्तुतः न रहने पर भी उसके ज्ञान होने में किसी तरह की बाधा नहीं हो सकती।

नन्वेतन्मते भ्रमात्मकस्य रत्यादिज्ञानस्यैव रसत्वात् तद्विषयकज्ञानान्तरानुत्पत्तेरास्वादो रसविषयक इति व्यवहारो नो पपद्यत इत्यतोऽभिधत्ते—

आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः इत्यपि वदन्ति।

भ्रमरूप-रस-विषयीभूतरत्यादीनामास्वाद एव रसास्वादव्यवहारः, तत्रत्यरसपदस्य रसत्वानुकूलरत्यादिपरत्वस्य विवक्षणादिति तात्पर्यम्।

आप कहेंगे कि जब रस भ्रमात्मक ज्ञान रूप है, तब 'रस का आस्वादन होता है' यह व्यवहार असङ्गत हो जायगा क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान है, फिर ज्ञान का ज्ञान क्या होगा? इसका उत्तर देते हैं—'आस्वादनस्य' इत्यादि। रति आदि जो भ्रम का विषय है अर्थात् जिस रति आदि के विषय में भ्रम होता है उसका आस्वादन हो सकता है, होता भी है, बस उसी विषय (रति आदि) गत आस्वादन का विषयी (भ्रमात्मक-रस) में आक्षेप करके उक्त व्यवहार होता है। वस्तुतः रस का आस्वादन ही नहीं होता। वे लोग यह भी कहते हैं।

तुरीयमते विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि-भ्रमात्मकज्ञानरूपरसस्य विनिगमनाविरहात् त्रैविध्यं प्रतिपादयति—

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मिताऽवच्छेदक-शकुन्तलादिविषयकरति-वैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट-दुष्यन्तता-दात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्व-शकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः।

एतैस्तुरीयमतालम्बिभिः। एतैरित्यभ्युपेयमित्यनेनान्वेति। स्वं सहृदयः। रतिवैशिष्ट्यं धर्मो दुष्यन्तश्च धर्मी। दुष्यन्तत्वं धर्मिताऽवच्छेदकं यत्र, तादृशं यच्छकुन्तलाविषयरकति-वैशिष्ट्यम्, तदवगाहीतद्विषयकः 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारक एको मानसो बोधः।

स्वात्मत्वविशिष्टे निजात्मनि, शकुन्तलाविषयकरतिविशिष्टो यो दुष्यन्तस्तस्य तादात्म्य-मभेदमवगाहते विषयीकरोति, तादृशः शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्तोऽहम्' इत्याकारको द्वितीयो बोधः।

स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वस्य शकुन्तलाविषयकरतेश्च यद् वैशिष्ट्यं सम्बन्धः, तदव-गाही 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमांश्चाहम्' इत्याकारकश्च तृतीयो बोधः।

त्रिषु विषयैक्येऽपि विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभावभेदाद् बोधभेदः। त्रिविधोऽयं बोध एवात्र मते रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः स्वीकार्य इत्यर्थः।

इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहते हैं, उसका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है यही दिखलाते हैं—'एतैश्च' इत्यादि। ज्ञान के तीनों स्वरूप निम्नलिखित हैं—१. दुष्यन्त आदि में रहनेवाली जो शकुन्तला आदि की रति है, उस (रति आदि) से युक्त मैं हूं। २. मैं शकुन्तलादि-विषयक रति-युक्त-दुष्यन्त से अभिन्न हूं। ३. मैं दुष्यन्तत्व से और शकुन्तला विषयक रति से भी युक्त हूं। इन तीनों ही ज्ञानों को इस मत के अनुसार रस मानना पड़ेगा, क्योंकि एक को ही रस मानने में कोई खास युक्ति नहीं है। यद्यपि इन तीनों ज्ञानों में विषय एक सा ही है, तथापि उद्देश्य-विधेय-भाव के भेद से ये ज्ञान परस्पर भिन्न होते हैं अर्थात् प्रथम ज्ञान में 'मैं' उद्देश्य है और दुष्यन्त में रहने वाली रति विधेय। द्वितीय ज्ञान में उद्देश्य वही 'मैं' है परन्तु विधेय है शकुन्तला-विषयकरति युक्त-दुष्यन्त का अभेद। और तृतीय ज्ञान में भी उद्देश्य 'मैं' ही है किन्तु विधेय दो हैं—एक दुष्यन्तत्व और दूसरा शकुन्तला-विषयक-रति, अत एव यह तृतीय ज्ञान समुच्चयात्मक है।

मतेऽस्मिन् रत्यादिग्राहकस्यानुमानस्यावश्यकतामाचष्टे—

तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्, व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम्।

तत्र बोधत्रये, स्वात्मनि विशेषणीभूता या रतिः, तस्याः शब्दादप्रतीतत्वाद्वाचक-शब्दादज्ञातत्वात्, तत्प्रत्यायिकाया रतिबोधिकायाः, व्यञ्जनायाश्चात्रमतेऽनभ्युपगमादस्वीका-राच्च, आदौ प्रथमम्, चेष्टा नटादिव्यापार एव लिङ्गं हेतुर्यत्र, तादृशम् 'अयं (नटरूपो) दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षभुजविक्षेपादिचेष्टावत्त्वात्' इत्याकारक-मनुमानं विशेषणज्ञानार्थं रतिप्रत्ययनिमित्तम्, अभ्युपेयमङ्गीकरणीयमित्यर्थः।

अत्र मते पूर्वं दुष्यन्तत्वेन ज्ञाते नटे चेष्टया शकुन्तलारतेरनुमानम्, पश्चात् तादृश-दुष्यन्तेन सहात्मनस्तादात्म्यावगाहि प्रागुक्तं त्रिविधं मानसं ज्ञानमेव रस इति सारम्। तुरीयं मतमवसितम्।

इस मत में रति के ज्ञान करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ेगी, इसी बात का प्रतिपादन करते हैं—'तत्र' इत्यादि। आशय यह है कि इन तीनों ज्ञानों में रति विशेषण-रूप से प्रविष्ट है अतः इन ज्ञानों के होने से पूर्व रति का ज्ञान हो जाना आवश्यक है, परन्तु उसका ज्ञान होगा कैसे? काव्य के शब्दों से हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते और उसका बोध करानेवाली जो व्यञ्जना अन्य मतों में स्वीकृत थी, उसका स्वीकार इस मत में किया ही नहीं गया है, फिर तो अगत्या विशेषणीभूत उस रति आदि के ज्ञान के लिये अनुमान की शरण इस मत में लेनी ही पड़ेगी, अर्थात् उक्त ज्ञानों से पहले नट आदि की चेष्टा को हेतु बनाकर 'दुष्यन्त, शकुन्तला विषयक रति वाला है, क्योंकि उस रति से होने वाली चेष्टा उसमें विद्यमान है' ऐसा अनुमान करना पड़ेगा।

पञ्चमं भट्टलोल्लटादीनां मतमुपपादयति—

(५) 'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनय-प्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य, साक्षात्क्रियते'। इत्येके।

मुख्यतया साक्षात्सम्बन्धेन वस्तुतः, दुष्यन्तादिगतोऽनुकार्यवृत्तिरेव, नत्वनुकर्तृ-नटादिवृत्तिः, तत्र तस्यारोपितत्वेनावास्तविकत्वात्। कमनीयो यो विभावादीनामभिनयोऽ-

वस्थानुकारः, तस्य प्रदर्शने कोविदो निपुणः। दुष्यन्तादीनामनुकर्ताऽनुकरणकृत्। इद दृश्यकाव्ये, श्रव्यकाव्ये त्वनुकरणाभावात् काव्यपाठके स्वात्मनि समारोपः। एके प्राचीनेष्वपि प्रसिद्धतमा भट्टलोल्लटप्रभृतयो वदन्तीति शेषः।

अब रस के विषय में भट्ट लोल्लट आदि कतिपय पण्डितों के मतों का उपपादन करते हैं—'मुख्यतया' इत्यादि। वस्तुतः साक्षात् सम्बन्ध से दुष्यन्त आदि अनुकार्य में रहने वाले रति आदि ही रस हैं, उन रति आदि को ही नाटक में विभाव आदि के सुन्दर अभिनय दिखाने में निपुण दुष्यन्त आदि का पार्ट करने वाले नट पर और काव्य में उसके पाठकों के ऊपर आरोपित करके हम उनका अनुभव करते हैं।

एतन्मतप्रतिपाद्य शेषमाचष्टे—

मतेऽस्मिन् साक्षात्कारो 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमान्' इत्यादिः प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः।

साक्षात्कारः प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानम्। प्राग्वच्चतुर्थमत इव विनिगमनाविरहादुद्देश्यविधेयभाववैलक्षण्येन त्रिविधः। धर्मी इदन्त्वेन गृह्यमाणो नटः, तस्य चक्षुस्सन्निकृष्टत्वात् साक्षात्कारो लौकिकः। आरोप्यं दुष्यन्तत्वादि, तस्य चासन्निकृष्टत्वादलौकिकः साक्षात्कारो भवतीति शेषः। भरतसूत्रव्याख्याता भट्टलोल्लटो मीमांसक इत्येतन्मतं मीमांसकमतत्वेनान्यत्रोल्लिखितम्। तथाहि—'विभावैर्जनितः, अनुभावैः प्रकाशितः, व्यभिचारिभावैश्च पोषितश्च शकुन्तलादिविषयको दुष्यन्तादावनुकार्ये वास्तविकः अभिनयकौशलेन दुष्यन्तादित्वेन ज्ञायमानेऽनुकर्तरि नटे चारोपितः, सहृदयैः पश्चाद् भावनारूपदोषजन्य-नटतादात्म्याध्यासादात्मनि साक्षात्क्रियमाणो रत्यादिः स्थायी रस इत्यन्यत्र तन्मतम्। पञ्चममतं सम्पूर्णम्।

इस मत में भी रस-ज्ञान का स्वरूप, पूर्वमत की तरह 'शकुन्तला विषयक रति से युक्त यह (नट) दुष्यन्त है' इत्यादि रीति से उद्देश्य-विधेय-भाव में भेद होने के कारण तीन प्रकार का होगा यह समझना चाहिये। ये तीनों ही ज्ञान नटरूप धर्मी (विशेष्य) अंश में उसके आँखों के सामने उपस्थित रहने के कारण लौकिक और आरोप्य (जिसका आरोप करते हैं) दुष्यन्तत्व अंश में अलौकिक होते हैं क्योंकि वह अंश आँखों के सामने उपस्थित नहीं रहता।

काव्यप्रकाशे द्वितीयमतत्वेनोपात्तं षष्ठं तार्किकश्रीशङ्कुकमतमभिधत्ते—

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते, विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः, भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः।' इत्यपरे।

अपरे वदन्तीति शेषः। दुष्यन्तत्वेन गृहीते 'दुष्यन्तोऽहम्' इति दुष्यन्तत्वप्रकारकज्ञानविषयीकृते, नटेऽनुकर्तरि शैलूषे, पक्षे सन्दिग्धसाध्यवति, कृत्रिमैः क्रियया निर्वृत्तैः शिक्षाभ्यासादिमात्रविहितत्वादवास्तविकैरपि, अकृत्रिमतया गृहीतैः साम्यातिशयेन वास्तविकतया ज्ञातैः, विभावादिभिर्हेतुभूतैः, समाने विषये प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वेऽपि, विभिन्नविषयेऽनुमितिसामग्र्या एव बलवत्त्वान्नटविषयकप्रत्यक्षप्रतिबन्धनादनुमीयमानो दुष्यन्ताद्यनुकार्यगतः शकुन्तलादिविषयको रत्यादिरेव रसः। अयमपि भरतसूत्रस्य व्याख्याता।

इदमिहावगन्तव्यम्—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्विषयककटाक्षभुजविक्षेपादिचेष्टावत्त्वात्' इत्यनुमित्याकारः। अनुमेयवस्तुसौन्दर्यबलादस्यानुमानस्येतरानुमानेभ्यो रमणीयत्वम्, मृदादिघटेभ्य इव कनकघटस्य। इन्द्रियसन्निकर्षरूप-नटविषयकप्रत्यक्षसामग्रीसद्भावेऽपि, रत्यादिसाध्यविषयकानुमितिसामग्र्या विभिन्नविषयकत्वेनेतरप्रतीतिप्रतिबन्धक-

त्वाद् रत्याद्यनुमितिरेव भवति, नतु नटप्रत्यक्षम्। परोक्षज्ञानस्याचमत्कारित्वं चात्र पक्षेऽरुचिबीजम्। षष्ठं मतं समाप्तम्।

अब रस के विषय में श्रीशङ्कुक के छठे मत का प्रतिपादन करते हैं—'दुष्यन्तादिगतो' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि जब हम 'अभिज्ञानशाकुन्तल आदि नाटक देखते रहते हैं उस समय नट में हमें दुष्यन्त आदि का ज्ञान होता है और वह ज्ञान–चित्र–लिखित तुरंग को देखकर जो 'यह घोड़ा है' ऐसा ज्ञान होता है—ठीक वैसा ही है अर्थात् वह ज्ञान सम्यक्, मिथ्या, सादृश्य ज्ञानों से विलक्षण रहता है क्योंकि वस्तुतः दुष्यन्त से भिन्न में होने के कारण उस ज्ञान को सम्यक् (प्रमात्मक) नहीं कह सकते, उत्तर–काल में बाध न होने से उसको मिथ्या (भ्रमात्मक) भी नहीं मान सकते, सादृश्य–अंश की प्रतीति न होने से सादृश्यज्ञान भी उसको नहीं बतला सकते, फलतः वह ज्ञान विलक्षण है, यही कहा जासकता है। वस्तुतः पूर्वमत की तरह विशेष्य अंश में लौकिक और विशेषण अंश में अलौकिक भ्रमात्मक ज्ञान ही वह है। इस तरह हम सहृदयों से दुष्यन्त आदि रूप में समझा गया और अभिनय करने में निपुण नट आदि के द्वारा प्रकाशित विभाव आदि—जो वस्तुतः कृत्रिम–अवास्तविक रहते हैं—अकृत्रिम–वास्तविक मालूम पड़ने लगते हैं, अतः वास्तविक–स्वाभाविक मालूम पड़ने वाले उन विभादिकों से दुष्यन्तादि रूप से समझे गये नट रूप पक्ष में शकुन्तला आदि की रति की अनुमिति होती है और उसी अनुमिति का विषयीभूत रति आदि 'रस' है। यद्यपि अन्य अनुमितियों में चमत्कार–आस्वाद नहीं होता अतः इस अनुमिति में भी वह नहीं होगा ऐसी शङ्का यहाँ की जासकती है, तथापि यहाँ अनुमेय वस्तुओं के सौन्दर्य से अनुमिति में चमत्कार पैदा हो जाता है ऐसा समझना चाहिये अत एव सहृदयजन बार बार उस अनुमिति को करते हैं, जिससे उस रति आदि की चर्वणा उन्हें होती है। यद्यपि अनुमान के द्वारा किसी चीज की एक बार सिद्धि हो जाने पर दुबारा उस चीज की अनुमिति उसी व्यक्ति के द्वारा नहीं की जासकती क्योंकि सिद्धि को अनुमिति का प्रतिबन्धक माना गया है तथापि अनुमित्सा–अनुमिति की इच्छा के रहने पर सिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती यह ज्ञात होना चाहिये। अनुमिति का आकार यह होता है कि 'यह (नट) दुष्यन्त–शकुन्तला–विषयक रतिवाला है, क्योंकि तद्विषयक कटाक्ष भुजक्षेप आदि चेष्टाओं से वह युक्त है'। एक बात और—यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि जिस क्षण में अनुमिति होती है उस क्षण में वहाँ और और भी बहुतसी दर्शनीय वस्तुयें आंखों के सामने उपस्थित रहती हैं, जिससे उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी अवसर प्राप्त रहता है, फिर उस समय में उक्त अनुमिति न होकर उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं होता? पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि एक काल में दो ज्ञान नहीं हो सकते, अतः दोनों ही (अनुमिति और प्रत्यक्ष) होंगे यह बात नहीं कही जासकती। इसका उत्तर यह है कि जहाँ एक ही समय में एक वस्तु की प्रत्यक्ष सामग्री और दूसरी वस्तु की अनुमिति–सामग्री जुट जाती है, वहाँ उस स्थिति में अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति सामग्री को दार्शनिकों ने प्रतिबन्धक माना है। क्यों उसको प्रतिबन्धक माना गया है? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए। भिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति भिन्नविषयक अनुमिति–सामग्री को प्रतिबन्धक मानने का पहला कारण यह है कि उस स्थिति में अनुमिति का होना ही अनुभव सिद्ध है। दूसरा कारण यह भी है कि प्रत्यक्ष सामग्री की अपेक्षा अनुमिति–सामग्री गुरु–भूत रहती है, अर्थात् प्रत्यक्ष–सामग्री (चक्षुःसन्निकर्ष आदि) को जुटाना नहीं पड़ता अगर किसी अंश में जुटाना भी पड़े तो उसमें बहुत अल्प आभ्यास करना पड़ता है और अनुमिति–सामग्री (व्याप्तिज्ञान आदि जिसकी संख्या अधिक है) को जुटाना पड़ता है जिसमें बहुत अधिक आभ्यास करना पड़ता है, ऐसी स्थिति में अगर उक्त दोनों सामग्रियों में से किसी

एक सामग्री को व्यर्थ करना पड़े तो लोग किसको व्यर्थ करना चाहेंगे? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष–सामग्री को, क्योंकि वह थोड़ी है और उसमें आयास भी कम करना पड़ा था। अब नाटक देखते समय भिन्न विषयक प्रत्यक्ष–सामग्री के जुटी रहने पर भी शकुन्तलादि विषयक रति की अनुमिति ही क्यों होती है इस शङ्का का उत्तर पाठकों को स्पष्ट रूप से समझ आ जायगा। यह तो हुई नाटक की बात, काव्य में उसके पाठकों पर ही यह नगाड़ा बजता है अर्थात् उन्हीं को दुष्यन्त आदि समझा जाता है और उन्हीं को पक्ष बनाकर रति आदि की अनुमिति की जाती है।

अथ प्रकीर्णे मतपञ्चके प्रथमं पूर्वक्रमाच्च सप्तमं मतं निर्दिशति—

(७) 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः' इति कतिपये।

समुदिताः परस्परं मिलिताः, विभावादयो विभावानुभावव्यभिचारिस्थायिभावा एव रसा रसनव्यापारयोगादास्वाद्या इति कतिपये कियन्तो व्याहरन्तीत्यर्थः।

'प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते। ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥'

इत्युक्तेः खण्डमरिचादीनामिव विभावादीनां मिथस्सम्मेलनेन प्रपाणकरस इव काव्यरसः कोऽपि निष्पद्यत इत्याशयः।

अब रस–विषयक सप्तम मत का प्रतिपादन करते हैं—'विभावादयः' इत्यादि। कुछ लोगों का कहना है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव ये तीनों ही सम्मिलित होने पर 'रस' कहलाते हैं।

द्वितीयं पूर्वक्रमादष्टमं मतमुपन्यस्यति—

(८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी, स एव रसः। अन्यथा तु त्रयोऽपि न।' इति बहवः।

त्रिषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, य एवान्यतमः स्वपोषकसामग्रीप्रकर्षात्, चमत्कारी विच्छित्तिविशेषशाली, स एव, न तु चमत्कृतिशून्योऽपि, रसो भवतीति शेषः। अन्यथा चमत्कारिताविरहे तु, त्रयो विभावादयो मिलिता अपि, किमुतैकः, न रस इति बहवो व्याहरन्तीत्यर्थः। लोकोत्तरचमत्कारस्यैव रसत्वव्यवस्थापकत्वात् तदभावे विभावादित्वमात्रेणैव न रसत्वमिति भावः।

अब रस–सम्बन्धी अष्टम मत का उपादान करते हैं—'त्रिषु' इत्यादि। कतिपय विद्वानों का कथन है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इन तीनों में जो चमत्कारी हो वही रस है और यदि चमत्कारी न हो, तब एक की बात ही क्या, तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते क्योंकि लोकोत्तर चमत्कार को ही काव्य का प्राण माना गया है।

तृतीयं पूर्वक्रमान्नवमं मतं प्रकाशयति—

(९) 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये।

भाव्यमानः पुनःपुनरनुसन्धानरूपभावनाविषयीक्रियमाणो विभाव आलम्बनोद्दीपनात्मक एव, न त्वनुभावव्यभिचारिणावपि, रस इत्यन्ये मन्यन्त इत्यर्थः।

प्रादुर्भावकेषु विभावस्यैव प्राथम्येन प्राधान्याद् रसत्वमिति तात्पर्यम्।

अब रस–सम्बन्धी नवम मत का उल्लेख करते हैं—'भाव्यमान' इत्यादि। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि पुनः पुनः अनुसन्धान किया गया विभाव (आलम्बन और उद्दीपन कारण) ही रस है (अनुभाव और सञ्चारी नहीं)।

चतुर्थं पूर्वक्रमाद् दशमं मतमभिदधाति—

(१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे।

अनुभावः स्थायिकार्यरूपः, तथा भाव्यमानो रस इतीतरे प्रतिपादयन्तीत्यर्थः।

भावनायाः = प्रभावेण, कारणापेक्षया कार्यस्य विच्छित्तिविशेषाधायकत्वे न चानुभावस्यैव रसत्वं मन्तव्यमित्याकूतम्।

अब रस-सम्बन्धी दशम मत की चर्चा करते हैं—'अनुभाव' इत्यादि। कुछ पण्डितों का मत है कि पुनः पुनः चिन्तन किया गया अनुभाव ही रस है (विभाव सञ्चारी नहीं)।

पञ्चमं पूर्वक्रमादेकादशं मतमाचष्टे—

(११) 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' इति केचित्।

पूर्वस्तथाशब्दो भाव्यमानार्थको द्वितीयश्च रसार्थकः।

तथा भावनाविशेषविषयीक्रियमाणो व्यभिचारी भाव एव तथा रसरूपतया परिणमतीत्येके कथयन्तीत्यर्थः।

अब रसम्बन्धी ग्यारह वें मत का प्रतिपादन करते हैं—'व्यभिचार्येव' इत्यादि। अनेक पण्डितों का कथन है कि व्यभिचारी भाव ही पुनः पुनः चिन्ता का विषय होकर रस रूप में परिणत हो जाता है।

भावनामहिम्ना प्राधान्यं भजन् व्यभिचार्यपि भावत्वमिव रसत्वं प्रतिपद्यत इति भावः।

उक्तमतेष्वष्टानां क्रमेण प्रामाणिकत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इतिसूत्रं तत्तन्मतपरतया व्याख्यायते—

तत्र तेष्वेकादशसु मतेषु, समूलकत्वं साधयितुमाचार्यभरतस्य विभावेत्यादिसूत्रं, तत्तन्मतपरतया तेषां तेषामादितोऽष्टानां मतानामनुकूलतया व्याख्यायते मयेति शेषः।

अब उक्त मतों में कितने प्रामाणिक और कितने अप्रामाणिक हैं इस बात का निर्णय करने के लिये रससम्बन्धी मूलभूत-भरतसूत्र की व्याख्या करने का उपक्रम करते हैं—'तत्र' इत्यादि। उस उस मत के अनुसार 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' इस सूत्र की व्याख्या करते हैं।

आद्याचार्याभिनवगुप्तमते द्विविधकल्पानुकूलां सूत्रव्याख्यामाह—

'विभावानुभावव्यभिचारिभिः सयोगाद् व्यञ्जनाद् रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः, स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्।' इत्याद्ये।

विभावेनानुभावेन व्यभिचारिभावेन (सह) संयोगाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धात् प्रथमकल्पे चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनश्चैतन्याह्लादविषयीभूतरत्यादिरूपस्य, द्वितीयकल्पे स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो रत्यादिविषयकचैतन्याह्लादरूपस्य, रसस्य, निष्पत्तिः स्वरूपेण-प्रकाशनमित्याद्यमते सूत्रार्थः।

प्रथम आचार्य अभिनव गुप्त-मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' इत्यादि। 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा, संयोग अर्थात् ध्वनिगत होने से, आत्मानन्द-सहित स्थायीभावरूप अथवा स्थायीभावात्मक उपाधि से युक्त आत्मानन्दरूप रस की निष्पत्ति होती है अर्थात् वह अपने वास्तवरूप में प्रकाशित होता है' यह प्रथम मत में अर्थ है।

द्वितीये भट्टनायकमते सूत्रव्याख्यामभिदधाति—

'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक् साधारणात्मतया योगाद् भावकत्वव्यापारेण भावनाद्, रसस्य स्थाय्युपहित-सत्त्वोद्रेकप्रकाशित-स्वात्मानन्दरूपस्य, निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण विषयीकृतिः।' इति द्वितीये।

संयोगस्य सम्यग् योगादिति, सम्यगित्यस्य साधारणात्मतयेति, योगादित्यस्य भावकत्वव्यापारेण भावनादिति, रसस्येत्यस्य सत्त्वोद्रेकोद्भासित–रत्यादिविषयक–स्वात्मानन्दरूपार्थकं स्थाय्युपहितेत्यादि, निष्पत्तिरित्यस्य भुक्त्यपरपर्याय–भोगात्मकसाक्षात्कारविषयीकरणार्थकं भोगाख्येनेत्यादि च द्वितीयमते सूत्रार्थः।

द्वितीय भट्टनायक–मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' **इत्यादि। 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के (सं+योग) सम्यक् अर्थात् साधारणरूप से योग अर्थात् भावकत्व व्यापार के द्वारा भावना करने से स्थायीभावरूप उपाधि के सहित सत्त्वगुण की अभिवृद्धि से प्रकाशित, स्वकीय आत्मानन्द रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् भोग नामक साक्षात्कार का विषय बनाना' यह द्वितीय मत में सूत्रार्थ है।**

तृतीये नव्यमते सूत्रव्याख्यां ब्रवीति—

विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद् भावनाविशेषरूपाद् दोषाद् रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये।

इह भावनाविशेषरूपो दोष एव संयोगः, अनिर्वचनीयभावापन्नो दुष्यन्तादिनिष्ठ–शकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः, प्रातिभासिकोत्पत्तिरेव निष्पत्तिरिति विशेषः।

तृतीय 'नव्य' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' **इत्यादि। 'विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों के संयोग अर्थात् सहृदयता मूलक काव्यार्थभावनारूप दोष से दुष्यन्त आदि के अनिर्वचनीय रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति' यह तृतीय मत में सूत्र का अर्थ है।**

चतुर्थे परकीयमते सूत्रव्याख्यां ब्रूते—

'विभावादीनां संयोगाज् ज्ञानाद्, रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः।' इति चतुर्थे।

अत्र संयोगो ज्ञानम्, रसश्च मानसप्रत्यक्षरूप इति विशेषः।

चतुर्थ 'पर' मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभावादीनाम्' **इत्यादि। 'विभाव आदि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञान–विशेष रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति' यह चतुर्थ मत में सूत्र का अर्थ है।**

पञ्चमे भट्टलोल्लटमते सूत्रव्याख्यां व्याहरति—

'विभावादीनां सम्बन्धाद् रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे।

इह संयोगः सम्बन्धः, नट आरोप्यमाणो रत्यादी रसः, निष्पत्तिरारोपः। सामाजिकस्य तु भावनात्मकदोषवशात् कथञ्चिन्नटेन सह तादात्म्याध्यासादास्वाद इति विशेषः।

पञ्चम भट्ट लोल्लट–मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभाव' **इत्यादि। 'विभाव आदि के संयोग अर्थात् सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् नट आदि पर आरोप' यह पञ्चम मत में सूत्र का अर्थ है।**

षष्ठे श्रीशङ्कुकमते सूत्रव्याख्यां प्रतिपादयति—

'विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद् रसस्यरत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे।

अत्र संयोगोऽनुमितिहेतु–व्याप्तिज्ञानरूपमनुमानम्, अनुमेयो रत्यादी रसः, निष्पत्तिश्चानुमितिरिति विशेषः।

षष्ठ श्रीशङ्कुक मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या करते हैं—'विभादिभिः' **इत्यादि। 'कृत्रिम होने पर भी स्वाभाविक रूप में समझे गए विभावादिकों (हेतु) के साथ संयोग अर्थात्**

व्याप्ति नामक सम्बन्ध से रति आदि रूप रस की निष्पत्ति अर्थात् अनुमिति (नट रूप पक्ष में)' यह षष्ठ मत में सूत्र का अर्थ है।

सप्तमे कतिपयमते सूत्रव्याख्यामुपन्यस्यति—

'विभावादीनां त्रयाणां संयोगात् समुदायाद् रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहारः' इति सप्तमे।

इह संयोगो मिथस्सम्मेलनेन समुदायः, निष्पत्ती रसपदप्रतिपाद्यत्वेन व्यपदेश इति विशेषः।

सप्तम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—'विभाव आदि तीनों से संयोग अर्थात् सम्मेलन से रस की निष्पत्ति अर्थात् उस समूह में रस पद का व्यवहार' यह सप्तम मत में सूत्र का अर्थ है।

अष्टमे बहुमते सूत्रव्याख्यां निगदति—

'विभावादिषु सम्यग् योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे।

अत्र संयोगश्चमत्कार इति विशेषः।

अष्टम मत के अनुसार सूत्र की व्याख्या—'विभाव आदि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार से रस कहलाता है' यह अष्टम मत के अनुसार सूत्र का अर्थ है।

उपसंहरति—

तदेवं पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः।

एवमुक्तप्रकारेण, केवलं पूर्वोक्तेष्वष्टसु मतेषु भरतसूत्रानुसारित्वस्य सम्भवात्, त्रिष्वग्रिमेषु त्वेकैकमात्रोपादानाद् विभावादीनां त्रयाणामनुपादानाद् भरतसूत्रस्य प्रागुल्लिखितस्य, विरोधः पर्यवसित इत्यर्थः।

भरतसूत्रानुसारि मताष्टकमेव साधीयः, तद्विरुद्धम्मतत्रयं तु निर्मूलकत्वादनुपादेयमेवेति सारम्।

इदमपीहाकलनीयम्—यथा भरतसूत्रविरोधादिहान्तिमं मतत्रयं हेयम्, भावकत्वरूपाधिकव्यापारस्वीकारगौरवाद् द्वितीयम्, भावनादोषत्वकल्पनागौरवाद्, रसस्यानिर्वचनीयत्वाङ्गीकारेऽवास्तविकत्वापाताच्च तृतीयम्, मानसज्ञानात्मनो रसस्य भ्रमत्वाभ्युपगमेऽतात्त्विकत्वापत्तेस्तुरीयम्, रसस्य नटवृत्तेर्वस्तुतः सामाजिकवृत्तित्वानङ्गीकारेण विलक्षणास्वादासम्भवात् पञ्चमम्, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानानामचमत्कारित्वस्य सर्वमतसिद्धतया रसस्यानुमेयत्वस्वीकारेऽचमत्कारित्वप्रसङ्गात् षष्ठम्, विभावादिसमूहनमात्रेण लोकोत्तररसत्वप्राप्त्यसम्भवात् सप्तमम्, एकस्य विभावाद्यन्यतमस्य रससारचमत्कार-परिपूर्णताऽसद्भावादष्टमं च मतमरुचिप्रासादनादेयमेव।

अवशिष्ट तीन मतों में सूत्र का अर्थ संगत नहीं होता, अतः उन मतों में सूत्र का विरोध पर्यवसित होता है—अर्थात् वे मत स्वतन्त्र हैं, सूत्रानुसारी नहीं।

ननु भरतसूत्र एव सम्मिलितानां विभावादीनां त्रयाणामुपादानस्य किं बीजम् ?, येनात्र विभावादिष्वेकमात्रावलम्बि चरमं मतत्रयं सूत्रविरोधादुपेक्ष्यत इत्याशङ्कां निरस्यति—

विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरसव्यञ्जकताऽनुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्।

इदमुक्तं भवति—विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कियन्तोऽनेकरससाधानत्वेकरसनियताः सन्तीति तत्रैकमात्रोपादाने रसप्रतीतावनियमः स्यात्, मिलिता विभावादयस्त्रयस्त्वे-

करसाधारणा इति तदुपादाने न व्यभिचार इति सूत्रे मिलितानां त्रयाणामुपादानमावश्यकम्। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव रौद्राद्भुतवीराणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुणभयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव करुणवीरभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।' इति। 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादौ केवलविभावानाम्, 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादौ केवलानुभावानाम्, 'दूरादुत्सुकमागते विवलितम्' इत्यादौ केवलव्यभिचारिणां चोपादाने शृङ्गाररसप्रतीतेः प्रसिद्धत्वात् त्रयाणां मिलितानामुपादानमावश्यकमित्युक्तिर्निर्मूलेति चेत्, न, उक्तस्थलेष्वेकमात्रस्य शृङ्गाररसासाधारणस्योपादानेऽप्यवशिष्टान्यद्वयस्य तादृशस्यैव झटित्याक्षेपेण लाभाद् व्यभिचारासम्भवात्। तदुक्तम्—

'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।

झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते।' इति।

विभावादिकों में से प्रत्येक से रस की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती इस शंका का समाधान देते हैं—'विभावानुभाव' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव इनमें से केवल एक अर्थात् केवल विभाव, केवल अनुभाव, अथवा केवल व्यभिचारीभाव किसी नियत रस का व्यञ्जक नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही विभाव, एक ही अनुभाव अथवा एक ही व्यभिचारीभाव अनेक रस का हो सकता है, जैसे व्याघ्र आदि जिस तरह भयानक रस के विभाव हो सकते हैं, उसी तरह वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी, अश्रु-पात आदि जिस तरह शृङ्गार के अनुभाव हो सकते हैं, उसी तरह करुण और भयानक रस के भी, चिन्ता आदि जिस तरह शृङ्गार के व्यभिचारीभाव हो सकते हैं, उसी तरह करुण, वीर ओर भयानक रस के भी। अतः भरत-सूत्र में तीनों का उल्लेख किया गया है।

तदेवाह—

एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे, यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद् रसोद्बोधः, तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यम्, अतो नानैकान्तिकत्वम्।

अनैकान्तिकत्वं व्यभिचारः।

इस तरह जब यह प्रमाणित हो चुका कि तीनों (विभाव अनुभाव और व्यभिचारीभाव) सम्मिलित रूप में ही किसी खास रस को व्यक्त कर सकते हैं, तब यदि कहीं, किसी असाधारण (जो किसी एक ही रस का सम्बन्धी हो सकता हो) विभाव, अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में से किसी एक से ही खास रस की अभिव्यक्ति होती है, तब वहां जो एक वर्णित हो, उसके अतिरिक्त दो का उचित रूप से आक्षेप कर लेना चाहिये, अतः सूत्र का विरोध वहां नहीं होगा। इस प्रसङ्ग में मम्मट ने उदाहरणार्थ निम्नलिखित तीन श्लोक काव्य प्रकाश में उद्धृत किये हैं। (१) 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्' इत्यादि। (२) 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गम्' इत्यादि। (३) 'दूरादुत्सुकमागते विवलितम्' इत्यादि। इन श्लोकों में क्रमशः प्रथम में केवल विभावों का, द्वितीय में केवल अनुभावों का और तृतीय में केवल व्यभिचारी भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव असाधारण हैं अर्थात् केवल शृङ्गार रस में ही होने वाले हैं, अतः यहाँ अनेक रसों के व्यङ्ग्य होने का सन्देह नहीं हो सकता। तब बात रही यह कि शृङ्गार भी एक एक से कैसे अभिव्यक्त होगा, जिसका उत्तर ऊपर दिया ही जा चुका है कि वर्णित से अतिरिक्त दो का आक्षेप कर लिया जायगा।

प्रकृतं रसस्वरूपनिरूपणमुपसंहरति—

इत्थं च नानाजातीयाभिः शेमुषीभिर्नानारूपतयाऽवसितोऽपि, मनीषिभिः

परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः, प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ।

इत्थमुक्तरीत्या, नानाजातीयाभिरनेकविधाभिः, शेमुषीभिर्बुद्धिभिः, मनीषिभिः काव्यकोविदैः, नानारूपतयाऽनेकप्रकारकत्वेन, अवसितो ज्ञातोऽवधारितो वापि, परमाह्लादाविनाभावितया लोकोत्तरानन्दव्याप्यत्वेन, प्रतीयमान आस्वादपदवीमवतरन्, रसः, अस्मिन् प्रपञ्चे सन्दर्भे विश्वस्मिन् वा, रमणीयतामावहति सुषमाविशेषं चमत्कारोत्कर्षं वाऽऽदधातीति निर्विवादं निर्णीतमित्यर्थः ।

बुधानां बुद्धिवैविध्येन रसस्य स्वरूपनिरूपणे प्रकारबाहुल्येऽपि विच्छित्तिविशेषाधायकत्वे न काचिद्विमतिरित्यभिसन्धिः ।

इस प्रकार विद्वज्जनों ने, यद्यपि अनेक प्रकार की बुद्धियों के द्वारा रस को अनेक रूपों में समझा है, तथापि इस बात में किसी तरह का विवाद नहीं है कि रस अलौकिक आनन्द का व्याप्य पदार्थ है और वह संसार में एक सौन्दर्यमय वस्तु है ।

एवं रसस्य स्वरूपं निरूप्य प्रकारानाचष्टे—

स च—

> **'शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा ।**
> **हास्यो भयानकश्चैव, बीभत्सश्चेति ते नव ॥'**

इत्युक्तेर्नवधा ।

स रसः शृङ्गारादिभेदेन नवधा नवप्रकारक इत्यर्थः ।

अब रस के भेदों को दिखलाते हैं—'स च' इत्यादि । पूर्वोक्त रस के शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और विभत्स ये नौ भेद हैं ।

नन्वेतदुक्तौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

मुनिवचनं चात्र प्रमाणम् ।

अत्रास्यां रसनवविधावुक्तौ, मुनेर्महर्षिभरतस्य—'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः । बीभत्सा-द्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥' इति नाट्यशास्त्रोक्तं वचनं च (चकारात्सहृदयानुभवः) प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

रस की इस सङ्ख्या में भरत मुनि का वचन ही प्रमाण है । अपने नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने 'शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः । वीभत्साद्भुत-शान्ताश्च काव्ये नवरसाः स्मृताः ॥' यह वचन कहा है ।

अथ नाट्ये शान्तरसस्याभावमाशङ्कते—

केचित्तु—

> **'शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।**
> **अष्टावेव रसा नाट्ये, न शान्तस्तत्र युज्यते ॥' इत्याहुः ।**

नामानुपादानेन तुना चैतन्मतस्यारुचिग्रस्तता सूच्यते ।

शान्तस्य रसस्य, शमसाध्यत्वाच्छान्तिस्थायिकत्वात्, नटे वास्तविकसहृदयताविधुरे केवलशिक्षाभ्यासादिनाऽनुकरणपटीयसि, तस्य शमस्यासम्भवाच्च हेतोः, नाट्येऽभिनेयकाव्ये, अष्टौ शृङ्गारप्रभृतय एव रसा भवन्ति, तत्र नाट्ये शान्तो रसो न युज्यते (नटस्य शमाभावात्) इत्यर्थः । केचिदित्यस्य—इत्याहुरित्यनेन सम्बन्धः ।

शान्तरसस्थायिशमस्य नटेऽसहृदयेऽसम्भवान्नाट्ये शान्तातिरिक्ता एवाष्टौ रसा इति पूर्वपक्षस्य सारम् ।

नाटक में शान्त-रस नहीं हो सकता इस परकीय शङ्का का स्वरूप दिखलाते हैं—'केचित्तु' इत्यादि। नाटक में आठ ही रस होते हैं, शान्त नहीं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं और वे अपने कथन में युक्ति यह देते हैं कि शान्त रस की सिद्धि शम (शान्ति) से ही हो सकती है, जो (शान्ति) वैराग्य से सम्बन्ध रखता है और नट ठहरा सांसारिक झमेलों में आसक्त जीव, अतः उसमें शान्ति की सम्भावना नहीं, फिर नाटक में शान्तरस हो, तो, कैसे?

समादधाति—

तच्चापरे न क्षमन्ते। तथाहि—नटे शमाभावादिति हेतुरसङ्गतः, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात्। सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

इदमुच्यते—नटे शमासम्भवो न तु सामाजिके। नटे तु 'यतः कश्चिन्न रसं स्वदते नटः' इत्युक्तेर्नटे रसास्वादाभावः। सहृदयत्वमेव हि रसास्वादकताऽवच्छेदकं न तु नटत्वम्। यश्च क्वचिन्नटस्यास्वादः, स तस्य काव्यार्थभावनया, सहृदयत्वेनैव 'काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्' इति दर्पणात्। किञ्च—वक्ष्यमाणक्रमेण श्रव्ये महाभारतादौ शान्तरसस्वीकृतौ न कस्यापि विमतिः। दृश्यकाव्ये तु नटे वास्तविकशमाभावादभिनयासम्भवात् केचिन्न मन्यन्ते। परेतु तत्रापि 'अष्टावेव रसा नाट्ये-ष्विति केचिदचूचुदन्। तदचारु, यतः, 'कश्चिन्न रसं स्वदते नटः॥' इत्यभियुक्तोक्तिमनुसृत्य, प्रबोधचन्द्रोदयाद्यभिनये रसं साक्षात्कृत्य च तमूरीकुर्वन्ति। तस्य स्थायिनं केचन निर्वेदं मन्यन्ते। अपरे निर्वेदस्य विश्वविषयालम्प्रत्ययात्मकस्यात्मावमानरूपस्य वा, चमत्कारित्वाभावं व्यपदिश्य, सकलतृष्णानिवृत्तिजन्यात्मपरिपूर्णत्वरूपविलक्षणानन्दलक्षणम्—'यच्च काम सुखं लोके, यच्चदिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।' इत्युक्तमहिमानं शममेव तथा व्याहरन्तीति दिक्।

उक्त शङ्का का समाधान करते हैं—'तच्चापरे' इत्यादि। दूसरे लोग उक्त शङ्का-कारक की बात को मानना नहीं चाहते। उनका कथन है कि नाटक में शान्तरस के न होने में आपने जो यह हेतु दिया है कि 'नट में शान्ति की सम्भावना नहीं है', वह संगत नहीं, क्योंकि हम लोग नट में रस की अभिव्यक्ति मानते ही नहीं, फिर उसकी शान्ति अथवा अशान्ति से हमें क्या लेना देना? जहां हम रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सामाजिक यदि शान्ति-युक्त होंगे, तब उनमें रसोद्बोध होगा ही, वहां उसके होने में तो किसी तरह की बाधा है नहीं।

नटे शमानङ्गीकारेऽनुपपत्तिं प्रकाश्य निरस्यति—

न च नटस्य शमाभावात् तदभिनयप्रकाशत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तस्यभयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसङ्गत्यापत्तेः।

प्रथमेन तच्छब्देन शमस्य, मध्यमेन नटस्य, चरमेण च भयक्रोधादेः परामर्शः।

यदि नटे शमः स्यात्, तदा स तदभिनयं विधातुं क्षमेत। न च तथा, तस्मादभिनेयकाव्ये शान्तरसो नोचित इति पूर्वपक्षे, यद्यपि नटे वास्तविकः कोऽपि स्थायी न तिष्ठति, तथापि शिक्षाभ्यासादिबलेन तदभिनयं सोऽनुतिष्ठतीति वस्तुस्थितौ, नटे शमस्यविरहेऽपि तदभिनयानुष्ठानेनासङ्गतिः। अन्यथा नटे रौद्रस्थायिक्रोधस्य, भयानकस्थायिभयस्य चासत्त्वात्तदभिनयानुष्ठानस्याप्यसङ्गत्यापत्तिरित्युत्तरम्।

यदि आप कहें कि शान्ति-विहीन नट शान्त-रस के अभिनयों को प्रकाशित नहीं कर सकता, तब हम आपसे कहेंगे कि नट, भयानक अथवा रौद्र रस की अभिव्यक्ति के लिये अभिनय करता है, यह तो आप भी मानते हैं, परन्तु आपके शान्तरस विषयक इस नूतन तर्क के अनुसार वह भी असंगत हो जायगा, क्योंकि नट में जैसे वास्तविक शान्ति नहीं

रहती, उसी तरह वास्तविक भय और क्रोध भी नहीं रहते, अतः इस कारण से अगर शान्तरस के अभिनय करने का अधिकारी वह नहीं होता तो भयानक और रौद्र रस के अभिनय का अधिकारी न होना भी उसके लिये उचित प्राप्त है।

पुनःपूर्वपक्षं विधाय निराकरोति—

यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधबन्धादीनामुत्पत्त्य-सम्भवेऽपि, कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित उत्पत्तौ नास्तिबाधकमिति निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्।

नटे वास्तवस्य क्रोधादेरभावाद्वास्तवानि क्रोधादिकार्याणि शत्रूणां वधबन्धप्रभृतीनि नोत्पत्तुं सम्भवन्ति, किन्त्ववास्तवक्रोधादीनां सत्त्वादवास्तवानि तत्कार्याणि गर्जनतर्जनादीनि शिक्षाभ्यासादिबलाद् बाधकवैधुर्यात् कथं नोत्पद्येरन्निति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यमालोक्यते चेत्, तर्हि नटेऽपि वास्तवशमाभावेन वास्तवशमाकार्याणां सकलतृष्णाविरामादीनामुत्पत्तेर-भावेऽपि, कल्पितशमकार्याणामक्षिनिमीलनादीनां शिक्षाभ्यासादिबलादुत्पत्तिबोधकाभावात् कथं न स्यादुभयोर्वैषम्यविरहादित्याशयः।

यदि आप कहें कि नट में क्रोध आदि के न होने के कारण क्रोधादिक के वास्तविक कार्य वध-बन्धन आदि के उत्पन्न न होने पर भी कृत्रिम (बनावटी) वध-बन्धन आदि की शिक्षा और अभ्यास आदि से उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होती, तब हम कहेंगे कि यहां भी वैसा ही समझिये अर्थात् वास्तविक शम के अभाव में वास्तविक शम-कार्य शरीर में अनास्था आदि के न होने पर भी शिक्षादि से नट बनावटी शम के कार्यों को दिखला सकता है।

पुनश्शङ्कते—

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्, सामाजिकेष्वपि विषयवैमुख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत्।

गीतवाद्यादयो हि विशेषेण श्रोतुर्मनः सिन्वन्तीति विषया मनोविक्षेपकृतः, तेषां शमविरोधिनां नाट्ये प्राचुर्येण सत्त्वाद् विषयेभ्यो वैमुख्यमात्मास्वरूपं यस्य, तादृशस्य विषयविरुद्धस्वभावस्य शान्तरसस्य, सहृदयेऽपि (किमुत नटे) कथम्, उद्रेक आविर्भावो भवेत्? तस्मान्न नाट्ये शान्तो रस इति पूर्वपक्षाभिप्रायः।

एक शङ्का आप यह उपस्थित कर सकते हैं कि नाटक में शान्त रस के विरोधी गीत, वाद्य आदि वस्तुओं के विद्यमान रहने पर सामाजिकों में भी शान्तरस का उदय कैसे होगा? क्योंकि विषयों से विमुख होना ही शान्त रस का स्वरूप है।

उत्तरयति—

नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात् तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन् विरोधिताया अकल्पनात्।

ये नाट्येऽपि शान्तं रसं स्वीकुर्वन्ति, ते देवविषयकभावे विषयवैमुख्यसद्भावेऽपि, तद्भावा-नुकूलस्य गीतवाद्यादेर्यथा फलानुरोधेन विरोधितां न मन्यन्ते, तथाऽत्रापीत्युत्तरपक्षाशयः।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि शान्तरस-प्रधान नाटक के दर्शन से सहृदय सामाजिकों में शान्त रस का उदय होते देखते हैं, अतः नाटक में शान्त रस को स्वीकार करने वाले उन गीत-वाद्यादिकों को शान्त रस के विरोधी नहीं मानेगें, क्योंकि फल के अनुसार ही कारण की कल्पना की जाती है।

उत्तरपक्षं समर्थयन्नुक्तव्यवस्थातिक्रमे दोषमाह—

विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे, तदीयालम्बनस्य संसारा-

नित्यत्वस्य, तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः ।

तत्र शान्तरसे । पुण्यवनानि वृन्दावन-नैमिषारण्यप्रभृतीनि । तीर्थानि काश्यादीनि ।

विषयचिन्तासामान्यमेव शान्तरसविरोधीति गीतवाद्याद्यनुकूलविषयसम्बन्धेऽपि, न नाट्ये शान्तरस इत्यपि वक्तुं न शक्यम्, यत एवमङ्गीकारे शान्तरसालम्बनोद्दीपनयोरपि विषयत्वाच्छ्रव्यकाव्येऽपि तदसत्त्वमापद्येत, तस्मादनुकूलानां विषयाणां विरोधित्वं न कल्पनीयमित्यभिप्रायः ।

दूसरी बात यह कि विषय-चिन्तन-मात्र को यदि शान्त रस के विरोधी मान लिया जाय, तब शान्त रस का आलम्बन-संसार का अनित्य होना एवम् उसके उद्दीपन-पुराणों का सुनना, सत्सङ्ग, पवित्र वन और तीर्थों के दर्शन आदि भी विषय ही हैं, अतः वे सब भी शान्त रस के विरोधी हो जायँगे। इसलिये जिनमें शान्त रस के अनुकूल वर्णन हो, वे भजन-कीर्तन आदि उसके विरोधी नहीं हैं, अपितु उसके अभिव्यञ्जक ही हैं, ऐसा मानना चाहिए।

उक्तार्थे प्राचीनसम्मतिं दर्शयन् निगमयति—

अत एव च चरमाध्याये सङ्गीतरत्नाकरे—

'अष्टावेव रसा नाट्ये-ष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु, यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥'

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम् ।

अत एवेत्यस्य व्यवस्थापितमित्यत्र सम्बन्धः । सङ्गीतरत्नाकरनामा प्राचीनसङ्गीतविद्याप्रबन्धः । अचूचुदन् व्याहार्षुः । अचारु सङ्गतिशून्यतयाऽसुन्दरम् । यत इत्यादिना तद्धेतूपन्यासः । कञ्चित् कञ्चिदपि । स्वदत इत्यन्तर्भावितण्यर्थत्वादास्वादयतीत्यर्थकम् । अन्यथाऽर्थासङ्गतिर्नटपदाच्चतुर्थ्या दुर्निवारत्वं च स्यात् ।

यथा नटे नानास्वादितानामपि रसान्तराणां नाट्ये सत्त्वं स्वीक्रियते, तथैव शान्तस्यापि स्वीकरणीयम्, वैषम्ये बीजानुपलम्भादित्याकूतम् ।

उक्त अर्थ में प्राचीनों की सम्मति दिखलाते हैं—'अत एव च' इत्यादि। जिसलिये वे गीत-वाद्य, शान्त रस के विरोधी नहीं हैं और नाटक में भी शान्त रस का होना उचित है, इसी लिये 'संगीत रत्नाकर' के अन्तिम अध्याय में 'अष्टावेवर सानाट्ये इत्यादि अर्थात् नाटकों में आठ ही रस होते हैं' ऐसा कुछ लोग कहे हैं, परन्तु उनका वह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि नट किसी रस का आस्वादन नहीं करता-इत्यादि उक्ति के द्वारा-नाटकों में भी शान्त रस होता है यह सिद्ध किया है।

नाट्ये शान्तरसाभावाभ्युपगमेऽप्यन्यत्र तत्सत्त्वस्वीकृतिरावश्यकीत्याह—

यैरपि नाट्ये शान्तो रसोनास्तीत्यभ्युपगम्यते, तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः ।

नाट्ये शान्तरसाभावं वदन्तोऽपि बाधकानुपलम्भाद् महाभारतप्रभृतिप्रबन्धेषु शान्तरसप्राधान्यस्य सकलसहृदयानुभवसिद्धतयाऽनपलपनीयत्वेन शान्तरसस्य नाट्येतरकाव्ये सत्तामवश्यं स्वीकुर्युरित्येतावताऽपि शान्तरससत्ता, रसानां नवता च सिध्यत्येवेत्यभिसन्धिः ।

नाटकों में शान्त रस को न मानने पर भी काव्य में उसका मानना आवश्यक है इसी बात का उल्लेख करते हैं—'यैरपि' इत्यादि। आशय यह है कि जो लोग नाटकों में शान्त रस नहीं मानते हैं उन्हें भी काव्यों में उसको (शान्त रस को) अवश्य मानना

चाहिए क्योंकि उनके हिसाब से भी वहां उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महाभारत आदि ग्रन्थों में शान्त रस ही प्रधान है' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

पुनः शान्तरससत्तामेव समर्थयन् सन्दर्भमुपसंहरति—

अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य, 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति मम्मटभट्टा अप्युपससमहार्षुः।

अत एव काव्ये शान्तरससत्त्वादेव। उपक्रम्य प्रारभ्य। उपसमहार्षुः समाप्तिमकार्षुः।

श्रव्यकाव्येऽपि शान्तरसानङ्गीकारे 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इत्युपसंहारोक्तिर्मम्मट-भट्टानां शान्तरसस्य, तन्नवमत्वस्य चाभावच्च सङ्गच्छेत, तस्मात् काव्ये शान्तरससत्ता निर्विवादैवेति सारम्।

इसीलिये मम्मट भट्ट ने भी 'नाटकों में आठ रस होते हैं' इस तरह से आरम्भ करके 'शान्त नामक एक नवम रस भी है' इस रूप में उपसंहार किया है। अर्थात् काव्यों में शान्त रस का होना मम्मट भट्ट के मतानुसार भी सिद्ध है। अतः रसों की कुल संख्या नौ है, यह निस्सन्देह बात है।

एवं रसान् परिगणय्य, तेषामास्वादे भेदाभावान्मिथोऽभेदे प्रसक्ते, स्थायिभेदेन भेदं दिदर्शयिषुः स्थायिभावान् क्रमेण परिगणयति—

अमीषां च—

रतिः शोकश्च निर्वेद–क्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च, स्थायिभावाः क्रमादमी॥

अमीषां शृङ्गारादिरसानाम्। क्रमात् शृङ्गारस्य रतिः, करुणस्य शोकः, शान्तस्य निर्वेदः, रौद्रस्य क्रोधः, वीरस्योत्साहः, अद्भुतस्य विस्मयः, भयानकस्य भयम्, बीभत्सस्य च जुगुप्सा स्थायिभावः। एतेषां स्वरूपमग्रे स्फुटीभविष्यति।

अब इन रसों के स्थायीभावों के नाम गिनते हैं—'अमीषां च' इत्यादि। उक्त रसों के क्रमशः रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, भय और जुगुप्सा ये स्थायीभाव होते हैं। अर्थात् शृङ्गार का रति, करुण का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हास, भयानक का भय और बीभत्स का जुगुप्सा स्थायीभाव होता है।

अथ प्रागुक्तमतभेदेन रसानां स्थायिभ्यो भेदं दर्शयति—

रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथम–द्वितीयमतयोः, सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः।

अभिनवगुप्त–भट्टनायकमतयो रत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रसत्वाङ्गीकारात् तयोरवच्छेद्या-वच्छेदभावरूपो भेदः। तृतीये नव्यमते प्रातिभासिकरत्यादेरसत्वाङ्गीकारात् तयोः सादृश्यात्मा-भेदः। चतुर्थे परकीयमते रत्यादिविषयकज्ञानस्य रसत्वाङ्गीकाराद् विषयविषयिभावरूपो भेदो बोध्य इत्यर्थः।

पञ्चमषष्ठमतयोस्तु रस–स्थायिनोरभेदः। सप्तमादिषु तु मतेषु स्थायिनोऽनुपादानमेवेति मतचतुष्टय एव भेदो वर्णितः।

रसों और स्थायीभावों में क्या भेद होता है इसी बात का विवेचन मतभेद से करते हैं—'रसेभ्यः' इत्यादि। अभिनव गुप्त और भट्टनायक के मतों (जो इस ग्रन्थ में प्रथम

और द्वितीय है) के अनुसार रस और स्थायीभाव में परस्पर वैसा ही भेद है, जैसा घट और उसके अन्तर्गत आकाश में है। अर्थात् जैसे व्यापक आकाश घटरूप उपाधि के अन्दर घिर कर छोटा सा हो जाता है, उसी तरह व्यापक चैतन्य रति आदि स्थायीभाव रूप उपाधि से ग्रस्त होकर केन्द्रित सा हो जाता है। तृतीय नव्य मत के अनुसार रस और स्थायीभाव में वैसा भेद है, जैसा सत्य-चाँदी और काल्पनिक चांदी में है अर्थात् रस काल्पनिक चांदी सा है और स्थायीभाव सत्य चांदी सा। चतुर्थ परकीय मत के हिसाब से उन दोनों में उस तरह का भेद है, जिस तरह का भेद ज्ञान और उसके विषय में होता है अर्थात् रस ज्ञानरूप है और स्थायीभाव विषयरूप।

ननु रत्यादीनां पारमार्थिकस्थिरत्वाभावात् कथं स्थायित्वमित्यत आचष्टे—

तत्र आ प्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्।

रत्यादीनां वस्तुतः कूटस्थत्वविरहेऽपि, तत्र काव्येषु, आप्रबन्धं प्रबन्धमभिव्याप्य, स्थिरत्वात् स्थायित्वमित्यर्थः।

रत्यादयो हि कूटस्थतया न स्थायिनः, किन्तु व्यभिचार्यपेक्षया नियमेन प्रबन्धव्यापक-स्थितिशालित्वादिति सारांशः।

ये पूर्वोक्त भाव सब स्थायी क्यों कहलाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—'तत्र' इत्यादि। ये भाव कूटस्थ नित्य नहीं हैं, वरन् जैसे व्यभिचारीभाव किसी भी सम्पूर्ण प्रबन्ध में अनेक बार आते, जाते और बदलते रहते हैं, उस तरह ये भाव बदलते नहीं अर्थात् ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त बने रहते हैं, अत एव स्थायी कहलाते हैं।

पुनरशङ्कते—

न च चित्तवृत्तिविशेषरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम्, वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम्।

एषां रत्यादीनाम्। अतिप्रसक्तमतिव्याप्तम्।

चित्तस्यातिचपलत्वात् तद्वृत्तीनां क्षणभङ्गुरतया वक्ष्यमाणरीत्या तदेकरूपाणां रत्यादीनां स्थिरत्वं न सम्भवति। न च तेषां क्षणिकत्वेऽपि तद्वासनाख्यसंस्काराणामक्षणिकत्वात् तद्रूपाणामेव तेषां स्थिरत्वं सम्भवति, एवं सति, व्यभिचारिवासनाया अप्यक्षणिकत्वाद् व्यभिचारिणामपि स्थायित्वप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षः।

यदि आप कहें कि ये रति आदि भाव तो चित्तवृत्तिरूप हैं, अत एव क्षणभर के बाद नष्ट हो जाने वाले पदार्थ हैं इसलिये सम्पूर्ण ग्रन्थ में इनका स्थिर रहना असम्भव है, फिर ये (भाव) स्थायी कैसे कहला सकते हैं ? और वासना (संस्कार) रूप से इनको स्थिर मानने पर व्यभिचारी भाव भी स्थायी कहलाने लगेंगे, क्योंकि वासनारूप से वे भी अन्तःकरण में सदा वर्तमान रहते हैं।

समादधाति—

वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात्। व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्द्योतप्रायत्वात्।

अमीषां रत्यादीनाम्। मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेः पुनःपुनःप्रतीतेः। विद्युद्द्योतप्रायत्वात् कादाचित्कत्वात्।

नैरन्तर्येण भूयो भूयो वा प्रतीयमानत्वमेवात्र स्थिरत्वम्। तच्च स्थायिनामेव, न तु व्यभिचारिणाम्, विद्युत्प्रकाश इव कदाचिदेव तेषां प्रतीतिरिति प्रसिद्धत्वादित्युत्तरम्।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि वासनारूप रति आदि भावों की पुनः पुनः अभिव्यक्ति ही यहां स्थिरता विवक्षित है अर्थात् रति आदि भाव समग्र ग्रन्थ में बार बार प्रतीत होते

हैं यही उनकी स्थायिता है व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति तो बिजली की तरह क्षण-भङ्गुर होती है अर्थात् जिस तरह बिजली कभी कभी ही चमकती है बराबर नहीं, उसी तरह ग्रन्थ भर में दो चार बार भले ही किसी व्यभिचारी भाव की प्रतीति हो जाय, परन्तु नियमतः सम्पूर्ण ग्रन्थ में उसकी प्रतीति नहीं होती अतः वे स्थिर नहीं कहला सकते।

उक्तार्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

'विरुद्धैरविरुद्धैर्वा, भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु, स स्थायी लवणाकरः॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते, सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते, प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥

चिरमिति व्यभिचारिवारणाय। अनुबन्धिभिर्विभावाद्यैः।

तथा—

'सजातीयविजातीयै-रतिरस्कृतमूर्त्तिमान्।
यावद्रसं वर्तमानः, स्थायिभाव उदाहृतः॥' इति।

अनुबन्धिभिः सम्बधिभिर्विभावादिभिः। लवणाकरः क्षारसमुद्रसदृशः।

यथा क्षारसमुद्रः स्वादिष्टैरस्वादिष्टैर्वा नदीपूरैर्मिश्रितोऽपि स्वभावं न जहाति, किन्तु तानेव स्वभावं प्रापयति, तथैव यो भावः प्रतिकूलैरनुकूलैर्वा विभावादिभिर्मिलितोऽपि स्वभावं न जहाति (विच्छेदं न प्राप्नोति), अपितु तान् भावानेव स्वभावं प्रापयति, स स्थायी भाव इति प्रथमकारिकार्थः।

ये (वासनारूपेण) चिरं (नतु व्यभिचारिवत् कदाचिदेव) चित्ते तिष्ठन्ति, तथाऽनु-बन्धिभिर्विभावादिभिः सम्मिलिता भवन्ति, किञ्च रसत्वं प्राप्नुवन्ति, तेऽत्र काव्ये स्थायिनो भावाः प्रसिद्धा भवन्तीति द्वितीयकारिकार्थः।

सदृशैरसदृशैर्वा भावैर्यस्य स्वरूपपरिवर्तनं न भवति, तथा यः स्रक्सूत्रन्यायेन रस-सत्तामभिव्याप्य तिष्ठति स काव्ये स्थायीभावः कथितो भवतीति तृतीयकारिकार्थः। तदेवोक्त-मन्यत्रापि—विरुद्धा 'अविरुद्धा वा, यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ, भावः स्थायीति सञ्ज्ञितः।' इति। विरुद्धत्वं तु तत्र केषाञ्चिद् व्यभिचारिभावानां बोध्यम्।

उक्त अर्थ को प्राचीनों की सम्मति दिखलाकर प्रमाणित करते हैं—'यदाहुः' इत्यादि। प्राचीनों ने भी उक्त अर्थ को अपनी अपनी सम्मति देकर प्रमाणित किया है। उन लोगों ने लिखा है कि स्थायीभाव उसको कहते हैं, जो विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, परन्तु विरोधीभावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, और क्षारसमुद्र के समान है अर्थात् जिस तरह क्षार समुद्र में जाकर सब वस्तुएँ क्षार हो जाती हैं, उसी तरह जिससे मिलकर सब तद्रूप हो जाते हैं। जो भाव बहुत काल तक चित्त में वासना रूप से रहते हैं, विभावादिकों के साथ सम्बद्ध होते हैं और अन्त में रसरूप बन जाते हैं, वे यहाँ (साहित्य में) स्थायीभाव नाम से प्रसिद्ध हैं। तथा—जिस भाव का स्वरूप, सजातीय अथवा विजातीय किसी भाव से तिरस्कृत अर्थात् परिवर्तित न हो सके, और जो जब तक रस का आस्वादन हो, तब तक वर्तमान रहे, उसीको स्थायीभाव कहते हैं।

स्थायिलक्षणे मतान्तरमुपन्यस्य निरस्यति—

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः, तन्न, रत्यादीनामेकस्मिन् प्ररूढे-ऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वोपगमात्।

यतो रत्यादयः स्वरूपेणैव न स्थायिभावाः, किन्तु प्ररोहेण, अप्ररोहे तु तेऽपि प्ररूढस्य

भावान्तरस्य वक्ष्यमाणरीत्या व्यभिचारिभावा एव भवन्तीत्यस्यां स्थितौ, रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमिति लक्षणस्य, नाममात्रेण स्थायिषु, प्ररोहाभावात्तु व्यभिचारितामापन्नेषु रत्यादिष्वेवातिव्याप्तिः। तस्मादेतल्लक्षणमसङ्गतमिति भावः। यदि च तदतिव्याप्तिवारणाय रत्यादिषु प्ररूढत्वं निवेश्येत, तथापि तत्तद्भिन्नभिन्नत्वस्यान्यतमत्वादनुयोगि-प्रतियोगित्वाभ्यां जगतः प्रवेशेन गौरवमापतेत्। तत्तद्भेदकूटप्रतियोगिकाभाववत्त्वमेवान्यतमत्वमित्यङ्गीकारे तु न गौरवमिति विभावनीयम्।

स्थायीभाव के लक्षण के विषय में परमत का उत्थान कर उसका खण्डन करते हैं—'केचित्तु' इत्यादि। कुछ लोगों का कथन है कि—पूर्वोक्त रति आदि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायीभाव कहलाने के लिये पर्याप्त परिचय है। परन्तु वह परिचय पर्याप्त हो नहीं सकता, क्योंकि वे रति आदि भाव तत्तन्नामधारी होने पर भी जहाँ अप्ररूढ़ अर्थात् दबे हुए रहते हैं, वहाँ उन्हीं रति आदि भावों में से जो प्ररूढ़ अर्थात् समृद्ध रहता है उसके व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। इस स्थिति में यदि रति आदि नामधारी होने से वे भाव स्थायी भी कहलाने लगें, तब तो, वहाँ भी वे स्थायी कहलाने लगेंगे जहाँ अप्ररूढ़ होने के कारण वस्तुतः वे व्यभिचारी हो गये हैं। अतः उक्त परिचय-पत्र (लक्षण) ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त उस लक्षण में अन्यतमत्व का प्रवेश कराया गया है और अन्यतमत्व पदार्थ तत्तद्भेद-कूट-प्रतियोगिकाभाववत्त्व रूप है, जिसमें अनेक नञर्थ सन्निविष्ट हैं, अतः उक्त लक्षण गौरव-ग्रस्त होने के कारण भी अग्राह्य-कोटि में जा पड़ता है, यह समझना चाहिए।

प्रसङ्गाद् भावानां प्ररोहाप्ररोहौ निरूपयति—

प्ररूढत्वाप्ररूढत्वे बह्वल्पविभावजत्वे।

बहुविभावजन्यत्वं प्ररूढत्वम्, अल्पविभावजन्यत्वं त्वप्ररूढत्वमित्यर्थः।

ऊपर के ग्रन्थ में आये हुए 'प्ररूढ' और 'अप्ररूढ' शब्द की व्याख्या करते हैं—'प्ररूढ' इत्यादि। अर्थात् बहुत विभावों से जिसकी उत्पत्ति हो वह प्ररूढ और थोड़े विभावों से जिसकी उत्पत्ति हुई हो, वह अप्ररूढ कहलाता है।

तत्र दार्ढ्याय प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तं रत्नाकरे—

'रत्यादयः स्थायिभावाः, स्युर्भूयिष्ठविभावजाः।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्ना-स्त एव व्यभिचारिणः॥' इति।

भूयिष्ठं विपुलं स्तोकं चाल्पम्। विभावपदमनुभाव-व्यभिचारिभावयोरप्युपलक्षकम्। अत्रैव सङ्गीतरत्नाकरोपात्त-विभावपदोत्तरबहुवचनस्वरसः। भूयिष्ठैर्विभावादिभिर्जनिताः 'कारण-गुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इत्युक्तेर्बलवत्तमा रत्यादयः स्थायिभावाः, अल्पैर्विभावादिभिर्जनितास्तु दुर्बला व्यभिचारिणो भवन्तीत्यर्थः।

प्ररूढ और अप्ररूढ पद की स्वकृत व्याख्या को प्राचीनों के उद्धरण देकर प्रमाणित करते हैं—'तदुक्तं रत्नाकरे' इत्यादि। रत्नाकरकार ने भी उक्त व्याख्या के अनुकूल भाव व्यक्त किये हैं। उन्होंने लिखा है कि प्रभूत विभादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं, और वे ही अल्प विभाव आदि से उत्पन्न होकर व्यभिचारी भाव कहलाते हैं।

इदानीं कस्य स्थायिनः कुत्र रसे व्यभिचारित्वमविनाभावित्वं च भवतीत्याख्याति—

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासः, व्यभिचारी भवति नान्तरीयकश्च।

मध्यमश्चकारो भिन्नक्रमः सङ्गत्यनुरोधात्।

एकभावप्ररोहेऽपरभावाप्ररोहाभ्युपगमादुत्साहप्ररोहेण वीररसे प्रधाने, रौद्रस्थाय्यपि क्रोधोऽप्ररूढत्वेन व्यभिचारी, क्रोधं विना वीररसपरिपोषासम्भवादत्यावश्यकतया नान्तरीयकश्च भवति, रौद्ररसे प्रधाने वीरस्थाय्युत्साहः, शृङ्गाररसे प्रधाने हास्यस्थायी हासश्च व्यभिचारी नान्तरीयकश्च भवतीत्यर्थः। एवमेकस्यैवैकत्र स्थायितायाः परत्र व्यभिचारितायाश्च प्ररोहाप्ररोहाभ्यां दर्शनाद् रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायिलक्षणं न सङ्गतमिति भावः।

इस प्रकार स्वीकार करने पर वीर रस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और शृङ्गार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी हो जाते हैं और उनका वहाँ रहना आवश्यक भी है अर्थात् क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र और हास के बिना शृङ्गार रस हो भी नहीं सकते, क्योंकि वे ही उन रसों के पोषक हैं।

विशेषमाह—

यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते, तदा तु रसालङ्कार इत्यादि बोध्यम्।

यदा पुनः प्रधानस्य मुख्यस्य, रसस्य परिपोषार्थं सोऽङ्गभूतो भावोपि, बहुविभावजो रसत्वसम्पादकविभावादिसामग्रीसंवलितः क्रियते, तदा सामग्रीसमवधानाद् रसत्वमापन्नस्य तस्य प्रधानीभूतरसाङ्गत्वाद् रसालङ्कारो रसवदलङ्कारो भवतीत्यर्थः। तदुक्तं ध्वनिकारेण—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥' इति।

अन्यत्र तु रतेरन्योन्यनिष्ठत्वे शृङ्गारस्थायित्वम्, अपरिपोषे देवादिविषयकत्वे वा भावत्वम्, उपपतिविषयकत्वादौ च भावाभासत्वम्। तथाहि—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः। भावः प्रोक्तः' इति प्रकाशे। 'रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा। अन्याङ्गभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्॥' इति प्रदीपे। 'उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च। बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठयाम्। प्रतिनायकनिष्ठत्वे, तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते शृङ्गारेऽनौचित्यम्' इति दर्पणे च।

क्वचित् पुनः—नायकमिथुनान्योन्यविषयिका रतिः शृङ्गाररसस्थायिभावः, देवादिपूज्यविषयिका च श्रद्धाभक्तिरसस्थायिभावः, पुत्राद्यनुकम्पनीयविषयिका च वात्सल्यं वत्सलरसस्थायिभावः, प्रत्यपादि।

जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिये उस अङ्गभूत क्रोध आदि को भी बहु-विभाव-जन्य बना देते हैं, तब वे व्यभिचारी भाव न कहलाकर 'रसवत्' अलंकार कहलाते हैं—इत्यादि समझना चाहिए।

अथ स्थायिभावान् क्रमेण लक्षयन्नादौ शृङ्गाररसस्थायिरतिं लक्षयति—

तत्र—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः। गुरु-देवता-पुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी।

तत्र तेषां स्थायिभावानां मध्ये, नायिकानिष्ठो नायकविषयकः, नायकनिष्ठो नायिकाविषयकश्च प्रेमाख्यः प्रीत्यपरपर्यायश्चित्तवृत्तिविशेषः 'रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' इत्युक्तस्वरूपो मनस उत्कटावेश एव 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इतिदर्शनाद् रतिःशृङ्गाररसस्य स्थायिभावो भवति विपुलविभावादिजन्यत्वादित्यर्थः।

अब स्थायीभावों के लक्षण करने के क्रम में सर्व प्रथम रति का लक्षण करते हैं—'स्त्री

पुंसयो' इत्यादि । स्त्री-पुरुष की, एक दूसरे के विषय में, प्रेम नामक जो चित्त-वृत्ति होती है, उसको रति संज्ञक स्थायीभाव कहते हैं । वही प्रेम यदि गुरु, देवता अथवा पुत्र आदि के विषय में हो, तब व्यभिचारीभाव कहलाता है ।

द्वितीयं करुणरसस्थायिभावं शोकं लक्षयति—

पुत्रादिवियोग-मरणादिजन्मावैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ।

पुत्रादीनां पुत्रप्रभृत्यभीष्टसम्बन्धिनां वियोगान्मरणादेश्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, तादृशो वैक्लव्याख्योऽवसादलक्षणः 'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोकशब्दभाक्' इत्यन्यत्रोक्तस्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो बहुविभावजः शोकः करुणरसस्य स्थायिभावो भवतीत्यर्थः ।

अन्ये तु—'इष्ट नाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' इत्यादिदर्शनादिष्टनाशवदनिष्टाप्तेरपि वैक्लव्यजनकत्वम्, मनुष्याणामिव मनुष्येतराभीष्टप्राणिनाम्, प्राणीतराभीष्टवस्तूनां च विनाशाद्, अनिष्टानां प्राणिनामप्राणिनामप्यापतनाच्चोत्पन्नं चित्तावसादं शोकं करुणरसस्थायिनं व्याहरन्ति ।

शोक का लक्षण करते हैं—'पुत्रादि' इत्यादि । पुत्र-प्रभृति इष्ट जनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता नामक जो एक चित्त-वृत्ति होती है उसको शोक कहते हैं । यहाँ एक बात और समझने योग्य है । 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट के विनाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण नामक रस होता है । इस प्राचीनोक्ति के अनुसार कतिपय विद्वानों का मत है कि जैसे इष्ट के विनाश से व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी तरह अनिष्ट की प्राप्ति से भी, साथ साथ उस इष्ट अथवा अनिष्ट का मनुष्य होना ही आवश्यक नहीं है, वह मनुष्य भी हो सकता है, मनुष्य से भिन्न प्राणी भी हो सकता है और प्राणी से भी भिन्न कोई अचेतन वस्तु हो सकती है, इस तरह से पर्यवसित यह हुआ कि किसी भी इष्ट पदार्थ के नाश से अथवा किसी भी अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति से जो व्याकुलता होती है, वह शोक और करुण रस का स्थायी भाव भी है । इस मत के अनुसार प्रिय कुत्ता का मरण, प्रिय अँगूठी का कहीं खो जाना तथा लिए गये कर्ज के रुपये मागने के लिये आया हुआ प्यादा आदि को भी आधार बनाकर करुण रस प्रधान काव्य की सृष्टि की जा सकती है ।

ननु लक्षणघटकपुत्रादिपत्न्याश्चापि ग्रहणात् तद्वियोगेऽपि शोकस्याङ्गीकाराद् विरहहेतुको विप्रलम्भशृङ्गारो निर्विषयः स्यादित्यत आह—

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः, वैक्लव्यं तु सञ्चारिमात्रम् ।

स्त्रीपुंसयोः स्त्री च पुमांश्च तयोः, वियोगे विभिन्नस्थानवासे, एकत्रापि दर्शनाद्ययोगे, जीवितत्वज्ञानदशायां मम प्रणयिजनो जीवति न तु मृत इति ज्ञानस्य स्थितौ, वैक्लव्येन पोषितायाः शृङ्गारस्थायिरतेरेव प्राधान्याद्धेतोः, विप्रलम्भाख्यो विरहहेतुकविप्रलम्भनामा शृङ्गारः (न तु करुणः) रसः, करुणस्थायिचित्तवैक्लव्यस्याप्राधान्यादित्यर्थः ।

स्त्री पुरुष के परस्पर वियोग से जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, वह शोक तो अवश्य है, परन्तु वह शोक करुण रस का स्थायीभाव तभी हो सकता है यदि वह प्रेमपात्र के मरण-ज्ञान के साथ हो, अन्यथा अर्थात् 'प्रेम-पात्र कहीं जीता है' ऐसे ज्ञान के रहने पर वह शोक स्थायीभाव नहीं, बरन् व्यभिचारीभाव मात्र होता है, क्योंकि उस अवस्था में शोक से पुष्ट की गई रति की ही प्रधानता रहती है, अतः वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार रस ही होता है ।

करुणरसस्य विषयमभिदधाति—

मृतत्वज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य वैक्लव्यस्येति करुण एव ।

प्रणयिजनमरणज्ञाने जाते तु, रतिरूपालम्बनस्य विच्छेदाद् दौर्बल्येनाङ्गभूतया रत्या पोषितस्य करुणस्थायिनो मनोवैक्लव्यस्यैव प्राधान्यात् करुण एव रसो न तु शृङ्गार इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मरण ज्ञान के रहने पर स्त्री पुरुष के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता ही प्रधान होती है और रति होती है उस को पुष्ट करने वाली, अतः उस स्थिति में करुण रस ही होगा। यह बात मैं पहले भी लिख चुका हूँ।

तत्रैव विशेषमाह—

यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने, देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित् स्यात्, तदालम्बनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः।

मरणज्ञानेऽपि यदि देवताप्रसादिना केनापि कारणेन, पुनःप्रत्युज्जीवनज्ञानं भवेत्, तर्हि चिरप्रवासे दीर्घतमकालव्यापिनि परदेशवास इवात्राप्यालम्बनस्य प्रणयिजनस्यात्यन्तविच्छेदाभावाद् रतेरेव प्राधान्याद् विप्रलम्भ एव रस इत्यर्थः।

प्रेम-पात्र के मर जाने का ज्ञान होने पर भी जब देवता की प्रसन्नता आदि से किसी तरह, उसके पुनः जीवित होने का ज्ञान रहेगा, तब आलंबन (प्रेम-पात्र) के सर्वदा के लिये विनष्ट न हो जाने के कारण चिरकालिक परदेश-वास की तरह विप्रलम्भ' ही होता है, करुण नहीं।

तं विप्रलम्भमुदाहरति—

यथा-चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु।

महाश्वेतायाः पुण्डरीकमरणज्ञानेऽपि, गगनचारिवचनात् पुनःप्रायुज्जीवनज्ञानस्य जननादालम्बनात्यन्तिकविच्छेदाभावाद् यथा कादम्बरी प्रबन्धे महाश्वेतोक्तिषु विप्रलम्भशृङ्गार एव रसस्तथात्रापीत्यभिप्रायः।

ईदृश विप्रलम्भ का उदाहरण दिखलाते हैं—'यथा' इत्यादि। कादम्बरी-ग्रन्थ में चन्द्रापीड़ के प्रति महाश्वेता ने जो वाक्य कहे हैं, उनमें इसी तरह का 'विप्रलम्भ' अभिव्यक्त हुआ है, क्योंकि पुण्डरीक की मृत्यु की बात को जानती हुई भी महाश्वेता आकाशवाणी के द्वारा उसके पुनः जीवित होने की बात जान चुकी थी।

इह मतान्तरमुपन्यस्यति—

केचित्तु—रसान्तरमेवात्र करुण-विप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।

अत्र पुनःप्रत्युज्जीवनज्ञानस्थले। तदुक्तं दर्पणे—

> 'यूनोरेकतरस्मिन्, गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
> विमनायते यदैक-स्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः॥' इति।

पूर्वोक्तरीत्या विप्रलम्भमात्रस्वीकारेणैव निर्वाहे, करुणविप्रलम्भरूपरसान्तरस्वीकारो व्यर्थ इत्यरुचिः केचित्त्वित्यनेन सूच्यते।

परे तु—चिरप्रवासे विश्लेषे सत्यप्यालम्बनध्वंसाभावाद् रतेरविच्छिन्नतया प्राधान्येन, वैक्लव्यस्य यथाकादाचित्कत्वेनाल्पविभावजत्वात् सञ्चारित्वम्, तथा मरण-पुनःप्रत्युज्जीवनयोर्ज्ञाने न सम्भवति, तत्रालम्बनध्वंसस्य कालिकाव्याप्यवृत्तित्वेऽपि वास्तविकत्वेन इतिस्रोतसः पूर्वापेक्षया किञ्चित्क्षीणप्रायत्वेन, वैक्लव्यस्य चेषदाधिक्येन, करुणरसेन पोषितस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसस्य करुणविप्रलम्भाख्यप्रकारस्य स्वीकारेऽपि न गौरवम्, नवा रसान्तरत्वमित्युदाहरन्ति।

कुछ लोगों की इच्छा है कि जहाँ प्रेम-पात्र के मरणोत्तर काल में किसी कारण वश पुनः

न 'विप्रलम्भ शृङ्गार रस' का, अतः वहाँ 'करुण-विप्रलम्भ' नामक एक तृतीय रस मानना चाहिए।

तृतीयं शान्तरसस्थायिभावं निर्वेदं लक्षयति—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।

नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्ब्रह्मजगतोर्विचाराद्विवेकाज्जन्म यस्य तादृशः, विषयेभ्योऽनित्यवस्तुभ्यो विरागाख्यो वितृष्णीभावरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो निर्वेद इति सूत्रार्थः।

अब निर्वेद का लक्षण करते हैं—'नित्यानित्य' इत्यादि। वेदान्त आदि के द्वारा नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (संसार) वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय-विरक्ति (अनित्य वस्तुओं से वितृष्णा-वैमुख्य) नामक चित्त-वृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं।

क्षणिको निर्वेदस्तु न स्थायी, किन्तु व्यभिचार्येवेत्याह—

गृहकलहजादिस्तु व्यभिचारी।

आदिपदमन्येषामपि कादाचित्कनिर्वेदकारणानामुपलक्षकम्। निर्वेदस्य निरन्तरस्थितेरभावान्न स्थायित्वमित्यवशेयम्।

घरेलू झगड़ा आदि से उत्पन्न, 'निर्वेद' तो व्यभिचारी भाव कहलाता है, स्थायीभाव नहीं।

चतुर्थं रौद्ररसस्थायिभावं क्रोधं लक्षयति—

गुरुबन्धुवधादि-परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः।

गुरूणां पित्रादीनां बन्धूनां च वधादिर्हत्याऽऽदिर्येषां तादृशेभ्यः परमापराधेभ्यो जन्म यस्य, स प्रज्वलनाख्यश्चित्तस्य दीप्तत्वरूपो वृत्तिविशेषः क्रोधो रौद्ररसस्थायिभाव इत्यर्थः।

अपराधानां परमत्वं गुरुतमत्वेनासहनीयत्वम्।

'क्रोध' का लक्षण करते हैं—'गुरुबन्धु' इत्यादि। गुरु, अथवा पुत्र-प्रभृति-बन्धु की हत्या आदि परम (असहनीय) अपराध से उत्पन्न होनेवाली प्रज्वलन (जलन) नामक चित्त-वृत्ति 'क्रोध' है।

रौद्ररस-स्थायिक्रोध-व्यभिचार्यमर्षयोर्भेदं दर्शयति—

अयं च परविनाशादिहेतुः। क्षुद्रापराधजन्मा तु पुरुषवचनासम्भाषणादिहेतुः। अयमेवामर्षाख्यो व्यभिचारीति विवेकः।

अयं परमापराधजन्यः च तु, परेषामपराधिनां (रिपूणां) विनाशादेर्हेतुर्निमित्तं क्रोधः स्थायी, क्षुद्रोऽवज्ञादिरूपोऽल्पमात्रो योऽपराधः, तस्माज्जन्म यस्य तादृशस्तु चित्तवृत्तिविशेषोऽल्पविभावजत्वात् पुरुषवचनं कटूक्तिः, असम्भाषणमपराधिना सहानालपनमादिर्येषां तादृशकार्याणां हेतुः, अमर्षाख्यो व्यभिचारीभावो भवतीत्युभयोर्विवेकः पार्थक्यमस्तीत्यर्थः।

कारणगौरवलाघवाभ्यां कार्यगौरवलाघवाभ्यां च क्रोधामर्षयोर्भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः।

क्रोध शत्रु के विनाश आदि का कारण होता है। यही जलन रूप वृत्ति यदि किसी छोटे मोटे अपराध से उत्पन्न होती है, तब वह शत्रु-विनाश का कारण न होकर केवल कठोर वचन, अपराधी के साथ बोल-चाल का बन्द करना आदि का कारण होती है, और तब वह 'अमर्ष' नामक व्यभिचारी कहलाती है, क्रोध नहीं, 'अमर्ष' और 'क्रोध' में यही भेद है।

पञ्चमं वीररसस्थायिभावमुत्साहं लक्षयति—

परपराक्रम-दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।

परेषामन्येषां रिपूणां वा, पराक्रमस्य दानादेश्च श्लाघ्यकर्मणः, स्मृत्याः स्मरणाज्जन्म यस्य, तादृशश्चित्तस्यौन्नत्यरूपो वृत्तिविशेष उत्साहो वीररसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।' इति लक्षणम्, 'कार्यारम्भेषु, सन्निकृष्टकार्येषु स्थेयान् संरम्भ उत्कट आवेश उत्साहः' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

षष्ठमद्भुतरसस्थायिभावं विस्मयं लक्षयति—

अब 'उत्साह' का लक्षण लिखते हैं—'परपराक्रम' इत्यादि । दूसरे के पराक्रम तथा दान आदि के स्मरण से उत्पन्न होनेवाली उन्नतता नामक चित्त वृत्ति को 'उत्साह' कहते हैं । कहीं कहीं 'कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' अर्थात् उपस्थित कार्यों में उत्कट आग्रह उत्साह कहलाता है, यह उत्साह का लक्षण किया गया है ।

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ।

अलौकिकानां लोकोत्तराणां वस्तूनां दर्शनादेः साक्षात्कारस्मरणप्रभृतेः, जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषोऽद्भुतरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अन्यत्र तु—'विविधेषु पदार्थेषु, लोकसीमातिवर्तिषु । विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।' इति लक्षणम्, 'लोकसीमातिवर्तिषु लोकव्यवहारातिक्रान्तेषु, विस्फारो विस्तारः । स च दृष्टहेतुभ्योऽसम्भवित्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापाररूपः ।' इति तद्विवरणञ्च स्फुटम् ।

अब 'विस्मय' का लक्षण करते हैं—'अलौकिक' इत्यादि । लोकोत्तर किसी वस्तु के दर्शन अथवा स्मरण आदि से उत्पन्न होनेवाली विकास-(आश्चर्य)-नामक चित्त-वृत्ति को 'विस्मय' कहते हैं ।

सप्तमं हास्यरसस्य स्थायिभावं हासं लक्षयति—

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ।

अन्यस्य वाचि-अङ्गेषु, आदिपदेन वेषे भूषणे च विकारस्यान्यथाभावस्य दर्शनात् (क्वचित् स्मरणादपि) जन्म यस्य, तादृशश्चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषो हासो हास्यरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

तदुक्तम्—'वागादिवैकृतैश्चेतो-विकासो हास इष्यते ।' इति ।

अब 'हास' का लक्षण करते हैं—'वागङ्गादि' इत्यादि । दूसरों के अङ्ग, वचन, वेष और भूषण में विकार (अन्यथाभाव-गड़बड़ी) के दर्शन से (कहीं कहीं श्रवण से भी) उत्पन्न होनेवाली विकास (खिल जाना) नामक चित्त-वृत्ति 'हास' कहलाती है ।

अष्टमं भयानकरसस्य स्थायिभावं भयं लक्षयति—

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम् ।

व्याघ्रपदमन्येषामपि सद्योमरणानाम्, आदिपदं सन्निकर्षस्मरणयोश्चोपलक्षणम् । परमानर्थविषयको मरणाद्यनर्थसम्पादकः । वैक्लव्यं विह्वलत्वम् ।

व्याघ्रादिसद्योमरणकारणवस्तुदर्शनस्मरणादेर्जन्म यस्य तादृशः, चित्तस्य वैक्लव्यरूपो वृत्तिविशेषो भयं भयानकरसस्य स्थायिभाव इत्यर्थः ।

अब 'भय' का लक्षण लिखते हैं—'व्याघ्र' इत्यादि । व्याघ्र आदि के दर्शन (जिससे परम अनर्थ-मरण सम्भावित हो) से उत्पन्न होनेवाली वैक्लव्य-विह्वलता-नामक चित्त-वृत्ति 'भय' कहलाती है ।

स्थायिनोभयस्य व्यभिचारिणस्त्रासाद् भेदमाह—

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी ।

स एव चित्तवैक्लव्यरूपवृत्तिविशेष एव, परमानर्थविषयकत्वाभावे सद्योमरणप्रयोजकत्वा-

भावे क्षुद्रवैक्लव्यसम्पादकत्वे, त्रासोऽल्पविभावजत्वाद् भयानकरसस्य व्यभिचारी, नतु स्थायीभावो भवतीत्यर्थः।

अत्र हि कार्यभेदाद् भयत्रासयोर्भेदोऽवधारणीयः।

'रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्' इति परोक्तं लक्षणन्तु चिन्तनीयम्, चित्तवैक्लव्यस्यैव भयत्वात् तत्कारणस्य भयत्वाङ्गीकारे तु चित्तवृत्तिविशेषरूपत्वभङ्गप्रसङ्गात्।

यदि व्याघ्रादि-दर्शन-जन्य-विह्वलता से परम अनर्थ-मरण की सम्भावना नहीं हो, तो वह भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' न कहलाकर उसी रस का व्यभिचारीभाव 'त्रास' कहलाता है। भय और त्रास में परस्पर यही भेद है।

भयत्रासयोः स्वरूपभेदे मतान्तरमुल्लिखति—

अपरे तु-औत्पातिकप्रभवस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः।

महावात—वज्रनिर्घातप्रभृत्युत्पातप्रभूतः (स्वल्पः) मनःक्षोभस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं गुरुतरनिजापराधजन्यं बलवच्चित्तचाञ्चल्यं तु भयमित्युभयोः कारणभेदाद् भेदमपर आहुरित्यर्थः।

इह 'उत्पातप्रभवस्त्रासः स्वापराधोत्थं भयम्' इति मूलपाठः समुचितः। अथवौत्पातिक उत्पातजन्यः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य सः, स्वापराध एव द्वारम्, तस्मादुत्थमुत्पन्नं स्वापराधद्वारोत्थमिति कथञ्चिज्ज्ञापनीयम्।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि भयङ्कर आंधी, वज्र-पात आदि उत्पातों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता का नाम 'त्रास' और अपने अपराधों से उत्पन्न होने वाली विह्वलता का नाम 'भय' है। यही भय और त्रास में भेद है।

नवमं बीभत्सरसस्थायिभावं जुगुप्सां लक्षयति—

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।

कदर्याणां घृणोत्पादकत्वात् कुत्सितानां वस्तूनां विलोकनाज्जन्म यस्य, स विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा बीभत्सरसस्थायिभाव इत्यर्थः।

'विचिकित्सा तु संशयः' इत्यमरकोशे, 'जुगुप्सा गर्हणाऽर्थानां दोषसन्दर्शनादिभिः।' इत्यन्यत्र च दर्शनाद् विचिकित्सास्थाने मूले गर्हणाया उपादानमुचितं प्रतिभाति।

अब 'जुगुप्सा' का लक्षण करते हैं—'कदर्य' इत्यादि। किसी घृणित वस्तु के देखने से उत्पन्न होने वाली विचिकित्सा (घृणा) नामक चित्त-वृत्ति को 'जुगुप्सा' कहते हैं।

इत्थं रसानां स्थायिभावाल्लँक्षयित्वा विभावानुभावव्यभिचारिभावाल्लिँलक्षयिषुः प्रथमं विभावाल्लँक्षयति—

एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तान्येषु काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानेषु विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते।

नायकपदं तत्तत्स्थायिभावाश्रयपरम्। आलम्बनत्वमुद्दीपनत्वं च प्रसिद्धौ हेतुः, कारणत्वं च प्रकारः।

एवममुना प्रकारेण, एषां रत्यादिस्थायिभावानां लोके यानि वस्तूनि, आलम्बनतयोद्दीपनतया वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि, तेषु इत्यादिस्थायिभावेषु काव्यनाट्ययोः श्रव्यदृश्यकाव्ययो र्व्यज्यमानेषु सत्सु, तान्यालम्बनोद्दीपनकारणानि विभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते व्यवह्रियन्त इत्यर्थः।

अब विभाव-पदार्थ का परिचय कराते हैं—'एवमेषाम्' इत्यादि। सांसारिक नायक नायिकाओं में हम इन पूर्वोक्त रति आदि (स्थायी) भावों का अनुभव दिन रात करते हैं और इनके (रति आदि भावों के) कारणों का भी अनुभव करते हैं, जो (कारण) दो प्रकार के होते हैं, एक आलंबन अर्थात् रति आदि जिनके विषय में होते हैं, वे-जैसे रति का विषय नायिका। दूसरा उद्दीपन अर्थात् उन स्थायी भावों में जो जोस पैदा करते हैं—जैसे रति में जोस पैदा करने वाले, एकान्त स्थान आदि। इस तरह कारण रूप में हम जिन आलंबन और उद्दीपन को जानते हैं, वे ही जब काव्य अथवा नाटक में वर्णित होकर उक्त स्थायीभावों के व्यञ्जक होते हैं, तब विभाव कहलाते हैं।

विभावसञ्ज्ञाया व्युत्पत्तिं दर्शयति—

विभावयन्तीतिव्युत्पत्तेः।

हेतौ पञ्चमीति विभावशब्देन व्यपदिश्यन्त इत्यनेन प्राचीनेनान्वयः।

विभावयन्ति रत्यादीन् विशेषेणास्वादाङ्कुरयोग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्त इत्यर्थः।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार, विभाव-शब्द का अर्थ, रति आदि स्थायीभावों को विशेषरूप से आस्वाद के योग्य बनाना होता है।

अनुभावाल्लँक्षयति—

यानि च कार्यतया, तान्यनुभावशब्देन।

लोके स्थायिभावानां यानिकार्यतया प्रसिद्धानि, काव्यनाट्ययोर्व्यज्यमानानां स्थायिनां तान्यनु(पश्चाद्)भावयन्ति (बहिःप्रकाशयन्ति) इत्यनुभावा उच्यन्त इत्यर्थः।

तदुक्तम्—'उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैः-बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥' इति।
'उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः।
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि॥' इति च।

अनुभाव पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि च' इत्यादि। उन रति आदि स्थायीभावों के जो कार्य लोक में प्रसिद्ध हैं—जैसे रति के रोमाञ्च आदि। उनको काव्य तथा नाटक में अनुभाव कहते हैं।

अनुभावसञ्ज्ञाव्युत्पत्तिं दर्शयति—

अनुपश्चाद्भाव उत्पत्तिर्येषाम्, अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः।

अनुभावानां स्थायिकार्यत्वात् पश्चादुत्पत्तिः। लाघवं प्राचीनपरम्पराऽनुरोधश्च द्वितीय व्युत्पत्त्युपन्यासे बीजम्।

क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार अनुभाव पद का अर्थ स्थायीभावों के पश्चात् उत्पन्न होने वाला भाव (चित्तवृत्तिविशेष) अथवा विभावों के द्वारा आस्वादयोग्य बने हुए स्थायीभावों का अनुभव कराने वाला भाव होता है।

व्यभिचारिभावाल्लँक्षयति—

यानि व्यभिचरन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन।

यानि हर्षादीनि स्थायिभावेन सहचरन्ति फेनबुद्बुदन्यायेन सम्मिलन्ति, तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति शेषः। तदुक्तम्—

'विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्ना-स्त्रयस्त्रिंशच्च तद्विदाः॥' इति।
'येतूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।
उपकृत्य च गच्छन्ति, ते मता व्यभिचारिणः॥' इति च।

अब व्यभिचारी पदार्थ का परिचय कराते हैं—'यानि' इत्यादि। रति आदि स्थायीभावों के साथ अनियमित रूप से रहने वाली चित्तवृत्तियों को व्यभिचारीभाव कहते हैं—जैसे चिन्ता आदि।

अथ रसानां विभावानुभावव्यभिचारिभावान् विभज्य दर्शयन्नादौ शृङ्गाररसस्य समाहृत्य दर्शयति—

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसावालम्बने, चन्द्रिका-वसन्त-विविधोपवन-रहस्थानादय उद्दीपनविभावाः, तन्मुखावलोकन-तद्गुणश्रवणकीर्त्तनादयोऽन्ये सात्त्विकभावाश्चानुभावाः, स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः।

तत्र तेषु रसेषु। स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ, नायिका नायकश्च परस्परमालम्बनम्। आदिमादिपदेन मलयानिल-मधुपगुञ्जन-कोकिलकूजनप्रभृतयः संग्राह्याः। तच्छब्देन रतिविषयीभूतव्यक्तिर्बोध्या। मध्यमादिपदेन ललनालङ्कार-कटाक्षभुजविक्षेपादयो ज्ञेयाः। 'विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः' इत्यन्यत्र लक्षिताः, 'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।' इति परिगणिताश्च सात्त्विकभावाः। तेषां चेष्टात्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पृथगुपादानम्। 'त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः' इति व्यवच्छिन्नेभ्योऽन्ये हर्षप्रभृतयोऽन्तिमादिपदावसेयाः।

अब उक्त नव-विध रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का पृथक्-पृथक् प्रदर्शन करने के क्रम में सर्वप्रथम शृङ्गाररस सम्बन्धी उन भावों का वर्णन करते हैं—'तत्र' इत्यादि। शृङ्गार-रस के स्त्री-पुरुष आलंबन विभाव, चन्द्र-ज्योत्स्ना, वसन्त ऋतु, अनेक तरह के बाग-बगीचे, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र के मुख का दर्शन, उसके गुणों का श्रवण और कीर्तन प्रभृति तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रुपात, प्रलय ये आठों 'सात्विक भाव' अनुभाव, स्मरण और चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।

करुणस्यालम्बनादीनि दर्शयति—

करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि, तत्सम्बन्धिगृहतुरगाभरणदर्शनादयस्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः, गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावाः, ग्लानिक्षयमोह—विषाद-चिन्तौत्सुक्य-दीनता-जडतादयो व्यभिचारिणः।

प्रथमादिशब्देनानिष्टाप्तेः संग्रहः, 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः' इत्याद्युक्तेः। गात्राणामङ्गानां शोकवेगप्रकर्षाद् विह्वलानामितस्ततो न्यासः क्षेपः।

अब करुण-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'करुणस्य' इत्यादि। करुण-रस के इष्टजनों के विनाश आदि आलंबन विभाव, उसके व्यवहार में आने वाली वस्तुओं (घर, घोड़े, आभूषण आदि) के दर्शन आदि तथा उसके संबन्ध में कही गई बातों का श्रवण आदि उद्दीपन विभाव, अङ्गों का इधर उधर फेकना और अश्रुपात आदि अनुभव और ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जड़ता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

शान्तस्य विभावादीन् दर्शयति—

शान्तरसस्यानित्यत्वेन ज्ञातं जगदालम्बनम्, वेदान्तश्रवण-तपोवन-तापसदर्शनाद्युद्दीपनम्, विषयारुचि-शत्रुमित्रौदासीन्य-चेष्टाहानि-नासाग्रदृष्ट्यादयोऽनुभावाः, हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः।

जगतोऽनित्यत्वेन ज्ञानमेव तद्विषयकनिर्वेदोत्थापकम्। विषयेषु सांसारिकभोग्यवस्तुष्वरुचिरप्रीतिः। शत्रुमित्रयोरौदासीन्यं समानभावः। चेष्टाहानिनिस्पृहत्वेन प्रवृत्तिराहित्यम्।

अब शान्त-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'शान्त' इत्यादि। शान्त-रस के अनित्य रूप से समझा गया संसार आलंबन विभाव, वेदान्त-शास्त्र का श्रवण तपोवन तथा तपस्वियों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव, सांसारिक वस्तुओं से अरुचि, शत्रु तथा मित्र के विषय में उदासीनता (समान भाव), निश्चेष्टता, नासिका के अग्र भाग पर बराबर दृष्टि को जमा कर रखना आदि अनुभाव और हर्ष, उन्माद, स्मरण, मति आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

रौद्रस्य विभावादीन् दर्शयति—

रौद्रस्यागस्कृत्पुरुषादिरालम्बनम्, तत्कृतोऽपराधादिरुद्दीपकः, वधबन्धादिफलको नेत्रारुण्य-दन्तपीडन-परुषभाषण-शस्त्रग्रहणादिरनुभावः, अमर्ष-वेगौग्र्य-चापलादयः सञ्चारिणः।

आगस्कृदपराधकर्ता पुरुषः। आदि पदेन तादृग् योषिदपि। तच्छब्दोऽपराधिबोधकः। वधोबन्धादिश्च फलं यस्येति बहुव्रीहिः। अमर्षो वेग औग्र्यं चापलं च पृथक् सञ्चारी।

अब रौद्र-रस के विभावादिकों का वर्णन करते हैं—'रौद्रस्य' इत्यादि। रौद्र-रस के अपराध करने वाला पुरुष आदि आलंबन विभाव, उसके द्वारा किये गये अपराध आदि उद्दीपन विभाव, आंखें लाल करना, दांत कटकटाना, कठोर भाषण करना, शस्त्र-ग्रहण करना आदि जिनका फल (अपराधी का) बध अथवा बंधन आदि होते हैं, अनुभाव और अमर्ष, वेग, उग्रता, चञ्चलता आदि व्यभिचारीभाव होते हैं।

वीराद्भुतहास्यभयानकबीभत्सरससम्बन्धिविभावाद्यनभिधानोत्थन्यूनतां परिहरति—

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः, स तस्या आलम्बनम्, निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम्।

एवं शृङ्गाराद्युक्तरीत्या, यस्याश्चित्तवृत्तेर्यस्य स्थायिभावस्य, यो विषयो भवति, स तस्याश्चित्तवृत्तेः स्थायिभावस्य, आलम्बनमालम्बनविभावः, यानि च तस्या निमित्तानि कारणानि, तान्युद्दीपकान्युद्दीपनविभावः, यानि पुनस्तत्कार्याणि, तान्यनुभावयानि च तत्पोषकाणि तानि सञ्चारिभाव इत्यर्थः।

तथाहि—वीररसस्य द्विषदाद्यालम्बनम्, तत्पराक्रमदर्शनाद्युद्दीपनम्, प्रहारप्रतिप्रहारादिरनुभावः, हर्षवेगादिश्च व्यभिचारिभावः अद्भुतरसस्यालौकिकचमत्कारकृद्वस्त्वालम्बनम्, तत्साक्षात्काराद्युद्दीपनम्, नेत्रविस्फारस्तम्भरोमाञ्चादिरनुभावः, वितर्कादिश्च व्यभिचारिभावः। हास्यरसस्य विकृतवागादिमत्पुरुषादिरालम्बनम्, तद्विकृतिरुद्दीपनम्, रदनप्रकाशादिरनुभावः, श्रमोद्वेगादिश्च व्यभिचारिभावः। भयानकरसस्य भयावहवस्त्वालम्बनम्, तद्विकटव्यापाराद्युद्दीपनम्, मुखशोषपलायनादिरनुभावः, जाड्यकम्पादिश्च व्यभिचारिभावः। बीभत्सरसस्य च जुगुप्सितवस्त्वालम्बनम्, तद्गन्धाद्युद्दीपनम्, निष्ठीवनादिरनुभावः, ग्लान्यादिश्च व्यभिचारिभाव इत्यन्यत्र स्फुटम्।

इस तरह जो चित्त-वृत्ति (रति आदि) जिसके विषय में होती है, वह (विषय) उस (रति आदि) चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) का आलंबन और जिस चित्तवृत्ति (स्थायीभाव) के जो निमित्त (कारण) हैं, वे उसके उद्दीपन होते हैं—यह समझना चाहिए। इसी प्रकार जिस चित्तवृत्ति के जो कार्य हैं वे (कार्य) उस (चित्त-वृत्ति) के अनुभाव और जिस चित्तवृत्ति का पोषण जो चित्तवृत्तियां करती हैं, वे वृत्तियां उस वृत्ति के व्यभिचारीभाव होती हैं, यह भी ज्ञात करना चाहिए। जैसे—वीर रस के शत्रु आलंबन शत्रु के पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन, दोनों ओर से होने वाले प्रहार आदि अनुभाव और हर्ष, वेग आदि व्यभिचारी हैं। अद्भुत रस के आश्चर्य-जनक वस्तु आलंबन, उस वस्तु

के दर्शन आदि उद्दीपन, नेत्रों का विकास, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि अनुभाव और वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य-रस के विकृत-वाणी-अङ्ग-वेष आदि से युक्त व्यक्ति आलंबन उसके वे अङ्गादि-विकार उद्दीपन, दांत निपोड़ना आदि अनुभाव और श्रम, उद्वेग आदि व्यभिचारी हैं। भयानक-रस के व्याघ्र आदि भयावह वस्तु आलम्बन, उस भयावह वस्तु की भयङ्कर क्रियायें उद्दीपन, मुख का सूखना, भागना आदि अनुभाव और जड़ता कम्प आदि व्यभिचारी हैं। विभत्स-रस के घृणास्पद वस्तु आलंबन, उसके गन्ध आदि उद्दीपन, थूकना आदि अनुभाव और ग्लानि आदि व्यभिचारी हैं।

अथ शृङ्गाररसस्य प्रकारद्वयं निरूपयति—

तत्र शृङ्गारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च। रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः।

संयोगः सम्भोगः सम्युक्ता सम्युक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः, वियोगो विप्रलम्भो वियुक्ता वियुक्तो वाऽस्मीति बुद्धिरूपोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषश्च यस्मिन् काले भवति, तत्कालवर्तिनी या रतिः, सा कालस्यावच्छेदकतया संयोगकालावच्छिन्ना सम्युक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकी, तत्सत्त्वे प्रथमः प्रकारः शृङ्गारस्य संयोगो भवति। रतेर्वियोगकालावच्छिन्नत्वे वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानसमकालिकत्वे तु द्वितीयः प्रकारः शृङ्गारस्य विप्रलम्भो भवतीत्यर्थः।

अब रसों के अवांतर भेद और उदाहरण आदि के प्रदर्शन-क्रम में पहले शृङ्गार-रस के अवान्तर भेद और उदाहरण का प्रदर्शन कराते हैं—'तत्र' इत्यादि। शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ। रति जब-स्त्री पुरुषों के संयोग काल में उपभुक्त होती रहती है, तब 'संयोग-शृङ्गार' और जब रति स्त्री पुरुषों के वियोगकाल में उपभुक्त नहीं होती रहती है, तब 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' कहलाता है।

संयोगस्यैकाधिकरणवृत्तित्वरूपतां, वियोगस्य च विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वरूपतां निराकृत्य, प्रागुक्त-सम्युक्तत्व-वियुक्तत्वप्रकारकज्ञानरूपतां व्यवस्थापयति—

संयोगो न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ, यत् सम्युक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः।

यदि जायापत्योः सामानाधिकरण्यं संयोगो वैयधिकरण्यं च वियोगः स्यात्, तदा तयोरेकस्यां शय्यायां शयितयोरपि हृदीर्ष्यायां जाग्रत्यां सर्वाभिमतस्य विप्रलम्भस्याभावः, सर्वानभिमतस्य संयोगस्य च सद्भावः प्रसज्येत। तयो रन्तःकरणवृत्तिविशेषरूपत्वाङ्गीकारे तु ज्ञानविशेषरूपस्य विप्रलम्भस्यैव तत्र सत्त्वान्न काऽपि हानिरित्याशयः।

संयोग शब्द का अर्थ यहाँ 'स्त्री-पुरुषों का एक स्थान पर रहना' नहीं है, क्योंकि एक शय्या पर सोते रहने पर भी, यदि ईर्ष्या आदि रहता है, तब विप्रलम्भ शृङ्गार का ही वर्णन प्राचीन काल से आज तक कवि लोग करते आये हैं। इसी प्रकार वियोग पद का अर्थ भी यहां, अलग-अलग रहना' नहीं है, क्योंकि दोष उक्त है अर्थात् ऐसा मानने पर पुनः स्त्री-पुरुषों के एक शय्या पर रहने की हालत में 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का वर्णन असंगत हो जायगा। इसलिये ऐसा मानना चाहिए कि 'संयोग और वियोग' ये दोनों एक प्रकार की चित्त-वृत्तियां हैं, जिनके चलते 'मिला हुआ हूं' और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' ये ज्ञान होते हैं अर्थात् 'मिला हुआ हूं' इस प्रकार का मनोभाव ही संयोग है और 'बिछुड़ा हुआ हूं' इस प्रकार का मनोभाव ही वियोग है।

सम्भोगश्रृङ्गारमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

संयोग और विप्रलम्भ के मध्य में संयोग जैसे—

तत्र संयोग-विप्रलम्भयोः ।

'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा' इत्यत्र निरूपितः ।

निरूपित उत्तमोत्तमकाव्योदाहरणप्रसङ्गेन पूर्वमिति शेषः ।

उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण, प्रसङ्ग से 'शयिता सविधे' इत्यादि श्लोक में निरूपित हो चुका है ।

अप्पय्यदीक्षितदर्शितं सम्भोगश्रृङ्गारध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यत्तु चित्रमीमांसायाम्—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यत्र रसध्वनिः, निरतिशयप्रेमशालिताव्यञ्जनात्' इति, तद् ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्, पार्वतीपरमेश्वरविषयक-कविरतौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात् ।

मुख्यार्थत्वे प्रधानशब्दो नित्यनपुंसकलिङ्ग इति न स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । 'वागर्थप्रतिपत्तये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।' इति पद्यस्यावशिष्टांशः । वागर्थौ वाणी-तदभिधेयाविव सम्पृक्तावन्योन्यं सदासम्मिलितौ, न तु कदाचिदपि विश्लिष्टौ, जगतः स्थावरजङ्गमात्मकविश्वस्य, पितरौ प्रसूजनयितारौ, पार्वती-परमेश्वरौ गिरिजागिरीशौ, वागर्थयोः शब्दाभिधेययोः, प्रतिपत्तये ज्ञानाय, वन्दे नौमीति तदर्थः ।

अत्र नतिकर्मीभूतयोर्गौरीगिरीशयोर्वागर्थवन्नित्ययाश्लेषात् तत्कारणीभूतरतेः प्राधान्येन व्यज्यमानत्वात् सम्भोगश्रृङ्गारध्वनेरिदमुदाहरणमिति चित्रमीमांसाकर्तुरभिधानं ध्वनिसिद्धान्तविरुद्धम्, इह श्लोके कवि (कालिदास) निष्ठाया गौरीगिरीशविषयाया अपुष्टत्वाद्भावरूपाया रतेरेव प्राधान्येन व्यङ्ग्यतया, पार्वतीपरमेश्वरश्रृङ्गारस्य च तत्पोषकत्वेनाङ्गतया रसध्वनेरसम्भवादित्याकूतम् ।

अब अप्पय्य दीक्षित द्वारा दिये गये सम्भोग श्रृङ्गारोदाहरण का खण्डन करते हैं—'यत्तु' इत्यादि । 'चित्रमीमांसा' में जो यह लिखा है कि 'वागर्थाविव संपृक्तौ वागार्थ-प्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ' (अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह परस्पर सटे हुए, संसार के जननी-जनक पार्वती और परमेश्वर (शिव) को शब्द और अर्थ के ज्ञान के लिये, प्रणाम करता हूं) इस श्लोक में श्रृङ्गार-रस की ध्वनि है, क्योंकि यहां की 'वागर्थाविव संपृक्तौ' अर्थात् शब्द और अर्थ की तरह सदा सटे हुए कभी अलग नहीं रहने वाले इस उपमा से सदा सटे रहने का कारण शिव-पार्वती के निरतिशय प्रेम ध्वनित होता है ।' वह ध्वनिमार्ग अज्ञान-मूलक है । क्योंकि इस श्लोक में पार्वती और परमेश्वर के विषय में कवि की रति-जो भाव कहलाती है—प्रधान है और शिव पार्वती का परस्पर प्रेम व्यज्यमान होकर भी उस (कविनिष्ठ रति) की अपेक्षा गौण हो गया है ।

उक्तमेवार्थं समर्थयति—

नहि गुणीभूतस्य रत्यादेः रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्, 'भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः' इति सिद्धान्तात् ।

'रसभाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः' इति काव्यप्रकाशे कारिकायाः-पूर्वांशः ।

इदमिहाकलनीयम्—ध्वनिमजानाना उद्भटमतानुयायिनः कतिपये रसादीनां प्राधान्ये रसवदाद्यलङ्कारान्, गौणत्वे तूदात्तालङ्कारद्वितीयप्रकारमूरीकुर्वन्ति । ध्वनिकारास्तु—'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे, यत्राङ्गन्तु रसादयः । काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ।' इत्यादिसन्दर्भेण रसादीनां प्राधान्येऽलङ्कार्यत्वेनालङ्कारत्वाभावाच्चमत्कारोत्कर्षाच्च रसादिध्वनीन्,

गौणत्वे तु रसवदाद्यलङ्कारांश्च निर्णयन्ति। तदेवाभिप्रेत्य भट्टमम्मटोऽपीमां कारिकामुपन्यस्यति—अक्रमोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्योऽलङ्कार्यतयाऽङ्गितया स्थितो रसादिः, रसाद्यलङ्काराद् रसवदाद्यलङ्काराद्, भिन्नोऽङ्गत्वाभावादतिरिक्तोऽस्तीति तदर्थः। एवं सति 'वागर्थाविव' इत्यादौ शृङ्गारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि कविनिष्ठरतिभावाङ्गतयाऽलङ्कार्यत्वविरहान्न ध्वनिव्यवहारकारणत्वमिति।

गौण रति आदि 'यहां रस-ध्वनि है' इस व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता अर्थात् गौण रति आदि को लेकर रस-ध्वनि नहीं हो सकती, कारण ? यह सिद्धान्त है—भिन्नो· रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः'। अर्थात् जिसको अलंकार आदि से शोभित किया जाता है, वह (रस आदि) रस-भाव आदि को शोभित करने वाले अलंकार रूप रस आदि से भिन्न है। अभिप्राय यह है कि अप्रधान रस आदि अलंकार कहलाते हैं, ध्वनि नहीं, अतः उक्त स्थल (वागर्थाविव) में शृङ्गार-रस व्यङ्ग्य होकर भी अलंकार ही कहलायगा, जिससे शिव-पार्वती विषयक कवि-निष्ठ भाव अलंकृत होता है, फलतः यह पद्य भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, रस-ध्वनि का नहीं।

विप्रलम्भाख्यं द्वितीयं शृङ्गाररसप्रकारमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

शृङ्गारस्य द्वितीयः प्रकारः।

'वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा।
निश्वासग्लपिताधरोपरिपतद्वाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव ! शिव !! प्राणेश मालोकते॥'

प्रयाणसमये प्राणेशस्य प्रवासाय प्रस्थानावसरे, जने परिजने गुरुजने वा, माङ्गलिकीः कल्याणप्रयोजनाः 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' इत्यादिकाः, वाचो वाणीः, अनल्पमजस्रं, जल्पति व्याहरति सति, केलीमन्दिरस्य कौतुकागारस्य, मारुतायनमुखे गवाक्षाग्रभागे, विन्यस्तं तद्दिदृक्षौत्सुक्येन संलग्नीकृतं वक्त्राम्बुमुखकमलं यया, तादृशी, निश्वासैः सद्योभवद्विप्रयोगजयातनावशान्निस्सरद्भिर्नासानिलैः ग्लपितस्य शोषान्म्लापितस्याधरस्य, उपर्यूर्ध्वभागे, पतद्भिर्निरन्तरं स्खलद्भिः, बाष्पैरश्रुभिः, आर्द्रौ क्लिन्नौ वक्षोरुहौ कुचौ यस्याः, सा लोलविलोचना प्रतीकारानवधारणात् तरलनयना, बाला मुग्धा, शिवशिव ! आः कष्टं, प्राणेशं प्राणनाथम्, आलोकते प्रतिषेधाक्षमतया केवलं पश्यति, नत्वपत्रपया प्रयाणनिषेधकवचनं किञ्चिदुच्चारयतीत्यर्थः।

अब 'विप्रलम्भ-शृङ्गार' का उदाहरण देते हैं—'द्वितीयो यथा' इत्यादि। 'वाचो माङ्गलिकीः' इत्यादि श्लोक शृङ्गार के द्वितीय प्रकार विप्रलम्भ का उदाहरण है। नायिका की सखी अपने मन में सोचती है, अथवा एक सखी दूसरी सखी से कहती है—पतिदेव परदेश के लिए यात्रा कर रहे हैं, शुभचिन्तक लोग जोर-जोर से माङ्गलिक वचनों को बोल रहे हैं, परन्तु वह बाला (मुग्धा) रति-मन्दिर के वातायनों में मुख-कमल को डाल कर बैठी है, उसके श्वास प्रबल वेग से चल रहे हैं, जिससे उसके अधर शुष्क होकर म्लान हो चुके हैं और उन अधरों पर गिरकर नीचे की ओर प्रवाहित होने वाली अश्रु-धारा से उसके उरोज भीग गये हैं, शिव ! शिव !! इस दुर्दशा में पड़ी हुई वह (बाला) चञ्चल नेत्रों से अपने प्राणेश्वर को देख रही है। उस बेचारी को यात्रा काल में अश्रु-पात से होनेवाले अशकुन का बोध नहीं है, लोक-लज्जा की शंका भी नहीं है क्योंकि वह मुग्धा है।

उक्तपद्यस्योदाहरणत्वमुपपादयति—

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निश्श्वासाश्रुपातादेरनुभावस्य, विषादचिन्ताऽवेगादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् रतिरभिव्यज्यमाना, वियोगकालावच्छिन्नत्वाद् विप्रलम्भरसपदव्यपदेशहेतुः ।

अत्रापि 'वाचो माङ्गलिकीः' इत्यादिपद्येऽपि । आलम्बनस्य नायिकानिष्ठरतेरिति शेषः । संयोगो विभाव्यविभावकभावादिसम्बन्धः । रतेरिह वियोगकालावच्छिन्नत्वं विप्रलम्भशृङ्गाररसव्यपदेशनिदानम् ।

इस श्लोक में नायक-रूप आलम्बन, निश्वास, अश्रुपातादि रूप अनुभाव और विषाद, चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारी भाव के संयोग से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है, जो वियोग काल में रहने के कारण 'विप्रलम्भ रस' शब्द से व्यवहृत होती है ।

स्थूणाभिखननन्यायेन पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा ।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे ।
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत् ॥'

यदवधि यस्मात् कालादारभ्य, नन्दसूनोर्नन्दनन्दनस्य कृष्णचन्द्रस्य, मधुस्यन्दिनी-लोकलोचनासेचनकतया मधुस्राविणी, निखिलनयनानां सकलजीवलोचनानाम्, आकर्षणे वशीकरणे, कार्मणज्ञा कार्मणं तद्वशीकरणसाधकमन्त्रादि जानातीति तथाभूता, अञ्जसैव वशीकारिणी, काचिदनिर्वचनीया, कान्तिर्देहद्युतिः, आविर्भूता प्रकटीभूताऽभूत्, तदवधि तस्मात्कालादारभ्य, कुलमृगदृशां कुलीनहरिणाक्षीणां, रमणाक्षमत्वात् मुखे दीर्घः श्वासः, गण्डयुग्मे कपोलयुगुले, पाण्डिमा पीतभावः, चेतसि चित्ते, विशादोत्कर्षेण शून्या निरालम्बना, वृत्तिर्व्यापारश्च प्रादुरासीत् प्राकटीदित्यर्थः ।

इह कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययादतिशयोक्तिरलङ्कारः । श्रीकृष्णस्यालम्बनस्य, श्वासादेरनुभावस्य, तद्व्यङ्ग्यविषादप्रभृतेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद् व्यज्यमाना, कुलीनमृगाक्षीनिष्ठा वियोगकालावच्छिन्ना रतिर्विप्रलम्भशृङ्गारत्वं भजति ।

विप्रलम्भ रस का दूसरा उदाहरण देते हैं—'यथा वा' इत्यादि । 'आविर्भूता' इत्यादि पद्य भी विप्रलम्भ शृङ्गार रस का उदाहरण है । गोकुलवासिनी कोई नायिका अपने मन में सोच रही है—जब से मधु-वृष्टि करने वाली और जीवमात्र के नेत्रों को आकृष्ट करने का जादू जानने वाली नन्द-तनय कृष्णचन्द्र की अनिर्वचनीय देह-द्युति संसार में प्रकट हुई, तभी से कुलाङ्गनाओं के मुख में दीर्घ श्वास, कपोल-युगल में श्वेतता तथा चित्त में शून्यवृत्ति (ज्ञान-राहित्य) प्रादुर्भूत हो गई है । यहाँ कृष्णचन्द्ररूप आलंबन, श्वास आदि अनुभाव, व्यङ्ग्य विषाद आदि व्यभिचारी भाव के संयोगसे कुलकामिनी-निष्ठ, वियोगकालिक रति की अभिव्यक्ति होती है, अतः विप्रलम्भ शृङ्गार का यह उदाहरण हुआ ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'नयनाञ्चलावमर्शं, या न कदाचित् पुरा सेहे ।
आलिङ्गिताऽपि जोषं, तस्थौ सागन्तुकेन दयितेन ॥'

या नवोढा, पुरा प्रस्थानदिवसात् पूर्वम्, नयनाञ्चलस्य लोचनाग्रभागस्य कटाक्षस्य,

अवमर्शं संस्पर्शं (किमुत समग्रनयननिरीक्षणम्) ह्रिया भिया वा, न सेहे नामृष्यत्, सा सैव, नत्वन्या, गन्तुकेन जिगमिषुणा निर्णीतविदेश-गमनेनेति यावत्, प्रियेण वल्लभेन, आलिङ्गिता गाढमुपगूढाऽपि, जोषं तूष्णीं तस्थौ, न तु चचाल, नवा निवारयाञ्चकारेत्यर्थः।

नयनाञ्चलावमर्शमित्यस्य नयनपक्ष्मस्पर्शमिति विवरणन्त्वर्थासङ्गतेश्चिन्त्या।

पुनः विप्रलम्भ का ही एक और उदाहरण देते हैं—'नयनाञ्चला' इत्यादि। प्रवत्स्यत्पति का नायिका की बात किसी से कोई कह रहा है—जो नायिका, (नवोढा) पहले कभी पति-नयन-कोण (कटाक्ष) के स्पर्श को भी नहीं सहती थी अर्थात् जो कनखी से भी पति को अपनी ओर देखते देखकर भाग खड़ी होती थी, वही परदेश जाने के लिये उद्यत प्रिय से आलिङ्गित होकर भी चुप ही रही—भागने की बात क्या, मुख से भी निवारण नहीं की।

अनुभावादिप्रदर्शनेनास्य पद्यस्य विप्रलम्भध्वनित्वं प्रतिपादयति—

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणौ।

इह नयनेत्यादिपद्ये। अपिः 'आविर्भूते'त्यादिपूर्वपद्यप्रतिपाद्यान् विप्रलम्भव्यञ्जकान् समुच्चिनोति। सहजस्य स्वाभाविकस्य चाञ्चल्यस्य निवृत्तिः स्तिमितीभावोऽनुभावः, तत्कारणतया व्यज्यमाना जडता च व्यभिचारिभावः, प्रिय आलम्बनविभावश्च सम्भूय, नवोढायाः प्रवसत्पतिकाया वियोगकालावच्छिन्नां रतिं विप्रलम्भपदवीं नयति।

इस श्लोक में भी स्वाभाविक चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और जड़ता व्यभिचारी भाव है। अर्थात् उक्त अनुभाव, व्यभिचारीभाव और प्रियरूप आलम्बनविभाव के संयोग से यहां भी विप्रलम्भ शृङ्गार व्यक्त होता है।

मम्मटाद्यभिमतं विप्रलम्भस्य भेदपञ्चकं निरस्यति—

इमं च पञ्चविधं प्राञ्चः प्रवासादिभिरुपाधिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाष-विरहेर्ष्या-शापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः।

इमं विप्रलम्भम्। चस्त्वर्थकः।

प्राञ्चः काव्यप्रकाशकारादयः, इमं विप्रलम्भशृङ्गाररसं, प्रवासेनानुरक्तयोरपि गुरुकार्यवशाद् विभिन्नदेशस्थित्या, अभिलाषेण पूर्वरागरूपेण कदाचिदप्यसमागतयोरपि नायकयोर्गुणश्रवणादिनैकतरानुरागेण परस्परप्रेप्सया वा, विरहेण समानाधिकरणयोरपि गुरुजनलज्जापारवश्यादिप्रतिबन्धेन, ईर्ष्यया मानजनन्या, शापेन वियोगजनक-तपस्विवाग्विशेषेण चोपाधिभिर्निमित्तैरुपलक्षितं, पञ्चविधंप्रवासादिनिमित्तकप्रकारपञ्चकविशिष्टम्, आमनन्ति कथयन्ति।

अस्माभिस्तु प्रवासाद्युपाधीनां विशेषस्य मिथोवैलक्षण्यस्य, अनुपलम्भात् प्रतीतिगोचरत्वाभावात्, ते भेदाः प्रवासनिमित्तकादिप्रकाराः, न प्रपञ्चिता नैव विस्तरेण वर्णिताः, किन्त्वेकप्रकार एवायं सामान्येनासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यवद् गणित इत्यर्थः।

विशेषानुपलम्भादित्ययं प्रौढिवाद एव, प्रवासादिषु वियुक्तत्वप्रकारकबुद्धेरेकरूपत्वेऽपि तद्बुद्धिकारणानां भेदस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात्, कार्येऽपि भेदस्यावश्यमभ्युपेयत्वाद्, 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद् विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च' इत्याद्यभियुक्तोक्तेः। अन्यथाऽन्यत्रापि भेदाधिगमो दुर्घटः स्यात्। 'यूनोरेकतरस्मिन्' इत्यादिना लक्षितं करुणविप्रलम्भाख्यमपि प्रकारं प्रागुक्तरीत्या व्याहरन्ति केचिदिति प्रेक्षावद्भिः परीक्षणीयम्।

प्राचीन आचार्यों ने इस विप्रलम्भ रस को प्रवास आदि उपाधियों से पाँच प्रकार का माना है परन्तु प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शापरूप पाँच उपाधियों के कारण जो वियोग होता है उनमें किसी वैलक्षण्य की उपलब्धि न होने से हमने विस्तारपूर्वक इनका वर्णन नहीं किया। यहाँ अब प्रवासादि का स्वरूप भी समझ लेना चाहिये अनुरक्त-

नायक-नायिका में से किसी एक के कार्यवश परदेश में रहने पर प्रवास, समागम से पहले ही गुणश्रवण आदि से अभिलाष, गुरुजनों की लज्जादि के कारण समागम से वञ्चित रहने पर विरह, मान से ईर्ष्या और किसी तपस्वी आदि के अपराधी होने पर उनके वाग्विशेषरूप शाप कहलाते हैं।

करुणरसं निरूपयति—

करुणो यथा—

अब 'करुण' रस का उदाहरण देते हैं—'करुणो यथा' **इति। 'करुण' रस जैसे—**

सद्योमृतं पुत्रमुद्दिश्य पिता ब्रवीति—

> 'अपहाय सकलबान्धव-चिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
> हा तनय! विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः॥'

हा विनयशालिन् सुविनीत! तनय पुत्र! सकलबान्धवानां भ्रात्रादिसर्वात्मीयजनानां, 'मां विना कथमेते प्राणान् धारयिष्यन्ती'ति चिन्ताम्, अपहाय त्यक्त्वाऽकृत्वेति यावत्। तथा गुरुकुलस्योपाध्यायगृहस्य पित्रादिपूज्यजनस्य वा प्रणयं प्रेमाणम् (भक्तिम्) उद्वास्य समुपेक्ष्यागणयित्वेत्यनर्थान्तरम्, कथमिव केन प्रकारेण, त्वं परलोकस्य पथिकोऽध्वन्योऽभूरित्यर्थः।

बन्धुवर्गचिन्तां गुरुजनप्रणयं चोपेक्ष्य तवासमये परलोकप्रस्थानं सर्वथाऽनौचित्येन नितरां शोचनीयमित्यभिसन्धिः।

तुरत मरे हुए पुत्र को उद्देश्य कर पिता कहता है—'अपहाय' **इत्यादि। अर्थात् हाय! अति-विनीत पुत्र! तू सब बन्धुओं की चिन्ता को त्यागकर और गुरुकुल के प्रेम को भी बिसारकर कैसे परलोक का पथिक हो गया?**

तत्र विभावादीन् दर्शयति—

अत्र प्रयाततनय आलम्बनम्, तत्कालावच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम्, रोदनमनुभावः, दैन्यादयः सञ्चारिणः।

अत्रापहायेत्यादिपद्ये। प्रमीतोमृतश्चासौ तनय इति कर्मधारयः। तत्कालो मरणस्य कालः। कालस्यावच्छेदकत्वमधिकरणत्वेन। 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते' इत्याद्युक्ते बान्धवजनदर्शनस्य शोकोद्दीपकत्वम्।

इहालम्बनविभावादिसामग्रीसमवधानाच्छोकस्थायिक-करुणरसस्याभिव्यक्तिर्भवति। अस्य करुणविप्रलम्भाद् भेदस्तु स्थायिभेदेनान्यत्र दर्शितः।

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन है, उस समय में वहाँ पर उपस्थित बान्धवों का दर्शन आदि उद्दीपन है, रोना अनुभाव है और दीनता आदि व्यभिचारी भाव है।

शान्तरसं निरूपयति—

शान्तो यथा—

कश्चित् स्थितप्रज्ञः परामृशति—

> 'मलयानिलकालकूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः।
> श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा, मम जाता परमात्मनि स्थितिः॥'

मलयानिलोदक्षिणपवनः सुखजनकतयाऽनुकूलः, कालकूटो गरलं मृत्युजनकतया प्रतिकूलस्तयोः, तथा रमण्या ललनायाः कुन्तलश्चिकुरोऽनुकूलः, भोगिनो भुजगस्य भोगः फणादिकायः प्रतिकूलस्तयोः, एवं श्वपचश्चण्डालो नीचतया प्रतिकूल आत्मभूर्ब्रह्माऽऽत्मज्ञानीवाऽत्युत्कृष्टतयाऽनुकूलस्तयोः, निरन्तरा निर्वैलक्षण्या (तुल्या) स्थितिर्धारणा प्रतिष्ठा प्रतिपत्तिर्वा मम समदृशः, परमात्मनि परब्रह्मणि, जातोत्पन्नाऽभूदित्यर्थः।

अब 'शान्त-रस' का उदाहरण देते हैं—'शान्तो यथा' इत्यादि। किसी आत्म-ज्ञानी की उक्ति है—मलयपर्वत के पवन और विष में कामिनियों के केश-कलाप और सर्प की फणा में एवम् चाण्डाल तथा ब्रह्मा में तुल्य अर्थात् भेद-भाव-रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है।

उदाहरणे विभावादीन् निर्दिशति—

अत्र प्रपञ्चः सर्वोऽप्यालम्बनम्, सर्वत्र साम्यमनुभावः, मत्यादयः सञ्चारिणः।

सर्वोऽपि प्रपञ्चश्चराचररूपः क्षणभङ्गुरतया निर्धारित आलम्बनविभावस्तमालम्ब्यैव निर्वेदोद्गमात्, सर्वत्रोत्तमेष्वधमेषु च, अनुकूलेषु प्रतिकूलेषु वा, साम्यं समादृष्टिरनुभावो निर्वेदस्य कार्यत्वात्, मत्यादिपदोपस्थाप्य। धृतिप्रभृतयः सञ्चारिभावाश्च निर्वेदेन स्थायिना सम्भूय शान्तरसास्वादं जनयन्ति।

यहाँ सम्पूर्ण संसार आलम्बन है, सब पदार्थों में समानता की बुद्धि अनुभाव है और मति आदि सञ्चारीभाव हैं।

उक्तोदाहरणे भग्नप्रक्रमत्वमाशङ्क्य निराकरोति—

यद्यपि प्रथमार्धे उत्तमाधमयोरुपक्रमाद्, द्वितीयार्धेऽधमोत्तमवचनं प्रक्रमभङ्गमावहति, तथापि वक्तुर्ब्रह्मात्मकतयोत्तमाधमज्ञानवैकल्यं सम्पन्नमिति द्योतनाय क्रमभङ्गो गुण एव।

आवहति जनयति। तथा चाक्रमत्वदोषाद्दुष्टं काव्यमिति विवृतिस्तु चिन्तनीयैव, अक्रमत्वस्य वाचकातिरिक्तक्रमव्यत्यासस्थल एवाङ्गीकारात्।

प्रथमार्धे आदिचरणद्वये, उत्तमस्य मलयानिलस्य रमणीकुन्तलस्य च पूर्वम्, अधमस्य कालकूटस्य भोगिभोगस्य च पश्चान्निर्देशो य उपक्रान्तः, उत्तरार्धेऽधमस्य श्वपचस्य पूर्वम्, उत्तमस्यात्मभुवश्च पश्चान्निर्देशेन व्यत्यासः कृत इति पूर्वप्रत्युत्थिताकाङ्क्षाविषयीकृतप्रकारेण पश्चादनुक्तेः प्रक्रमभङ्गात् काव्यमिदं दुष्टमिति न विभावनीयम्, यतो ब्रह्मभूयमासादितवतः सर्वत्र समदृशो वक्तुरुत्तमाधमत्वादिप्रकारकज्ञानशून्यत्वाद् वचसि प्रक्रमभङ्गो वक्तुः स्थितप्रज्ञत्वातिशयमेव प्रकाशयन् गुणत्वमेव प्रयाति, न तु दोषत्वमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में यह क्रम है कि पहले मलय-पवन आदि उत्तम वस्तुओं का निर्देश, बाद में विष आदि अधम वस्तुओं का, परन्तु उत्तरार्ध में उस क्रम को छोड़कर पहले अधम चाण्डाल का, बाद में उत्तम ब्रह्मा का निर्देश किया गया है। अतः क्रम-भङ्ग दोष यहाँ होता है, तथापि 'वक्ता ब्रह्म-रूप हो जाने के कारण उत्तम-अधम के ज्ञान से शून्य हो गया है' इस बात को प्रकाशित करने से 'क्रम-भङ्ग' गुण ही है।

विशिष्य शिष्यप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमाह—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

कश्चिद्भगवद्भक्तस्तदीयसाक्षात्कारमाशंसति—

'सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन् नयनयो-
विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा,
निमग्नः स्यां कस्यां चन नवनभस्याम्बुदरुचि॥'

अहं कदा कस्मिन् काले, सुरस्रोतस्विन्या देवनद्या गङ्गायाः, पुलिनं तीरम्, अधितिष्ठन् पुलिने वर्तमानः, नयनयोर्दृशोः, अन्तर्मुद्रामभ्यन्तरनिमीलिनं तत्पूर्वध्यानम्, विधाय कृत्वा, अथ तदनु, सपदि शीघ्रं, विषयानिन्द्रियग्राह्यबाह्यपदार्थान्, विद्राव्य द्रवयित्वा, विधूतं

ज्ञानोदयाद् विध्वस्तमन्तर्ध्वान्तं मानसाज्ञानं यस्य, तादृशः सन्, कस्यां च नानिर्वचनीयायां, मधुरमधुरायामतिमनोरमायां, नवनभस्याम्बुदरुचि नवीनभाद्रपदीयजलदकान्तौ, चिति चैतन्यात्मनि श्रीकृष्णचन्द्रे, निमग्नो नितरां लीनः, स्यां भवेयमित्यर्थः।

पद्येऽस्मिन्नन्तरशब्दस्य द्विरुपादानं सौन्दर्यं किञ्चिदाकुञ्चयतीति चिन्त्यम्।

अब जिज्ञासुओं के विशद-ज्ञान के लिये 'शान्त-रस' के प्रत्युदाहरण भी दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' इत्यादि। कोई भगवद्भक्त भगवत्साक्षात्कार की आशंसा करता है—सुरनदी (गङ्गा) के तीर में बैठा हुआ मैं अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख बनाकर शीघ्र समस्त सांसारिक विषयों को दूर हटाकर, अत एव अन्तःकरण के अन्धकार (अज्ञान) से हीन होकर भादोमास के नवीन जलद के तुल्य कान्ति वाले किसी (अनिर्वचनीय) अतिमधुर चैतन्य (कृष्णचन्द्र) में कब निमग्न होऊँगा ?

इह निर्वेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, यथा न शान्तरसध्वनिव्यपदेश स्तथा प्रतिपादयति—

अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बनः सुरस्रोतस्विनीतटाद्युद्दीपितो नयननिमीलनादिभिरनुभावितः स्थायी निर्वेदः प्रतीयते, तथापि भगवद्वासुदेवालम्बनायां कविरतौ गुणीभूत इति न शान्तरसव्यपदेशहेतुः।

अत्रापीत्यपिः पूर्वपद्यसमुच्चायकः। तथा च पूर्वश्लोक इवात्र श्लोके निर्वेदस्य शान्तस्थायिनः, विषयसमुदयालम्बन-सुरधुनीतीराद्युद्दीपन-नेत्रनिमीलनाद्यनुभावसम्बन्धाच्छान्तरसध्वनिव्यवहारो न भवति, निर्वेदस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि सर्वप्राधान्येन व्यज्यमानायां कविनिष्ठायां श्रीकृष्णविषयकरतौ सामग्रीसङ्घटनाभावादपुष्टतया भावे, गुणीभावाद् भावध्वने रसवदलङ्कारस्य वा व्यपदेशस्यौचित्यादित्याकूतम्।

यद्यपि इस श्लोक में भी विषयों के अनादररूप आलम्बन से अङ्कुरित गङ्गा के तीर आदि उद्दीपन से उद्दीपित दृष्टि के अन्तर्मुखीकरण आदि अनुभवों से प्रतीति योग्य बनाया गया स्थायीभाव निर्वेद प्रतीयमान है, तथापि कृष्णचन्द्र-विषयक कवि-निष्ठ रति की अपेक्षा वह गौण हो गया है, अतः उसके रहने पर भी यहाँ 'शान्त-रस' की ध्वनि नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान स्थायीभाव ही रसरूप में परिणत होता है यह पहले लिखा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि यहाँ का 'निर्वेद' कथञ्चित् रसालङ्कार ही कहला सकता है। एक बात और—यहाँ का 'विषयगणालम्बनः' यह मूलपाठ भ्रामक है, क्योंकि 'विषय-समूह शान्त रस का आलम्बन है' यह अर्थ उस पाठ से प्रतीत होता है, जो सङ्गत नहीं जँचता, क्योंकि ? शान्तरस में विषयों से विमुखता अपेक्षित मानी गई है, फिर विषय उस रस का आलम्बन कैसे होगा ? अतः 'अनादरणीयत्वेन ज्ञात' यह विशेषण 'विषय' में जोड़ना पड़ेगा, तब कहीं मूलपाठ सङ्गत हो सकेगा, इससे अच्छा है कि 'विषयावगणनालम्बनः' ऐसा मूलपाठ माना जाय, जिससे भ्रम का अवसर ही न आ सके।

भावध्वनित्वमेवोक्तपद्यस्य समर्थयति—

इदं च पद्यं मन्निर्मितायां भगवद्भक्तिप्रधानायां 'करुणालहर्या'मुपनिबद्धमिति तत्प्रधानभावप्राधान्यमेवार्हति।

भक्तिर्भगवद्विषयारतिः। तस्यां करुणालहर्यां प्रधानं यो भावः (रतिः) तस्य प्राधान्यमेव, न तु गुणीभूतनिर्वेदस्य।

करुणालहरीप्रबन्धे रतिभावप्राधान्यात् तद्घटकेऽस्मिन् पद्येऽपि यतो भावप्राधान्यमेव युक्तम्, अतश्शान्तरसध्वनिर्नेह सम्भवतीत्याशयः।

यह पद्य पण्डितराज रचित 'करुणा-लहरी' का है और उस ग्रन्थ में भगवान् की भक्ति-भाव (भगवत्प्रेम) ही प्रधान है, अतः इस पद्य में भी भाव की ही प्रधानता समुचित है।

पुनरन्यथा शान्तरसाप्राधान्यमिह दर्शयति—

शान्तरसाननुगुणश्चायमोजस्वी गुम्फ इति चानुदाहार्यमेवैतत् ।

ओजस्वितया शान्तरसाननुगुणत्वम् । अयं सुरस्रोतस्वीत्यादिश्लोकः । ओजस्वी वक्ष्यमाणपरिपाट्यौजोगुणव्यञ्जकः । गुम्फो रचितश्लोकसन्दर्भः । इतिर्हेतौ । चकारः समुच्चये ।

अस्य श्लोकस्य समासरेफ-संयोग-टवर्गादिघटितत्वाच्छान्तरसप्रतिकूलौजोगुणव्यञ्जकत्वादपि न शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमुचितमिति भावः ।

दूसरी बात यह है कि इस श्लोक की रचना समास रेफ-संयोग और टवर्ग आदि से युक्त होने के कारण ओजस्विनी है, जो शान्त-रस के प्रतिकूल पड़ती है, इसलिये भी इस पद्य को शान्तरस का उदाहरण नहीं माना जा सकता है ।

नन्वेवं मलयेत्यादिपद्येऽपि वक्तृनिष्ठ-परमात्मविषयकरतेः प्रतीतेस्तस्य कथं शान्तरसध्वन्युदाहरणत्वमित्याशङ्कामपास्यति—

पूर्वपद्ये तु 'परमात्मनि स्थितिः' इत्यनेन तत्ताद्रूप्यावगमाद् रतेरप्रतिपत्तिः ।

तस्य परब्रह्मणस्ताद्रूप्यस्य तदैकात्म्यस्य अवगमाद् बोधाद् रतेरप्रतिपत्तिरप्रतीतिः ।

तादात्म्ये पूज्यपूजकभावावसायाभावाद् रतेरसम्भवान्न प्रतीतिरिति न तत्प्राधान्यस्य सम्भव इति तुशब्दव्यङ्ग्यमुदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्वैषम्यमतिरोहितमित्यभिप्रायः ।

यदि कहें कि 'मलयानिलकालकूटयोः......इस पूर्वोक्त पद्य में भी 'परमात्मा में स्थिति का वर्णन है', अतः वहाँ भी भाव की प्रधानता होनी चाहिये, 'शान्त-रस' के उदाहरणरूप में उसको कैसे उपस्थित कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि वहाँ 'परमात्मा में स्थिति' इस उक्ति के द्वारा वक्ता की ब्रह्म-रूपता दिखलाई गई है, अतः परमात्मा में वक्ता का प्रेम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्रेम, प्रेम-पात्र और प्रेम करने वालों में भेद रहने पर ही बन सकता है, उन दोनों में ऐक्य-ज्ञान होने पर नहीं ।

अथ रौद्ररसं निरूपयति—

रौद्रो यथा—

शिवशरासनभङ्गध्वनिभग्नसमाधिः समुद्दीपितकोपः परशुरामो ब्रवीति—

'नवोच्छलितयौवन-स्फुरदखर्वगर्वज्वरे, मदीयगुरुकार्मुकं गलितसाध्वसं वृश्चति ।
अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गलस्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः ॥'

नवोच्छलितेन नूतनोल्लसितेन, यौवनेन तारुण्येन, स्फुरन् विजृम्भमाणः, अखर्वोऽनल्पो गर्वोऽभिमान एव तापकत्वाज्ज्वरः सन्तापो यस्य, तस्मिन्, तथा मदीयगुरोर्ममशस्त्रास्त्रविद्याध्यापकस्य शम्भोः, कार्मुकं धनुः, गलितसाध्वसं निर्भयं यथा भवति, तथा वृश्चति छिन्दति, उत्कटापराधकारित्वादग्राह्यनामनि जने, अयमुत्तोल्यमानः, दलितेभ्य, समरे खण्डितेभ्यः, दृप्तानां दर्पोद्धतानां, भूभृतां क्षितिपतीनां गलेभ्यः कण्ठेभ्यः, स्खलतो निष्पततः, रुधिरस्य शोणितस्य, घस्मरः पाता, ममाद्भुतपराक्रमस्य भार्गवस्य, परस्वधः परशुः, निर्दयं निष्करुणं यथा भवति तथा, पतत्वित्यर्थः ।

अब 'रौद्र-रस' का उदाहरण देते हैं—'रौद्रो यथा' इत्यादि । शिव-धनु-भंङ्ग से प्रकुप्य परशुराम की उक्ति है । नवीन उछलती हुई युवावस्था के कारण बढ़े हुए अत्यधिक अभिमानरूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु-शिवजी-के धनुष को तोड़ डाला है । अच्छा, अब युद्ध में काटे गये गर्वीले भूपों के गले से चूते हुये शोणित को पीने वाला यह मेरा भयङ्कर फरसा उसके ऊपर निर्दयतापूर्वक गिरे ।

प्रकृते रौद्ररसव्यञ्जकसामग्र्यां प्रथममालम्बनविभावं दर्शयति—

अत्र तदानीं रामत्वेनाज्ञातो गुरुकार्मुकभञ्जक आलम्बनम्।

अत्रोक्तोदाहरणे। तदानीं क्रोधोद्रेकावसरे। रामत्वेनाज्ञातो रामोऽयमित्याकारकज्ञानाविषयीकृतः, गुरुकार्मुकभञ्जकः शिवधनुस्त्रोटको राम आलम्बनं क्रोधस्येति शेषः।

गुरु (शिवजी) के धनुष को तोड़ने वाला वह राम यहाँ आलम्बन है, जिसका रामरूप से ज्ञान परशुरामजी को उस समय तक नहीं था।

तत्र रामनामानुपादानस्य हेतुं दर्शयन्नुक्तं समर्थयति—

अत एव विशेष्यानुपादानम्, गुरुद्रुहो नामग्रहणानौचित्यात्, क्रोधाविष्काराद्वा।

अत एव गुरुद्रोहस्य बलवदपराधस्य वा कर्तुर्जनस्याग्राह्यनामत्वादेव। विशेष्यस्य रामस्यानुपादानं नामाग्रहणम्। क्रोधस्याविष्कार उद्रेकः।

इदमुच्यते—'आलापात् प्राक् परशुरामेण दाशरथिरामस्य नाम न ज्ञातम्, ज्ञातमपि वा दुःक्षमापराधविधानजन्यमन्युभरेण नोपात्तमिति क्रोधोद्रेकव्यञ्जनादुचितमेव। अन्यथा नवेत्यादिविशेषणद्वयोपादानेऽपि विशेष्यरामानुपादानमनुचितमेव प्रतिभायात्।

अथवा गुरु-द्रोही का नाम नहीं लेना चाहिए इस कारण, या क्रोध उत्पन्न हो जाने के कारण 'तोड़ने वाला' यह विशेषण-मात्र कहा गया है, विशेष्य (तोड़ने वाले का नाम) नहीं कहा गया।

उद्दीपनविभावं वक्ति—

ध्वनिविशेषानुमितो निश्शङ्कधनुर्भङ्ग उद्दीपकः।

ध्वनिविशेषो धनुर्भङ्गोत्थितस्तुमुलनिनादः, स च धनुषो निश्शङ्कभञ्जनं विना कथमपि न सम्भवतीत्यनुमानेन गृहीतं तादृशं रामस्य धनुर्भञ्जनसाहसमिह क्रोधस्योद्दीपनमिति सारम्।

विलक्षण ढङ्ग की जगद्व्यापी ध्वनि से अनुमान किया हुआ 'निर्भय होकर धनुष का तोड़ देना' उद्दीपन है।

अनुभावमाह—

परुषोक्तिरनुभावः।

भार्गवस्य कटूक्तिः क्रोधस्य कार्यत्वादनुभाव इति तात्पर्यम्।

कटु वचन अनुभाव है।

व्यभिचारिणो व्याहरति—

गर्वोग्रत्वादयः सञ्चारिणः।

गर्व उग्रता चादि पदग्राह्या अमर्षप्रभृतयो व्यभिचारिभावाः क्रोधस्य पोषकत्वात्।

गर्व और उग्रता आदि व्यभिचारी हैं।

प्रकरणं प्रकाशयति—

एषा च धनुर्भङ्गध्वनि-भग्नसमाधेर्भार्गवस्योक्तिः।

एषा नवेत्यादिः। अकस्मादुत्कटशब्दश्रवणात् समाधेर्भङ्गः। तथाच क्रोधोदयौचित्यम्।

यह धनुष के भङ्ग की ध्वनि से समाधि टूट जाने पर परशुरामजी की उक्ति है।

रौद्ररसानुकूलवृत्तिदर्शनादप्युक्तं समर्थयति—

वृत्तिरप्यत्र महोद्धता रौद्रस्य परमौजस्वितां परिपुष्णाति।

महोद्धता दीर्घसमासबहुला संयुक्ताक्षरमयी परुषानाम्नी वृत्तिरप्यत्र पद्ये ओजोगुणाश्रयस्य रौद्ररसस्य व्यञ्जने परमोपकारकतया रौद्ररसस्य पोषिकाऽस्तीति रौद्ररसोदाहरणमिदम्।

लम्बे समासों से युक्त, संयुक्ताक्षरमय, 'परुषा' नाम की वृत्ति (रचना-विशेष) भी इस पद्य में 'रौद्र-रस' की परम ओजस्विता को पुष्ट करती है।

पुना रौद्ररसव्यञ्जनक्षमतामेव दर्शयति—

अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहम्भावविगमस्यावश्यकतया, प्रकृते चाजहत्स्वार्थलक्षणामूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कर्षस्यैव प्रकाशनात् स्फुटं गम्यमानेन विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्यं गम्यते।

अन्यत्र क्रोधानुदयावसरे। अहम्भावोऽहङ्कारः। प्रकृते क्रोधोद्रेके। अजहत्स्वार्थोपादानलक्षणा, वाच्यस्यापि लक्ष्येण सह प्रधानप्रतीति विषयत्वात्। अक्रुद्धावस्थायां, गुरोः स्मरणे, विनयोदयादहङ्कोपशमस्यैवौचित्यम्। सम्प्रति क्रोधदशायान्तु, मदीयेत्यस्मच्छब्देनैकविंशति वारान् क्षितिनिःक्षत्रियत्वसम्पादननिश्शङ्कं मातृभ्रातृवधानुष्ठानपित्रादेशपरिपालनाद्यद्भुतकर्मशालिस्वात्मन्युपादानलक्षणया, व्यज्यमानेन, बीजभूतेन गर्वोत्कर्षेण, विवेकशून्यत्वं द्वारीकृत्य, व्यज्यमानं क्रोधाधिक्यं, रौद्ररसं गोचरयतीति रौद्ररसध्वनेरिदमुदाहरणम्।

यद्यपि, जहाँ क्रोध का अवसर नहीं रहता, गुरु का स्मरण होने पर विनय-भाव के उदित हो जाने से अहङ्कार निवृत्त हो जाता है, परन्तु यहाँ वैसा नहीं हुआ है, यह बात स्पष्ट है क्योंकि यहाँ गुरु में जो 'मदीय' (मेरे) विशेषण लगाया गया है, वह लाक्षणिक है अर्थात् मदीय पद की इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाने वाले अस्मच्छब्दार्थ में अजहत्स्वार्था (उपादान) लक्षणा है, जिससे अस्मच्छब्दार्थ (परशुराम) का गर्वोत्कर्ष ध्वनित होता है, उससे परशुराम की विवेकहीनता प्रतीत होती है, (गुरु के सामने अपना गर्वोत्कर्ष दिखलाना विवेक-हीनता का सूचक होता है) उस (प्रतीयमान-विवेकहीनता) से भी परशुराम का क्रोधाधिक्य व्यक्त होता है। इस तरह स्थायीभाव 'क्रोध' की सब तरह से पुष्टि होने के कारण यह पद्य 'रौद्र-रस' का उदाहरण होता है।

प्रत्युदाहरणं व्याहरति—

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

क्रुद्धं परशुरामं कश्चिद् वर्णयति—

'धनुर्विदलनध्वनिश्रवण-तत्क्षणाविर्भवन्
महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिस्सरद्बहलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥'

धनुषः शिवकार्मुकस्य विदलनात् खण्डनाद् (उद्भूतः) ध्वनिर्निनादः, तस्य श्रवणादाकर्णनात्, तत्क्षणे सद्यः, आविर्भवन्ती समुत्पद्यमाना, महागुरोः पितुर्जमदग्निमुनेः, वधस्य सहस्रबाहुसूनुकर्तृकघातस्य, स्मृतिः स्मरणं यस्य सः, तथा श्वसनस्य क्षत्रियकृतापराधस्मरणोद्भूतक्रोधोद्भावितश्वासस्य, वेगेन रंहसा, धूतः कम्पितोऽधरो निम्नोष्ठो यस्य, सः, तथा विलोचनाभ्यां क्रोधलोहितनेत्राभ्यां, विशेषेण प्राचुर्येण, निस्सरन् निर्गच्छन्, बहलो विपुलो विस्फुलिङ्गव्रजोऽग्निकणगणो यस्य, तादृशो रघुप्रवरं रामचन्द्रम्, आक्षिपन् धनुर्भञ्जनापराधकारित्वादाक्रोशन्, जामदग्न्यो जमदग्निसूनुर्मुनिः परशुरामो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः।

रौद्र-रस का प्रत्युदाहरण दिखलाते हैं—'इदं पुनर्नोदाहार्यम्' **इत्यादि। 'धनुर्विदलन...' यह श्लोक 'रौद्र-रस' के उदाहरणरूप में उपस्थित करने योग्य नहीं है। कोई, क्रुद्ध-परशुराम का वर्णन करता है—धनुष टूटने का शब्द सुनते ही, तत्काल, जिनको महागुरु-पिता जमदग्नि की सहस्रबाहुतनय द्वारा की गई हत्या का स्मरण हो आया, अत एव निश्वास-वायु के वेग में नीचे का होठ फड़कने लगा और आँखों से आग की चिनगारियाँ**

का महान् पुञ्ज झरने लगा, वे ऐसी स्थिति में, रामचन्द्र पर आक्षेप करते हुए मुनि परशुराम, सबसे उत्कृष्ट हैं।

धनुरित्यादिपद्यस्य कुतो न रौद्रध्वन्युदाहरणत्वमित्युपपादयति—

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितो धनुर्विदलनध्वनिश्रवणेनोद्दीपितो निश्वास-नेत्रज्वलनादिभिरनुभावितो महागुरुवधस्मृति-गर्वोग्रत्वादिभिश्च सञ्चारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववर्णनबीजभूतायां कविरतौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः।

अपिः पूर्वश्लोकसमुच्चायकः। अपराधो धनुर्भञ्जनरूपः, तदनुष्ठायी रामचन्द्र आलम्बनम्, धनुर्भङ्गध्वनिश्रवणमुद्दीपनम्, निश्वासो नेत्रज्वलनादिश्चानुभावः, पितृवधस्मृतिर्गर्व उग्रता च व्यभिचारिभावः, सम्भूय क्रोधं रौद्रस्थायिनं रसत्वं नयतीति रौद्ररसोदाहरणत्वमस्य प्राप्तम्, किन्तु 'जयति जामदग्न्यो मुनिः' इति कथनाद् वर्णनीयजामदग्न्यविषयककविनिष्ठरतिभावस्यैव प्राधान्याद् भावध्वनेरेवेदमुदाहरणम्। क्रोधस्त्वत्र व्यज्यमानोऽपि रतेः पोषकत्वेनाङ्गभूत एवेति नेदं रौद्रध्वनेरुदाहरणमित्यभिसन्धिः।

यद्यपि इस पद्य में भी उस 'क्रोध-रूप' स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होती है, जिसका आलम्बन, अपराधी रामचन्द्र है, उद्दीपन, धनु-भङ्ग-ध्वनि का श्रवण है, अनुभाव, श्वास तथा नेत्रों का जलना है और सञ्चारी—पिता की हत्या का स्मरण, गर्व, एवम् उग्रता आदि हैं, तथापि वह (क्रोध) 'रौद्र-रस' रूप नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके कारण कवि ने परशुरामजी का वर्णन किया है, उस (परशुराम विषयक) कवि-निष्ठ-रति की अपेक्षा वह गौण हो गया है अर्थात् कवि इस पद्य के द्वारा परशुरामजी के प्रति अपने 'भाव' को ही प्रधानरूप से प्रकट करना चाहता है, रौद्र-रस' के स्थायीभाव क्रोध को नहीं। अतः यह श्लोक रौद्र-रस-ध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता है।

काव्यप्रकाशोल्लिखितमुदाहरणं दूषयति—

काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे तु—'कृतमनुकृतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इतिपद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरशक्तिरेव।

वक्ष्यमाणारुचिस्तुना सूच्यते। 'मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः॥ नरकरिपुणा-सार्धं समीमकिरीटिना-मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्॥' इति पद्यावशिष्टांशः। वेणीसंहारे-द्रोणाचार्यशिरश्छेदात् क्रुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्जुनं प्रत्युक्तिरियम्। रौद्ररसस्य व्यञ्जने क्षमा समास-संयुक्ताद्यक्षरबहुला परुषा वृत्तिः। तामेव गौडीं रीतिं वामनादयो मन्यन्ते। तत्कवेर्वेणीसंहारकर्तुर्भट्टनारायणस्य। अशक्तिः प्रतिभाऽल्पता, एव नत्वत्र कथञ्चन समाधेः सम्भवः।

रौद्ररसोचितायाः परुषाया वृत्तेरनिबन्धनात् कवेरशक्तिरिह प्रतीयत इति नादुष्टमिदमुदाहरणम्, 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्येव भासते।' इति ध्वनिकारोक्तेरित्याकूतम्।

परेतु—ओजोनिरूपणमुपक्रम्य द्वितीय उद्द्योते-'तत्प्रकाशनपरश्चार्थोऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचकाभिधेयः। यथा—'यो यः शस्त्रं बिभर्त्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादौ। तृतीये पुनः 'तथा रौद्रादिष्वसमासा दृश्यन्ते। यथा—'यो यः शस्त्रम्' इत्यादौ।' इति ध्वनिकृतैव समासादिप्रयोज्यशब्दकाठिन्यविरहेऽप्यर्थकाठिन्यमात्रादप्योजोगुणस्य तदाश्रयरौद्रादिरसानां च व्यज्यमानताया निर्बाधमभिधानात् 'कृतमनुकृतम्' इत्यादौ रौद्ररसव्यञ्जनाक्षमवृत्तिनिबन्धनात् कवेरशक्तिकृतदोषस्योद्घोषः पण्डितराजस्यैव विवेकाशक्तिं सूचयति, न तु कवेः, सहृदयानुभवसाक्षिकविच्छित्तेरक्षतत्वादिति व्याहरन्ति।

अब काव्यप्रकाशकार मम्मट के द्वारा उल्लिखित 'रौद्ररस के उदाहरण' में दूषण दिखलाते हैं—'काव्यप्रकाशगत' इत्यादि। मम्मट ने यह पद्य 'रौद्ररस' के उदाहरण दिखलाने के लिये उद्धृत किया है—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा·······करोमि दिशां बलिम् ॥'

'वेणीसंहार' नाटक में द्रोणाचार्य की हत्या से क्रुद्ध अश्वत्थामा की, अर्जुन के प्रति यह उक्ति है—शस्त्र उठाने वाले 'मर्यादा-रहित, जिन, नर-पशुओं ने यह (द्रोणवधरूप) महापाप किया है या अनुमति दी है अथवा उस कुकर्म को आंखों के सामने होता देखा है—कृष्ण के साथ साथ—उन, भीम, अर्जुन प्रभृति सभी लोगों के शोणित, मज्जा तथा मांस से मैं अकेला ही दिक्पालों की बलि करता हूँ। इस पद्य की रचना 'रौद्र-रस' को व्यक्त करने में समर्थ नहीं है क्योंकि इसकी रचना में न समास की बहुलता है, न संयुक्ताक्षरों की और संयुक्ताक्षर-बहुल रचनारूप 'परुषा' वृत्ति अथवा वामन आदि आचार्यों के मत से तादृश गौणी रीति को ही 'रौद्ररस'-व्यञ्जक माना गया है। अतः यहां यही मानना पड़ेगा कि कवि में शक्ति की कमी थी, जिससे वह रौद्ररसाभिव्यक्ति की अभिलाषा रख कर भी तद्योग्य पदावली की रचना नहीं कर सका।

अथ वीररसं विभज्य निरूपयति—

वीरश्चतुर्धा, दान-दया-युद्ध-धर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात्।

तदुपाधेर्वीररसोपादानस्योत्साहस्य दान-दया-युद्ध-धर्मरूपविषयभेदेन भिन्नतयोपधेयस्य वीररसस्यापि चतुर्भेदकत्वं भवतीत्यर्थः।

अब 'वीररस' का विभाग प्रदर्शनपूर्वक निरूपण करते हैं—'वीर' इत्यादि। 'वीररस' के चार भेद हैं क्योंकि वीररस का स्थायीभाव 'उत्साह' दान, दया, युद्ध और धर्मरूप विषय के भेद से चार प्रकार का हो सकता है।

दानवीरमुदाहरति—

तत्राद्यो यथा—

विप्रवेषेण याचमानायेन्द्रायादेयकवचादिदानाङ्गीकारमाकलय्य चकितान् सभ्यान् कर्णो ब्रवीति—

'कियदिदमधिकं मे यद् द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि'।
अकरुणमवकृत्य द्राक् कृपाणेन निर्यद्-
बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥'

मे यस्मै कस्मै चिदपि याचकाय महार्घ्यमपि सदा सोल्लासं वितरणात् प्रसिद्धस्य कर्णस्य मम, अर्थयित्रे याचमानाय, द्विजाय विप्राय, अरमणीयं चर्मरूपत्वादसुन्दरम्, सुवर्णनिर्मितत्वात् साधारणे कुण्डले च, यद् अर्पयामि ददामि, इदं तत् कियदधिकम् (प्रत्युत क्षुल्लमेव)। द्राग् झटिति, अकरुणं निर्दयं यथा स्यात् तथा कृपाणेन खड्गेन, अवकृत्य छित्त्वा, निर्यती निस्स्रवन्ती बहला विपुला रुधिरस्य धारा यस्मात् तादृशं मौलिमात्ममस्तकम्, आवेदयामि समर्पयामीत्यर्थः।

क्षोदीयःकवचादिदानादेव यूयं किमिति चकिताः? अहं तु ब्राह्मणेन याचितः सद्यः स्वशिरोऽपि छित्त्वा समर्पयितुमर्हामीति सारम्।

उनमें प्रथम अर्थात् दानवीर जैसे—याचक-रूप में ब्राह्मण-वेष धारण करके उपस्थित इन्द्र को कवच और कुण्डल देने के लिये उद्यत देखकर उस दान से चकित सभ्यों के प्रति

कर्ण की उक्ति है—मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि मैं याचक ब्राह्मण को, साधारण, कवच और कुण्डल अर्पण कर रहा हूँ। निर्दयता-पूर्वक, तलवार से तत्काल काट कर बहती हुई प्रगाढ़-रुधिर-धारा से युक्त अपने मस्तक को भी उनके आगे निवेदित करता हूँ—समर्पित कर सकता हूँ।

प्रकरणमुपन्यस्यति—

एषा द्विजवेषायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितान् सभ्यान् प्रत्युक्तिः।

पित्रा भगवता भास्करेण कर्णस्य रक्षार्थं कवचादीनां दत्तत्वाददेयानामपि दानोद्यमेन सभ्यानामाश्चर्यम्। एषेत्युक्तिविशेषणम्।

(यहाँ का अनुवाद श्लोकार्थ के अवतरणरूप में ऊपर किया जा चुका है।)

आलम्बनादीन् दर्शयति—

अत्र याचमान आलम्बनम्। तदुदीरिता स्तुतिरुद्दीपिका। कवचादिवितरणं तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिकं चानुभावः। 'मे' इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युत्थापितो गर्वः, स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिस्मृतिश्च सञ्चारिणौ।

अत्र 'किय' दित्याद्युदाहरणे। याचमानोऽर्थी द्विजवेष इन्द्रः। स्तुतिर्याचककृता प्रशंसा। तत्र कवचादिषु, लघुत्वबुद्धिस्तुच्छत्वज्ञानम्। 'मे' इत्यस्मच्छब्दस्योच्चारयितृभिन्नेऽभिधा, निश्शङ्कं समस्तैश्वर्यदानदक्षत्वादिधर्मविशिष्टस्वार्थेऽजहत्स्वार्था प्रयोजनवती लक्षणा, स्वकीया द्वितीयदानशौण्डत्वादिप्रयोजने च व्यञ्जनेत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः। तेन व्यज्यमानो-गर्व आत्मनोऽमर्त्यादित्यजन्यत्वस्मृतिभावश्च व्यभिचारिभावौ विभावादिभिः सम्भूय दानोत्साहं दानवीररसत्वं प्रापयन्तीति हृदयम्।

यहाँ याचक (द्विज-वेष-धारी इन्द्र) आलम्बन है, उसके द्वारा की गई प्रशंसा उद्दीपन है, कवच आदि का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का ज्ञान अनुभाव है और मूल के 'मे' और अनुवाद के 'मेरे लिये' पद से व्यक्त होने वाला गर्व तथा अलौकिक पिता सूर्य से अपनी उत्पत्ति का स्मरण सञ्चारी भाव हैं। यहाँ 'मे अथवा मेरे लिये' पद से गर्व आदि क्यों और कैसे व्यक्त होते हैं यह भी समझ लेना चाहिए—'अस्मद्' शब्द उच्चारणकर्ता का वाचक है अतः उस पद के न रहने पर भी वाक्य के वाच्यार्थ मे कोई कमी नहीं रहती, फिर वह पद कहा ही क्यों गया? इसका उत्तर यह होगा कि 'मे' पद लाक्षणिक है-वाचक नहीं, अतः उस पद से केवल उच्चारणकर्ता का बोध नहीं होता, वरन् विलक्षण-दान-शक्ति आदि धर्मविशिष्ट उच्चारणकर्ता का बोध होता है। जिससे उक्त अर्थ—जो लक्षणा का प्रयोजन है—व्यक्त होता है। इसीको अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं।

इहत्यवृत्तेरपि रसानुकूलतां प्रकटयति—

वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गम—विरामशालितया सहृदयैकचमत्कारिणी। तथाहि—उत्साहपोषकं कवचकुण्डलार्पणयोर्लघुत्वनिरूपणं विधातुं पूर्वार्धे तदनुकूलशिथिलबन्धात्मिका। उत्तरार्धे तु 'मौलि'तः प्राग् वक्तृगत-गर्वोत्साहपरिपोषणायोद्धता। ततः परं ब्राह्मणे सविनयत्वं प्रकाशयितुं तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं ध्वनयितुं पुनः शिथिलैव। अत एवावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि वितरामीति वा।

अत्रोदाहरणे। वृत्तिरुपनागरिकादित्रितयान्यतमरूपा। तत्तदर्थानुरूपोद्गमविरामशालितया—तस्य तस्य चार्थस्यानुरूपौ तुल्यौ यावुद्गमविरामौ प्रारम्भसमाप्ती, ताभ्यां शालितया तद्वत्त्वेन। एकशब्दो मुख्यार्थकः, मुख्यत्वं चात्यन्तत्वपर्यवसायि। कवचस्य कुण्डलयोश्चार्प-

णस्य दानस्य यल्लघुत्वस्य तुच्छताया निरूपणम्, तत् तद्दानविषयकोत्साहस्य पोषकम्। शिथिलबन्धात्मिका मृदुलवर्णघटिता कोमलाख्या वृत्तिः। मौलितो 'मौलि'मित्यस्मात्, निर्विभक्तिकानुकरणात्तसिल्। उद्धता कर्कशवर्णघटितापरुषा वृत्तिः। शिथिला कोमलैव, न तु परुषा। ददामीत्यादेर्गर्वप्रकाशसम्भवः।

अयं भावः—इह पद्ये वर्णनीयार्थानुसारी वृत्तिसन्निवेशः सहृदयहृदयङ्गमः। तथा चादिमचरणद्वये देयकवचादिलघुत्वविभावनाद् दातुरुत्साहस्य पुष्टिरिति वीररसोचिता परुषा वृत्तिः। तृतीय-चतुर्थचरणयोः 'मौलिम्' इति शब्दात् पूर्वं वक्तुः कर्णस्य, गर्वोत्साहयोर्बोधनाच्च सैव वृत्तिः। तदूर्ध्वं दानीयविप्रप्रस्तावादौद्धत्यपरिहारनम्रताप्रदर्शनयोरौचित्येन तदनुकूला कोमला वृत्तिः सन्निवेशिता। ददामि वितरामीत्याद्युक्तौ वक्तरि दातृत्वाभिमानः प्रतीयते, समर्पणार्थकावेदयामीति कथनेन तु विनयातिशय इति विवेकः।

इस पद्य में वृत्ति (पद-योजना की शैली) भी उन-उन अर्थों के अनुकूल कहीं प्रौढ़ और कहीं कोमल होने के कारण सहृदयमात्र को चमत्कृत करने वाली है। देखिए—पूर्वार्ध में कवच और कुण्डल के समर्पण में तुच्छता का भान—जो उत्साह को पुष्ट करता है—कराने के लिये पद-योजना शिथिल (कोमल) है और उत्तरार्ध में '···मौलि' से पहले, वक्ता के गर्व और उत्साह को पुष्ट बनाने के लिये, उद्धत (प्रौढ़) है, उसके बाद फिर ब्राह्मण के विषय में विनय प्रकाशित करने के लिये, विनय के मूलभूत गर्वराहित्य को अभिव्यक्त करने वाली कोमल रचना है। इसीलिये 'आवेदयामि—निवेदन करता हूँ—' कहा, किन्तु 'ददामि—देता हूँ' 'वितरामि—वितरण करता हूँ' नहीं कहा।

प्रत्युदाहरणं दर्शयति—

इदन्तु नोदाहरणीयम्—

'दानवीर' का यह उदाहरण नहीं देना चाहिए—

दानवीरं नरेशं कश्चिद् वर्णयति—

> 'यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
> माकर्ण्यावनिमण्डलागत-वियद्वन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
> ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकर-व्यावल्गदूधस्स्रवत्-
> पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृट्पयोदायते ॥'

यस्य नृपस्य, उद्दामो निरन्तरप्रवृत्तत्वादनवरुद्धः, दिवानिशं रात्रिन्दिवम्, अर्थिषु याचकेषु, विलसन् प्रवर्तमानो यो दानस्य प्रवाहः परम्परा, तस्य प्रथां ख्यातिम्, अवनिमण्डलाद् भूलोकाद्, आगतस्य वियद्वन्दीन्द्रवृन्दस्य स्वर्गस्तुतिपाठकश्रेष्ठसमूहस्य, आननान्मुखात्, आकर्ण्य श्रुत्वा, सुरेन्द्रसुरभिर्देवराजकामधेनुः, ईर्ष्यया प्रतिस्पर्धिदानयशस्समुत्कर्षश्रवणासहिष्णुतया, निर्भरमतिमात्रं फुल्लोऽञ्चितो रोमनिकरो लोमपालिर्यस्य, तादृशम्, अत एव व्यावलात् क्षोभेण सञ्चलद्, यद् ऊधः स्तनभारः, तस्मात् स्रवतां निर्गलतां, पीयूषाणां नवीनदुग्धानां, प्रकरैः पूरैः (हेतुभिः) प्रावृट्पयोदायते वर्षर्तुमेघ इवाचरतीत्यर्थः।

यस्य राज्ञः सार्वदिकदानातिशयश्रवणात् कामधेनुः प्रतिस्पर्धया वर्षामेघ इव नितरां पयः प्रवाहयति, तादृशो दानिनामग्रणीरेष राजेति तात्पर्यम्।

इन्द्र शब्दस्यात्र द्विरुपादानं चारुतां किञ्चिदपकर्षतीति सहृदयैर्वेद्यम्।

कवि किसी दानी राजा का वर्णन करता है—भूमण्डल से लौट कर आये हुये स्वर्गीय बन्दीजनों के मुख से, उस दान-प्रवाह—जो बिना रुकावट के रातदिन याचकों को दिया जाता है—की ख्याति को सुनकर, कामधेनु, ईर्ष्या के कारण अत्यन्त उत्फुल्ल (कण्टकित)

रोमराजि से तने हुये स्तन-भार से चूते हुये अमृत तुल्य नवीन दुग्ध के समूहों से वर्षा कालिक जलद सी हो जाती है अर्थात् राजा की दानकीर्ति को सुन कर कामधेनु के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जिससे उसके अङ्गों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और रोम के खड़े हो जाने से उसके स्तन-स्थान में एक प्रकार की गुदगुदी पैदा होती है जिससे दूध की अविरल धारा प्रवाहित होने लगती है।

कुतो नेदमुदाहरणमित्युपपादयति—

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बनः, अवनिमण्डलागत-वियद्वृन्दीन्द्रवदनविनिर्गत-राजदानवर्णनोद्दीपितः, ऊधःप्रस्तुतपीयूषप्रकरैरनुभावितः, असूयादिभिः सञ्चारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत इति न रसव्यपदेशहेतुः।

इह 'यस्ये'त्यादिपद्ये यद्यपि देवसमावृत्तान्तवर्णनात् तत्सदस्य वर्गालम्बनस्य, भूलोकागतवन्दिकृतराजदानवर्णनरूपोद्दीपनस्य, कामधेनुस्तनक्षीरक्षरणलक्षणानुभावस्य, ईर्ष्याजनकतया व्यङ्ग्यस्यासूयादेश्च व्यभिचारिभावस्य, सम्बन्धात् कामधेनुनिष्ठो दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयति, तथाप्यसौ रसः स्तुतिव्यङ्ग्यायां वन्दिनिष्ठराजरता वङ्गिभूतायामङ्गत्वमेव दधातीति नेदं दानवीररसध्वनेरुदाहरणम्, अपि तु रतिभावध्वनेरित्यभिप्रायः।

यद्यपि इस पद्य में भी कामधेनु का उत्साह अभिव्यक्त होता है क्योंकि उसके अभिव्यञ्जक सामग्री यहाँ वर्तमान है, जैसे—इन्द्र की सभा में उपस्थित सब दर्शन आलम्बन हैं, भूलोक से आगत दिव्य बन्दीजनों के मुख से निस्सृत, राजा के दान का वर्णन (तत्परक वाक्य) उद्दीपन है, स्तनभार से चूते हुये अमृतोपम नूतन दुग्धसमूह अनुभाव है और ईर्ष्या की उक्ति से व्यक्त होने वाली ईर्ष्या-कारण असूया आदि सञ्चारीभाव हैं। तथापि यह उत्साह 'दानवीर' रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता, क्योंकि वह कवि-विवक्षित राजविषयक स्तुति की अपेक्षा गौण है अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव ही यहाँ प्रधान है और उक्त उत्साह उसके पोषक होने से अङ्ग है, अतः यह श्लोक भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है—रसध्वनि का नहीं।

वीररसस्याङ्गत्वादन्यत्रापि तद्ध्वनिव्यपदेशाभावं दर्शयति—

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

इसी कारण से यह उदाहरण भी नहीं देना चाहिए—

बलिवामनवृत्तं कश्चिद् वर्णयति—

'साब्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
सर्वां द्यामपि, सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।
प्रादुर्भूतपरप्रमोद-विदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरोन्यस्तवान्॥'

अब्धिभिः सप्तभिः क्षारादिभिः समुद्रैः, द्वीपैः सप्तभिः पार्श्वद्वयतोयावृतभूभागैः पुष्करादिभिः, कुलाचलैः सप्तभिर्विन्ध्यादिभिर्धराऽवष्टम्भ-पर्वतैश्च सहितां वसुमतीं पृथ्वीम्, अपि तथा सप्तान्तरां स्वरादिसप्तप्राकारां, सर्वां सम्पूर्णां, द्यामूर्ध्वभुवनावलीम्, पद्भ्याम्, आक्रम्य, सस्मितेन परपराजयजनितेषद्धसितेन, हरिणात्रिविक्रमेण, मन्दं (द्वाभ्यामेव पद्भ्यां छलेन सर्वस्वग्रहणात्) स्तिमितं यथा स्यात् तथा समालोकितो दृष्टः, प्रादुर्भूतो भगवत्साक्षात्कारेणोत्पन्नः, पर आनन्दान्तरेभ्य उत्कृष्टो यः प्रमोदः सुखविशेषः, तेन विदलन् विकसन् रोमाञ्चो रोमविकारः सञ्जातो यस्मिंस्तादृशः, तत्क्षणं सदयः, (प्रणामाय) व्यानम्रीकृता

विशेषण नताकृता कन्धरा ग्रीवा येन, तादृशश्च, असुरवरो दैत्यश्रेष्ठो वलिः, मौलिं मस्तकम् (तृतीयचरणारोपणाय) पुरो भगवतोऽग्रे, न्यस्तवानतिक्षिपदित्यर्थः ।

कोई कवि बलि तथा वामनावतार भगवान् का वर्णन करता है—सात समुद्रों, सात द्वीपों तथा सात प्रधान पर्वतों से युक्त पृथवी को और सात परकोट वाले सम्पूर्ण स्वर्ग को भी चरणों से आक्रमण कर लेने के बाद जब भगवान् त्रिविक्रम ने ईषद्धास्य पूर्वक राजा वलि की ओर तिरछी नजर से देखा, तब उस असुरराज ने उत्कृष्ट सुख की उत्पत्ति के कारण रोमाञ्चित होकर उसी काल में नतानन होकर मस्तक सामने रख दिया। सारांश यह है कि भगवान् राजा वलि को छलने के लिये बौने का रूप धर कर उसके द्वार पर गये और तीन पग पृथवी उससे मागें, उदार चूड़ामणि वलि ने इस साधारण याचना को सहर्ष स्वीकार कर लिया, परन्तु भगवान् ने एक पग में समग्र भूलोक और दूसरे पग में सम्पूर्ण स्वर्गलोक को नाप लिया, फिर 'तीसरा पग मापने के लिये तुम्हारे पास जगह नहीं है, अब अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति कैसे करोगे ?' इस मनोभाव को झलकाने के लिये वलि की ओर देख कर कटाक्ष करने लगे, तब वलि उन्हें साक्षात् परमेश्वर समझ उनके दर्शन से आनन्दमन्थर हो उठा और तीसरा पग धरने के लिये अपना मस्तक उनके आगे रख दिया, इस व्यापार से उसने यह प्रार्थना की कि मेरा मस्तक तो आपने अभी तक मापा नहीं, वह मेरा अभी तक अपना है, अब आप उसीको माप कर मेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करें।

अत एवेत्येतदभिप्रेतमर्थं प्रकाशयति—

इह च भगवद्वामनालम्बनः, तत्कर्तृकमन्दनिरीक्षणोद्दीपितः, रोमाञ्चादिभिरनुभावितः, हर्षादिभिः पोषितः, उत्साहो व्यज्यमानोऽपि गुणः ।

अत्र श्लोके त्रिविक्रमेणालम्बनेन, तत्कृतमन्दालोकनोद्दीपनेन, रोमाञ्चादिभिरनुभावैः, हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावैश्च सम्भूयाभिव्यज्यमानो वलिनिष्ठो दानोत्साहो दानवीररसत्वमासादयन्नपि वलिस्तुतेः प्रधानीभूताया उपकारकत्वादङ्गमिति नेदं वीररसध्वनेरुदाहरणमित्याशयः ।

प्रमोदपदेनेह सुखमुच्यते, हर्षस्तु तदंशावच्छिन्नावरणभञ्जकश्चित्तवृत्तिविशेष इति न हर्षस्य वाच्यत्वम् , न च तस्य वाच्यत्वे व्यभिचारिवाच्यत्वरूपरसदोषापातः ।

इस श्लोक में भी यद्यपि भगवान् वामनरूप आलम्बन, तत्कृत ईषत् दर्शनरूप उद्दीपन, रोमाञ्च आदि अनुभाव और हर्ष आदि सञ्चारी भावों के संयोग से वलि का 'उत्साह' व्यक्त होता है तथापि वह गौण है।

निदर्शनदर्शनेनोत्साहस्याङ्गत्वमिह समर्थयति—

प्रागन्यगतस्येव प्रकृते राजगतस्याऽपि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात् ।

हेतौ पञ्चमी ।

प्राग् 'यस्ये'त्यादिश्लोकेऽन्यगतस्य कामगवीवृत्तेरुत्साह(स्थायिकवीररस)स्य यथावर्णनीयराजस्तुतेरुत्कर्षकत्वम् , तथा प्रकृते 'साध्वी'त्यादिश्लोके राजा वलिस्तन्निष्ठस्यापि तस्योत्साह(स्थायिकवीर)स्य स्वकीयस्तुतेरुत्कर्षत्वम् । तस्मादङ्गप्रधानयोः पूर्वत्र भिन्नसम्बन्धित्वम् , प्रकृते त्वेकसम्बन्धित्वमिति विशेषेऽपि, परोत्कर्षकत्वेनाविशेषादुभयोरप्युत्साह(स्थायिकवीर)योरङ्गत्वमेव नतु प्राधान्यमिति भावः ।

उत्साह को गौण होने का कारण बतलाते हैं—'प्रागन्य' इत्यादि। पूर्व (यस्योद्दाम इत्यादि) पद्य में अन्य (कामधेनु) का उत्साह जिस तरह राजा की स्तुति को उत्कृष्ट बनाने वाला था, उसी तरह यहाँ राजा (वलि) का उत्साह भी राजा वलि की स्तुति को उत्कृष्ट बनाता है। अतः इन दोनों पद्यों में स्तुति प्रधान और उत्साह गौण है।

एतेन 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्सलाञ्छनोक्तमुदाहरणं परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाहरणीयत्वात् ।

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः, स भगवान् देवः पिनाकी गुरु-र्वीर्यं यत्तु, न तद् गिरां पथि, ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभिः ॥ त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमही-निर्व्याजदानावधिः, सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ॥' इत्ययं सम्पूर्णः श्लोकः । एतेन—परशुरामनिष्ठोत्साहस्थायिकवीररसस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, कविनिष्ठतद्विषयकरतौ गुणीभूतत्वेन । तस्य—उत्साहस्थायिकवीरस्य । अङ्गत्वाद् गुणीभूतत्वम् ।

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्येण 'त्यागः' इत्यादिपद्यस्य दानवीररसध्वन्युदाहरणत्वं यदुक्तम्, तदसमञ्जसम्, 'साध्वी'-त्यादाविवात्राप्युत्साहस्थायिकवीरस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि पराङ्गतया गुणीभावादित्यभिसन्धिः ।

इससे 'सार-बोधिनी' नामक 'काव्यप्रकाश' की टीका में 'श्रीवत्सलाञ्छन' भट्टाचार्य के द्वारा दिया गया 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण भी खण्डित हो गया, ऐसा समझना चाहिए। उन्होंने—

'उत्पत्तिर्जमदग्नितः..............न लोकोत्तरम् ॥'

इस श्लोक को वीररस ध्वनि का उदाहरण कहा है। यह श्लोक 'महावीरचरित' नाटक के द्वितीय अङ्क में आया है, धनुर्भङ्ग से क्रुद्ध परशुराम को रामचन्द्रजी कह रहे हैं—भगवान्! आपका क्या-क्या लोकोत्तर नहीं है अर्थात् आपकी सभी क्रियायें अलौकिक ही हुई हैं, आपका जन्म जगत्प्रसिद्ध जमदग्नि मुनि से हुआ है; धनुर्धारी साक्षात् शिवजी आपके गुरु हैं—उन्हीं से आपने धनुर्विद्या प्राप्त की है, आपका पराक्रम आपके कर्मों से ही प्रकट होता है—बचनों से वह प्रकट नहीं किया जा सकता, त्याग भी आपका निराला ही है, सात समुद्रों से परिवेष्टित अर्थात् समूची पृथवी का अकपट भाव से दान कर देना साधारण बात नहीं है। आप क्षत्रियोचित तथा ब्राह्मणोचित दोनों तरह की तपस्या के निधान हैं। परन्तु यह पद्य 'रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ का 'उत्साह' रूप स्थायीभाव वाला 'दानवीररस' व्यङ्ग्य होकर भी कविनिष्ठ परशुराम विषयक रतिभाव का अङ्ग हो गया है, अतः यह श्लोक 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' का अथवा भावध्वनि का उदाहरण हो सकता है।

तुल्यन्यायेनाक्षिपति—

ननु 'अकरुणमवकृत्य' इत्यत्रापि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य कर्णस्तुत्यङ्गत्वात् कथं ध्वनित्वमिति चेत् ।

पूर्वोक्ते 'कियदिदम्' इत्यादिपद्ये व्यज्यमानस्य दानवीररसस्याप्येवं कर्णस्तुतेरङ्गत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वात् कथं रसध्वनित्वम्, तुल्यन्यायादित्याक्षेप्तुराशयः ।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि 'अकरुणमवकृत्य...' इत्यादि पद्य में भी जिस 'दानवीर रस' की प्रतीति होती है, वह भी कर्ण की स्तुति का पोषक है अतः अङ्ग है—गौण है-प्रधान नहीं, फिर वह पद्य भी 'दानवीर रसध्वनि' का उदाहरण नहीं हो सकता?

उत्तरयति—

सत्यम्, अत्र कवेः कर्णवचनानुवादमात्रतात्पर्यकत्वेन कर्णस्तुतौ तात्पर्य-विरहात्।

नात्र तुल्य न्यायावसरः, उभयोस्तौल्याभावात्, तथाहि—'अकरुणमवकृत्त्य' इत्यादि-पद्ये कवेर्दानवीर-कर्ण-वचनानुवादमात्रे तात्पर्यम्, न तु कर्णस्य स्तुतौ, तेन कर्णस्तुते-स्तात्पर्यविषयस्वभावान्नाङ्गित्वम्, नवा वीररसस्य तदङ्गत्वम्। 'साब्धिद्वीपे'त्यादौ तु स्तुते-रेव वक्तृतात्पर्यविषयत्वात् प्राधान्यमित्युभयोर्वैषम्यमित्याशयः।

उक्त शङ्का ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखिये, वहाँ कवि का तात्पर्य केवल कर्ण के वचनों का अनुवाद करने में है, न कि कर्ण की स्तुति करने में।

ननु कवेरिह कर्णस्तुतौ तात्पर्याभावेऽपि, कर्णस्यैव चेदात्मस्तुतौ तात्पर्यम्, तर्हि न कथं स्तुतेः प्राधान्यमित्याशङ्कां निरस्यति—

कर्णस्य च महाशयत्वेनात्मस्तुतौ तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव।

चस्त्वर्थकः। महाशय उदात्तमनाः। तात्पर्यस्यानुपपत्तिरसङ्गतिः। अवाक्यार्थस्तात्पर्य-विषयत्वाभावाद् वाक्यार्थबोधाविषयः।

न हि महाशया आत्मश्लाघिनो भवन्तीति महाशयस्य कर्णस्यात्मस्तुतौ तात्पर्यासम्भ-वादत्र स्तुतेः सत्त्वेऽपि, तात्पर्यविषयत्वाभावान्न प्राधान्यसम्भावनेति वीररसस्य गुणीभावा-भावाद् रसध्वनेरेवेदमुदाहरणमित्याकूतम्।

यदि आप कहें कि प्रशंसा-सूचक होने से उक्त श्लोक स्तुतिवाक्य तो अवश्य है, तब रही बात यह कि कवि उस वाक्य का अनुवादक मात्र है, अतः उसका स्तुति में तात्पर्य नहीं माना जा सकता, ठीक है, परन्तु मूल वक्ता कर्ण का तात्पर्य अपनी स्तुति में कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ण महाशय पुरुष है और अपने मुख से अपनी स्तुति कोई क्षुद्राशय ही कर सकता है। फलतः स्तुति उस वाक्य का तात्पर्य विषयीभूत अर्थ नहीं है।

ननु 'कियदिदम्' इत्यादिपद्ये प्रतीयमाना स्तुतिरपलयितुमशक्या, तात्पर्यविषयत्वविर-हाद् यदि न शाब्दधीविषयः, तर्हि कागतिरित्यत आह—

परन्तु वीररसप्रत्ययानन्तरं तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनुमीयते राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतौ तात्पर्याद्वाक्यार्थतैव तस्याः।

लिङ्गेन हेतुना। स्वाधिकरणे श्रोतुरात्मनि। सा स्तुतिः।

दानवीररसप्रधानक—शाब्दात्मकवाक्यार्थबोधे पर्यवसन्ने, व्यक्त्या प्रतीतेन कर्णस्यो-त्साहेन हेतुना, श्रोत्रात्मनि 'कर्णः स्तुत्यो (विभावाद्यभिव्यक्त)दानविषयकोत्साहवत्त्वात्' इत्याकाराऽनुमितिर्जायत इति प्रतीयमाना स्तुतिरत्रानुमितेर्गोचरो ननु शाब्दबोधस्येत्याशयः।

इतनी बात अवश्य है कि 'दानवीर रस' की प्रतीति हो जाने के बाद उस उत्साहरूप हेतु से सहृदयों के हृदय में वह (कर्ण की स्तुति) अनुमित होती है। इस तरह से यहां जो स्तुति की प्रतीति होती है, वह अनुमितरूप है-शाब्दबोधरूप नहीं। परन्तु जहां राजा का वर्णन किया गया हो, वहां तो राजा की स्तुति में ही श्लोक वाक्य का तात्पर्य रहता है अतः वहां स्तुति की प्रधानता माननी ही पड़ती है।

अथ दयावीररसध्वनिमुदाहरति—

द्वितीयो यथा—

दूसरा दयावीर, जैसे—

'न कपोत ! भवन्तमण्वपि, स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम्।
इदमद्य मया तृणीकृतं, भवदायुःकुशलं कलेवरम् ॥'

हे कपोत पारावत ! श्येनात् पक्षिघातकविहङ्गात् समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य, तादृशं भयं भवन्तम्, अण्वपि मनागपि, न स्पृशतु (द्रागपि श्येनान्माभैषीः) यत इदं पुरोवर्ति, भवदायुःकुशलं रक्षकत्वाद् भवदायुषः क्षेमकरं, कलेवरं (स्वस्य) शरीरम्, अद्य, मया दीनदयाव्रतिना शिविना, तृणीकृतं भवद्रक्षणाय श्येनाय भक्षयितुं समर्प्यमाणत्वात् तृणवत्तुच्छं मतमित्यर्थः।

इह शिवेर्दयालुतापरीक्षायै श्येनरूपेणेन्द्रेणाक्रम्यमाणो भीतः कपोतरूपो धर्मः प्राण-परित्राणाय शिविं शरणमगात्। स च दयार्द्रचेताः स्वशरीरसमर्पणेन श्येनात् कपोतमरक्षी-दिति पौराणिकमितिवृत्तम्।

अत्र दयाविषयकशिशिविवृत्तिरुत्साहः स्थायी, कपोत आलम्बनम्, तदीयव्याकुलत्व-मुद्दीपनम्, शरीरार्पणमनुभावः, धृत्यादयश्च व्यभिचारिणः सम्भूय दयावीररसमास्वाद-पदवीं नयन्ति।

हे पारावत ! (कबूतर !) बाज से उत्पन्न होने वाला भय थोड़ा भी तेरा स्पर्श न करे, (यह मैं चाहता हूँ) अर्थात् तू बाज से मत डर। (क्योंकि) आज मैंने तेरे प्राणों की रक्षा करने में समर्थ इस अपने शरीर को तृण बना दिया है। तात्पर्य यह है कि हे कपोत ! तेरे शरीर के बदले मैं अपना शरीर बाज को दे रहा हूँ, जिसके भक्षण से तृप्त होकर बाज तेरे ऊपर आघात नहीं करेगा, फिर तुझे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

कपोतापेक्षया श्येनं प्रत्युक्त्या भूयो भयनिवृत्तेः सम्भवात् पाठान्तरं कल्पयति—

अथवैवं विन्यासः—

विन्यासः पदानामिति शेषः।

अथवा इस पद्य के स्थान पर इसतरह की रचना समझिये—

शिविः श्येनं ब्रूते—

'न कपोतकपोतकं तव, स्पृशतु श्येन ! मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं, भवते चारुतरं कलेवरम् ॥'

हे श्येन ! तव स्पृहा जिघत्सा, मनागपि, कपोतक-पोतकं पारावतस्यानुकम्पनीयशावकं न स्पृशतु। यत इदं चारुतरं कपोतशरीरापेक्षयाऽधिकमांसलत्वादतिमनोरमं कलेवरम्, अद्य मया भवते समर्पितमित्यर्थः।

हे श्येन ! (बाज !) तेरी स्पृहा (मारने की इच्छा) दयनीय इस कबूतर के बच्चे का थोड़ा भी स्पर्श न करे (ऐसी मेरी अभिलाषा है)। मैंने आज तेरे लिये इस सुन्दरतम शरीर को अर्पित किया अर्थात् तू मेरे शरीर को खाकर अपनी क्षुधा-ज्वाला को शान्त कर और कबूतर के उस बच्चे को मत मार। प्रथम पद्य में कबूतर के बच्चे को निर्भय रहने का आश्वासन दिया गया है और द्वितीय पद्य में बाज को, कपोत-पोतक का हनन नहीं करने की सम्मति दी गई है जो उक्त आश्वासन की अपेक्षा अधिक सङ्गत है। अत एव ग्रन्थकार ने प्रथम पद्य को द्वितीय पद्य में बदलना आवश्यक समझा। इस श्लोकार्थ का आधार एक पौराणिक कथा है—राजा शिबि की दयालुता की ख्याति बहुत हो चुकी थी, इन्द्र ने उनकी दयालुता की परीक्षा करनी चाही, अतः इन्द्र स्वयं बाज बन गये और धर्म को कपोत बनाया। फिर उस बाज से अभिद्रुत होकर उस कपोत ने राजा शिबि की शरण ली ? और शिबि ने अपना शरीर देकर बाज से कपोत की रक्षा की।

प्रकरणमालम्बनादि च प्रकाशयति—

एषा शिबेः कपोतं श्येनं प्रति चोक्तिः। अत्र कपोत आलम्बनम्, तद्गतं-व्याकुलीभवनमुद्दीपनम्, तस्य कृते स्वकलेवरार्पणमनुभावः।

पाठभेदेन बोधनीयव्यक्तिभेदः। तद्गतं कपोतनिष्ठम्। तस्य कृते कपोतस्य जीवनरक्षायै। धृत्यादिर्व्यभिचारिभावश्च बोध्यः।

यह राजा शिवि की प्रथम श्लोक में कबूतर के बच्चे के प्रति और द्वितीय श्लोक में बाज के प्रति उक्ति है। यहां कबूतर का बच्चा आलम्बन है, उसकी व्याकुलता उद्दीपन है और उसकी रक्षा के लिये अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है। इसी तरह धैर्य आदि सञ्चारी हैं, यह भी समझ लेना चाहिये। सारांश यह है कि इन सब भावों के संयोग से 'दया-वीररस ध्वनि' के व्यवहार का कारण होता है।

इहोदाहरणे दानवीरध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद् दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनकपोतयोर्भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन शिबिशरीरस्यार्थिनोऽभावात् तदप्रतिपत्तेः।

प्रत्ययो ज्ञानम्। श्येनो भक्षकः, कपोतश्च भक्ष्यः। श्येनः कपोतशरीरस्यार्थी, नतु शिविशरीरस्येत्यर्थिनोऽभावः शिविशरीरस्य। तदप्रतिपत्तेः शरीरदानाप्रतीतेः।

अत्र पद्ये कपोतरक्षायै शिविकर्तृक-श्येनोद्देश्यक-शरीरदानं प्रतीयत इति पूर्ववद् दानवीरध्वनेरपीदमुदाहरणमिति पूर्वपक्षः।

श्येनो हि भक्ष्यस्य कपोतशरीरस्यार्थी, नत्वभक्ष्यस्य शिविशरीरस्य, तस्माद्याचकस्याभावेऽत्र दानप्रतीतेरसम्भवान्न दानवीररसध्वनिरित्युत्तरपक्षश्चावसेयः।

यहां शरीर-दान की प्रतीति होती है अतः यह पद्य 'दानवीर ध्वनि' का ही उदाहरण है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि बाज का खाद्य कबूतर है, अतः वह कबूतर का याचक हो सकता है, राजा के शरीर का नहीं, और जिस चीज का याचक जहां नहीं हो, वहां उस चीज का दान कैसे हो सकता है अर्थात् यहां दान की प्रतीति होती ही नहीं है।

ननु शिविकृतं शरीरार्पणमेव दानमिति कुतो न दानप्रतिपत्तिरित्याशङ्कायामभिदधाति—

श्येनशरीरनिवेदनस्य कपोतशरीरत्राणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्यत्वात्।

उपाधिः प्रयोजनरूपं निमित्तम्।

यतः शिविः कपोतशरीररक्षार्थं तत्परिवर्ते स्वशरीरमार्पिपत्। ततो (द्रव्यस्य) विनिमयो न तु दानं प्रतीयते, निरुपाधिकस्थल एव दानस्य प्रत्ययादित्याशयः।

यदि आप कहें—शिवि के द्वारा शरीर का अर्पण दान नहीं तो क्या है? इसी का उत्तर देते हैं—'श्येनशरीर' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि यहाँ कपोत-शरीर की रक्षा के लिये शिबि ने अपना शरीर दिया है, फिर वह दान कैसे कहलाया? क्योंकि किसी चीज के बदले में जो दूसरी चीज दी जाती है वह विनिमय (लेन-देन) कहलाता है—दान नहीं।

युद्धवीररसध्वनिमुदाहरति—

तृतीयो यथा—

तृतीय 'युद्धवीर' जैसे—

समराङ्गणे सन्नद्धं रावणं श्रीरामो ब्रवीति—

> **'रणे दीनान् देवान् दशवदन! विद्राव्य, वहति,**
> **प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः।**
> **ललाटोद्यज्ज्वाला-कवलितजगज्जालविभवो**
> **भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु॥'**

रे दशवदन रावण ! दीनान् निरतिशयपराक्रमहीनतया दुर्गतान्, देवानिन्द्रादीन्, रणे समरे, विद्राव्य कान्दिशीकान् विधाप्य, प्रभावप्रागल्भ्यं प्रभुत्वप्रौढिमनुभावधृष्टतां वा, वहति धारयति (स्वल्पबलामरविजयाद् वीरमानिनि) त्वयि विषये, तु पुनः, मम त्रिभुवनैकवीरस्य, परिकरः समराय सन्नाहः समारम्भो वा, कोऽयं कीदृशः ? । (किन्तु) ललाटाद् भालाद् उद्यन्त्या, ज्वालया तृतीयनयनानलशिखया, कवलितो भक्षितः (भस्मीकृतः) जगज्जालस्य ब्रह्माण्डमण्डलस्य, विभवो विभूतिर्येन, तादृशः (तृतीयनेत्रोन्मीलनमात्रभस्मीकृतत्रिभुवनस्त्वत्साहाय्यार्थमुपस्थितः) भवः स्वयं भगवान् पिनाकी, मे रामस्य, कोदण्डाद् धनुषः, च्युतस्य निर्गतस्य बाणस्य वेगं रंहः, कलयतु, धारयतु जानातु वेत्यर्थः ।

क्षुद्रवीर्यामरविजयमात्रेण प्रभुत्वगर्वाध्मातेन त्वया सह त्रिभुवनैकवीरस्य मे युद्धं नोचितम्, केवलमेकनेत्रोन्मीलनभस्मीकृताशेषभुवनेन भवेनैव मे युद्धमुचितमिति भावः ।

हे दशमुख रावण ! पराक्रमहीन-दीन देवताओं को युद्ध में खदेड़कर महा-सामर्थ्यशाली बनने वाले तेरे विषय में तो मेरी (त्रिभुवनैकवीर की) तैयारी क्या हो सकती है, हाँ, जिनके ललाट से निकलती हुई ज्वालायें समग्र सृष्टि के वैभव को ग्रास कर लेती हैं, वे देवाधिदेव महादेव मेरे धनुष से निकले हुये बाणों के वेग को सम्हालें । अभिप्राय यह है कि मैं तुझे तो अपने सामने कोई चीज ही नहीं समझता, परन्तु यदि समस्त संसार के संहारक महाकाल हर भी युद्ध में मेरे सामने आवें तो वे भी मेरे बाणों के वेग को देखकर विस्मित हुये बिना नहीं रहेंगे ।

प्राग्वत् प्रसङ्गादि दर्शयति—

एषा दशवदनं प्रति भगवतो रामस्योक्तिः । इह भव आलम्बनम्, रणदर्शनमुद्दीपनम्, दशवदनावज्ञाऽनुभावः, गर्वः सञ्चारी । वृत्तिरत्र देवानां प्रस्तावे तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा वीररसानालम्बनत्वावगतयेऽनुद्धतैव, दशवदनप्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धताऽपि, तस्यावज्ञया रामगतोत्साहानालम्बनत्वेन, तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकर्षवती, भगवतो भवस्य तु परमोत्तमालम्बनविभावत्वात् तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्यौजस्विनो वीररसस्य निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता ।

गर्वो रामस्य वीरोक्तिव्यङ्ग्यः । तद्गतस्य देवनिष्ठस्य, कातर्यस्य भीरुत्वस्य । अनुद्धता कोमला वृत्तिर्दशवदनेति यावत् । उद्धता परुषा प्रागल्भ्यं यावत् । तदालम्बनस्य रावणालम्बनस्य । न प्रकर्षवती नाधिकोद्धता । उत्तरार्धे तु शिवस्य प्रस्तात्र उपादानम् । ओजस्विन ओजोगुणाश्रयस्य । निष्पत्तिरास्वादः । प्रकृष्टोद्धताऽतिपरुषा ।

इदमुच्यते—पद्येऽस्मिन् प्रतीयमानस्य वीररसस्यावज्ञापात्रतया रावणो नालम्बनम् । तेन रावणालम्बनकवीररसस्य न प्रतीतिः । अत एव द्वितीयचरणे रावणस्यामरविद्रावणसामर्थ्यसूचनाय यद्यप्युद्धता, किन्तु न प्रकृष्टोद्धतावृत्तिः । विश्वविदितपराक्रमो भगवान् भवस्तु सर्वथाऽऽलम्बनत्वयोग्य इति तदालम्बनकवीररसप्रतीतिः । तस्मादुत्तरार्धे तदनुकूलैव प्रकृष्टोद्धता वृत्तिः । सर्वत्र रसानुसारिणी वृत्तिव्यवस्था बोध्या ।

यह रावण के प्रति भगवान् रामचन्द्र की उक्ति है । यहां शिव आलम्बन हैं, युद्ध-दर्शन उद्दीपन है, रावण का तिरस्कार अनुभाव है और उक्त वीरतापूर्ण उक्ति से व्यङ्ग्य होने वाला राम का गर्व सञ्चारीभाव है । वृत्ति (रचनाविशेष) देवताओं के प्रस्ताव में उद्धत (गाढ) नहीं है अर्थात् कोमल है, जिससे उनकी (देवताओं की) कातरता प्रकट होती है और कातरता की अभिव्यक्ति से यह सिद्ध होता है कि भगवान् रामचन्द्र उनको वीररस का आलम्बन नहीं समझते । हां, रावण के प्रस्ताव में देवताओं के दर्प को दमन

करने वाली उसकी वीरता का प्रतिपादन करने के लिये रचना उद्धत अवश्य है, परन्तु उस औद्धत्य में प्रकर्ष नहीं है क्योंकि राम ने उसका तिरस्कार किया है, उसको अपनी बराबरी का नहीं समझा है अतः वह उनके उत्साह का आलम्बन होने योग्य नहीं है, फिर उसको आलम्बन मानकर रस की प्रतीति नहीं हो सकती। परन्तु भगवान् शङ्कर अत्युत्तम आलम्बन विभाव हैं और उनको आलम्बन मान कर ही ओजोगुणयुक्त वीररस की सिद्धि होती है, अतः उनके प्रस्ताव में रचना पूर्ण उद्धत है।

धर्मवीररसध्वनिमुदाहरति—

चतुर्थो यथा—

चतुर्थ धर्मवीर जैसे—

अधर्मेणापि शत्रुविजयं विधेहीति वदन्तं युधिष्ठिरो व्याहरति—

'सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मी-रुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो-मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्॥'

राज्यलक्ष्मीः (मम), सपदि शीघ्रं, विलयं नाशम्, एतु प्राप्नोतु। अथवा (मम) उपरि, कृपाणस्य खड्गस्य, धाराः पतन्तु। (अथवा) कृतान्तोऽन्तकः (मम) शिरः, अपहरतुतरां नितरां छिनत्तु। तु पुनः (तथापि) मम धर्मैकनिष्ठस्य युधिष्ठिरस्य, मतिर्बुद्धिः धर्मात्, मनागीषदपि, न, अपैति नापसरतीत्यर्थः।

राज्यनाश-शरीराघात-शिरश्छेदापेक्षयाऽपि धर्मापेक्षा मे दुस्सहेत्याशयः।

चाहे राज्य-लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाय अथवा खड्गों की धारायें मेरे ऊपर गिरें, किंवा स्वयं यम मेरे शिर को काट ले, पर मेरी बुद्धि तो धर्म से अणुमात्र भी विचलित नहीं होती।

अत्र प्रसङ्गादि प्रतिपादयति—

एषाऽधर्मेणापि रिपुर्जेतव्य इति वदन्तं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिः। अत्र धर्म-विषय आलम्बनम्, 'न जातु कामान्न भयान्न लोभा-द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।' इत्यादिवाक्यालोचनमुद्दीपनम्, शिरश्छेदाद्यङ्गीकारोऽनुभावः, धृतिः सञ्चारिणी।

धर्मस्य विषयः सम्बन्ध्यनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषयः। 'धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥' इति भारतीयपद्यस्यावशिष्टांशः। आलोचनं समीक्षा।

यह 'अधर्म से भी शत्रु को जीतना चाहिये' ऐसा कहने वाले के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है। यहां धार्मिक विषय आलंबन है, 'काम, भय अथवा लोभ के लिये, किं बहुना प्राण के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिये' इत्यादि वचनों का विचार करना उद्दीपन है, मस्तक कर्तन आदि का स्वीकार करना अनुभाव है और धैर्य सञ्चारीभाव है।

वीररसस्य प्रकारचतुष्टयवत्त्वेऽरुचिं सूचयन्नुपसंहरति—

इत्थं वीररसस्य चातुर्विध्यं प्रपञ्चितं प्राचामनुरोधात्।

प्राचां मम्मटादीनामनुरोधात्, न तु स्वविचारात्।

इस तरह मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से वीर-रस के चार भेद दिखलाये गये हैं।

तमेव स्वविचारं प्रकाशयति—

वस्तु तस्तु—बहवो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथाहि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादिपद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैति

सत्यान्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि सम्भवात्।

प्राचीने धर्मवीरोदाहरणतया प्रागुपात्ते। तथाहीत्यादिना प्रकारबाहुल्यप्रतिपादनम्।

एवं यदि किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेण प्रकारभेदः स्यात्, तर्हि शृङ्गाररसवद् वीररसस्यापि भूयांसः प्रकारा भवेयुः। तस्मान्नेदं प्रकारभेदकल्पनं युक्तमिति स्वरसः।

वस्तुतः शृङ्गार की तरह वीर-रस के भी बहुत ही भेद दिखलाये जा सकते हैं। देखिये,- यदि पूर्वोक्त 'सपदि विलयमेतु......' इत्यादि पद्य को 'मम तु मतिर्न मनागपैतिसत्यात्' अर्थात् 'मेरी बुद्धि तो थोड़ा भी सत्य से विचलित नहीं होती' इस तरह चतुर्थ चरण को बदल कर पद्यान्तर के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब 'सत्य-वीर' भी एक भेद हो सकता है।

प्राचीनपक्षपाती शङ्कते—

न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति-वाच्यम्।

सत्यमपि धर्म एवेति धर्मवीरेणैव सत्यवीरस्यापि गतार्थतया नाधिकप्रकारकल्पनासम्भव इत्यभिप्रायः।

यदि आप कहें कि सत्य भी धर्म के अन्दर आ ही जाता है, अतः 'सत्य-वीर' की भी अन्तर्भाव 'धर्म-वीर-रस' में ही हो जायगा फिर अतिरिक्त भेद मानने की क्या आवश्यकता ?

समादधाति—

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात् पृथग्गणनानौचित्यात्।

प्रथमस्तच्छब्दो धर्मस्य, द्वितीयस्तु दानदययोः परामर्शकः।

यथा सत्यं धर्म एव, तथैव दानं दया चेति तुल्यन्यायात् सत्यवीरवद् दानवीर-दया-वीरयोरप्युपादानं पृथङ् न सङ्गच्छते। तस्मात् प्राचां प्रकारपरिगणना नोचितेत्याशयः।

तब मैं कहूंगा कि दान और दया भी तो धर्म के अन्तर्गत ही हैं, फिर 'दान-वीर' और 'दया-वीर' को भी पृथक् भेद के रूप में गिनना व्यर्थ है।

सत्यवीररूपनवीनप्रकाराभ्युपगमेऽपि न निस्तार इत्याचष्टे—

एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।

एवं-दानादिवीरवत्।

इसी तरह 'पाण्डित्य-वीर' की भी प्रतीति होती है।

उदाहरति—

यथा—

हयग्रीवोपासनालब्धसिद्धिः कश्चन पण्डितः सदसि ब्रूते—

> **'अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं, यदि तासामधिदेवताऽपि वा।**
> **अयमस्मि पुरो हयानन-स्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः॥'**

यदि स्वयं गिरां पतिर्बृहस्पतिरपि (का कथा मानवपण्डितानाम्) वक्ति शास्त्रार्थविचारे पूर्वपक्षमुपक्षिपति, यदि वा तासां गिराम् अधिदेवता वाग्देवी (स्वयं) सरस्वत्यपि वक्ति, (तर्हि) हयाननस्य भगवतो हयग्रीवस्य, स्मरणेन, उल्लङ्घित उत्तीर्णो वाङ्मयं शब्दब्रह्मैवा-पारत्वादम्बुधिर्येन, तादृशो हयग्रीवध्यानासादितसकलशास्त्रतत्त्वावगमः, अयं सम्मुखस्थोऽहम्, पुरस्तदुत्तरदानायाग्रेऽस्मि भवामीत्यर्थः।

हयग्रीवोपासनालब्धपाण्डित्यसिद्धिरहं साक्षाद्बृहस्पतिना सरस्वत्या वा शास्त्रार्थविचा न मनागपि बिभेमि, किमुतान्यैः सहेति सारम्।

जैसे—हयग्रीव की उपासना से अद्वितीय विद्वत्ता को प्राप्त करने वाला कोई पण्डित सभा में बैठ कर कह रहा है—'अपि वक्ति' इत्यादि। यदि स्वयं बृहस्पति अथवा साक्षात् वागधिष्ठात्री देवी भी बोलें तथापि हयग्रीव के स्मरण से समस्त वाङ्मय-समुद्र को पार करने वाला यह मैं आगे में उपस्थित हूं अर्थात् जब मैं बृहस्पति तथा सरस्वती से भी बाद में डरने वाला नहीं हूं तब इस सभा में उपस्थित आप जैसे साधारण पण्डितों की बात ही क्या? जिसका मन करे, आकर मुझसे शास्त्रार्थ-विचार कर सकता है।

स्वोक्तं समर्थयितुमालम्बनाद्याह—

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनः सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानुभावितो गर्वेण सञ्चारिणा पोषित उत्साहो वक्तुः प्रतीयते।

स्थायिन उत्साहस्य बृहस्पतिः सरस्वती चालम्बनम्, सभा तद्घटकपण्डितमण्डली चेष्टा चोद्दीपनम्, सभास्थसकलविद्वत्तिरस्कारोऽनुभावः, पाण्डित्यविषयको गर्वश्च व्यभिचारीति वक्तृगतस्य पाण्डित्यवीररसप्रतीतिर्भवतीति शेषः।

यहां बृहस्पति और सरस्वती आलम्बन हैं, सभा आदि का दर्शन उद्दीपन है, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली का तिरस्कार करना अनुभाव है और गर्व सञ्चारीभाव है, इन भावों से वक्ता का पाण्डित्य-विषयक उत्साह अभिव्यक्त होता है, जो 'पाण्डित्य-वीर-रस' का स्थायीभाव होकर उस रस के व्यवहार को प्रश्रय देगा।

पाण्डित्यवीरं युद्धवीरेऽप्रागुक्तेऽन्तर्भाव्याक्षेपपरिहारमाशङ्कते—

ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वादिति चेत्।

शस्त्रयुद्ध-शास्त्रयुद्धयोर्विजिगीषैकमूलकत्वेन युद्धत्वस्योभयत्रापि सत्त्वेनाभेदात् पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीर एवान्तर्भवति, नत्वतिरिक्त इति शङ्कापक्षाशयः।

यदि आप कहेंगे कि यह तो 'युद्ध-वीर' ही है क्योंकि वाद-विवाद में भी वीजगीषा रहती है, अतः युद्ध से उसका भी संग्रह हो जाता है।

समादधाति—

क्षमावीरे किं ब्रूयाः?

पाण्डित्यवीरस्य युद्धवीरेऽन्तर्भावेऽपि क्षमावीररूपः प्रकारो नूतनोऽपलपितुमशक्य एवेति प्राचां प्रकारपरिगणनमसङ्गतमेवेति भावः।

तो, मैं भी आप के कथनानुसार कथंचित् वाद को युद्ध मान लेता हूं किन्तु फिर भी तो आप की इष्ट-सिद्धि होती नहीं दीखती, क्योंकि 'क्षमा-वीर' के सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे? अर्थात् उसका अपलाप तो नहीं किया जा सकेगा।

क्षमावीरमुदाहरति—

यथा—

क्षमावान् व्याहरति—

'अपि बहलदहनजालं, मूर्ध्निरिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारा महमणुमात्रं न किञ्चिदाभाषे॥'

रिपुः शत्रुर्मे मम मूर्ध्नि शिरसि, बहलं भूयिष्ठम्, दहनजालमग्निपुञ्जम्, अपि निरन्तरं सन्ततं धमतु वायुसंयोगेन वर्धयतु, असिधारां करवाललतां, वा पातयतु, (तथापि) अहं तितिक्षुः, अणुमात्रमीषदपि, न किञ्चिद् आभाषे निवारकवचनं वदामीत्यर्थः।

जैसे—शत्रु भले ही मेरे मस्तक पर अग्नि-पुञ्ज को फूंक-फूंक कर बढ़ावें (प्रज्वलित करें) अथवा तलवार को गिरावें, पर मुझे कुछ भी बोलना नहीं है।

प्रसङ्गमाह—

क्षमावत उक्तिरियम् ।

अत्रोत्साहस्य रिपुकृतापकार आलम्बनम्, तटस्थप्रशंसाद्युद्दीपनम्, मौनमनुभावो धृतिश्च व्यभिचारिभावः ।

यह किसी क्षमा-शील पुरुष की उक्ति है । यहां शत्रुकृत अपराधरूप आलम्बन से अङ्कुरित, उदासीन व्यक्ति-कृत प्रशंसारूप उद्दीपन से उद्दीपित मौन-धारण-रूप अनुभाव से अनुभावित और धैर्य आदि सञ्चारी भावों से पोषित वक्ता का क्षमाविषयक उत्साह-जो 'क्षमा-वीर' का स्थायीभाव है—प्रतीयमान होकर 'क्षमा-वीर-रस-व्यवहार' का कारण होता है ।

क्षमावीरवद् बलवीररूपप्रकारस्यापि सम्भवात् परिगणनमयुक्तमेवेत्याह—

बलवीरे वा किं समादध्याः ?

उक्तरीत्या बलवीरोऽपि प्रकारः सम्भवतीति तत्प्रश्ने किं समाधानं कुर्याः । न हि तस्य प्रकारान्तरेऽन्तर्भावः कथमपि कर्तुं शक्य इत्याशयः ।

अथवा 'बल-वीर' के विषय में क्या समाधान देंगे ? अर्थात् 'बल-वीर' नाम का भी 'वीर-रस' का एक भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा ।

बलवीररसध्वनिमुदाहरति—

यथा—

वैनतेयो वासवं ब्रवीति—

'परिहरतु धरां फणिप्रवीरः, सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय ।
अहमिह पुरुहूत ! पक्षकोणे, निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि ॥'

हे पुरुहूत महेन्द्र ! फणिप्रवीरः सर्पश्रेष्ठः शेषः, धरां शिरसि धृतां वसुधां, परिहरतु परित्यजतु, कमठः कूर्मो भगवानपि तां पृष्ठस्थां पृथ्वीं विहाय विसृज्य सुखं स्वास्थ्यम्, अयतां प्राप्नोतु । अहं वैनतेयः, इहात्र पक्षस्य गरुतः, कोण एकदेशे (न तु समस्ते पक्षे) इदं प्रत्यक्षगोचरम्, निखिलं सम्पूर्णं, (धारादिघटितं) जगदण्डकं ब्रह्माण्डमण्डलं, वहामि (हेलयैव) धारयामीत्यर्थः ।

इह शेषः शिरसः, कमठः पृष्ठेन च कथञ्चन पृथ्वीं बिभर्त्ति, अहं पुनः पक्षकोणेनाप्य-खण्डब्रह्माण्डमण्डलं हेलया वोढुमलमिति शेषकमठापेक्षयाऽऽत्मनो व्यतिरेकः प्रतीयते ।

जैसे—सर्पों में सब से वीर शेषनाग अपने ऊपर से पृथिवी को हटा दें और कच्छप भगवान् भी उसे त्याग कर सुख-लाभ करें । हे देवेन्द्र ! मैं अकेला ही अपने पंख के एक कोने पर इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मण्डल को धारण कर लेता हूं ।

प्रसङ्गमभिधत्ते—

पुरुहूतं प्रत्येषा गरुत्मत उक्तिः ।

अत्रापि शेषकूर्मालम्बनस्य, तत्प्रशंसाकर्णनाद्युद्दीपनस्य, धराधारणोद्यमाद्यनुभावस्य, गर्वादिव्यभिचारिणश्च प्राग्वदूहो विधेयः । चरमचरणे 'जगदण्डकम्' इति व्याख्यात्रनुमतः पाठ एवाङ्गीकृतः । 'जगदक्लमम्' इति पाठस्तु व्यतिरेकपोषकत्वादुचितोऽपि ब्रह्माण्डमण्डलस्य सर्वापेक्षया महत्तमत्वेन गौरवोत्कर्षबोधकत्वात् परित्यक्तः ।

यह इन्द्र के प्रति गरुड़ की उक्ति है । यहां 'बल-वीर-रस' की प्रतीति होती है ।

उक्तोदाहरणत्रये वीररसध्वनेरभावमाशङ्कते—

ननु 'अपि वक्ति' 'परिहरतु धराम्' इति पद्यद्वये गर्व एव, नोत्साहः । मध्य-

स्थपद्ये तु धृतिरेव ध्वन्यत इति भावध्वनय एवैते, न रसध्वनय इति चेत्।

मध्यस्थं पद्यम् 'अपि बहले'त्यादि।

प्रथम-तृतीयपद्ययोः प्राधान्येन गर्वस्यैव, द्वितीयपद्ये च धृतेरेव व्यभिचारिभावस्य, नतूत्साहस्य स्थायिनः प्रतीतिरिति 'व्यभिचारी तथाऽञ्जितः' इत्युक्तेरेतानि त्रीण्यपि भावध्वनेरेव, न तु रसध्वनेरुदाहरणानीति शङ्कादलतात्पर्यम्।

यहां शङ्का यह होती है कि 'अपि वक्ति......' और 'परिहरतु धराम्......' इन दोनों जिनको आप क्रमशः 'पाण्डित्य-वीर' और 'बल-वीर' के उदाहरण मानते हैं—पद्यों में गर्व की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, और 'अविवहल......' इत्यादि पद्य में धैर्य की ही प्रतीति होती है—उत्साह की नहीं, अतः ये तीनों पद्य 'रस-ध्वनि' के उदाहरण नहीं हो सकते, वरन, 'भाव-ध्वनि' के उदाहरण हो सकते हैं क्योंकि 'व्यभिचारी तथाञ्जितः' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यज्यमान व्यभिचारी भावों को 'भाव' माना गया है।

समादधति—

तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितामेव किं न ब्रूयाः? रसध्वनिसामान्यमेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतार्थयेः?

'तद्व्यभिचारध्वननेन' इति पाठस्तु सन्दर्भाशुद्धेस्तिरस्कृतः।

यदि व्यभिचारिप्रतीतेरेव भावध्वनित्वं तेषूच्यते, तदा दानदयायुद्धवीरेष्वपि गर्वस्य, सत्यवीरे च धृतेर्व्यभिचारिभावस्य प्रतीतेर्भावध्वनित्वमुच्यताम्, वीररसध्वनेरुच्छेद एव क्रियताम्। अथवेत्थं सर्वेषु रसध्वनिषु तत्तद्रसव्यभिचारिभावस्यावश्यं प्रतीतेः सर्वत्र भावध्वनिरेवाङ्गीक्रियताम्, तेनैव रसध्वनिर्गतार्थीक्रियताम्, इत्थं हि सकलरसतन्त्रव्याकुलीभावः स्यादित्यहो तव मूलच्छेदी पाण्डित्यप्रकर्ष इति समाधानपक्षाशयः।

परन्तु उक्त शङ्का ठीक नहीं हैं क्योंकि यदि इस तरह उक्त पद्यों में भावध्वनियों का स्वीकार किया जाय, तब 'युद्ध-वीर' आदि उदाहरणों में भी गर्व आदि भावों की ध्वनियां ही क्यों नहीं मान ली जाय? क्योंकि दान, दया और युद्ध-वीरों के उदाहरणों में गर्व की और धर्म तथा सत्यवीर के उदाहरणों में धैर्य की प्रतीति अवश्य ही होती है। अथवा जहां जिस रस की ध्वनि होती है, वहां उस रस के समुचित व्यभिचारी भावों की प्रतीति का होना आवश्यक ही है, फिर उन सब जगहों में उन उन व्यभिचारीभावों की ध्वनियों को ही मान कर 'रस-ध्वनिमात्र' का उच्छेद क्यों नहीं कर दिया जाय? अर्थात् आपके हिसाब से 'रसध्वनि' नाम की कोई चीज ही साहित्यशास्त्र में नहीं रह जायगी।

ननु रसध्वनिषु व्यभिचारिभावापेक्षया स्थायिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति तद्बलाद्रसध्वनिव्यपदेशः, उक्तोदाहरणेषु तु गर्वादिव्यभिचारिभावस्योत्कटा प्रतीतिरिति भावध्वनित्वमेवोच्यत इति चेत्, न, उभयत्रोत्साहस्यैव स्थायिभावस्योत्कटत्वेन प्रतीयमानत्वात्। किञ्च बलवीराद्युदाहरणेषूत्साहस्य प्रतीतिर्न भवति, दानदयायुद्धवीरोदाहरणेषु तु भवतीति कस्यचिदुक्तिरपि राजाज्ञेवोपपत्तिविचारवञ्चितैव, उभयत्र वैषम्याननुभवात्। तस्मात् प्राचीनानां वीररसप्रकारपरिगणनमसङ्गतमित्येवाह—

स्थायिप्रतीतिदुरपह्नवा चेत्, तुल्यं प्रकृतेऽपि। अनन्तरोक्तपद्ये तु नोत्साहः प्रतीयते, दयावीरादिषु प्रतीयत इति राजाज्ञामात्रम्।

दुरपह्नवत्वेनोत्कटत्वं प्रतीतेः। अनन्तरोक्तपद्यं 'परिहरतु' इत्यादि।

यदि आप कहें कि 'रस-ध्वनि' के जो सर्वसम्मत उदाहरण हैं, उनमें व्यभिचारीभावों की अपेक्षा स्थायीभावों की प्रतीति उत्कट रूप से होती है, अतः वहां रस-ध्वनि मानते हैं, तब मैं कहूंगा—यहां (पाण्डित्य-वीर आदि में) भी उत्साहरूप स्थायीभाव की उत्कट

प्रतीति होती है, अतः यहां भी वीर-रस-ध्वनि मानिये। 'युद्ध-वीर' आदि में उत्साह की प्रतीति होती है और 'पाण्डित्य-वीर' आदि में नहीं, ऐसा कथन तो राजाज्ञामात्र होगा-युक्ति संगत नहीं। सारांश यह है कि प्राचीनों की 'वीर-रस के चार भेद हैं' यह मान्यता अल्प ज्ञतामूलक है, वस्तुतः उसके बहुत भेद हो सकते हैं।

अथाद्भुतरसध्वनिमुदाहरति—

अद्‌भुतो यथा—

अब 'अद्‌भुत-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं-'अद्‌भुतो यथा' इति। 'अद्भुत-रस' जैसे—

वदनान्तर्गतविश्वदर्शनचकिता यशोदा गोविन्दं वदति—

'चराचरजगज्जाल-सदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं, वीक्ष्यास्मि हृतचेतना॥'

हे कृष्ण! चराचरजगज्जालस्य स्थावरजङ्गमात्मकविश्वमण्डलस्य, सदनमधिकरणम्, गलन्नश्यद् गगनस्य व्योम्नः (किमुतान्यवस्तूनाम्) गाम्भीर्यमगाधत्वं यस्मात्, तादृशम्, तव बालकृष्णस्य, वदनं मुखं, वीक्ष्य विलोक्य, हृतचेतना विस्मयातिशयेन जडीभूताऽस्मीत्यर्थः।

जो स्थावर और जङ्गम-सम्पूर्ण संसार का निवास-स्थान है और जिसके सामने में गगन की भी गम्भीरता नष्ट हो जाती है, उस तेरे मुख को देख कर मेरा चैतन्य लुप्त हो गया है—आश्चर्य से मैं हत-बुद्धि हो गई हूं।

प्रकरणादि प्रदर्शयति—

कदाचिद् भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यशोदाया इयमुक्तिः। अत्र वदनमालम्बनम्, अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुद्दीपनम्, हृतचेतनत्वम्, तेन गम्यं रोमाञ्च-नेत्रस्फारणादि चानुभावः, त्रासादयो व्यभिचारिणः।

कदाचिज्जृम्भावसरे, तथा च श्रीमद्भागवते—'पीतप्रायस्य जननी, सा तस्य रुचिरस्मितम्। मुखं लालयती राजन्!, जृम्भतो ददृशे इदम्॥ खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः, सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च। द्वीपान् नगांस्तद्दुहितॄर्वनानि, भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि॥ सा वीक्ष्य विश्वं सहसा, राजन्! सञ्जातवेपथुः। सम्मील्य मृगशावाक्षी, नेत्रे आसीत् सुविस्मिता॥' अन्तर्गतं कृष्णमुखमध्यस्थम्। तेन हृतचेतनत्वेन गम्यं वाचकशब्दविरहात् कार्यतया व्यङ्ग्यम्। नेत्रयोः स्फारणमतिविकासनम्।

इह प्राधान्येन प्रतीयमानस्य स्थायिनो विस्मयस्यालम्बनादिसामग्रीसमवधानादद्भुतरसध्वनिः।

यह किसी समय भगवान् श्रीकृष्ण के विवृत वदन को देखने के बाद यशोदा की उक्ति है। यहां विवृत-मुख आलम्बन है, उसके अन्दर सम्पूर्ण स्थावर जंगमात्मक संसार का अवलोकन उद्दीपन है, चैतन्य-लोप तथा उससे व्यक्त होनेवाले रोमाञ्च एवं नयन-विकास आदि अनुभाव हैं और त्रास आदि सञ्चारीभाव हैं। तात्पर्य यह है कि इन सब भावों के संयोग से अभिव्यक्त विस्मयाख्य स्थायीभाव की यहां प्रधानता है, अतः 'अद्भुत-रस' की ध्वनि यहां होती है।

अत्र रतिभावध्वनित्वमाशङ्कितं खण्डयति—

नैवात्र पुत्रगता प्रीतिः प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात्।

नन्वत्र यशोदानिष्ठायाः पुत्रविषयकरतेरेव प्राधान्ये व्यज्यमानत्वाद् भावध्वनेरिदमुदाहरणं नन्वद्‌भुतरसध्वनेः, विस्मयस्य प्राधान्येनाप्रत्ययादिति चेत्, न, पुत्रविषयकरतेरत्र व्यञ्जकविरहेणाव्यङ्ग्यत्वादित्याशयः।

यहां यशोदा का पुत्र-प्रेम, वस्तुतः रहकर भी प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उसकी प्रतीति

कराने वाला एक भी पद इस पद्य में नहीं है, अतः पुत्र-विषयक रति-रूप-भाव-ध्वनि का ही यह उदाहरण है-'अद्भुत-रस-ध्वनि' का नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

ननु पूर्वापरसन्दर्भपर्यालोचनयाऽत्रापि रतिप्रत्ययो भवत्येवेत्यत्राह—

प्रतीतायां वा तस्यां विस्मयस्य गुणत्वं न युज्यते।

तस्यां पुत्ररतौ। गुणत्वमप्राधान्यम्।

प्रकरणपर्यवेक्षणेनात्र पुत्ररतिप्रतीतिर्यद्यानुभविकी, तथापि तस्या अङ्गत्वाद् हृतचेतनत्वेन मुख्यतया व्यज्यमानस्य विस्मयस्य प्रधानत्वान्न रतिभावध्वनिः, अपित्वद्भुतरसध्वनिरेवेति भावः।

यदि प्रकरण-पर्यालोचन से यहां पुत्र-प्रीति की प्रतीति होती है यह बात अनुभव-सिद्ध हो, तब भी वह (पुत्र-प्रीति) चैतन्य-लोप की बात से प्रधानतया व्यक्त होनेवाले विस्मय की अपेक्षा गौण ही होगी, विस्मय उसकी अपेक्षा गौण नहीं हो सकता।

अत्रैव भक्तिरसध्वनित्वं केनाप्याशङ्कितं निराकरोति—

एवं 'कश्चिन्महापुरुषोऽयम्' इति भक्तिरपि, तस्याः 'पुत्रो ममायं बालः' इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तुमेव नेष्टे। अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः।

एवं विस्मयस्यैवाङ्गित्वेन व्यक्तौ। तस्या यशोदायाः। ईष्टे शक्नोति। तस्यां भक्तौ।

ननु वदनान्तर्गतविश्वविलोकनाद् यशोदायाः 'कोऽपि महानुभावः पुरुषोऽयम्' इत्याकारकबुद्धावुत्पन्नायां जायमाना तद्विषयकभक्तिरिहास्ति प्रधानम्, विस्मयस्तु तत्पोषकत्वादङ्गमितिपुनर्नायमद्भुतरसध्वनिरिति न शङ्कनीयम्, यशोदायाः 'पुत्रो ममायं बालः' इत्याकारकनिश्चयात्मकप्रतीतौ जागरूकायां, समाने विषये निश्चयस्य तदितरज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात् 'महापुरुषोऽयम्' इति ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वादिहानुत्पत्तेर्भक्तेः सर्वथाऽसम्भवादिति तात्पर्यम्।

इसी तरह 'यह कोई महापुरुष है' यह समझ कर भक्ति भी यहां उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि 'यह बालक मेरा पुत्र है' इस प्रकार का यशोदा का निश्चय उसकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक है, अतः भक्ति की अपेक्षा भी विस्मय की गौणता अशङ्कनीय ही है।

अथ काव्यप्रकाशकृता दत्तमद्भुतरसध्वनेरुदाहरणं दूषयति—

यत्तु सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतम्—

'चित्रं महानेष नवावतारः, क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो! प्रभावः, काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः॥' इति।

चित्रमाश्चर्यम्, एष महान् परमोत्कृष्टः, नवावतारो नूतनो महापुरुषस्याविर्भावः, एषाऽस्य शरीरे विद्यमाना कान्तिर्द्युतिः क्व? (कुत्राप्यन्यत्र न) अभिनवाऽभूतपूर्वैवास्य भङ्गीरीतिः, लोकोत्तरं मनुष्यलोकाप्राप्यं, धैर्यं धृतिः, अहो अद्भुतः प्रभावोऽनुभावः, काऽप्यनिर्वचनीयैव, आकृतिराकारः (अङ्गसन्निवेशः) एष (तस्माद् धातुः) नूतनोऽभूतपूर्वः, सर्गः सृष्टिरस्तीत्यर्थः।

अब काव्यप्रकाशकार द्वारा उपस्थित 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरण को दूषित करने के लिये उसका स्वरूप पहले दिखलाते हैं—'यत्तु' इत्यादि। सहृदय-शिरोमणि प्राचीन आचार्यों ने 'चित्रं महानेष······' इत्यादि श्लोक को 'अद्भुत-रस-ध्वनि' के उदाहरणरूप में लिखा है। उस श्लोक का अर्थ यह है—यह महान् नूतन, अवतार आश्चर्य-जनक है, ऐसी कान्ति आज तक कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई, यह चलने, बैठने, बोलने और देखने का ढङ्ग भी सर्वथा नवीन ही है, अलौकिक धैर्य है, विलक्षण-आश्चर्य-चकित कर देनेवाला प्रभाव है, अनिर्वचनीय आकार है, यह एक नई सृष्टि है अर्थात् अब तक ऐसा कोई उत्पन्न नहीं हुआ, जरूर इस रूप में यह किसी महापुरुष का आविर्भाव हुआ है। यह भगवान् वामन के दर्शन से विस्मित बलि की उक्ति है।

इह विस्मयस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यतयाऽद्भुतरसध्वनिरिति भट्टमम्मटः। तन्मतं खण्डयति—

तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयतां नामात्र विस्मयः, परन्त्वसौ कथङ्कारं ध्वनिव्यपदेशहेतुः? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षकत्वेनास्य गुणीभूतत्वात्।

तत्र मम्मटोक्तविषये। असौ विस्मयः। कथङ्कारं केन प्रकारेण।

अत्रोदाहरणे प्रतीयमानोऽपि विस्मयो वर्णनीयमहापुरुषविषयाया भक्तेरङ्गिभूताया उत्कर्षप्रयोजकत्वादङ्गम्। तस्मान्महापुरुषविषयकभक्तिप्राधान्याद् भावध्वनेरेवोदाहरणमिदन्न त्वद्भुतरसध्वनेः, विस्मयस्य गुणीभावादित्याशयः।

यहाँ प्रधानतया विस्मय व्यङ्ग्य होता है, अतः यह 'अद्भुत-रस-ध्वनि' का उदाहरण है; इस मम्मट-मत का खण्डन करते हैं—'तत्रेदं वक्तव्यम्' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि इस पद्य में 'विस्मय' स्थायीभाव की प्रतीति होती है, हो, मैं उसका अपलाप करना नहीं चाहता, पर उस विस्मय के कारण यहां अद्भुत-रस-ध्वनि का व्यवहार कैसे हो सकता है? क्योंकि इस श्लोक में जिस महापुरुष का वर्णन किया गया है, उसके विषय में स्तुति करने वाले (बलि) की जो भक्ति है, वही यहाँ प्रधान है और विस्मय उसको उत्कृष्ट बनाता है, अतः उसकी अपेक्षा वह गौण हो गया है।

निदर्शनदर्शनेन स्वमतं द्रढयति—

यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य—'पश्यामि देवांस्तव देव! देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्॥' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे।

पार्थस्य वाक्यसन्दर्भे इति सम्बन्धः।

यथा भगवतो विश्वरूपं विलोक्यार्जुनेनाभिहितायां 'पश्यामि देवांस्तव देव! देहे' इत्यादिभगवद्गीताघटकवाक्यपरम्परायां भक्तिः (भगवद्विषया रतिः) प्रतीयमाना प्रधानम्, अदृष्टपूर्वरूपदर्शनजन्यो विस्मयस्तु भक्तिपोषकतयाऽङ्गमिति भावध्वनिरद्भुतरसस्याङ्गत्वेन रसवदलङ्कारश्च, तथैव प्रकृते 'चित्रम्' इत्यादावपि भक्तेः प्राधान्यमद्भुतस्य चाङ्गत्वमित्यभिसन्धिः।

ऐसे स्थलों पर भक्ति की ही प्रधानता होती है और विस्मय गौण रहता है इसमें दृष्टान्त दिखलाते हैं—'यथा' इत्यादि। भगवान् ने मुग्ध अर्जुन को अपना विराट् रूप दिखलाया, जिसको देखकर अर्जुन भगवान् से कहते हैं—हे देव! मैं आपके शरीर में सब देवताओं को तथा नाना तरह के सब प्राणियों को देख रहा हूं। इत्यादि गीता के वाक्यों में यद्यपि विस्मय की प्रतीति होती है, तथापि उस भक्ति की अपेक्षा वह गौण है, जो अर्जुन के हृदय में भगवान् के प्रति उत्पन्न हुई। तात्पर्य यह है कि जैसे यहां विस्मय की प्रधानता नहीं है, वैसे ही उक्त पद्य में भी उसकी प्रधानता नहीं ही है।

पर्यवसितमाह—

इत्थं चास्य रसालङ्कारत्वमुचितम्।

अस्य प्राचीनोक्ताद्भुतरसध्वन्युदाहरणस्य। रसालङ्कारत्वं रसवदलङ्कारोदाहरणत्वम्। एतद् भावध्वन्युदाहरणत्वस्याप्युपलक्षकम्, पूर्वसन्दर्भानुरोधात्।

पर्यवसित अर्थ यह हुआ कि 'चित्रं महानेष······' इत्यादि श्लोक अद्भुत-रस-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता, अपितु भाव-ध्वनि का उदाहरण हो सकता है, हाँ, विस्मय भी यहाँ बहु-विभावजन्य है, अतः तन्मूलक 'रसवत्' अलंकार यहाँ होगा।

अत्रैव पुनरन्यथाऽऽशङ्क्य निरस्यति—

भक्तिर्नैवात्र प्रतीयत इति चेत्, दरमुकुलितलोचनं विदाङ्कुर्वन्तु सहृदयाः।

यदि च भक्तिरत्रोदाहरणे प्रतीयत एव न, दूरे तस्याः प्राधान्याप्राधान्यपरीक्षा, तथा

सति विस्मयस्यचात्र प्राधान्यनाद्भुतरसध्वनित्वमेवेति प्राचीनपक्षपातेन कश्चित् कथयेत्, तर्हि विषयेऽस्मिन् तटस्था परमाप्ताः सहृदया एव भावनयेषन्मीलितनयनं यथा स्यात्, तथा तथ्यातथ्यं जानन्तु, वयं न किञ्चिद्ब्रूम इति सारम्।

आग्रहं विहाय सहृदयैर्विहिते विचारे भक्तेरिह प्राधान्यं विस्मयस्य चाप्राधान्यं व्यक्तं प्रतिभायादिति भावः।

यदि आप कहें कि 'चित्रं महानेष''''''' इत्यादि श्लोक में भक्ति की प्रतीति होती ही नहीं, तब मैं इसका उत्तर क्या दे सकता हूं ? केवल सहृदयों से इतनी प्रार्थना करूँगा कि आप जरा आँखें मूंद कर स्वस्थ होकर सोचें और फिर कहें कि यहां भक्ति की प्रतीति होती है अथवा नहीं अर्थात् दुराग्रह छोड़कर विचार करने से आप को भी यहाँ भक्ति की प्रधानता अवश्य अवगत होगी।

अथ हास्यरसमुदाहरति—

हास्यो यथा—

रसविशेषणतयैव पुंस्त्वम्, अन्यथा 'हासो हास्यं च' इत्यमरात् क्लीबत्वमेव।

अब 'हास्य-रस' का उदाहरण देते हैं—'हास्यो यथा' **इत्यादि। हास्य जैसे—**

बालिशो नवतार्किकपुत्रो ब्रवीति—

'श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे, निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा।
अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं, कथं न वा रासभधर्मपत्न्याः॥'

श्रीतातपादैः श्रीमद्भिः पितृचरणैः, विहिते विरचिते, निबन्धे धर्मानुशासनग्रन्थे, एषा साम्प्रतमुदीर्यमाणा, नूतनाऽनाविष्कृतपूर्वा, युक्तिस्तर्कः, निरूपिता निर्धारिता, अहो आश्चर्यम्, (यदि) गवां धेनूनाम्, पूर्वमङ्गं पूर्वकायः, पवित्रं मेध्यम्, (तदा तुल्यन्यायात्) रासभस्य गर्दभस्य, धर्मपत्न्या गर्दभ्याः (पूर्वमङ्गम्) कथं नवा पवित्रमस्तीति शेषः। गवां पश्चार्धस्यैव धर्मशासनानुमते पवित्रत्वे, पूर्वार्धस्य तत्त्वकथनं तत्तुल्यस्कन्धतया गर्दभ्या अपि पूर्वार्धस्य नवीनतर्केण पवित्रत्वोपपादनं चात्र हास्यकरमवसेयम्।

किसी तार्किक का पुत्र कहता है—श्रीमान् पिताजी से रचे गये निबन्ध में यह एक नवीन युक्ति दीख पड़ी कि जब गायों का पूर्व अङ्ग पवित्र है, तब गदहे की धर्मपत्नी का वह अङ्ग पवित्र क्यों नहीं माना जाय ? अर्थात् गौ और गर्दभी एक समान हैं। धर्मशास्त्र में गौ के पश्चार्ध भाग को ही पवित्र कहा गया है, परन्तु यहां उसके पूर्वार्ध भाग को पवित्र घोषित किया गया है और तत्तुल्य न्याय से गर्दभी के उस भाग को भी पवित्र मानने की सलाह दी गई है—यही असंगत बात यहाँ हास्यास्पद है।

आलम्बनाद्याचष्टे—

तार्किकपुत्रोऽत्रालम्बनम्, तदीया निश्शङ्कोक्तिरुद्दीपिका, रदनप्रकाशादिरुद्वेगादयश्चानुभाव-व्यभिचारिणः।

तार्किक उक्ताद्भुततर्कवित्। निश्शङ्का दृढोक्तिः। रदनप्रकाशो दन्तविवृतिस्तदादिरनुभावः। उद्वेगादयो व्यभिचारिणः।

यहां तार्किक का पुत्र आलम्बन है, उसका निःशङ्क कथन उद्दीपन है, दांत का निपीडना अनुभाव है और उद्वेग आदि सञ्चारी भाव हैं।

अथ हास्यस्य भेदं दर्शयितुं प्राचीनोक्तिमनुवदति—

अत्राहुः—

'आत्मस्थः परसंस्थश्चेत् यस्य भेदद्वयं मतम्।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः॥'

हसन्तमपरं दृष्ट्वा, विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः, परस्थः परिकीर्त्तितः ॥
उत्तमानां मध्यमानां, नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य, षड्भेदाः सन्ति चापरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्त-मुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद् विहसितं चोप-हसितं मध्यमे नरे ॥
नीचेऽपहसितं चाति-हसितं परिकीर्त्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां, कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो-मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चे-दुत्फुल्लैरुपलक्षितः ॥
किञ्चिल्लक्षितदन्दश्च, तदाहसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं काय-गतं वदनरागवत् ॥
आकुञ्चिताक्षिमन्द्रं च, विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च, जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो-नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः आश्रुदृष्टि-राकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो-हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो-बाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च, हासोऽतिहसितं मतम् ।' इति ।

यत्र द्रष्टुरालम्बनविभावदर्शनात् स्वयमुत्पद्यते हासः, स आत्मस्थः । यत्र चापरं हसन्तं दृष्ट्वोत्पद्यते, स परस्थ इति प्रकारद्वयं हास्यरसस्य । अस्य हास्यरसस्य विभावस्तु परकीय-हास्यदर्शनादुद्भवति । आश्रयस्योत्तम-मध्यमा-धमत्वैर्हास्यस्यापि त्रैविध्यं जायते । तस्य हास्यस्य स्मित-हसित-विहसितो-पहसिता-पहसितातिहसितरूपाः षड्भेदाः । तेषु प्रथमं द्विकमुत्तमे, द्वितीयं मध्यमे, तृतीयं चाधमे । अनुल्वणैरनुत्कटैः कटाक्षैरुपलक्षित इति शेषः । कायगतं सकलशरीरव्यापि । कालगतमिति पाठान्तरम् । वदनरागवन्मुखलौहित्यविशिष्टम् । मन्द्रं गम्भीरध्वनियुतम् । निकुञ्चितानि सङ्कुचितान्यंसौ स्कन्धौ शीर्षं शिरश्च यस्मिन्निति बहुव्रीहिः । जिह्वया कुटिलया दृष्टया विलोकनं यत्र तादृशः । अस्थानेऽनुचितावसरे जातः । आकम्पा अभिव्याप्तकम्पाः स्कन्धौ मूर्धजाः केशाश्च यत्र तादृशः । शार्ङ्गदेव आचार्यः । स्थूल×प्रबलः कर्णकटुः कर्णारुन्तुदो ध्वानः शब्दो यत्र सः । बाष्पपूरेणाश्रुसमूहेन प्लुते व्याप्ते ईक्षणे नेत्रे यत्र सः । कराभ्यामुपगूढे हास्यवेगधारणायावलम्बिते पार्श्वे यत्र सः ।

अब हास्य के विविध भेदों को दिखाने के लिये प्राचीन आचार्यों की उक्ति का अनुवाद करते हैं—'आत्मस्थः' इत्यादि । हास्य-रस के दो भेद हैं—एक आत्मस्थ, दूसरा परस्थ । आत्मस्थ उसको कहते हैं, जो विभाव (हास्य के विषय) के दर्शनमात्र से द्रष्टा में स्वयं समुत्पन्न हो जाता है और जो हास्य-रस दूसरे को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है तथा जिसका कारण भी हास्य ही रहता है, उसको हास्य-रस के विशेषज्ञ जन परस्थ कहते हैं । यह हास्यरस उत्तम, मध्यम और अधम तीनों श्रेणी के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, अतः इसकी तीन अवस्थायें कहलाती हैं । इसी तरह हास्य के दूसरे छः भेद हैं—उत्तम पुरुष में स्थित और हसित, मध्यम पुरुष में विहसित और उपहसित, एवं नीच पुरुष में

अपहसित और अतिहसित होते हैं। जिसमें कपाल अल्प विकसित हों, नेत्रकोण अधिक विस्तार को प्राप्त नहीं करें, दांत दृष्टि-गोचर न होने पावें और जो मधुर हो, वह हास्य स्मित कहलाता है। जिस हास में मुख, नयन और कपोल विकसित हो जायँ और दांत भी थोड़ा दृष्टिगोचर हो जायँ, वह हसित कहा जाता है। जिस हास में शब्द सुनाई दे, फिर भी मधुर हो, जिसके विकार शरीर के सब अङ्गों में उत्पन्न हो जायँ, जिसके होने से मुख लाल हो जाय, आंखें कुछ टेढ़ी हो उठें और गम्भीर हो, उसको बुधगण विहसित कहते हैं। जिसमें कन्धे और सिर सिकुड़ जायँ, वक्र दृष्टि से देखना पड़े और नाक फैल जाय, उस हास की संज्ञा उपहसित है। जो हास अनवसर का हो जिससे आंखों में आंसू आजाय और कन्धे तथा केश खूब कम्पमान हो उठे उसका नाम शार्ङ्गदेव आचार्य ने अपहसित रखा है। जिसमें कर्ण को कटु लगनेवाला बहुत जोर का शब्द हो, नेत्रों में अश्रु की बाढ़ सी आ जाय और हाथों से पार्श्व-भागों को पकड़ना पड़े, उस हास को अतिहसित मानते हैं।

अथ भयानकरसध्वनिमुदाहरति—

भयानको यथा—

अब 'भयानक रस' का उदाहरण देते हैं—'भयानको यथा' **इति। भयानक-रस जैसे—**

श्येनाक्रीतस्य लावकस्य वृत्तं वर्णयति—

'श्येनमम्बरतलादुपागतं, शुष्यदाननबिलो विलोकयन्।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः, स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः॥'

अम्बरतलादाकाशमण्डलात्, उपागतं सन्निकृष्टम्, श्येनं पक्षिघातकपक्षिविशेषम्, विलोकयन् पश्यन्, शुष्यद् मृत्योर्भयाच्छोषं गच्छद् आननं मुखमेव बिलं यस्य, तादृशः, कम्पमाना वेपथुमती तनुः शरीरं यस्य, तादृशः, तथा आकुले विह्वले ईक्षणे यस्य तादृशः, लावको वर्तकजातीयो लावेति प्रसिद्धः पक्षिविशेषः, स्पन्दितुमीषच्चलितुम् (अपि) न शशाक न च क्षम इत्यर्थः।

मरणं सन्निहितं विभावयन् भीतिविमूढो बभूवेति तात्पर्यम्।

किसी दर्शक का कथन है कि विवश लावक (एक प्रकार का पक्षी, जिसे बगेड़ी कहते हैं) ने जभी गगनतल से झपटते हुये बाज को देखा तभी उसका मुख सूख गया, देह कांपने लगी, आंखें आकुल हो गईं, इस तरह वह हिल भी न सका।

आलम्बनादि दर्शयति—

अत्र श्येन आलम्बनम्, सवेगापतनमुद्दीपनम्, आननशोषादयोऽनुभावाः दैन्यादयः सञ्चारिणः।

सवेगं वेगवदम्बरादापतनं श्येनस्यावसेयम्।

यहां बाज आलम्बन है, उसका बहुत वेग से झपटना उद्दीपन है, मुख सूखना आदि अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारीभाव है।

अथ बीभत्सरसध्वनिमुदाहरति—

बीभत्सो यथा—

अब 'बीभत्स-रस' का उदाहरण दिखलाते हैं—'बीभत्सो यथा इति। **'बीभत्स-रस' जैसे—**

श्मशानं वर्णयति—

'नखैर्विदारितान्त्राणां, शवानां पूयशोणितम्।
आननेष्वनुलिम्पन्ति, हृष्टा वेतालयोषितः॥'

हृष्टा अञ्जसा विपुलभक्ष्यलाभात् प्रसन्नाः, भूतविशेषस्त्रियः, नखैर्विदारितानि पाटितान्य-

न्त्राणि येषां ते विदारितान्त्रास्तेषां, शवानां मृतकशरीराणां, पूयानां शोणितानां च समाहारः पूयशोणितम् , (पीतावशेषम्) आननेषु स्वमुखेषु मिथः सहचरीवदनेषु च अनुलिम्पन्तीत्यर्थः।

हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियां नखों से मुरदों की अंतड़ियों को फाड़ कर मवाद और रुधिर को मुख पर लेप रही हैं। यह श्मशान अथवा रण-क्षेत्र का वर्णन है।

आलम्बनादि दर्शयति—

शवा इहालम्बनम् , अन्त्रविदारणाद्युद्दीपनम् , आक्षिप्ता रोमाञ्च-नेत्रनिमीलनाद्योऽनुभावाः, आवेगादयः सञ्चारिणः।

इह बीभत्सरसे। आक्षिप्ता जुगुप्साकार्यतया वैयञ्जनिकप्रतीतिगोचराः।

यहां मुरदे आलम्बन हैं, अंतड़ियों का फाड़ना उद्दीपन है, आक्षेप के द्वारा लब्ध रोमाञ्च, आंखों का मूदना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि सञ्चारीभाव हैं।

बीभत्स-हास्यरसयोरालम्बनाश्रययो पृथगप्रतीते रसान्तरेभ्यो वैषम्यमाशङ्कते—

ननु रति-क्रोधो-त्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु, यथाऽऽलम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जगुप्सायां च, तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः।

इह रत्यादीनामुपदेश-प्रतिनिर्देशयोः क्रमविपर्यासे मूलं मृग्यम्। 'प्रागुदाहृतेषु' इत्यत्र 'पूर्वमुदाहृतेषु' इत्युचितः पाठः सन्ध्यश्लीलत्वदूषणप्रासात्। तत्र हासजुगुप्सयोः।

शृङ्गारादिरसेषु यथा रत्यादीनामालम्बनादाश्रयः पृथक् प्रतीयते, न तथा हास्ये बीभत्से च। तत्र हासजुगुप्सोरालम्बनाद्विकृताकारादिमतपुरुषादेः पृथक् तयोराश्रयस्य हासादिमतोऽप्रतीतेः प्रागुक्तरससप्तकापेक्षया हास्य-बीभत्सयोर्वैषम्यमिति शङ्कादलाशयः।

यहां एक शङ्का यह हो सकती है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, विस्मय और निर्वेद इन स्थायीभावों में जिस प्रकार आलम्बन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है, जैसे नल और दमयन्ती में जो परस्पर रति (प्रेम) है, उसका उन दोनों में से एक आलम्बन और दूसरा आश्रय होता है अर्थात् नल का प्रेम दमयन्ती में वर्णित हो तो दमयन्ती आलम्बन और नल आश्रय तथा दमयन्ती का प्रेम नल में वर्णित हो तो नल ही आलम्बन और दमयन्ती आश्रय के रूप में प्रतीत होती हैं। उस प्रकार हास और जुगुप्सा में नहीं होती अर्थात् इन दोनों में केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है, आश्रय की नहीं।

पुनरावान्तरिकीं शङ्कामुपन्यस्योन्मूलयन् पूर्वपक्षं समापयति—

पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत्।

ननु हासप्रधानकं जुगुप्साप्रधानकं च शृण्वन् पुरुष एव हास-जुगुप्सयोराश्रयः स्यादतो न रसान्तरेभ्यो वैषम्यमिति चेत् , उच्यते—लौकिकत्वेनालौकित्वेन च हास-जुगुप्सयोरपि रत्यादिवद् द्वैविध्यम्। तत्र पद्यश्रोता काव्योपनिबद्धत्वादलौकिकत्वमापन्नयोरेव हास-जुगुप्सयोराश्रयो भवितुमर्हति न तु लौकिकयोरपि, तस्माल्लौकिकयोर्हासजुगुप्सयो रत्यादिवत् पृथगाश्रयानुपलम्भात् वैषम्यं स्थितमेवेति पूर्वपक्षः।

यदि आप कहें कि उक्त दोनों स्थायीभावों में श्रोता ही आश्रय होते हैं, तो यह समुचित नहीं, क्योंकि वे तो रसास्वाद के आश्रय हैं—उन्हें तो अलौकिक रस की चर्वणा होती है, अतः वे अलौकिक हास और जुगुप्सा के आश्रय नहीं हो सकते।

समाधानमभिदधाति—

सत्यम् , तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्।

तदाश्रयस्य लौकिकहासजुगुप्सयोरधिकरणस्य। तत्र हास्य-बीभत्सयोः। आक्षेप्यत्वादाधेयानुरोधेनाधारस्य कल्पनीयत्वात्।

लौकिकयोर्हासजुगुप्सयोरपि कर्तृत्वादाश्रयः कश्चिल्लौकिकः पुरुषः स्यादेव । स एवानयो-राश्रयः कल्पनीय इति न वैषम्यमित्युत्तरपक्षाभिप्रायः ।

उक्त शङ्का सच है, परन्तु वहां उन दोनों भावों के आश्रय किसी दर्शक पुरुष-विशेष का आक्षेप कर लेना चाहिये अर्थात् ऊपर से उसको समझ लेना चाहिये ।

ननु तदाश्रयाक्षेपाभावे कागतिरित्यत आह—

तदनाक्षेपे तु, श्रोतुः स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

तदनाक्षेपे तु—आश्रयपुरुषविशेषाकल्पनेऽपि । पुरुषः स्वकान्तावर्णनपद्यं शृण्वन् लौकिक-रतेराश्रयोऽपि यथा शृङ्गारस्थायिभावस्यालौकिकरतेरप्याश्रयो भवति, तथैव हासजुगुप्सयोरपि लौकिकालौकिकयोरेक एवाश्रयः स्यात् , लौकिकभावस्याश्रयोऽवस्थाभेदेनाप्यलौकिकभावस्या श्रयो न स्यादिति नियमस्याभावादिति सारम् ।

यदि उक्त आक्षेप करना नहीं चाहें, तो श्रोता को ही आश्रय समझिये , जहां स्वपत्नी विषयक वर्णन वाले पद्यों को सुनकर पति को रस का उद्बोध होता है, वहां जैसे लौकिक प्रेम और अलौकिक रस दोनों का आश्रय वह पति ही होता है, वैसे यहाँ भी एक ही श्रोता को लौकिक हास-जुगुप्सा और अलौकिक हास्य-वीभत्स रस दोनों का आश्रय मान लेने में कोई बाधा नहीं ।

उपसंहरति—

एवं च संक्षेपेण निरूपिता रसाः ।

एवमुक्तप्रकारेण । आलम्बनाद्यनन्ततया रसानामनवधिप्रभेदानां निरूपयितुमनर्हत्वेन संक्षेपेणैव निरूपणमवसेयम् ।

इस तरह संक्षेप से रसों का निरूपण समाप्त हुआ ।

अथ रसध्वने रसवदलङ्कारस्य च स्वसम्मतं विषयविभागं निर्दिशति—

एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम् , गुणीभावे तु रसालङ्कारत्वम् ।

रसस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वे ध्वनिः, अङ्गत्वेन व्यङ्ग्यत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदो रस-वदलङ्कार इत्युभयोर्विभक्तविषयव्यवस्थेत्यर्थः ।

अब रसध्वनि तथा रसवत् आदि अलङ्कार के लक्षणों का विभाग करते हैं 'एषाम्' इत्यादि। जहाँ ये रस प्रधानतया व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसध्वनि' का व्यवहार होता है और जहाँ ये 'रस' अङ्गरूप से व्यङ्ग्य होते हैं, वहाँ 'रसालङ्कार' व्यवहार का होता है ।

उभयोर्विभागे परकीयमतं प्रतिपादयति—

केचित्तु—'प्राधान्य एवैषां रसत्वम् , अन्यथाऽलङ्कारत्वमेव । रसालङ्कार-व्यपदेशस्त्वलङ्कारध्वनिव्यपदेशवद् , ब्राह्मणश्रमणन्यायात् । एवमसंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यतायामेव, अन्यथा तु वस्तुमात्रम् ।' इत्याहुः ।

एषां—रसानां प्राधान्ये सत्येव रसध्वनित्वम् , अन्यथा—प्राधान्याभावे (प्रधानीभूतान्य-स्य, पोषकत्वे) तु पुनरलङ्कारत्वं रसवदलङ्कारत्वमेव, नतु ध्वनित्वं भवति । रसानां काव्या-त्मतया स्वयमलङ्कार्यत्वादलङ्कार (रसवदलङ्कार) त्वस्य व्यवहारस्तु, ब्राह्मणश्रमणन्यायात् तथाहि—यथा पूर्वं ब्राह्मणे पश्चाद् बौद्धसन्न्यासिनि (श्रमणे) 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्व-स्यावगतिः' इति सिद्धान्तेन तात्कालिकब्राह्मणत्वाभावेऽपि प्राचीनब्राह्मणत्वमादाय 'ब्राह्मण-श्रमणोऽयम्' इति व्यवहारः, यथा वा प्राधान्येन व्यज्यमानतया ध्वनिरूपतां भजत्यलङ्कारे स्वयमलङ्कार्यत्वेन परालङ्कारकत्वलक्षण-तात्कालिकालङ्कारत्वविरहेऽपि भूतपूर्वालङ्कारत्व-मादाय 'अलङ्कारध्वनिः' इति व्यवहारः, तथैव रसानामलङ्कार्यत्वेऽपि भूतपूर्वगत्या रसालङ्का-

रत्वव्यवहारो बोध्यः। एवं-रसध्वनित्वं रसवदलङ्कारत्वं च, एषां रसानाम्, असंलक्ष्य-क्रमतायामेव, अन्यथा-संलक्ष्यक्रमतायां तु तेऽर्था व्यङ्ग्यं वस्तुमात्रं, नतु रसा इति केचिदाहुरित्यर्थः।

केचिदित्यनेन सूचितारुचिबीजन्तु पूर्वोक्तरीत्यैव रसालङ्कारत्वोपपत्तौ, तदर्थं भूतपूर्वग-त्याद्याश्रयणमधिकमनुचितमिति व्याख्यातारः।

कुछ लोगों का कथन है कि जब ये प्रधान हों तभी इनको रस कहना चाहिये, गौण हो जाने पर तो ये अलङ्कार-मात्र कहे जा सकते हैं अर्थात् उनमें तब रस-विशेषण नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि रस वे तभी तक कहला सकते हैं, जब तक अलङ्कार्य हैं और जब वे गौण हो जाने से स्वयम् अलङ्कार हो जाते हैं, तब उनमें रस कहलाने की योग्यता ही नहीं रह जाती। फिर भी जो लोग गौण रसों में केवल अलङ्कार पद का प्रयोग न कर रसालङ्कार पद का प्रयोग करते हैं, उसको अलङ्कार-ध्वनि पद का प्रयोग जैसा समझना चाहिये अर्थात् ध्वनि (व्यङ्ग्य) अर्थ को अलङ्कृत करने वालों को अलङ्कार कहा जाता है और ध्वनि (व्यङ्ग्य) को अलङ्कार्य। इस स्थिति में जो ध्वनि (व्यङ्ग्य) हो गया, वह यद्यपि अलङ्कार नहीं कहला सकता, अतः अलङ्कार-ध्वनि ऐसा व्यवहार उचित नहीं, तथापि जैसे कोई ब्राह्मण बौद्धमत की दीक्षा लेकर 'श्रमण' (बौद्ध-भिक्षुक) बन जाय, तब वह ब्राह्मण नहीं रह जाता, फिर भी लोग उसे पहले ब्राह्मण रहने के कारण 'ब्राह्मण-श्रमण' कहा करते हैं, जिसका अभिप्राय यह रहता है कि इसने ब्राह्मण-कुल से आकर संन्यास लिया है, उसी तरह 'अलङ्कारध्वनि' इस व्यवहार का तात्पर्य है—जो पहले अलङ्कार था, अब वह ध्वनि है। अब गौण रसों में जो 'रसालङ्कार' ऐसा व्यवहार होता है, उसका भी आशय स्पष्ट हो गया अर्थात् जो कभी रस था, वह अभी अलङ्कार है यही तात्पर्य वहाँ भी समझना चाहिये। उन लोगों का एक सुझाव यह भी है कि ये (स्थायीभाव) रस तभी कहे जाते हैं, जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में रहते हैं, संलक्ष्यक्रम हो जाने पर तो वस्तु शब्द से ही इनका व्यवहार होता है।

रसानामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं व्यवस्थापयति—

एते चासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः सहृदयेन रसव्यक्तौ झगिति जायमानायां विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शक्रमस्य सतोऽपि, सूचीशतपत्रपत्रशतवेधक्रम-स्येवालक्षणात्।

एते-निरूप्यमाणाः, रसा भावादयश्च असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या न सम्यग् लक्ष्य आशु-भावितया प्रत्येतुं योग्यो वाच्यव्यङ्ग्यार्थप्रतीत्योः-क्रमो येषु तादृशा भवन्ति, रसव्यक्तौ कार्यरूपायां रस(प्रभृति)प्रतीतौ, झगिति शीघ्रतरं, जायमानायां, कारणरूपस्य वाच्य-विभावादिविमर्शस्य, यः क्रमः पूर्वापरीभावः, तस्य सतो विद्यमानस्यापि, सूच्या शतपत्रस्य कमलस्य, पत्राणां शतस्य वेधे यः क्रमस्तस्येव सम्यक् समीचीनतया, अलक्षणादप्रत्यया-दित्यर्थः। यथा सूच्या कमलदलशतवेधे द्रुततरं क्रियमाणे पूर्वापरक्रम औपपत्तिकत्वेन कल्प्यमानोऽप्याशुभावितया न सम्यग् लक्ष्यः, तथैव वाच्यविभावादिप्रतीतिव्यङ्ग्यरसादि-प्रतीत्योः कार्यकारणरूपतया क्रमः कल्पितोऽप्याशुभावितया सहृदयेन न सम्यग् लक्षणीय इत्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्या एव रसादय इत्याशयः।

ये रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहलाते हैं, क्योंकि सहृदयों को रस की प्रतीति बहुत शीघ्र होती है, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के विमर्श (प्रतीति) और रस की प्रतीति के मध्य में जो क्रम वस्तुतः रहता है, वह लक्षित नहीं होता अर्थात् उसका ज्ञान नहीं होता। देखिये—व्यङ्ग्यों की असंलक्ष्यक्रमता को दृढ़ करने के लिये ग्रन्थकार

ने कितना उपयुक्त दृष्टान्त पेश किया है, शतपत्र कमल के सौ पत्तों को तहाकर रखिये, फिर उस पर सूई चुभोइये, सौ-के-सौ पत्ते निमिषमात्र में विध जायँगे, अब आप सोचिये कि वे सब पत्ते एक ही बार विधे, या क्रमशः? विवेक कहेगा क्रमशः, परन्तु मन ऐसा नहीं समझता अर्थात् मन में ऐसा ही प्रतीत होता है कि एक ही बार सब पत्ते विध गये। वास्तविकता यह है कि पत्तों के शीघ्र विध जाने से वेध के आगे पीछे का क्रम ज्ञात नहीं हो पाता, यही रीति यहाँ भी समझनी चाहिये।

ननु मा क्रमः कल्प्यतामित्याशङ्कां निराकरोति—

न त्वक्रमव्यङ्ग्याः, व्यक्तेस्तद्धेतूनां च हेतु-हेतुमद्भावासङ्गत्यापत्तेः।

व्यक्तिर्वैयञ्जनिकप्रतीतिः। हेतुहेतुमद्भावः कार्यकारणभावः।

विभावादिप्रतीति-रसादिप्रतीत्योः क्रमो नास्त्येवेति वक्तुं न शक्यम्, यतस्तयोः क्रमाभावे (यौगपद्ये) कार्यकारणभावस्यैवासम्भवः, कार्योत्पत्त्यव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवर्तिन एव कारणत्वस्य स्वीकारादित्यभिसन्धिः।

अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य कहने से रसों को अक्रमव्यङ्ग्य नहीं समझना चाहिये अर्थात् क्रम है ही नहीं ऐसा समझना गलत होगा, क्रम है अवश्य, केवल वह ज्ञात नहीं होता, यदि क्रम रहता ही नहीं, तो विभाव आदि की प्रतीति को कारण और रस की प्रतीति को कार्य जो माना गया है, वह असङ्गत हो जायगा क्योंकि कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में जो वहाँ (कार्योत्पत्ति देश में) नियमतः उपस्थित रहे वही कारण कहलाता है, फिर तो कारण और कार्य के मध्य में क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) का होना अनिवार्य है।

अथ भक्तेरतिरिक्तरसत्वमाशङ्कते—

अथ कथमेत एव रसाः? भगवदालम्बनस्य, रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य, भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः।

अथेति प्रश्नार्थकम्। अत एव नवैव। हर्षादिभिर्व्यभिचारिभावैः। भगवद्भक्तैः सहृदयैः। अनुभूयमानस्यास्वाद्यमानस्य। अनुरागः प्रीतिरतिरित्यनर्थान्तरम्। स्थायिभाव—रसरूपयोर्भक्त्योर्हास्ययोरिव लौकिकालौकिकत्वाभ्यां भेदोऽवसेयः।

स्थायिभाव-विभावादिसमग्रसामग्रीसंवलनात् सहृदयभगवद्भक्तानुभवप्रमाणितस्य भक्तिरसस्यापि दशमस्यापलपितुमशक्यतया रसानां नवत्वमेवेति नियमो न सङ्गच्छत इति पूर्वपक्षसारांशः।

अब भक्ति नामक दशम रस की शङ्का करते हैं—'अथ' इत्यादि। रस इतने (नौ) ही क्यों हैं? क्योंकि भागवत आदि पुराणों के श्रवण करते समय भक्त लोग जिसका स्पष्ट अनुभव करते हैं, वह 'भक्ति' नामक दशम रस भी अपलाप करने योग्य नहीं है। साक्षात् भगवान् उस रस के आलम्बन हैं, भागवत-श्रवण आदि उद्दीपन हैं, रोमाञ्च, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं। तथा इसका स्थायीभाव है भगवान् के विषय में प्रेम-रूप 'भक्ति'।

अवान्तरे भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावमाशङ्क्य खण्डयति—

न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्।

असौ भक्तिरसः।

भक्तिरसस्थायिभावस्य भगवदनुरागरूपत्वाच्छान्तरसस्थायिनो निर्वेदस्य च वैराग्यरूपत्वाद् विरुद्धस्थायिकस्य रसस्य विरुद्धस्थायिके रसेऽन्तर्भावासम्भवान्न भक्तेः शान्तेऽन्तर्भाव इति भावः।

यदि आप कहें कि 'भक्ति-रस' का अन्तर्भाव शान्त-रस में ही हो जायगा, अतः वह अतिरिक्त नहीं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'भक्ति-रस' का स्थायीभाव अनुराग है, और 'शान्त-रस' का वैराग्य (निर्वेद), जो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, फिर उन दोनों स्थायीभावों को आधार बनाकर होने वाले 'भक्ति' और 'शान्त' रसों में से कोई एक दूसरे में अन्तर्भूत नहीं हो सकता।

समादधाति—

उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।

'रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्त-स्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥'

इति हि प्राचां सिद्धान्तात्।

उच्यते समाधिरिति शेषः।

देव-गुरु-पितृप्रभृतिविषयकरतिः, प्राधान्येन अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीकृतो व्यभिचारिभावश्च भावः प्रोक्तः। अनौचित्येन लौकिकोपपत्तिराहित्येन प्रवर्तिताः काव्ये व्यवहृता रसा भावाश्च तदाभासा रसाभासा भावाश्चेति कारिकार्थः। प्राचां काव्यप्रकाशकाराणाम्।

भक्तेर्देवादिविषयकरतिरूपायाः काव्यप्रकाशकारादिप्राचीनालङ्कारिकसिद्धान्तानुमतत्वेन यतो भावत्वमेव, नतु रसत्वम्, अतोऽतिरिक्तस्य दशमस्य भक्तिरसस्य न सम्भव इति समाधानपक्षाभिप्रायः।

उक्तरीति से दशम 'भक्तिरस' है, यह शङ्का स्थिर हो चुकी, अब उसका समाधान देते हैं—'उच्यते' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि देवता आदि के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसी को भक्ति कहते हैं, अतः वह भाव है, रस नहीं, क्योंकि देवता आदि के विषय में होने वाली रति और व्यञ्जनावृत्ति से ज्ञात हुये व्यभिचारीभाव 'भाव' कहलाते हैं और अनुचित रीति से प्रवृत्त रस तथा भाव क्रमशः 'रसाभास' और 'भावाभास' कहलाते हैं यह प्राचीन आचार्यों का सिद्धान्त है।

तत्रैव पुनश्शङ्कते—

न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्। अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावादिति वाच्यम्।

यथा कामिनीविषयकरतौ रतित्वं, तथैव देवादिविषयकरतिष्वपीति तुल्यतायां कामिनीविषयकरतेरेव कथं स्थायित्वम्, अपरासां च रतीनां साधारणभावत्वमङ्गीक्रियते? वैषम्ये बीजाभावादित्येकः पूर्वपक्षः। अथवा विनिगमकाभावाद् भवदङ्गीकृतिप्रतिकूलं भगवद्विषयकरतेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिविषयकरतीनामेव च भावत्वमङ्गीक्रियतामिति द्वितीयः पूर्वपक्षः।

आप कहेंगे—यदि ऐसी ही बात है, तो कामिनी के विषय में जो रति (प्रेम) होती है, उसको भी 'भाव' मानिये, क्योंकि देवतादि विषयकप्रेम और कामिनीविषय प्रेम में कोई भेद नहीं है—आखिर दोनों प्रेम ही तो हैं, अथवा भगवद्भक्ति को ही शृङ्गार का स्थायीभाव मान लीजिये और कामिनीविषयक रति को ही सञ्चारीभाव, क्योंकि इसमें कोई खास युक्ति तो है नहीं कि इन दोनों में से अमुक को ही स्थायीभाव मानना चाहिये।

द्वयोः पूर्वपक्षयोरेकमेव समाधानमाह—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात्।

अत्र साहित्ये, भरतप्रभृतिमुनिवचनानामेव, न तु साधारणजनोक्तीनां रसत्वस्य भाव-

त्वस्य च व्यवस्थापने स्वातन्त्र्ययोगः सर्वाधिकारिता यतोऽस्ति, तस्मात् स्वेच्छया विपरीतकल्पना नात्र कर्तुं शक्यत इत्याशयः।

'स्वातन्त्र्यायोगात्' इति पाठे तु भरतादिभिन्नवचनानां रसभावव्यवस्थापने स्वातन्त्र्याभावादित्यर्थः।

उक्त शङ्का के उत्तर में मेरा कथन है कि साहित्य में रस-भाव आदि की व्यवस्था भरत-आदि मुनियों के बचनों के अनुसार की जाती है, अतः इस विषय में स्वतन्त्रता का स्थान नहीं है अर्थात् भरत आदि मुनियों ने देवता आदि विषयक रति को भाव और कामिनी-विषयक रति को स्थायीभाव माना है, इसलिये हम लोगों को भी वैसा ही मानना चाहिये।

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात् ? न स्याद् वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम् ? इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात्।

अन्यथा-भरतादिवचनानामेव रसादिव्यवस्थापने स्वातन्त्र्यानभ्युपगमे। पुत्रादिविषयत्वं रतेरपुष्टत्वोपलक्षकम्। शुद्धभावत्वं स्थायित्वासङ्कीर्णव्यभिचारिभावत्वम्। अखिलदर्शनस्य समस्तसाहित्यशास्त्रस्य, वैयाकुली व्याकुलत्वमव्यवस्थितत्वमिति यावत्।

कस्यापि रसादिविषये व्यवस्थापकस्यानभ्युपगमे विश्रृङ्खलतर्कसम्पर्कात् सकलं साहित्यशास्त्रमेवानियन्त्रितं स्यादिति भरतादिवचनानां रसादिव्यवस्थापकत्वाङ्गीकार आवश्यक इति भावः।

यदि रस-भाव आदि के विषय में किसी को प्रामाणिक व्यवस्था देने वाला नहीं माना जाय अर्थात् केवल तर्क से काम लिया जाय, तब तो सकल साहित्य-दर्शन ही उलट-पलट जायगा, क्योंकि उस स्थिति में पुत्र आदि के विषय में जो माता-पिता का प्रेम होता है, उसको भी स्थायीभाव और जुगुप्सा तथा शोक को शुद्ध (स्थायी नहीं) सञ्चारीभाव क्यों नहीं मान लिया जायगा ?

भक्तेरसत्वस्य स्वीकारे दोषं दर्शयन् प्रसङ्गमुपसंहरति—

रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथा शास्त्रमेव ज्यायः।

इतिर्हेतौ। शास्त्रं भरताद्यनुशासनमनतिक्रम्य यथाशास्त्रम्। ज्यायः श्रेष्ठम्। यदि भक्तिरसोऽपि दशमो भवेत्, तर्हि भरतमुनिना तत्त्वदृष्ट्या निर्णीयोक्तस्य रसानां नवत्वसङ्ख्यावच्छिन्नत्वस्य भङ्गः प्रसज्येत, तस्माद् रसभावादिव्यवस्था भरताद्यनुशासनानुसारिण्येव सर्वथा श्रेयसीति सारम्।

इस तरह भरत आदि मुनियों को व्यवस्थापक मान लेने पर दशम 'भक्ति-रस' का स्वीकार न करना ही उचित है, अन्यथा भरतमुनि ने बहुत सोच समझकर जो रसों की संख्या नौ बतलाई है, वह असङ्गत हो जायगी। तात्पर्य यह है कि इन सब विषयों में शास्त्रों का अनुसरण करके चलना ही श्रेयस्कर है।

अथ प्रसङ्गाद् रसानां परस्परमविरोधं विरोधं च निर्दिशति—

एतेषां परस्परं कैरपि सहाविरोधः, कैरपि विरोधः। तत्र—वीरश्रृङ्गारयोः, श्रृङ्गारहास्ययोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, श्रृङ्गाराद्भुतयोश्चाविरोधः। श्रृङ्गार-बीभत्सयोः, श्रृङ्गारकरुणयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तश्रृङ्गारयोश्च विरोधः।

एतेषां रसानाम्। अविरोध उपकार्योपकारकभावो विरोधश्च बाध्यबाधकभावः। चकारेण शान्ताद्भुतयोः, वीरबीभत्सयोश्च ताटस्थ्यस्य संग्रहः। तत्र रसानां विरोधमात्रप्रदर्शनं दर्पणे यथा—

'आद्यः करुण-बीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकैः। भयानकेन करुणे-नापि हास्यो विरोधभाक्॥
करुणो हास्यश्रृङ्गार-रसाभ्यामपि तादृशः। रौद्रस्तु हास्य-श्रृङ्गार-भयानकरसैरपि॥
भयानकेन शान्तेन, तथा वीररसः स्मृतः। श्रृङ्गार-वीर-रौद्राख्य-हास्य-शान्तैर्भयानकः॥
शान्तस्तु वीर-श्रृङ्गार-रौद्र-हास्य-भयानकैः। श्रृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता॥' इति।

अब रसों का परस्पर अविरोध और विरोध का विचार करते हैं—'एतेषाम्' इत्यादि। इन रसों का आपस में किसी के साथ अविरोध है और किसी के साथ विरोध। जैसे—वीर और श्रृङ्गार में, श्रृङ्गार और हास्य में, वीर और अद्‌भुत में, वीर और रौद्र में एवं श्रृङ्गार और अद्‌भुत में परस्पर अविरोध अर्थात् विरोध नहीं है। श्रृङ्गार और वीभत्स में, श्रृङ्गार और करुण में, वीर और भयानक में, शान्त और रौद्र में तथा शान्त और श्रृङ्गार में परस्पर विरोध है।

इत्थं रसानामविरोधं च प्रदर्श्य, प्रबन्धे मिथोविरुद्धरससन्निवेशाभावमुपदिशति—

तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन, तदभिव्यञ्जके काव्ये तद्विरुद्धरसाङ्गानां निबन्धनं न कार्यम्। तथाहि सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धः प्रकृतं बाधेत। सुन्दोपसुन्दन्यायेन वोभयोरुपहतिः स्यात्।

तत्र-तेषु रसेषु, प्रकृतं मूलतः प्रस्तुतं रसं, परिपोष्टुकामेन प्रबलीकर्तुमिच्छता, कविना, काव्ये विरच्यमानप्रबन्धे, तद्विरुद्धरसाङ्गानां प्रकृतरस-विरोधिरसविभावादीनां, निबन्धनं निवेशनं, न कार्यम्। हि यतः, तथा प्रकृतरसविरोधिरसाङ्गसन्निवेशे सति, तदभिव्यक्तौ विरुद्धरसस्य स्वाङ्गैः पोषितस्य प्रतीतौ, विरोधी रसः कदाचित् प्रबलः प्रकृतं रसं बाधेत। उभयोः प्रकृतरस-विरोधिरसयोः समबलत्वे वा सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परमुपहतिरुपघातः स्यादित्यर्थः।

सोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ दैत्यौ ताडकायामेकत्रैव स्त्रियामासक्त्या विरुद्धौ तुल्यबलत्वात् परस्परमभिजघ्नतुरितीहपौराणिकमितिवृत्तम्।

प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की चाह यदि कवि को हो अर्थात् यदि उसकी इच्छा हो कि मेरे काव्य में अमुक रस का परिपाक पूर्णतया हो, तब उसको चाहिये कि उस रस को अभिव्यक्त करने वाले काव्य में उससे विरुद्ध रस के अङ्गों का वर्णन न करे क्योंकि विरुद्ध रस की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रस्तुत रस को बाधित करेगा अथवा 'सुन्दोपसुन्द न्याय' से दोनों रस नष्ट हो जायँगे अर्थात् एक का भी परिपाक न हो सकेगा। सुन्द और उपसुन्द की कथा महाभारत में आई है, वे दोनों सोदर भाई थे, ब्रह्माजी के वरदान से दोनों ही अवध्य हो गये, केवल अपने भाइयों में से एक दूसरे को मार सकता था, जिसकी कोई सम्भावना ही नहीं थी, परन्तु भावी की गति प्रबल होती है, किसी सुन्दरी अप्सरा में दोनों आसक्त हुये, जिससे दोनों में वैर उत्पन्न हुआ और उसके लिये दोनों आपस में लड़ कर मर मिटे। इस तरह दोनों के समान बलशाली होने के कारण आपस में लड़ कर नष्ट हो जाने के ढङ्ग को 'सुन्दोपसुन्द' न्याय कहते हैं।

प्रयोजनवशाद् विरुद्धरसयोरपि क्वचन समावेशमनुशासत् तस्य प्रकारमुपदिशति—

यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोरेकत्र समावेश इष्यते, तदा विरोधं परिहृत्य विधेयः। तथाहि—विरोधस्तावद् द्विविधः, स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च। आद्यस्तदधिकरणावृत्तितारूपः। द्वितीयः—तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्वलक्षणः। तत्राधिकरणान्तरे विरोधिनः स्थापने प्रथमो निवर्तते। यथा—नायकगतत्वेन वीररसे वर्णनीये, प्रतिनायके भयानकस्य।

एकत्र प्रबन्धे। इष्यतेऽभिलष्यते कविनेति शेषः। आद्यः स्थितिविरोधः, सचैकस्मिन्न-

धिकरणेऽवृत्तित्वरूपः। द्वितीयो—ज्ञानविरोधः, स च तज्ज्ञानेन विरोधिरसज्ञानेन प्रतिबध्यं बाध्यं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूपः। 'प्रतिबध्य' स्थाने 'प्रतिबद्ध' इति पाठे तु प्रतिबद्धं बाधितं ज्ञानं यस्य, तत्त्वरूप इत्यर्थः। 'प्रतिबद्धज्ञानजनकत्वम्' इत्यपपाठः, प्रत्यक्षातिरिक्तज्ञानं प्रतिविषयस्य जनकत्वाभावात्। तत्र—तयोर्विरोधयोर्मध्ये प्रथमः स्थितिविरोधो विरोधिरसयोरधिकरणभेदेन स्थापने निवृत्तो भवति। यथा—नायके वीररसस्य, प्रतिनायके च भयानकरसस्य यदि वर्णनं कविना क्रियेत, तदैकस्मिन्नपि काव्यप्रबन्धे विरोधिनोरपि वीरभयानकरसयोः समावेशो विरोधनिवृत्त्या न दोषाय कल्पत इति सारम्।

अब विरुद्ध दो वा अनेक रसों का समावेश यदि एक काव्य में करना चाहें, तो कैसे वह किया जा सकता है? इसको बतलाते हैं—'यदि तु' इत्यादि। यदि विरुद्ध रसों का एक जगह समावेश करना इष्ट हो, तो विरोध का परिहार करके करना चाहिये। विरोध-परिहार का प्रकार भी समझिये। विरोध का प्रकार दो है—एक स्थिति-विरोध और दूसरा ज्ञान-विरोध। स्थिति-विरोध का मतलब है—किसी एक अधिकरण में दोनों का न रह सकना और ज्ञान-विरोध का मतलब है—एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान का रुक जाना. अर्थात् एक के ज्ञान होने पर दूसरे का ज्ञान यदि हो ही न सके, तब ज्ञान-विरोध कहलाता है। उनमें प्रथम अर्थात् स्थिति-विरोध विरुद्ध रस को भिन्न अधिकरण में स्थापित करने से निवृत्त हो जाता है। जैसे—नायक में यदि वीर-रस का वर्णन करना हो, तो प्रति नायक (उसके शत्रु) में भयानक रस का वर्णन करना चाहिये।

ननु नायकाद्यवृत्तीनां परब्रह्मवदपरिच्छिन्नानां रसानामेकस्मिन्नधिकरणे समावेशो विरोधो वा न सम्भवतीत्यत आह—

रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिकवृत्तित्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासम्भवाच्च।

अत्र प्रकरणे विरोध-समावेशादिप्रस्तावे तदुपाधी रसानां स्थिरो धर्मः स्थायिभावः।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यानां सच्चिदानन्दलक्षणानामपरिच्छेद्यानां नायकाद्यधिकरणेऽवृत्तीनां रसानामद्वितीयतया मिथो विरोधस्य समावेशस्य चासम्भव इति तु न विभावनीयम्, यत इहत्यं रसपदं रसोपाधे रसत्वयोग्यस्य वा स्थायिभावस्य बोधकम्। तस्य चापरिच्छिन्नत्वाभावाच्च विरोधो न वा समावेशोऽसम्भवः। तथा चोक्तं काव्यप्रकाशे—'आश्रयैक्ये विरुद्धो यः, स कार्यो भिन्नसंश्रयः। रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥' इति, 'रसपदेनात्र प्रकरणे स्थायिभाव उपलक्ष्यते' इति च।

इस प्रकरण में रस-पद से उसके उपाधिस्वरूप स्थायीभावों का ग्रहण समझना चाहिये क्योंकि रस सामाजिकों (नाटक के दर्शक तथा काव्य के श्रावक) में रहता है—नायक आदि में नहीं। दूसरी बात यह कि रस अद्वितीय आनन्द-मय है अर्थात ब्रह्मरूप है—उसके ज्ञान होते समय अन्य किसी का ज्ञान होता ही नहीं, फिर रसों में परस्पर विरोध का होना असम्भव है।

प्रथमविरोधपरिहारेण समावेशमुदाहरति—

उदाहरणम्—

स्थिति-विरोध कैसे दूर किया जा सकता है, इसका उदाहरण देखिये।

कश्चन चाटुकारो राजानं स्तौति—

'कुण्डलीकृतकोदण्ड-दोर्दण्डस्य पुरस्तव।
मृगारातेरिव मृगाः, परे नैवावतस्थिरे॥'

हे राजन्! समराङ्गणे, कुण्डलीकृतमत्याकर्षणेन वर्तुलीकृतं कोदण्डं धनुर्याभ्यां,

तादृशौ दोर्दण्डौ भुजपरिघौ यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य दूराकृष्टधनुषस्तव पुरोऽग्रे, मृगारातेः सिंहस्य पुरः मृगा हरिणा इव, परे शत्रवो नैव अवतस्थिरे भीत्या द्रुतं पलायाञ्चक्रिर इत्यर्थः।

इह नायके वर्णनीयनृपे वीररसस्य, प्रतिनायकेषु प्रतीपनृपेषु च भयानकरसस्य समावेशो यथा न दोषाय, तथाऽन्यत्रापि बोध्यम्। मृगशब्दस्य द्विरुपादानन्तु किञ्चिच्चमत्कृतिं विच्छिनत्ति।

कोई कवि राजा की चापलूसी करता है—हे राजन्! युद्ध में जब आपने कान तक खींच कर कुण्डल के समान गोल किये हुये धनुष को हाथ में लिया, तब आपके आगे शत्रु उसी तरह नहीं ठहर सके, जिस तरह सिंह के आगे मृग नहीं ठहरते अर्थात् धनुष लेकर युद्ध में आपके जाते ही भय के मारे शत्रु भाग खड़े हुये। यहाँ नायक में 'वीर' और प्रतिनायक में 'भयानक' का वर्णन किया गया है जो भिन्न अधिकरण स्थिति होने से दोषाधायक नहीं है।

द्वितीयविरोधनिवर्तनादेकत्र समावेशस्योपायमभिधाय तदुदाहरणं दर्शयति—

रसान्तरस्याविरोधिनः सन्धिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निवर्तते। यथा मन्निर्मितायामाख्यायिकायां काण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षेः शान्तरसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते—'किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम्?, कोऽयमनिर्वाच्यो वचनरचनाया मधुरिमा?' इत्यद्भुतस्यान्तरवस्थापनेन 'वरवर्णिनीं' प्रत्यनुरागवर्णने।

सन्धिकर्ता विरुद्धद्वयमैत्रीकारकः। अन्तराले द्वयोर्मध्ये। द्वितीयो ज्ञानविरोधः। कण्वः श्वेतकेतुश्च महर्षी। अनाकलितपूर्वमदृष्टाश्रुतपूर्वम्। वरवर्णिनी तदाख्याऽऽख्यायिकाया नायिका।

अत्र प्रथमं शान्तस्तदनु शृङ्गारो रसश्च मिथो विरुद्धौ स्थापितौ ध्रुवं दोषाय कल्पेताम्, यदि विरुद्धयोस्तयोर्मध्ये, सन्धिकृदिवोभयाविरुद्धः 'किमिदम्' इत्यादिवाक्यद्वयव्यङ्ग्योऽद्भुतरसो न सन्निवेश्येत। तथा विहिते तूभयोर्नैरन्तर्याभावाज्ज्ञानकृतो विरोधो निवृत्त इति न कोऽपि दोषः।

अब द्वितीय 'ज्ञान–विरोध' को निवृत्त करने की विधि बतलाते हैं—'रसान्तर' इत्यादि। ज्ञान-विरोध भी तब निवृत्त हो जाता है, जब उन दोनों विरोधी रसों के बीच में सन्धि (सुलह) करने वाले की तरह किसी अविरुद्ध (जो उन दोनों रसों का विरोधी न हो) रस को स्थापित कर दिया जाता है। जैसे—मेरी (पण्डितराज की) आख्यायिका में—कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शान्त रस-प्रधान वर्णन के प्रस्तुत रहने पर 'यह कैसा अननुभूत रूप है, यह कैसी अवर्णनीय वचन-परिपाटी की मधुरता है,' इस तरह अद्भुत रस को मध्य में रख कर वरवर्णिनी–नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन किया गया है। यहाँ शान्त और शृङ्गार इन दो विरोधी रसों के बीच में उन दोनों का ही अविरोधी अद्भुत आ गया, जिससे उन दोनों का भी विरोध मिट गया क्योंकि लगातार रहना ही विरोध का मूल था, वह अब नहीं रहा।

द्वितीयविरोधनिवृत्तेरुदाहरणान्तरं दार्ढ्याय प्रतिपादयति—

यथा वा—

सद्यःसमरोत्सृष्टशरीर–वीरवृत्तं वर्णयति—

'सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा–व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरुनारीभिरावृतान्॥'

सुराङ्गनाभिरमरनारीभिः (अप्सरोभिः) आश्लिष्टाः कदाचिदपि प्रागनुपलब्धत्वाद् गाढं सप्रणयमालिङ्गिताः, व्योम्नि गगने, विमानगाः (सद्यः समरे हताः स्वर्गं गन्तुं)

(रणभुवि निष्प्राणान्) निजान् स्वीयान्, देहान्, विलोकन्ते सोत्साहं पश्यन्तीत्यर्थः ।

अथवा-कोई कवि युद्ध में मर कर स्वर्ग जाने वाले वीरों के वृत्तान्तों का वर्णन करता है-(युद्ध में मरे हुये) वीर जब देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से आलिङ्गित होकर, विमानों में बैठे हुये, आकाश मार्ग से (स्वर्ग जाते रहते हैं), तब वे (रणभूमि में) निष्प्राण पड़े हुये अपने देहों को मादा-सियारों से घिरे हुये देखते हैं ।

उपपादयति—

अत्र सुराङ्गना-मृतशरीरयोरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभाक्षिप्तो वीररसो निवेशितः। अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्वणाकालान्तर्वर्तिकालगतचर्वणाकत्वम् । तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्ध एव शृङ्गारचर्वणोत्तरं वीरस्य चर्वणादनन्तरं च द्वितीयार्धे बीभत्सस्येति स्फुटमेव ।

अत्रास्मिन् पद्ये । सुराङ्गना शृङ्गारस्य, मृतकशरीरञ्च बीभत्सस्यालम्बनम् । अन्तर्मध्ये । स्वर्गलाभेन पूर्वार्धप्रतिपादितेन, आक्षिप्त उत्साहस्थायिद्वारेण बोधितो वीररसः, शृङ्गारबीभत्सयोरविरोधी, निवेशितश्चर्वणागोचरतां नीतः । चस्त्वर्थे । तदुभयस्य विरुद्धरसद्वयस्य, यौ चर्वणायाः कालौ, तदन्तर्वर्ती मध्यगतो यः कालः, तत्र चर्वणा यस्य, तत्त्वमन्तर्निवेशः ।

इहोदाहरणे सुराङ्गनालम्बनकशृङ्गाररसचर्वणायाः पश्चात्, शवालम्बनकबीभत्सरसचर्वणायाश्च प्राक्, विरोधिनोस्तयो रसयोरविरोधसम्पादनाय मध्ये तदुभयाविरुद्धस्य विलोकनोत्साहस्थायिकवीररसस्य सन्निवेशाददोष इत्याशयः ।

इयत् पुनरत्र विभावनीयम्—'आद्यः करुण-बीभत्स-रौद्र-वीर-भयानकैः ।' इति दर्पणोक्तेः शृङ्गारस्य यथा बीभत्सो विरुद्धः, तथैव वीरोऽपि, तस्माद् विरुद्धयोः शृङ्गार-बीभत्सयोरविरोधसम्पादनाय कथं वीरस्यान्तरसमावेशः सङ्गच्छते ? तारस्थ्याभावात् ।

यहाँ देवाङ्गनाओं को आलम्बन मान कर शृङ्गार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को आलम्बन मान कर बीभत्स-रस की प्रतीति होती है और ये दोनों रस परस्पर विरुद्ध हैं, अतः इन दोनों के मध्य में तदुभयाविरोधी वीर-रस का निवेश किया गया है । यद्यपि वीर-रस-व्यञ्जक शब्द यहाँ नहीं हैं, तथापि स्वर्ग-लाभ की बात से उसका आक्षेप हो जाता है। अन्तर्निवेश—बीच में प्रवेश—का अर्थ यह है कि परस्पर विरोधी रसों के आस्वादन का जो समय है, उसके मध्य के समय में उसका आस्वादन होना। वह यहाँ स्पष्ट ही है क्योंकि उक्त पद्य के पूर्वार्ध में शृङ्गार-रस का आस्वाद होने के बाद वीर-रस का आस्वाद होता है और उसके बाद द्वितीयार्ध में बीभत्स-रस का ।

पूर्वक्रमव्यत्यासेनोदाहरणान्तरं पुनर्दर्शयति—

'भूरेणुदिग्धान्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससामग्रीवशाद् बीभत्सचर्वणोत्तरं तत्सामग्र्याक्षिप्त-निश्शङ्कप्राणत्यागादिरूपसामग्रीकस्य वीरस्य चर्वणे, शृङ्गारचर्वणेति विवेकः ।

'भूरेणुदिग्धान्' 'नवपारिजात-मालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्, सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः, पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः, सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः, कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाल्ललनाङ्गुलीभि-र्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥'

इति ध्वन्यालोक–काव्यप्रकाशोद्धृत–पद्यत्रयात्मकैव वाक्यावशेषः। प्रथमं पूर्वं श्रुताऽवगता बीभत्सरसस्य या सामग्री, तद्वशात् तस्या बलाद् बीभत्सस्य चर्वणा, तदुत्तरं, तत्सामग्र्या बीभत्सरसास्वादजनककारणकूटेन, आक्षिप्ता प्रतीतिपदवीमवतारिता निश्शङ्कप्राणत्यागादि-रूपा सामग्री वीररसप्रतीतिकारणकूटं यस्य, स तथोक्तः, तथाभूतस्य वीरस्य चर्वण आस्वादे निष्पन्ने सति, शृङ्गारस्य चर्वणा भवतीति विवेकः पूर्वस्मात् पृथग्विचार इत्यर्थः।

सुराङ्गनेत्याद्युदाहरणे पूर्वं शृङ्गारस्य, मध्ये तटस्थत्वेन वीरस्य, अन्ते विरोधिनो बी-भत्सरस्यास्वादः। 'भूरेणुदिग्धान्' इत्याद्युदाहरणे तु पूर्वं बीभत्सस्य, मध्ये वीरस्य, अन्ते शृङ्गारस्य चास्वाद इति द्वयोरुदाहरणयोः क्रममात्रेण भेदः।

'भू–रेणु–दिग्धान्·······पतितानपश्यन् ॥' (संस्कृत टीका पृ. १८० देखें)

यह युद्ध–भूमि का वर्णन है। युद्ध में मारे गये वीरों को विमानों पर सजे सजाये पलँगों के ऊपर बैठा कर अप्सरायें स्वर्ग ले जा रही थीं और उन्हें उस समय वे अप्सरायें अपनी अङ्गुलियों के इसारे से युद्ध–भूमि में गिरे हुये उनके मृत शरीरों को दिखला रही थीं तथा वे वीर अपने उन शरीरों को कौतुक पूर्वक देख रहे थे। हा! उन मृतक मर्त्य शरीरों में और इन सजीव दिव्य शरीरों में कितना अन्तर था? मृत शरीर, भू-धूलियों से धूसर, शृगालियों से कस कर आलिङ्गित और मांसाहारी पक्षियों के रुधिर–लिप्त अत एव चमचमाते हुये पङ्खों से झले जा रहे थे और ये दिव्य देह, नवीन पारिजात–पुष्पों की मालाओं के परागों से सुगन्धित वक्ष वाले, सुराङ्गनाओं के आलिङ्गनों से भरे हुये भुज-मध्यों से युक्त चन्दन जल के सेकों से सुगन्धित एवं कल्प–वल्लियों से प्राप्त दिव्यवस्त्रों के द्वारा बने हुये, व्यजनों से झले जा रहे थे। इस काव्यप्रकाश के पद्यों में तो पहले बीभत्स-रस की सामग्री का श्रवण होने के कारण उसका आस्वाद होता है और तदनन्तर बीभत्स-रस की सामग्री से आक्षिप्त–निर्भयता पूर्वक–प्राण–त्यागादि रूप सामग्री से वीर–रस का आस्वाद होता है, उसके बाद शृङ्गार का आस्वाद होता है—यह भेद है। अर्थात् पण्डितराज के पद्य में क्रमशः शृङ्गार, वीर और बीभत्स का आस्वाद होता है और काव्य–प्रकाश के पद्यों में बीभत्स, वीर और शृङ्गार का क्रमिक आस्वाद प्राप्त होता है।

उपसंहरति—

इत्थं चोदासीनचर्वणेन प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ, निष्प्रत्यूहः प्रतिबध्यचर्व-णोदय इति फलितोऽर्थः।

इत्थं च उक्तप्रकारेण तु, उदासीनस्य तटस्थस्यान्तरालवर्तिनो वीररसस्य, चर्वणेन प्रत्यक्षलक्षणज्ञानेन, प्रतिबन्धकं यद् विरोधिरसज्ञानं तस्य (आत्मविशेषगुणानामेवोत्तर-वर्तिविशेषगुणनाश्यत्वनियमात्) निवृत्तौ विरतौ जातायाम्, निष्प्रत्यूहः प्रतिबन्धकाभावान्नि-रन्तरायः, प्रतिबध्यचर्वणस्य द्वितीयविरोधिरसास्वादस्य, उदय उत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः।

ज्ञानानां क्षणत्रयावस्थायित्वान्मध्यमज्ञानोत्पत्तिक्षणे प्रतिबन्धकस्य प्रथमज्ञानस्य विलये, प्रतिबध्यस्य तृतीयज्ञानस्योत्पत्तौ न किञ्चिद् बाधकमिति भावः।

इस तरह से फलित यह हुआ कि उदासीन रस के आस्वाद से प्रतिबन्धक विरोधी रस का ज्ञान जब नष्ट हो जाता है (क्योंकि आत्मा के विशेष गुण ज्ञान आदि, अग्रिम क्षण में होने वाले विशेष गुणों से नष्ट होते हैं, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व, ज्ञान, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये विशेष गुण कहलाते हैं यह भी समझना चाहिये), तब द्वितीय विरोधी रस का आस्वाद निर्विघ्नरूप से होता है।

विरुद्धरसद्वयस्य प्रकारान्तरेण विरोधनिवृत्तिमाचष्टे—

अङ्गाङ्गिनोः, अङ्गिन्यन्यस्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रङ्गात् ।

अङ्गं चाङ्गी च–अङ्गाङ्गिनौ पोषकपोष्यौ, यौ रसौ, तयोर्यदि परस्परं विरोधः स्यात्, तदा पोषकस्य तत्र दूषकत्वादङ्गत्वमेव नोपपद्येत, तथाऽन्यस्मिन् रसेऽङ्गिनि प्रधाने, अङ्गयोः पोषकत्वं प्राप्तयोः, मिथोविरुद्धयोरपि राजनि सेवकयोरिव, रसयोर्विरोधो नोपपद्येत, परकीयाङ्गतया स्वातन्त्र्यविरहेण विरोधासम्भवादिति रसद्वयविरोधनिवृत्तेः प्रकारद्वयमित्यभिप्रायः ।

अब अन्य प्रकार से विरोध हटाने की युक्ति दिखलाते हैं—'अङ्गाङ्गिनोः' इत्यादि । यदि दो रसों में परस्पर अङ्गाङ्गीभाव अर्थात् पोष्य–पोषक भाव हो, तो विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं होता क्योंकि यदि विरोध हो, तब अङ्ग–अङ्गीभाव ही न बने। इसी तरह जहां कोई एक रस अङ्गी–मुख्य–हो और उसके अङ्ग दो ऐसे रस हों जो परस्पर विरोधी कहे जाते हों, तो वहां भी उन अङ्गभूत रसों में विरोध उसी प्रकार नहीं होता, जिस प्रकार किसी एक राजा के परस्पर विरोधी सेवकों में वह नहीं होता अर्थात् विरोध दो स्वतन्त्रों में ही हो सकता है और जब स्वतन्त्रता नहीं—दोनों ही एक तीसरे के अङ्ग हैं, तब उनमें विरोध कैसा ?

तत्र प्रथमं विरोधनिवृत्तिप्रकारमुदाहरति—

यथा—

पुरस्तान्निपतितां गतजीवितां प्रेयसीं प्रियो ब्रवीति—

> 'प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः,
> स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः ।
> मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले !,
> हा लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि ॥'

अयि बाले मुग्धे ! अद्यास्मिन् दिने, सखीभिरालीभिः, सह, सहसा (मध्यागते) झटिति, सविनयं विनयपुरस्सरम्, प्रत्युद्गता सत्करणाय प्रत्युपस्थिता, स्मेरैरीषद्धासवलितैः, स्मरस्य मदनस्य, सचिवैः सूचकतया सहायैः, सरसावलोकैः सानुरागनिरीक्षणैः, मञ्जुर्मनोरमा रचना विन्यासो येषां, ते तथोक्तास्तादृशैरतिललितैः, वचनैर्भाषणैश्च (अन्यदिनवत्) हा हन्त ! लेशतोऽपीषदपि, मां, कथं केन कारणेन, सत्करोषि नैव सम्मानयसीति वद कथयेत्यर्थः ।

जैसे—हा ! बाले !! बोलो, आज, तुम, सखियों के साथ शीघ्र सामने में विनय पूर्वक उपस्थि होकर, कामभाव को जगाने वाली, विकसित तथा सरस चितवनों से और सुन्दर–रचना वाले वचनों से, मेरा कुछ भी सत्कार क्यों न नहीं कर रही हो ?

प्रसङ्गमभिदधाति—

इयं च पुरो निपतितां प्रमीतां नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः ।

प्रमीता मृता ।

यह आगे में पड़ी हुई मृत नायिका के प्रति नायक की उक्ति है ।

उपपादयति—

इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावै–रावेगविषादादिभिः सञ्चारिभिश्च व्यज्यमाना, नायकगता रति–स्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्ते प्रकृतत्वात् प्रधानीभूते तद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम् ।

तुल्यया सजातीयया सामग्र्या कारणकूटेनाभिव्यक्ते। प्रकृतत्वान्मरणे वृत्ते प्रस्तुतत्वात्। तद्गते नायकनिष्ठे । प्रकर्षकत्वादुपकारकत्वात् ।

अत्र नायिकाऽऽलम्बनम्, अश्रुपातप्रभृतयोऽनुभावाः, आवेगादयश्च व्यभिचारिणः, तैः सम्भूयाभिव्यज्यमाना शृङ्गाररसस्थायिरूपा नायकनिष्ठा रतिः, नायिकाया निधनात्तदालम्बनस्य, अश्रुपाताद्यनुभावितस्य, आवेगादिपोषितस्य, करुणरसस्थायिनः शोकस्य प्रकर्षकत्वादङ्गमिति परत्र विरोधिनोरपि शृङ्गारकरुणयोः प्रकृतेऽङ्गाङ्गिभावाद् विरोधनिवृत्तेरिदमुदाहरणम्। ध्वनिकारास्तु—

'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्य-स्तथा स्यादविरोधिता ॥'

इत्यङ्गरसपरिपोषाविधानादविरोधमाचक्षते।

यहां नायिकारूप आलम्बन में नायक की रति (शृङ्गार का स्थायीभाव) अश्रुपातादि अनुभाव और आवेग, विषाद आदि सञ्चारीभावों से अभिव्यक्त होते हैं और इन्हीं सामग्रियों से अर्थात् अश्रुपातादि से नायक का शोक (करुण का स्थायीभाव) भी व्यक्त होता है, परन्तु प्रधानता यहां शोक की है क्योंकि नायिका के मरण-ज्ञान से वही प्रस्तुत है, रति उसका पोषक है—अङ्ग है, कारण ? प्रेम शोक को बढ़ाता है यह अनुभव सिद्ध है।

नन्वालम्बनविच्छेदाद् रतेरत्राप्रतीतेः कथं शोकाङ्गत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—

यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते, किन्तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव प्रकृतत्वादित्याग्रह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः पोषिता नायिकाश्रया रतिरेव तदङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकशोकप्रकर्षहेतुतायाः सर्वसम्मतत्वात्।

नायकरतिप्रत्ययस्यानुभवित्वादिह तुना, आगृह्यत इत्यनेन चारुचिः सूच्यते। निरुक्तसामग्र्या रतिव्यञ्जकेन तेनैव कारणकूटेन। तदङ्गं शोकस्य प्रकर्षकम्। नायिकेत्यादिना हेतूपन्यासः। अत्र नायिकाया आलम्बनस्य विनाशान्निरालम्बनाया नायकनिष्ठाया रतेः प्रतीतिर्न सम्भवति, किन्तु तन्निष्ठस्य शोकस्यैव प्रतीतिरिति यद्याग्रहः (न तु वास्तविकविचारः) क्रियते, तर्हि नायकविषया या नायिकानिष्ठा प्राचीना रतिः, तस्या एव शोकस्योपकारकत्वादङ्गत्वमास्ताम्, तावताऽपि रतेः शोकाङ्गत्वस्य सिद्धत्वात्, तादृशरतेस्तच्छोकपोषकत्वस्य विप्रतिपत्तिग्रस्तत्वाभावादिति सारम्।

इदं पुनरिह विवेचनीयम्—यद्यालम्बनविनाशान्नायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाभ्युपगम्यते, तदाऽऽश्रयविनाशान्नायिकानिष्ठरतेः प्रतीतिः कथङ्कारं स्यात्, उभयोर्वैषम्ये बीजानुपलम्भात्। यदि तु वक्ष्यमाणरीत्या स्मर्यमाणाया नायिकानिष्ठाया रतेः शोकाङ्गत्वं न्याय्यम्, तदा तादृश्या नायकनिष्ठरतेरपि तत्त्वे बाधकाभावात्।

ननु रसानामपरिच्छिन्नत्वेन सच्चिदानन्दरूपतया वेद्यान्तरस्पर्शशून्यत्वेन च मिथो बाध्यबाधकभावलक्षणस्य विरोधस्योपकार्योपकारकभावलक्षणस्याङ्गाङ्गिभावस्य च कथं सम्भव इति चेत्, उच्यते—रसपदेनात्र प्रकरणे रस्यत इति व्युत्पत्त्या रसत्वयोग्यतत्तत्स्थायिभावपरत्वाभ्युपगमेन दोषाभावात्। अत एव—'मतान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्ताः।' इति ध्वनिकृतोऽप्यभिदधते।

यदि यहां यह आग्रह किया जाय कि—नायक की रति (प्रेम) यहां प्रतीत नहीं होती, परन्तु उक्त सामग्री से उसका शोक ही यहां प्रतीयमान है, क्योंकि वही प्रस्तुत है अर्थात् मृत नायिका को आगे में पड़ी देखकर शोक का होना सम्भव तथा स्वाभाविक ही है, तब उस नायिकानिष्ठ रति को ही शोकका अङ्ग समझना चाहिये, जिसका नायक आलम्बन है,

सत्कार के लिये आगे आना अनुभाव है और हर्ष आदि सञ्चारीभाव हैं, क्योंकि यह बात सब आचार्यों को मान्य है कि नायिका का प्राक्तन प्रेमाचरण नायक के शोक को बढ़ाने वाला होता है। यहां एक बात विचारणीय यह है कि–यदि आलम्बन (नायिका) के नाश हो जाने से नायकनिष्ठ रति की प्रतीति नहीं हो सकती, ऐसा मानते हैं, तब आश्रय (नायिका) की विनाश–दशा में नायिकानिष्ठ रति की प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योंकि इन दोनों प्रकारों में विषमता–स्वीकार करने का कोई उपयुक्त कारण नहीं है। यदि ग्रन्थकार के द्वारा आगे प्रदर्शित की गई रीति के अनुसार स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को शोक का अङ्ग मानते हैं, तब तो स्मरण की गई नायिकानिष्ठ रति को भी शोक का अङ्ग मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मुझे तो ग्रन्थकार का आशय यह मालूम पड़ता है कि नायिका की मृत्यु के बाद नायक को नायिका का प्रेम ही स्मरण होता है, अपना प्रेम नहीं, यही समुचित भी है। कारण ? प्राणीमात्र स्वार्थ–पाश में बद्ध है उसे हर समय में अपना ही अभाव खटकता है, फिर उक्त स्थिति में नायक अपने प्रेम के विषय में क्यों सोचे ? जब कि वह अब भी अपने प्रेम का स्थान अनेक बना सकता है। हां, नायिका के प्रेम के विषय में वह अवश्य सोच कर सकता है—उसकी याद उसे जरूर आती है और सताती भी है क्योंकि वह उसे इस जीवन में ही नहीं जन्मान्तर में भी मिलने को नहीं,—उसका अभाव सदा खटकता ही रहेगा। अनुभव भी प्रायः इसी तरह का है।

ननु नायिकानिष्ठरतिरिदानीमविद्यमाना कथं शोकमुपस्कुर्यादित्यत्राह—

न च नायिकाया नाशात् तद्गताया रतेरसन्निधानात् कथमङ्गतेति वाच्यम्, सन्निधानस्याङ्गतायामतन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः।

सन्निधानं सन्निकर्षः सत्त्वमिति यावत्। अतन्त्रत्वं कारणत्वेनाविवक्षितत्वम्। नायिकाया विनाशात् तन्निष्ठरतेरविद्यमानत्वेन शोकस्योपकारकत्वासम्भव इति च न वाच्यम्, नायिकानिष्ठरतेस्तत्कालमविद्यमानत्वेऽपि, स्मर्यमाणायास्तस्या नायकनिष्ठशोकोत्कर्षकत्वसम्भवादङ्गत्वस्योपपन्नत्वादित्यभिप्रायः।

यदि आप कहें कि नायिका जब नष्ट हो गई, तब उसका प्रेम भी वर्तमान नहीं है, फिर वह शोक का अङ्ग कैसे हो सकता ? इसका समाधान यह है कि अङ्ग होने में विद्यमान रहना यहाँ अपेक्षित नहीं है, अतः स्मरण किया हुआ प्रेम भी शोक का अङ्ग हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मूर्तपदार्थ का अङ्ग वर्तमान मूर्तपदार्थ ही हो सकता है, परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है अर्थात् जहां एक प्रकार की भावना का अङ्ग अन्य प्रकार की भावना को होना है, फिर भावना का विषय वर्तमान रहे या अतीत दोनों बराबर है अर्थात् भावना जैसे वर्तमान की कीजा सकती है, वैसे अतीत की भी।

अन्यस्मिन्नङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयो रसयोर्विरोधनिवृत्तिमुदाहरति—

अङ्गयोर्यथा—

तृतीय रस के अङ्गी रहने पर उसके अङ्गभूत विरुद्ध दो रसों का अविरोध, जैसे—

राजानं चाटुकारः कश्चिदभिदधाति—

'उत्क्षिप्ताः कबरीभरं, विवलिताः पार्श्वद्वयं, न्यक्कृताः,
पादाम्भोजयुगं, रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम्।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभट–क्ष्मापालवामभ्रुवां,
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः॥'

हे राजन् ! गहनेषु काननेषु, भवद्भिया पलायमानानां भवतो ये प्रतिभटाः परिपन्थिनः क्ष्मापालाभूमिपाः, तेषां या वामभ्रुवोऽङ्गनाः, तासाम्, कबरीभरं केशपाशम्, उदूर्ध्वं क्षिप्ता उन्नीताः सन्तः, पार्श्वद्वयमुभे पार्श्वे, विवलितावक्रीकृताः, पादाम्भोजयुगं चरणकमलद्वयं,

न्यक्कृता अधःकृताः, चेलाञ्चलं शाटीवसनप्रान्तं, रुषा क्रोधेन, दूरेणारारात्, परिहृता दविताः, कण्टकैस्तीक्ष्णावयवैश्चिता व्याप्ताः, के के न अपितु सर्व एव, भूमिरुहा वृक्षा गृह्णन्तीत्यर्थः ।

अत्र कण्टकपदस्य वृक्षतीक्ष्णावयवे रोमाञ्चे च शक्तिः । तथा च प्रस्तुतेषु भूमीरुह-कर्तृक-रिपुराजमहिषीकवरीग्रहणप्रभृतिव्यवहारेष्वप्रस्तुतहठकामुककर्तृकयत्तद्व्यवहाराणां समारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः । तत्र वाच्यप्रस्तुतभूमीरुहव्यवहारव्यङ्ग्यः करुणः, व्यङ्ग्या-प्रस्तुतहठकामुकव्यवहारव्यङ्ग्यः शृङ्गारश्च रसौ मिथो विरोधिनावपि, प्रधानीभूते वर्णनीयराज-विषयक-वक्तृनिष्ठरतिभावेऽङ्गताङ्गतावित्युभयो विरोधनिवृत्त्या समावेशः ।

कोई कवि राजा की चाटुकारिता करता है कि—हे राजन्! आपके शत्रुभूत राजाओं (जो आपके भय से सपरिवार जङ्गल में भाग गये हैं) की जङ्गल में जाती हुई स्त्रियों की बड़ी दुर्दशा होती है, कौन ऐसे कँटीले वृक्ष हैं जो उनसे छेड़ छाड़ नहीं करते। सुनिये—उन स्त्रियों के द्वारा ऊँचे किये जाने पर वे वृक्ष केश-पाश को पकड़ लेते हैं, टेढ़े किये जाने पर दोनों बगलों को नोच लेते हैं, नीचे किये जाने पर दोनों चरण-कमलों को चूम लेते हैं, और दूर हटा देने पर भी झट से वस्त्रों के छोर को ही पकड़ लेते हैं।

तदाचष्टे—

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्यां तरु-कामि-कर्तृक-रिपुकामिनीकबर्यादिग्रहण-रूपाभ्यां प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्यां व्यक्तयोः करुण-शृङ्गारयो राजविषयकरति-भावाङ्गत्वम् ।

व्यवहारयोः समासोक्तेरवयवत्वं निष्पादकत्वात् । व्यक्तयोर्व्यञ्जनावगतयोः । इतरत् स्पष्टम् ।

इस श्लोक में समासोक्ति अलङ्कार है और उस अलङ्कार के दो अंश होते हैं—एक प्रस्तुत का व्यवहार और दूसरा अप्रस्तुत का व्यवहार, जैसे यहां वृक्षों के द्वारा स्त्रियों के केश आदि का ग्रहण प्रस्तुत का व्यवहार है और किसी कामी पुरुष के द्वारा उनका ग्रहण अप्रस्तुत का व्यवहार है। इन दोनों व्यवहारों में से प्रथम से करुण-रस की और द्वितीय से शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है और वे दोनों रस यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि यहां विरोध नहीं होता क्योंकि वे दोनों ही यहां कवि-निष्ठ-राजा-विषयक-रति-भाव के अङ्ग हैं अर्थात् प्रधान यहां उक्त भाव ही है, वे दोनों रस उसके पोषकमात्र हैं अतः उनमें विरोध नहीं होता।

पुनः प्रकारान्तरेण विरुद्धरससमावेशं प्रतिपादयति—

किञ्च प्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धनं कार्यमेव । तथाहि सति, वैरिविजयकृता वर्ण्यस्य काऽपि शोभा सम्पद्यते ।

प्रस्तुतस्य रसस्य परिपोषमिच्छता कविना प्रस्तुतरसविरोधिनोऽपि रसस्य, अभिभव-नीयत्वेन निवेशः कर्तव्य एव, यतो बाध्यस्य विरोधिनः सत्तया प्रस्तुतस्य रसस्य पुष्टिरेव भवति, न तु बाधः, यथा विजितस्य वैरिणः सत्तया वर्णनीयस्य महीपतेरुत्कर्ष एव सम्पद्यते नत्वपकर्ष इति सारम् ।

अब विरोधी रस के वर्णन की आवश्यकता बतलाते हैं—'किंच' इत्यादि। प्रस्तुत रस को अच्छी तरह पुष्ट करने की इच्छा रखने वाले कवियों को विरोधी रस का भी बाध्य रूप से वर्णन करना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करने से, वर्णनीय (प्रस्तुत) रस की शोभा वैरी (विरोधी रस) का विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो उठती है, अर्थात् बाध्य रूप से विरोधी रस का वर्णन रहने से प्रस्तुत रस की पुष्टि ही होती है, बाध नहीं। जैसे विजित शत्रु के वर्णन से वर्णनीय विजेता राजा का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है, अपकर्ष नहीं।

रसस्य बाध्यत्वं निवक्ति—

बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनो रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु, निष्पत्तेः प्रतिबन्धः ।

स्वाङ्गेषु स्वकीयव्यञ्जनोपयोगिष्वालम्बनादिषु, विद्यमानेषु प्रतीयमानेष्वपि, प्रबलैः परिपोषविशेषं प्राप्तैः, विरोधिनो रसस्य, अङ्गैरालम्बनादिभिरुपकारकैः (कर्तृभिः) निष्पत्तेः प्रस्तुतरसास्वादपरिपोषस्य, प्रतिबन्धोनिरोध एव रसस्य बाध्यत्वमित्यर्थः । परिपुष्टविरोधिरसाङ्गकर्तृकापुष्टाङ्गप्रस्तुतरसास्वादप्रतिबन्धनमेव रसस्य बाध्यत्वमित्याशयः ।

रस के बाधित होने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अङ्गों के प्रबल होने के कारण, अपने अङ्गों के वर्तमान रहने पर भी अपनी (बाध्य रस की) अभिव्यक्ति का रुक जाना । अर्थात् किसी रसके अभिव्यक्त होने की सामग्री (आलम्बन आदि) के प्रतीयमान होने पर भी, दूसरे रस की आलम्बन आदि सामग्री के प्रबल (प्राप्त परिपोष) होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है रस का बाध्य होना ।

व्यतिरेकं दर्शयन् व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वं निर्वक्ति—

व्यभिचारिणो बाध्यत्वं तु तदीयरसनिष्पत्तिप्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभिव्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात् ।

तदीयस्तद्व्यभिचारिभावपोष्यो यो रसस्तस्य निष्पत्तेरास्वादस्य प्रतिबन्धादेव, न तु रसवत् स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, तदास्वादे बाधकाभावादित्यर्थः ।

रसस्य बाध्यत्वे तदास्वादाभावः, व्यभिचारिभावस्य बाध्यत्वे तु तत्पोष्यरसास्वादाभाव इत्युभयोर्व्यतिरेकोऽवसेयः ।

व्यभिचारीभावों का बाध्य होना तो उसके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होनी चाहिये थी, उसका रुक जाना ही है, न कि व्यभिचारीभावों की ही अभिव्यक्ति का न होना, क्यों कि व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालने वाला कोई नहीं है । अर्थात् रस के बाध्य होने पर उस रस का आस्वाद नहीं होता और व्यभिचारीभावों के बाध्य होने पर भी उनका आस्वाद होता ही है, परन्तु उन व्यभिचारीभावों से पोषित होने वाले रस का आस्वाद नहीं होता, यही रस और व्यभिचारीभावों की बाध्यता में भेद है ।

ननु विरोधिरसाभिव्यक्त्या यथा प्रकृतरसास्वादस्य प्रतिबन्धः, तथैव व्यभिचारिभावस्यापि स्वपोष्यरसविरोधिरसाङ्गभूतव्यभिचारिभावाभिव्यक्त्याऽभिव्यक्तिप्रतिबन्धः कुतो नेत्याशङ्कामपास्यति—

न च विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या प्रतिबन्धान्नाभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्व्यञ्जकशब्दार्थज्ञानसमये विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यासन्निधानात् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशबलताया उच्छेदापत्तेश्च ।

विरोधिनो रसस्य पोषकत्वादङ्गानां व्यभिचारिणामभिव्यक्त्याऽऽस्वादेन प्रतिबन्धाद् बाधाद्, नाभिव्यक्तिर्व्यभिचारिणामिति शेषः ।

तद्व्यञ्जकौ व्यभिचारिप्रत्यायकौ यौ शब्दार्थौ, तयोर्ज्ञानस्य समये स्थितिकाले असन्निधानाद् विनष्टत्वात्, उभयोः शब्दार्थज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्य कल्पनायां प्रमाणाभावात् । किञ्च यदि भावज्ञानयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावस्य कल्पना स्यात्, तदा भावशबलताया उच्छेद आपद्येत, तत्रैकभावज्ञानस्यापरभावज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् तदनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । तस्मान्न व्यभिचारिभावानां बाध्यत्वं स्वकीयास्वादप्रतिबन्धात्, अपितु स्वपोष्यरसास्वादाभावदिति सारम् ।

यदि आप कहें कि जैसे विरोधी रस की अभिव्यक्ति से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति रुक जाती है, उसी तरह विरोधी रसके अङ्गभूत व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति से प्रतिबन्ध हो जाने के कारण प्रकृत रस के व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति क्यों नहीं रुक जायगी ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि से अतिरिक्त सब ज्ञान दो ही क्षण रहते हैं, अतः जिन व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध आशंकनीय हो, उनके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान जिस क्षण में होगा, उस क्षणमें प्रतिबन्धक रूप से स्वीकरणीय व्यभिचारीभावों के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थों का ज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर दोनों ज्ञानों में प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक की कल्पना करने में कोई प्रमाण ही नहीं है। अर्थात् एक काल में रहने वाले दो ज्ञानों में ही एक दूसरे का प्रतिबध्य (रुकने वाला) और प्रतिबन्धक (रोकने वाला) हो सकता है। यहां तो दोनों ज्ञान एक काल में रहते ही नहीं, अतः प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव नहीं होगा। यदि आप कहेंगे कि ज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी उनके संस्कार तो रहेंगे ही, अतः उन संस्कारों में ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव की कल्पना करेंगे, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि एक तो उद्बोधक के रहने पर संस्कार का प्रतिबन्ध अनुभव-विरुद्ध है अर्थात् वह नहीं रुकता है। दूसरी बात यह है कि सम्भव होने पर भी उस तरह के प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की कल्पना नहीं करनी चाहिये, अन्यथा 'भाव-शबलता' का उच्छेद ही हो जायगा क्योंकि एक पद्य में अनेक विरोधी भावों के जुटने का ही नाम है 'भावशबलता' और उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव के मानने पर एक से दूसरे का प्रतिबन्ध हो जाने के कारण एक जगह अनेक विरोधी भाव अभिव्यक्त ही न हो सकेंगे।

नन्वेवमेव रसेऽपि निष्पत्तिप्रतिबन्धो माभूदित्याशङ्कां निराकरोति—

रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति तां प्रत्येव विरोध्यङ्गानां बलवतामभिव्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं न्याय्यम्।

स्वविरोधिरसाङ्गाभिव्यक्त्या रसाभिव्यक्तेः प्रतिबन्धस्तु सहृदयानुभवसिद्धत्वात् प्रामाणिकः, तस्माद् बलवती विरोधिरसाङ्गाभिव्यक्तिर्विरोधिरसास्वादस्यैव प्रतिबन्धिका, न तु व्यभिचार्याद्यास्वादस्येति भावः।

यदि कहें कि तब रसाभिव्यक्ति का भी प्रतिबन्ध क्यों मानते हैं ? तो, इसका उत्तर यह है कि विरोधी रस के प्रबल अङ्गों के रहने पर रसाभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध (रुकजाना) अनुभव से सिद्ध है अर्थात् उस स्थिति में रसकी अभिव्यक्ति नहीं होती यह बात सबको अनुभूत है। अतः रसाभिव्यक्ति के प्रति प्रबल-विरोधी रसाङ्गों की अभिव्यक्ति को प्रतिबन्धक मानते हैं और व्यभिचारीभावों की अभिव्यक्ति के प्रति उनको प्रतिबन्धक नहीं मानते, क्योंकि उनका प्रतिबन्ध अनुभव से सिद्ध नहीं है।

पुनः प्रकारान्तरेण रसविरोधनिवृत्तिं प्रतिपादयति—

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिः, तत्रापि विरोधो निवर्तते।

मिथोविरुद्धरसद्वयव्यञ्जकार्थद्वये, तुल्यानि साधारणानि, यानि विशेषणानि, तेषां महिम्ना प्रभावेण, परस्परं विरुद्धयोरपि रसयोर्भावयोर्वा यत्राभिव्यक्तिः, तत्रापि तयोर्विरोधो निवर्तते। अन्यथा तादृशस्थलेष्वेकतरप्रतीतिः सुतरामवरुद्धा स्यादित्यभिसन्धिः।

अब विरोध-निवृत्ति का एक और उपाय बतलाते हैं—'अपि च' इत्यादि। जहां समान विशेषणों के द्वारा दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहां भी उनका विरोध निवृत्त हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—

कश्चिद् राजानं स्तौति ।

'नितान्तं यौवनोन्मत्ता-गाढरक्ताः सदाहवे ।
वसुन्धरां समालिङ्ग्य, शेरते वीर ! तेऽरयः ॥'

वीर नृपते ! नितान्तमत्यन्तं, यौवनेन तारुण्येन, उन्मत्ता उद्धताः, सदा, आहवे युद्धे गाढं विक्षताङ्गतया विपुलं रक्तं रुधिरं येषां, तादृशाः, पक्षान्तरे गाढमत्यन्तं रक्ता अनुरक्ताः, वसुन्धरां समरभूमिम् मृतत्वात्, पक्षान्तरे नायिकां प्रणयात् समालिङ्ग्य सम्यगुपगूह्य, ते तव, अरयः शत्रवः, शेरते स्वपन्तीत्यर्थः ।

इह 'यौवनोन्मत्ताः' 'गाढरक्ताः' इत्यादिविशेषणबलादरिमरणप्रतीतेः प्रथमं करुणरसाभिव्यक्तिः पश्चाच्च शृङ्गाररसाभिव्यक्तिरिति साधारणविशेषणबलेन प्रतीयमानयोर्विरुद्धयोरपि करुणशृङ्गाररसयोर्विरोधस्य निवृत्तिः ।

जैसे—हे ! वीर-राजन् !! जवानी से अत्यन्त उन्मत्त बने हुये और युद्ध में सर्वदा अङ्गों के क्षत-विक्षत हो जाने के कारण अत्यधिक रुधिर-प्रवाह से युक्त, दूसरे पक्ष में अत्यन्त अनुरक्त आपके शत्रु लोग, मर कर गिर जाने से समर-भूमिको, दूसरे पक्ष में प्रणय से नायिका को सम्यक् रूप से आलिङ्गन-बद्ध करके सो रहे हैं । यह किसी कवि से की गई राजा की स्तुति है। यहां 'यौवनोन्मत्त' 'गाढ़रक्त' इत्यादि शत्रु-मरण-प्रत्यायक विशेषणों से पहले करुण-रस की अभिव्यक्ति होती है, पश्चात् उन्हीं विशेषणों से शृङ्गार-रस की भी प्रतीति होती है। इस तरह अन्यत्र विरुद्ध कहे जानेवाले करुण और शृङ्गारमें यहां विरोध इस लिये नहीं होता कि वे दोनों ही यहां एकविध विशेषणों के द्वारा ही अभिव्यक्त हो जाते हैं ।

एवं रसानामविरोधप्रकारानुक्त्वा दोषान् वक्ति—

इत्थमविरोधसम्पादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा नाभिधातुमुचितः, अनास्वाद्यताऽऽपत्तेः । तदास्वादश्च व्यञ्जनामात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात् ।

सामान्येन रसशब्देन, विशेषैः शृङ्गारादिशब्दैर्वा रसानामभिधया बोधनमनुचितत्वाद्दोषः, यतस्तथासति रसश्चमत्कारापकर्षादास्वादविधुरः स्यात् । केवलव्यञ्जनावृत्तिबोध्यत्व एव रसानां चमत्कारकत्वम् । यथा गुडस्य रसनेन्द्रियमात्रसन्निकर्षेण प्रत्यक्षात्मक आस्वादः, तथैव रसादेरपि व्यञ्जनयोपस्थापनेनैव । एतच्च 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात् ।' इत्यनेनात्रापि प्रागुपन्यस्तम् । 'व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।' इत्यादिना काव्यप्रकाशे रसदोषप्रकरणेऽप्येतदेव प्रतिपादितम् ।

'निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपम्' इत्यादिनाऽऽदौ ग्रन्थकृता कृता स्वकीयोदाहरणदानप्रतिज्ञा प्रायो दोषभिया परित्यक्तेतीह तदुदाहरणद्वयमन्यदीयं क्रमेण दीयते—

'तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं, किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम् ।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे, कोऽप्यजायत निरन्तरः ॥' इति ।

'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं, शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।' इति च ।

अब रस दोषों का विवेचन करते हैं—'इत्थम्' इत्यादि । इस प्रकार विरोध का परिहार कर लेने के बाद भी वर्णनीय रसों का उल्लेख 'रस' शब्द अथवा 'शृङ्गार आदि' शब्दों से नहीं करना चाहिये, क्योंकि अभिधावृत्ति के द्वारा बोधित होने पर उन रसों में आस्वाद्यता (चमत्कार) नहीं रह जाती । अतएव पहले भी कहा जा चुका है कि रस तभी आस्वादन करने योग्य होता है, जब व्यञ्जनावृत्ति से उनका बोध होता है ।

ननु रसानां व्यञ्जनया गम्यमानानामभिधया बोधने का क्षतिरित्याशङ्कायामाह—

यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानं, तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

स्वशब्देन रसशब्देन शृङ्गारादिशब्देन च। सामान्यतोऽविशेषात्। भुक्तस्योद्गिरणमिव व्यञ्जनागम्यस्य पुनरभिधया बोधनमिति वमनतुल्यत्वात्तदाख्या दोषस्य। ग्रन्थोऽयमपूर्ण इत्यग्रेऽस्य दोषस्यानिरूपणम्।

व्यङ्ग्यस्य रसस्याभिधया बोधने वमनाख्यदोषापाताद् वाच्यत्वं नोचितमिति सारम्।

जहां वाच्य विभावादिकों से अभिव्यक्त हुये रस का पुनः रस अथवा श्रृङ्गार आदि पदों स उल्लेख कर दिया जाय वहां कौन दोष होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यङ्ग को वाच्य बना देने पर 'वमन' नामक दोष होता है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। अर्थात् व्यञ्जना-वृत्ति से ज्ञात अर्थ का पुनः अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान करना, खाये हुये अन्न के उगलने जैसा है। अत एव इस दोष का 'वमन' यह नाम करण हुआ। खेद है कि अपूर्ण रह जाने से ग्रन्थ में इस दोष की चर्चा आगे नहीं हो सकी। अखिल व्यङ्ग्यों में होने वाला यह दोष सामान्य है।

अत्रैव सामान्यदोषमुक्त्वा विशेषदोषं वक्ति—

आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया, रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च।

रसस्य येन रूपेणास्वाद्यता भवति, तदास्वाद्यताऽवच्छेदकं रूपं वैयञ्जनिकापरोक्षज्ञानविषयत्वम्। प्रत्ययाजनकतयाऽऽस्वादजनकत्वाभावेन। वाच्यवृत्तेरभिधायाः। कापेयकल्पत्वेन वानरचेष्टिततुल्यत्वेन नैरर्थक्येन। दोषविशेषो नैरर्थक्यं, तच्च 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इत्यादिनाऽन्यत्र निषिद्धम्।

अभिधया रसादीनां शाब्दप्रतीतिमात्रं न तु लोकोत्तरचमत्कारप्राण आस्वाद इत्यभिधाया आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण रसाद्यास्वादजनकत्वाभावाद् रसादीनां व्यङ्ग्यानामपि पुनरभिधया बोधनस्य चेष्टा कपिचेष्टेव विफलैवेति नैरर्थक्यरूपदोषविशेषोऽपीह सम्भवतीत्याकूतम्।

रस-श्रृङ्गारादि पदों से रसों को वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता है क्योंकि आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीति-जनक नहीं होने के कारण रस-स्थल में अभिधा-वृत्ति का प्रयोग बन्दरों की चेष्टा के जैसे निरर्थक है। अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद्यतावच्छेदक रूप से प्रतीयमान हो कर ही चमत्कारी होता है और वह रूप है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का विषय होना, अतः अभिधा वृत्ति से उसकी प्रतीति होने पर भी चमत्कार उत्पन्न होता ही नहीं, फिर तो उस वृत्ति के द्वारा रसों की प्रतीति कराने का प्रयास व्यर्थ होगा ही। आस्वाद्यतावच्छेदक पद का स्पष्ट अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये—रस आस्वाद्य होता है अतः आस्वाद्यता उसमें रहती है और रस में रहने वाला कोई खास (असाधारण) धर्म उस आस्वाद्यता का अवेच्छदक (परिचायक) होता है, जो यहां वैयञ्जनिक-अपरोक्ष-ज्ञान विषयत्व अभिप्रेत है।

रसदोषेष्वेवं प्रथमं निरूप्य, द्वितीयं तृतीयं च निरूपयति—

एवं स्थायि-व्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।

एवं रसवत्, स्थायिनां व्यभिचारिणां च भावानां, शब्दवाच्यत्वं रत्यादिशब्दैर्हर्षादिशब्दैश्चाभिधेयत्वमपि दोषो भवतीत्यर्थः। तथा चोक्तं दर्पणे—

'रसस्योक्तिः स्वशब्देन, स्थायिसञ्चारिणोरपि।' इति।

तत्र स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं द्वितीयः, व्यभिचारिणां तु स्वशब्दवाच्यत्वं तृतीयो दोषः। इहापि पूर्ववद् व्यङ्ग्यत्व एवास्वादो न तु वाच्यत्वे। विशेषस्तु प्रदीपादवसेयः।

'सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्॥' इति पूर्वस्य।

'सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे,
सत्रासा भुजगे, सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जह्नुसुताऽवलोकनविधौ, दीना कपालोदरे,
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः॥'

इत्यपरस्योदाहरणम्, पूर्वत्रोत्साहस्य स्थायिनः, अपरत्र व्रीडादीनां व्यभिचारिणां च स्वशब्देनोपादानात्।

इसी तरह स्थायीभावों और व्यभिचारीभावों का भी नामोल्लेखपूर्वक वर्णन करना दोष है अर्थात् अभिधा-वृत्ति के द्वारा इन भावों का प्रतिपादन करने पर भी चमत्कार उत्पन्न नहीं होता, वरन् एक प्रकार का वैमुख्य ही श्रोता अथवा द्रष्टाओं को उत्पन्न हो जाता है अतः वैसा नहीं करना चाहिये।

चतुर्थं पञ्चमं च रसदोषं निरूपयति—

एवं विभावानुभावयोरसम्यक् प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्यये वा, न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।

असम्यक् प्रत्ययोऽस्फुटा प्रतीतिः। विलम्बेन प्रत्ययो वाच्यप्रतीतितृतीयक्षणादौ प्रतीतिः। तयोर्विभावानुभावविषयकास्फुटप्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोः। तदुक्तं भट्टमम्मटेन— 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव-विभावयोः।' इति। तत्र विभावा सम्यक् प्रत्यय-विलम्बित-प्रत्यययोरेक एव चतुर्थः, अनुभावा सम्यक्प्रत्यय-विलम्बितप्रत्यययोस्त्वपरः पञ्चमो रसदोषः।

परिहरति रतिं मतिं लुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं, परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्म॥' इत्येकस्य,
'कर्पूरधूलिधवलद्युतिपूरधौत-दिङ्मण्डले शिशिररोचिषि तस्य यूनः।
लीलाशिरोंशुकनिवेशविशेषक्लृप्ति-व्यक्तस्तनोन्नतिरभून्नयनावनौ सा॥'

इति चापरस्योदाहरणम्।

इसी प्रकार विभावों और अनुभावों का अच्छी तरह प्रतीत न होना अथवा विलम्ब से प्रतीत होना दोष है, क्यों कि ऐसा होने से रस का आस्वादन नहीं होता।

षष्ठं रसदोषं निरूपयति—

समबल-प्रबल-प्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनन्तु प्रकृतरसपोषप्रातीपिकमिति दोषः।

समबलानां प्रबलानां वा प्रतिकूलस्य प्रकृतरसविरोधिनो रसस्याङ्गानां विभावादीनां निबन्धनं निवेशनम्, प्रकृतरसस्य यः पोषः पुष्टिस्तस्य सुन्दोपसुन्दन्यायेन, मत्स्यन्यायेन वा प्रातीपिकं प्रतीपः शत्रुस्तत्कार्यस्य सम्पादकमिति हेतोर्दोष इत्यर्थः।

विरोधिरसाङ्गानां दुर्बलानां बाध्यतया निबन्धनन्तु न दोषः, किन्तु गुण एव—'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥' इति ध्वन्यालोके, 'सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचोगुणः।' इति दर्पणे च दर्शनात्। उदाहरणन्तु—

'मानं माकुरु तन्वङ्गि! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्।' इति ज्ञेयम्।

जहां जिस रस का वर्णन करना कवि को इष्ट हो उस प्रस्तुत रस के विरोधी रसों के समबल (प्रस्तुत रस के अङ्गों की अपेक्षा समान बलवाले) अथवा प्रबल (प्रस्तुत रस के अङ्गो की अपेक्षा अधिक बल वाले) अङ्गों (विभावादिकों) का वर्णन करना दोष है, क्योंकि वे प्रस्तुत रस के परिपाक में बाधक होते हैं।

सप्तमं रसदोषं निरूपयति—

प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपनं दोषः।

प्रबन्धः सङ्घटितनानावाक्यसमुदायः, स च ग्रन्थरूपस्तदवान्तरप्रकरणरूपश्चेति प्रदीप-प्रतिपादिते सन्दर्भविशेषे, स्वसामग्रीबलेन परिपोषं प्राप्तस्य, प्रसङ्गान्तरेणावान्तरिकान्यविषय-प्रस्तावेन, विच्छिन्नस्यावरुद्धस्वादप्रवाहस्य रसस्य, पुनर्दीपने भूयोभूयःप्रसञ्जने सामाजि-कानां सचेतसां, सामग्र्येण साकल्येन रसास्वादो न भवतीति हेतोर्विच्छिन्नस्य रसस्य पुनर्दीपनं दोषः। तथा हि—परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्॥ रसस्य स्याद् विरोधाय' इति ध्वन्यालोके, 'उपभुक्तो हि पुनरुपभुज्यमान उपभुक्तकुसुमपरिमल इव सहृद-यानामास्वादापकर्षकः' इति प्रदीपोद्द्योतयोश्च प्रतिपादितम्।

उदाहरणन्तु—कुमारसम्भवचतुर्थसर्गे रतिविलापप्रकरणे 'अथ मोहपरायणा सती, विवशा कामवधूर्विबोधिता।' इत्यादिसन्दर्भेणादौ दीपितस्य, 'अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधाऽऽलिङ्गनधूसरस्तनी।' इत्यादिना मध्ये दीपितस्य, वसन्तदर्शनप्रस्तावेनावान्तरे विच्छिन्नप्रवाहस्य करुणस्य करुणविप्रलम्भस्य वा रसस्य 'तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशम्' इत्यादिना पुनर्दीपनं दोषः। अङ्गरसानामेव शश्वद्दीपने दोषः, अङ्गिरसस्य तु शान्तस्य महाभारतादौ, करुणस्य रामायणादौ च पुनःपुनर्दीपने नास्वादापकर्षः, प्रत्युत परिपोष एवेति प्रदीपकृत्सम्मतम्।

किसी भी प्रबन्ध (परस्पर अन्वित वाक्यसमूहात्मक ग्रन्थ अथवा उसका अवान्तर प्रकरण) में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक बार किसी भी प्रसङ्गान्तर से (दूसरे प्रसङ्ग से) विच्छेद हो जाय, तब पुनः आगे उसका दीपन करने से-विच्छिन्न कथा को दुबारा उठाने से-'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष होता है, क्योंकि मध्य में विच्छेद हो जाने से प्रस्तुत रसका आस्वादन सहृदयों को पूर्ण रूप से नहीं होने पाता। यहां प्रदीपकार का मत है कि अङ्गभूत रसों का ही पुनः पुनः दीपन दोष है, अङ्गी रसों का नहीं, क्यों कि अङ्गी रसों का पुनः पुनः दीपन करने पर भी आस्वाद में किसी तरह की कमी नहीं होती, वरन् परिपुष्टि ही होती है अत एव महाभारत आदि में शान्त रस का और रामायण आदि में करुण रस का पुनः पुनः दीपन किया गया है।

अष्टमं नवमं च रसदोषं निरूपयति—

तथा तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हेऽवसरे प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः।

'अकाण्डे प्रथनच्छेदौ' इति दर्पणोक्तेः सहृदयानुभावाच्च रसानां प्रस्तावायोग्येऽवसरे प्रस्तावोऽनुचितत्वाद्दोषः, तथा विच्छेदायोग्येऽवसरे विच्छेदश्च क्रमेणाष्टमो नवमश्च रसदोषः।

इसी तरह जहां जिस रस का प्रस्ताव नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का प्रस्ताव करना और जहां जिस रस का विच्छेद नहीं करना चाहिये, वहां उस रस का विच्छेद कर देना दोष है।

तद्दोषद्वयं क्रमेणोदाहरति—

यथा—

सन्ध्यावन्दन-देवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते, कयाऽपि कामिन्या सह कस्य-चित् कामुकस्यानुरागवर्णने।

यथा च—

समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभटेषु, मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु, नायकस्य सन्ध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम् ।

प्रसक्त औचित्यात् प्राप्ते । महाहवदुर्मदेषु विकटयुद्धोद्धतेषु । प्रतिभटेषु प्रतिकूलयोधेषु । मर्मभिन्दि मर्मस्पृक्तया हृदयविदारकाणि ।

सन्ध्यावन्दनेत्यादिना प्रथमस्य, समुपस्थितेष्वित्यादिना च द्वितीयस्य दोषस्योदाहरणं दर्शितम् । पूर्वत्र श्रृङ्गाररस्यानवसरे प्रस्तावः । उत्तरत्र तु वीरस्य रौद्रस्य वाऽनवसरे विच्छेदः ।

जैसे—सन्ध्या-वन्दन, देव-पूजन आदि धर्म-वर्णन के प्रस्तुत रहने पर, किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का प्रेम-वर्णन अनुचित होने पर भी यदि कर दिया जाय, तो वह दोष होगा । और मर्म भेदी वचनों को बोलते हुये विकट-युद्ध-मद-मत्त, शत्रु-योद्धाओं की उपस्थिति में नायक के सन्ध्या-बन्दन आदि का वर्णन भी अनुचित होने से दोष है । यहां प्रथम उदाहरण में श्रृङ्गार का अनवसर में प्रस्ताव हुआ है । द्वितीय में वीर अथवा रौद्र का अनवसर में विच्छेद कर दिया गया है ।

दशमं रसदोषं निरूपयति—

एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधानां चरितानामनेकविधायाश्च सम्पदो नायकसम्बन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः ।

नायकस्य प्रतिकूलः प्रतिनायकः तेभ्यश्चरितादिभ्यः ।

नायकचरितादि-सम्पदपेक्षया प्रतिनायकचरितादि-सम्पद्वर्णनमधिकं न विधेयम्, तेषामङ्गत्वात्तदतिविस्तृतेर्निषिद्धत्वात् । तदुक्तं भट्टमम्मटेन—'अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः ।' इति ।

इसी प्रकार जिसका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं रहता, उस प्रति नायक आदि के नाना प्रकार के चरित्र और अनेक प्रकार की सम्पत्तियों की, नायक (प्रधान वर्णनीय) के चरित्र और सम्पत्तियों से, अधिकता का वर्णन नहीं करना चाहिये ।

ननु तथा वर्णने का हानिरित्यत आह—

तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्ध्येत् ।

नायकचरिताद्यपेक्षया प्रतिनायकचरिताद्यधिकवर्णने विहिते सति, नायकस्यापकर्षः, प्रतिनायकस्य चोत्कर्षः सिद्ध्येदिति सारम् ।

वैसा करने पर नायक का वह उत्कर्ष सिद्ध नहीं हो सकेगा, जिसका वर्णन करना इष्ट है । अर्थात् प्रतिनायक का ही उत्कर्ष सिद्ध होगा, जो अभीष्ट नहीं है ।

तावता का क्षतिरित्याशङ्कायामभिदधाति—

तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात् ।

तत्प्रयुक्तः प्रतिनायकोत्कर्षप्रतीतिनिमित्तकः ।

प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य प्रकृतरसास्वादविच्छेदकत्वाद्दोषत्वमिति तात्पर्यम् ।

और प्रतिनायक-गत-उत्कर्ष की प्रतीति होने पर भी तत्प्रयुक्त रस की पुष्टि नहीं होगी ।

पुनश्शङ्कते—

न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावक-नायकोत्कर्षाङ्गत्वात् कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम् ।

तदभिभावकस्य प्रतिनायकपराभवकारकस्य ।

विजेयोत्कर्षो हि वर्णितो विजेतुरुत्कर्षमेव प्रत्याययतीति प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनमपि प्रकृतेऽङ्गमेव, ततस्तस्य कथमवर्णनीयत्वमिति शङ्कापक्षाभिप्रायः ।

यदि आप कहें कि प्रतिनायक के उत्कर्ष (विजेय) का वर्णन उसको परास्त करनेवाले (विजेता) नायक के उत्कर्ष का अङ्ग (पोषक) ही होता है अर्थात् विजेय के उत्कर्ष का वर्णन विजेता के उत्कर्ष की ही प्रतीति कराता है—फिर आप प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन को क्यों अनुचित कहते हैं ?

उत्तरयति—

यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासम्पादकत्वं तादृशस्येष्टत्वात्। तद्विरोधिन एव निषेध्यत्वात्।

प्रतिनायकोत्कर्षस्य यावद् वर्णनं विजेतृनायकोत्कर्षस्योपकारकत्वादङ्गमेव, तावन्न निषिध्यते, किन्तु हयग्रीववधे—प्रतिनायकस्य हयग्रीवस्य जलक्रीडादिवर्णनमिव यन्नायकोत्कर्षानुपकारकं, तदेव निषिध्यत इति सारम्।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि—प्रतिनायक के उत्कर्ष का जैसा वर्णन विजेता नायक के उत्कर्ष का उपकारक अङ्ग-पोषक हो सके, वैसा वर्णन हमें इष्ट है-स्वीकृत है-निषेध तो उसी प्रतिनायकोत्कर्ष-वर्णन का किया गया है, जो नायक के उत्कर्ष का विरोधी हो।

ननु प्रतिनायकोत्कर्षस्य सर्वमेव वर्णनं नायकोत्कर्षस्य साधकमेव, विजितोत्कर्षस्य सर्वस्य विजेतरि सङ्क्रमात् को दोष इत्याशङ्कते—

न च प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्ण्यमानोऽप्युत्कर्षः स्वाश्रयहन्तृतामात्रादेव प्रकृतगतमुत्कर्षमतिशाययेत्, अतो न दोषग्रह इति वाच्यम्।

प्रतिपक्षस्य प्रतिनायकस्य। प्रकृतो वर्ण्यमानो नायकः। स्वम, उत्कर्षः, तस्याश्रयो यः प्रतिनायकः तस्य हन्तृतामात्रात् तत्कर्मकहननकर्तृत्वादेव। मात्रशब्देन प्रस्तुतवैषम्यव्यावृत्तिः। अतिशाययेदतिशयितं कुर्याद् वर्धयेदित्यनर्थान्तरम्।

प्रतिनायकस्य वर्ण्यमानः सर्वोऽप्युत्कर्षः केवलं तस्यायं हन्तेतिहेतोर्नायकस्यैवोत्कर्षं यतो वर्धयति, तस्मान्न तस्य दूषकतेति शङ्कितुराकूतम्।

यदि आप कहें कि उक्त उत्तर में जो आप ने 'यादृश तादृश'—'जैसा वैसा'-निवेश किया है, वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिनायक (विजित) का उत्कर्ष किसी भी तरह-अधिक से अधिक भी वर्णित क्यों न हो, वह (उत्कर्ष) अपने आश्रय (प्रतिनायक) को मारने वाले नायक के उत्कर्ष को ही बढ़ायेगा, अर्थात् उत्कृष्ट को मारने वाला-जीतने वाला-और अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होगा अतः वैसा समस्त वर्णन दोषाधायक नहीं होता यही कहना चहिये।

निराकरोति—

एवं हि सति महाराजं कमपि विषशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्येव, प्रकृतस्य, नायकस्य, न कोऽप्युत्कर्षः स्यादिति।

वराकस्य विक्रमादिगुणहीनतया दीनस्य। शबरस्य पुलिन्दजातीयस्य 'मुसहर' इति प्रसिद्धस्य वनेचरस्य। इति शब्दो हेत्वर्थकः।

यदि हननादेव सकलो वध्योत्कर्षो घातुकमाश्रयेत्, तदा निलीय विषाक्तबाणक्षेपेण विक्रान्तं नृपं हतवतः शबरस्यापि स स्यात्, न च तथा, तस्माद् वैषम्यमस्त्येवेति तात्पर्यम्।

उक्त शङ्का का उत्तर देते हैं—'एवं हि सति' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि उत्कृष्ट को किसी प्रकार से मार देने वाला उससे (मृत से) अधिक उत्कृष्ट सिद्ध होता है, यह बात ठीक नहीं जचती क्योंकि यदि ऐसी बात हो तब तो किसी वीर महान् राजा को एक जहरीले बाण से मार देने वाला साधारण भील भी उस महाराज से उत्कृष्ट सिद्ध हो जाय, परन्तु ऐसा होता नहीं। उसी तरह यदि नायकोत्कर्ष-वर्णन की अपेक्षा प्रतिनायकोत्कर्ष वर्णन बहुत बढ़ा चढ़ा कर कर दिया जाय और अन्त में यह भी कह दिया जाय कि उस उत्कृष्ट प्रतिनायक को नायक ने मार दिया, तथापि उससे नायक का कुछ भी उत्कर्ष सिद्ध नहीं होगा।

एकादशं रसदोषं निरूपयति—

तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसन्धानमन्तराऽन्तरा न चेद्, दोषः।

रसस्य यदालम्बनं यश्चाश्रयः, तयो रत्युपकारकतयाऽङ्गिभूतयो-रन्तराऽन्तरा मध्ये मध्ये, अनुसन्धानमन्वेषणलक्षणं स्मारकमुपादानं, चेद् यदि, न स्यात्, तदा तद्दूषणमित्यर्थः।

तदुक्तम्—'अङ्गिनोऽननुसन्धानम्' इति।

इह पूर्ववाक्यघटको यदर्थकश्चेच्छब्द उत्तरवाक्ये तच्छब्दोपादानं बलवदपेक्षत इत्यनुसन्धेयम्।

अब ग्यारहवें रस दोष का उल्लेख करते हैं—'तथा' इत्यादि। इसी प्रकार रस के आल-म्बन और आश्रय का यदि मध्य मध्य में अनुसन्धान न हो, तो दोष है।

अङ्गयननुसन्धानस्य दूषकतामुपपादयति—

तदनुसन्धानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा, तदननुसन्धाने विरता स्यात्।

रसस्य प्रतिपत्तिधाराऽऽस्वादप्रवाहः, हि यतः, तदनुसन्धानाधीनाऽऽलम्बनाश्रयानुसन्धान-प्रयोज्या, अतस्तयोरननुसन्धाने विस्मरणे, विरता विच्छिन्ना, स्यात्, तस्मात् तदपि दूषणं रसस्येत्यर्थः।

उक्त दोष के होने में युक्ति बतलाते हैं—'तदनु' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि रसास्वाद की धारा आलम्बन और आश्रय के पुनः पुनः अनुसन्धान के ही अधीन है, अतः यदि उनका अनुसन्धान बीच-बीच में न होगा तो रसास्वाद-धारा विच्छिन्न हो जायगी।

द्वादशं रसदोषं निरूपयति—

एवं प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनो वर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद् दोष एव।

प्रकृतरसविरामहेतुत्वादिति दूषकताबीजनिर्देशः। विरामो विच्छेदः।

प्रस्तुतरसस्य यदनुपकारकं तद्वर्णनेन प्रस्तुतरसास्वादधाराया विच्छेदात् तस्यापि दोषत्वमित्यर्थः। तदुक्तम्—'अनङ्गस्य च कीर्त्तनम्' इति।

अब बारहवें दोष का उल्लेख करते हैं—'एवम्' इत्यादि। इसी तरह जिस वस्तु का वर्णन प्रस्तुत रस का उपकारक न हो, उसका वर्णन भी एक रस-दोष है, क्योंकि उस तरह का वर्णन भी प्रस्तुत-रसास्वाद धारा को समाप्त कर डालता है।

त्रयोदशं रसदोषं निरूपयति—

अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात् परिहरणीयम्।

अनौचित्यं रसास्वादोपयोगिपदार्थसार्थनिष्ठम्। तुशब्दोऽस्य प्रकारान्तरान्तर्भावं व्यवच्छिनत्ति। रसेत्यादिना दूषकताबीजनिर्देशः। रसास्वादव्याघातकारणत्वादनौचित्यं दोष इति सारम्।

जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रसभङ्ग का कारण होता है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है।

रसस्य मूर्त्तत्वाभावादामर्दनासम्भवाद् भङ्गपदार्थमाचष्टे—

भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकतादि-निपातजनितेवारुन्तुदता।

सिकता बालुका। अरुन्तुदता मर्मच्छेदिताऽप्रियतेति यावत्।

यथा पानकरसास्वादस्य बालुकापातो विघातकृत्, तथैवानौचित्यमत्रापीति रसस्या-स्वादविघात एव भङ्ग इत्याशयः।

रस तो कोई मूर्त पदार्थ है नहीं, फिर उसका भङ्ग क्या? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'भङ्ग' पद की व्याख्या करते हैं—'भङ्गश्च' इत्यादि। जिस तरह शरबत आदि तरल

वस्तु में वालुका आदि के पड़ जाने से वह खटकने लगता है, उसी तरह रस के आस्वाद में खटकने को रस का भङ्ग कहते हैं।

अनौचित्यं विवृणोति—

तच्च जाति-देश-काल-वर्णा-श्रम-वयो-ऽवस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपञ्च-जातस्य तस्य तस्य, यल्लोक-शास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि, तद्भेदः।

तदनौचित्यम्। चस्त्वर्थे। वयोऽवस्थयोर्भेदः प्रागेव निगदितः। व्यवहारः समुदाचारः। प्रपञ्चजातस्य सांसारिकवस्तुव्यूहस्य (जात्यादिरूपस्य)।

यस्य जाति-देश-कालादेर्यद् द्रव्य-गुण-क्रियादि लोकतः शास्त्रतश्च सिद्धत्वादुचितं, तद्भिन्नत्वमनौचित्यमित्यर्थः।

अनुचित होने का तात्पर्य यह है कि जिन जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो जो लोक और शास्त्र से सिद्ध तथा उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना।

अनौचित्यमुपपादयति—

जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि। स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जल-विहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा। ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणम्, दारोपसंग्रहः। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः। दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः।

जात्यनुचितं गवादिरित्यादिना, देशानुचितं स्वर्ग इत्यादिना, कालानुचितं शिशिर-इत्यादिना, वर्णानुचितं ब्राह्मणेत्यादिना, आश्रमानुचितं ब्रह्मचारीत्यादिना, वयोऽनुचितं बालेत्यादिना, अवस्थानुचितं च दरिद्रेत्यादिना विवृतम्।

साधुभावो गवादिवदार्जवम्। मृगया पशुपक्षिहिंसाऽऽखेटः। बाहुजः क्षत्रियः। निगमो-वेदः। यतिः सन्न्यासी। दारोपसंग्रहः पत्नीपरिणयः। आढ्यो धनी, तदाचरणं विपुलव्य-यादि। अत्र सर्वत्र तत्तदनौचित्यं रसभङ्गकारणतया दूषणम्।

अब जाति आदि के अनुचित बातों का कुछ उदाहरण दिखलाते हैं-'जात्यादेः' इत्यादि। जाति-विरुद्ध जैसे—बैल, गाय आदि के तेज और बल के कार्य, पराक्रम आदि एवं सिंह आदि का सीधापन आदि। देश-विरुद्ध जैसे—स्वर्ग में वृद्धत्व, रोग प्रभृति और भूतल पर अमृत-पान प्रभृति। काल-विरुद्ध जैसे—शीतकाल में जल-विहार प्रभृति और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन प्रभृति। वर्ण-विरुद्ध जैसे—ब्राह्मणों का शिकार खेलना, क्षत्रियों का दान लेना और शूद्रों का वेद पढ़ना। आश्रम-विरुद्ध जैसे—ब्रह्मचारी और संन्यासियों का ताम्बूल चवाना और स्त्री को स्वीकार करना। अवस्था-विरुद्ध जैसे-बच्चे तथा बूढ़ों का स्त्री-सेवन और युवकों का वैरागी होना। इसी तरह दरिद्रों का धनिकों के सा और धनिकों का दरिद्रों के सा आचरण।

प्रकृत्यनुचितं विवृण्वन् प्रकृतिभेदानाह—

प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च। धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशान्ता उत्साह-क्रोध-कामिनीरति-निर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमा-धमाश्च।

प्रकृतयो नायकप्रभृतयः—'नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः। रक्तलोकः शुचिर्वाग्ग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा। बुद्ध्यु-त्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मानसमन्वितः। शूरो-दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।' इति दशरूपकोक्तलक्षणाः, दिवि स्वर्गे भवा दिव्या-

देवैकरूपा इन्द्रादयः, अदिव्या मानवैकरूपा माधववत्सराजादयः, दिव्यादिव्या देवा अपि मानवरूपेणावतीर्णा राम-कृष्णादय इति प्रथमं त्रिविधाः। ते च—'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।' 'मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः। श्लाघावान् निगूढमानो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः।' 'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।' 'सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिकोधीरशान्तः स्यात्॥' इति लक्षिता उत्साहप्रधानधीरोदात्त-क्रोधप्रधानधीरोद्धत-कामिनीरतिप्रधानधीरललित-निर्वेदप्रधानधीरशान्ता इति प्रत्येकं चतुर्धा, पुनरुत्तम-मध्यमा-धमत्वैस्त्रिविधा इति सङ्कलनया षट्त्रिंशत्प्रकृतयो बोध्याः। शृङ्गाररसेत्वनुकूल-दक्षिण-धृष्ट-शठत्वैः प्रकृतीनां चतुर्विधत्वमाकलनीयम्। नायिकाप्रकारसङ्कलना तु मदीयरसमञ्जरीसुरभेरवसेया।

अब प्रकृति (स्वभाव) विरुद्ध का उदाहरण दिखलाने के क्रम में पहले प्रकृति का विभाग करते हैं—'प्रकृतयो' इत्यादि। अलङ्कार शास्त्र के अनुसार तीन प्रकार की प्रकृतियाँ (नायक की) होती हैं—कुछ दिव्य (देवतारूप इन्द्र आदि), कुछ अदिव्य (मनुष्यरूप दुष्यन्त आदि) और कुछ दिव्यादिव्य (जो स्वर्गीय होने पर भी मनुष्यरूप में अवतीर्ण राम, कृष्ण आदि) होते हैं। इसी तरह उन प्रकृतियों के दूसरे भेद भी होते हैं, जैसे—धीरोदात्त नायक, जिनमें उत्साह की प्रधानता रहती है, धीरोद्धतनायक, जिनमें क्रोध की प्रधानता होती है, धीर ललित नायक, जिनमें स्त्रीविषयक प्रेम की प्रधानता होती है, एवं धीरशान्त नायक, जिनमें वैराग्य की मुख्यता होती है। इस प्रकार नायक के बारह भेद हुये, फिर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन भेद और मान लेने से उक्त बारह भेद छत्तीस हो जाते हैं।

प्रकृत्यनौचित्ये प्रथमं रत्यनौचित्यं प्रतिपादयति—

तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि, रतेः सम्भोगरूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभावं वर्णनमनुचितम्।

तत्र तासु प्रकृतिषु, रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां भयभिन्नानामष्टानां रतिप्रभृतीनां, सर्वत्र सर्वासु प्रकृतिषु समत्व एकविधत्वे साधारणतया सत्यपि, मनुष्येषु इव उत्तमदेवतासु गौरी-गिरीशप्रभृतिषु, सम्भोगरूपाया रतेः, स्फुटीकृताः स्पष्टमाख्याताः सकलानुभावाः सर्वे व्यापारा यत्र कर्मणि तद्यथा भवति, तथा वर्णनमनुचितमित्यर्थः।

पित्रोरिवोत्कृष्टदेवतयोः सम्भोगस्य स्पष्टतया वर्णनमनौचित्यादनाचरणीयमेव। उत्तमेत्युक्त्या मध्यमादिषु कामचारः। भयस्याश्रयभेदेन वैषम्याद् भयातिरिक्तानामित्युक्तम्। वस्तुतस्तु रति-क्रोधादीनामप्याश्रयभेदाद् वैषम्यमानुभविकमेवेति तदुपादानमकिञ्चित्करमिति विभावनीयम्।

इन सभी प्रकृतियों (नायकों) में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायीभाव यद्यपि समानरूप से होते हैं, तथापि सम्भोगरूप रति का, जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों (आलिङ्गन-चुम्बन आदि) को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में वर्णन करना अनुचित है।

रत्यनौचित्यवत् क्रोधानौचित्यं प्रतिपादयति—

क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटो-र्दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु।

चकारेण वर्णनमनुचितत्वादनाचरणीयमित्यनुषङ्गः।

लोकानां भुवनानां जनानां वा, भस्मीकरणे, पटोः कुशलस्य तथा दिनं च रात्रिश्च दिनरात्री, तयोर्व्यत्ययो दिनस्थाने रात्रिः, रात्रिस्थाने च दिनमिति विपर्यासः, तदादीना-

मनेकाश्चर्याणां कारिणः, क्रोधस्य, दिव्येष्विव देवतावद्, अदिव्येषु मानवेषु, वर्णनमनुचितमिति नाचरणीयमित्यर्थः ।

जगत को भस्म कर देने में निपुण तथा दिन और रात को बदल देना आदि विविध आश्चर्यजनक कार्यों को कर देने वाले क्रोध का वर्णन जिस तरह दिव्य नायकों में किया जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में करना अनुचित है अर्थात् नहीं करना चाहिये ।

तत्र हेतुमभिधत्ते—

आलम्बनगताराध्यत्वस्यानुभावगत-मिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुल्लासापत्तेः ।

यतस्तथावर्णने दिव्येष्वालम्बनेषु, तद्गतस्य तन्निष्ठस्य, आराध्यत्वस्य पूज्यत्वस्य, प्रतीत्या, अदिव्येष्वालम्बनेषु तदनुभावगतस्य पूर्वोक्तलोकभस्मीकरणादिलोकोत्तरक्रोधव्यापारनिष्ठस्य, मिथ्यात्वस्यासम्भाव्यतयाऽसत्यत्वस्य, प्रतीत्या च रसानुल्लासस्य रौद्ररसास्वादानुद्गमस्य, आपत्तिः स्यात्, तस्मात्तथा वर्णनीयमित्यर्थः ।

उक्त प्रकृत्यनौचित्य का कारण यह है कि हमें जिन दिव्य आलम्बनों (उत्तम देवताओं) में पूज्यताबुद्धि है, यदि उनमें साधारण नायकों के जैसे अनुभावों को सर्वथा खोलकर रति का वर्णन करेंगे, तो उसको सुनकर सहृदयों के हृदयों में रस का विकास नहीं होगा, बरन एक प्रकार का सङ्कोच ही होगा। इसी तरह यदि साधारण (अदिव्य) नायकों में उस प्रकार के क्रोध का वर्णन किया जाय, जिस तरह का क्रोध दिव्यनायकों में वर्णित किया जाता है, तो उससें श्रोताओं को झूठेपन का ज्ञान होगा। अतः उस वर्णन से रस का विकशित होना सम्भव नहीं है ।

ननु प्राग्भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारस्य, नव्यमते सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपदोषस्य च महिम्ना यत् साधारणीकरणं प्रतिपादितं, तेन प्रतिबद्धमालम्बनविषयकमाराध्यत्वप्रकारकं ज्ञानमिह नोत्पत्तुमर्हतीति न रसानुल्लासापत्तिरिति शङ्कते—

न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम् ।

विशेषधर्मानवच्छिन्नप्रकारताकज्ञानस्य साधारणीकरणस्य, विशेषधर्मावच्छिन्नप्रकारताकज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः ।

यदि आप कहें कि रसास्वाद से पूर्व, भट्टनायक मत के अनुसार भावकत्व व्यापार से और नव्यमत के अनुसार सहृदयता मूलक भावना-विशेष रूप दोष से विभादिकों का साधरणी करग हो जाने से दिव्यनायकों में भी पूज्यता-बृद्धि उत्पन्न ही नहीं हो सकती ?

समादधाति—

यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धः, तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात् ।

न हि सर्वत्र साधारणीकरणस्य कल्पना, किन्तु यत्र सचेतसां रसास्वादोऽनुव्यवसायसिद्धः सामग्रीविरहान्नोपपद्यते, तत्रैव तदुपपत्तयेऽनायत्या तत् कल्प्यत इति फलानुरोधात् तत्कल्पनायाः प्रकृतेऽसम्भव इत्यभिसन्धिः ।

उक्त शङ्का का समाधान यह है कि जहां सहृदयों का रसास्वाद प्रमाण से सिद्ध रहता है, वहीं साधारणीकरण की कल्पना की जाती है, सर्वत्र नहीं, तात्पर्य यह है कि उक्त स्थानमें सहृदयों का रसानुभव प्रमाण-सिद्ध नहीं है, अतः वहां साधारणीकरण की कल्पना नहीं की जा सकती ।

साधारणीकरणकल्पनायाः सार्वत्रिकत्वाभ्युपगमे दोषं दर्शयति—

अन्यथा स्वमातृविषयक-स्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः ।

तत्रापि साधारणीकरणस्य कल्पनायाः सम्भवादित्याशयः ।

यदि सब जगह साधारणी करण की कल्पना की जाय, तब साधारणीकरण के बल से

अपनी माता के विषय में अपने पिता का प्रेम वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसास्वाद होने लगेगा।

क्वचित्कं विपरीतं दृष्टान्तमुपन्यस्य निरस्यति—

जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसम्मतोऽयं समयो मदोन्मत्त-मतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानीन्तनेन यथा वर्णयितुं साम्प्रतम्।

तुनाऽरुचिः सूच्यते। अयमुक्तः समयः सिद्धान्तः सङ्केतो वा। मतङ्गजैर्दन्तावलैः। मत्तहस्तिदृष्टान्तः समयभेदने निदानमुन्मादं, न तूपपत्तिविवेकं सूचयति। निदर्शनं दृष्टान्तः। इदानीन्तनेनाधुनिकेन कविना। साम्प्रतं युक्तम्।

अनुन्मत्तेन यथोन्मादिव्यवहारो नानुक्रियते, तथैवाधुनिकेन कविना केषाञ्चित् प्राचां समयोल्लङ्घनं नानुकरणीयम्, प्राचामनौचित्यस्य तन्महिमातिरेकादिभिरपि तिरोधापयितुं शक्यत्वादिति सारम्।

यद्यपि जयदेव प्रभृति कुछ कवियोंने गीतगोविंद आदि निबन्धों में उत्तम देवता विषयक सम्भोगवर्णन अनुभावों केस्पष्टी करण के साथ किया है, परन्तु उन्होने मदमत्त हाथियों की तरह, सम्पूर्ण सहृदय समाज से आदृत उक्त मर्यादा को तोड़ डाला है, अतः उनके दृष्टान्त से आधुनिक कवियों को वैसा नहीं करना चाहिये।

चरमं व्यवहारानौचित्यं प्रतिपादयति—

तथा विद्या-वयो-वर्णा-श्रम-तपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम्।

विद्यादय उत्कर्षे हेतवः। सबहुमानेन वचसा विपुलादरसूचकेन वचनेन। वचसेति-व्यवहारान्तरस्याप्युपलक्षणम्। 'सम्बहुमानेनेति' क्वचित्कपाठे तु सम्यग् बहुमानं यत्रेति विग्रहः।

विद्यादिभिरुत्कृष्टैः स्वापेक्षयाऽपकृष्टेषु विधीयमानो बहुमानोऽनुचितत्वाद् रसापकर्षक इति सारम्।

अब व्यवहार-विरुद्ध का उदाहरण दिखलाते हैं—'तथा' इत्यादि। इसी प्रकार जो विद्या, अवस्था, वर्ण, आश्रम और तपस्या प्रभृति के कारण उत्कृष्ट हों, उन्हें अपने से अपकृष्ट लोगों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वचनों से व्यवहार नहीं करना चाहिये।

यत्र तद्व्यवहारौचित्यं, तदाह—

व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेषु।

विद्यादिभिरपकृष्टैस्तूत्कृष्टेषु सबहुमानेन वचसा व्यवहरणीयमित्यर्थः।

अपकृष्टों को उत्कृष्टों के साथ अत्यन्त सम्मान युक्त वाणी के द्वारा व्यवहार करना चाहिये।

उत्कृष्टेष्वपि विशेषमभिदधाति—

तत्रापि 'तत्रभवन्' 'भगवन्' इत्यादिभिः सम्बोधनैर्मुनि-गुरु-देवताप्रभृतय एव, न राजादयः, जात्योत्तमैर्द्विजैरेव, नाधमैः शूद्रादिभिः, 'परमेश्वर' इत्यादि-सम्बोधनैश्चक्रवर्तिन एव, न मुनिप्रभृतयः, सम्बोध्याः।

तत्राप्युत्कृष्टेष्वपि। तत्रभवच्छब्दः पूज्यार्थकः। सम्बोधनैरभिमुखीकरणशब्दैः। देवताऽपेक्षयाऽपि गुरोरभ्यर्हितत्वाद् गुरुशब्दस्य पूर्वं निर्देशः। द्विजैर्ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यैः। चक्रवर्तिनः सम्राजः।

उत्कृष्टेष्वपि विषयभेदाद् व्यवहर्तृभेदाच्च व्यवहारस्योचितानुचितत्वे बोध्ये इत्याशयः।

उत्कृष्टों के लिये अपकृष्टों के द्वारा प्रयोग करने योग्य सम्मानसूचक सम्बोधनों का स्थानभेद से विभाग दिखलाते हैं—'तत्रापि' इत्यादि। 'तत्र भवन्' 'भगवन्' इत्यादि

सम्बोधनों से मुनि, गुरु और देवता आदि का ही सम्बोधन किया जाना चाहिये, राजा आदि का नहीं। वह भी जो जाति से उत्तम-अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य हों, वे ही ऐसे सम्बोधनों का प्रयोग करें, शूद्र आदि नहीं। इसी प्रकार 'परमेश्वर' आदि सम्बोधनों का प्रयोग चक्रवर्तियों के प्रति ही किया जाना चाहिये, मुनि आदि के प्रति नहीं।

अनौचित्यस्य रसभङ्गकारणत्वं प्रमाणयति—

तथा चाहुः—

यही सब सोच समझ कर आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्द्योत में लिखा है—

आनन्दवर्धनाचार्या ध्वन्यालोकतृतीयोद्द्योत इति शेषः।

'अनौचित्यादृते नान्यद् , रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु, रसस्योपनिषत्परा ॥' इति।

अनौचित्यादृतेऽनौचित्यं विना, रसभङ्गस्य, अन्यत् कारणं नास्तीति शेषः, यतः प्रसिद्धस्य लोकशास्त्रानुशिष्टस्य, औचित्यस्य, बन्धो योजनं, तु पुनः, रसस्य, परोत्कृष्टा, उपनिषत् प्रकाशनोपाय इत्यर्थः।

अनौचित्यमेव रसभङ्गस्य प्रधानं कारणं, तेन सहृदयवैमुख्यसम्पादनात्। औचित्यं पुनस्तथैव रसं प्रकाशयति, यथोपनिषत् परब्रह्म, तस्मादनौचित्यं सर्वथा परिहरणीयमित्यभिप्रायः।

काव्यप्रकाशे तु—'औचित्योपनिबन्धस्तु' इति पाठो दृश्यते।

अनौचित्य से अतिरिक्त रस-भङ्ग का कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का वर्णन करना ही सब से बड़ी रस की उपनिषत् अर्थात् प्रकाशनोपाय है। अभिप्राय यह है कि अनौचित्य ही रस-भङ्ग का प्रधान कारण है, क्योंकि-उसी से सर्वाधिक वैमुख्य सहृदयों में होता है, अतः उसका (अनौचित्य का) परिहार अवश्य करना चाहिये और औचित्य उसी तरह रसको प्रकाशित करता है, जिस तरह उपनिषत् परब्रह्म का, अतः उसकी रक्षा अवश्य कवियों को करनी चाहिये।

तत्र विशेषमाह—

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टि-स्तावत् तु न वार्यते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात्।

यत्परिमाणेनानौचित्येन रसस्य परिपोष एव स्यात् (न तु बाधः), तत्परिमाणमनौचित्यं तु न निषिध्यते, यतो रसविरोधिन एवानौचित्यस्य निषेध्यत्वमित्यर्थः।

अनौचित्य-परिहार में भी यह विशेष समझना चाहिये कि जितने अनौचित्य से रस की पुष्टि होती हो, उतने अनौचित्य का परिहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि जो अनौचित्य रस के प्रति कूल हो, उसी का निषेध समुचित है।

उक्तमर्थमुदाहरणदर्शनेन द्रढयति—

अत एव—

इसी लिये—

रसाविरोध्यनौचित्यस्य मर्षणीयत्वादेव। दशाननद्वारि समुपस्थितान् ब्रह्मादीन् दौवारिको वदति—

'ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां,
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते ! नैषा सभा वज्रिणः ॥
वीणां संहर नारद ! स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो !,
सीता-रल्लकभल्ल-भिन्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥'

हे ब्रह्मन्! अध्ययनस्य वेदपाठस्य, एष समयोऽवसरो नास्ति, तत् तूष्णीं जोषं बहिः-रितो बाह्यस्थले (त्वया) स्थीयताम्। हे जडमते! वाचालत्वादवसरानवबोधाच्च विवेकशून्य-बुद्धे! बृहस्पते! स्वल्पमतिस्तोकं (नत्वधिकं) जल्प वद, यत एषा वज्रिण इन्द्रस्य (त्वच्छिष्यस्य) सभा नास्ति। हे नारद! वीणां महतीं, संहर वादनाद्विरमय। हे तुम्बुरो! देवगायक गन्धर्व! (तव) स्तुतिकथालापैः प्रशंसावाक्यभाषणैः, अलं न किमपि फलं स्यात्, यतः सीताया जानक्याः रल्लकं ('शिरस्सिन्दूरसरणिः स्त्रीणामारल्लकं स्मृतम्' इति हलायुधोक्तेः) सीमन्तसिन्दूरलेखैव भल्लः 'भाला' इति प्रसिद्धः कुन्तः, तेन भिन्नं विदीर्णं हृदयं मनो यस्य, स लङ्केश्वरो रावणः, स्वस्थो न, किन्तु व्याकुलोऽस्तीत्यर्थः।

ब्रह्मन्! वेद-पाठ का यह समय नहीं है, चुपचाप बाहर बैठो! मूर्ख! बृहस्ते! यह इन्द्र की सभा नहीं है, कि जब तक मन करे, तब तक अण्टसण्ट बकते रहो, जो कुछ कहना हो, संक्षेप में कह डालो। नारद! अपनी वीणा को बन्द करो। हे तुम्बरो! इस समय स्तुति कथायें—चापलूसी की बातें व्यर्थ हैं, क्यों कि सीता की बिरोनियों के भाले से लङ्केश्वर—महाराज रावण का हृदय घायल हो गया है, वे स्वस्थ नहीं हैं।

उपपादयति—

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये, विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गीभूत-वीररसाक्षेपकपरमैश्वर्य-परिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधिक्षेपपरस्यानौचित्यं न दोषः।

इत्याकारके कस्यचिन्नाटकस्य श्लोके, सीतालम्बनस्य विप्रलम्भशृङ्गारस्य, अङ्गीभूतः पोषकतयाऽङ्गतां प्राप्तो यो रावणनिष्ठो वीररसः, तस्याक्षेपकं व्यञ्जकं यत् (तदीयं) परमैश्वर्यं लोकोत्तरप्रभुत्वं तस्य परिपोषकतया (हेतुभूतया) स्थितो रावणद्वारि विद्यमानो यो दौवारिको द्वारपालः, तस्य ब्रह्म-बृहस्पति-नारद-तुम्बुरुतिरस्कारसूचकं यदिदं वचनं, तस्य ब्रह्मादीनां तिरस्कारानर्हत्वाद् यदनौचित्यं, तन्न दोषः-प्रकृतरसोपस्कारकत्वादित्यर्थः।

किसी नाटक के इस पद्य में, ब्रह्मा आदि के तिरस्कार करने के लिये बोले गये द्वारपाल के वचन का अनौचित्य दोष नहीं हैं, क्योंकि उस तिरस्कार वचन से रावण के परम ऐश्वर्य की पुष्टि होती है, जिससे वीर-रस का आक्षेप होता है, जो विप्रलम्भशृङ्गार (रसाभास) का अङ्ग होता है।

उदाहरणान्तरं दर्शयति—

एवमेव—'अले ले सद्दः समुप्पाडिअ-हरिय-कुसग्गंथिमयाच्छमालापइ-वित्ति-विस्संभिअ-बालविहवंदः कअणा बम्हणा' इत्यादिविदूषकवचनेऽपि रेशब्दादिप्रयोगस्य तत् तथा, हास्यानुगुणत्वात्।

एवमनौचित्यस्य रसोपस्कारकत्वादेव। 'अरे रे सद्यः समुत्पाटितकुशग्रन्थिमयाक्ष-माला-परिवृत्तिविस्रम्भितबालविधवाऽन्तःकरणा ब्राह्मणाः?' इतिप्राकृतच्छाया। 'अरे रे' इति नीचसम्बोधनम्। तदनौचित्यम्। तथा न दोषः।

सद्यस्तत्कालं, समुत्पाटिता उत्खाता अत एव हरिता ये कुशग्रन्थयो दर्भपर्वाणि, तन्मयी तद्रूपा याऽक्षमाला, तस्याः परिवृत्त्या (परिवर्तनेन) जयविडम्बनया विस्रम्भितं विश्वासितम् (वञ्चितम्) बालविधवानामन्तःकरणं यैस्तादृशा अरे रे नीचाः ब्राह्मणाः?' इत्यादिविदू-षकवाक्ये रेशब्दादीनां पूजनीयद्विजराजविषये प्रयोगस्य यदनौचित्यं, तत् प्रकृतस्य हास्य-रसस्य, यतोनापकर्षकम्, प्रत्युतोत्कर्षकमेव, तस्मान्न दोष इत्यर्थः।

इसी तरह 'अरे ओ! तत्काल उखाड़े हुये हरित कुशों की गांठों से बनी हुई जयमा-लाओं के फेरने से बालविधवाओं के अन्तःकरणों को विश्वासयुक्त बनाने वाले ब्राह्मणो।...'

त्यादि विदूषक के वचन में भी ब्राह्मणों के प्रति रे शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं है, क्यों
क वह हास्य-रस के अनुकूल है।

उपरि परिगणिता एते त्रयोदशैव न रसदोषाः, किन्तु 'रसे दोषाः स्युरीदृशाः' इति
म्मटोक्तेः, सहृदयानुभवाच्चान्येऽपि सम्भवन्ति, तस्मादनया रीत्याऽन्येऽपीदृशा रसदोषाः
वयं सुधीभिरिति प्रतिपादयन् दोषनिरूपणमुपसंहरति—

एषा हि दिगुपदर्शिता, अनया सुधीभिरन्यदप्यूह्यम्।

अन्यदिति सामान्ये नपुंसकम्।

इस तरह अनौचित्य ज्ञान के लिये यह दिग्दर्शन करा दिया गया है, इसी रीति से
ुद्धिमानों को और-और अनौचित्यों का भी स्वयम् ऊह कर लेना चाहिये।

अथ प्रसङ्गसङ्गत्या गुणान् निरूपयति—

रसेषु चैतेषु निगदितेषु माधुर्यौजःप्रसादाख्यां स्त्रीन् गुणानाहुः।

रसप्रतिपादनानन्तरं तदाश्रितत्वान्माधुर्यमोजःप्रसादश्चेति त्रीन् गुणान् प्रतिपादयन्ति
ाश्च इत्यर्थः।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त गुणों का निरूपण करते हैं—'रसेषु' इत्यादि। इन पूर्वोक्त नौ रसों में
ाधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुण रहते हैं-ऐसा प्राचीनों का कथन है।

तेषु माधुर्यं कुत्र रसे कियत् तिष्ठतीति जिज्ञासायां मतत्रयमुपन्यस्यति—

तत्र 'शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं, ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, ेभ्योऽपि शान्ते, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित्।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-शान्तयो-स्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे।

'संयोगशृङ्गारात् करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वतिशयितमेव, न पुनस्तत्रापि ारतम्यम्' इत्यन्ये।

अतिशयितमधिकमात्रम्। ततः संयोगशृङ्गारात्। ताभ्यां संयोगशृङ्गारकरुणाभ्याम्।
भ्यः संयोग-करुण-विप्रलम्भेभ्यः। चित्तस्य द्रुतेर्विलक्षणार्द्रीभावस्य। ताभ्यां करुण-
ान्ताभ्याम्।

चितद्रुतेर्माधुर्यस्य च तादात्म्याच्चित्तद्रुतितारतम्यमेवानुसरति रसेषु माधुर्यस्य
ारतम्यमिति सम्भोगादधिकं करुणे, सम्भोग-करुणाभ्यामप्यधिकं विप्रलम्भे, सम्भोग-
रुण-विप्रलम्भेभ्योऽप्यधिकं माधुर्यं शान्ते रसे तिष्ठतीति प्रथमं मतम्। सम्भोगादधिकं
(मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-शान्तरसयोः, करुण-शान्ताभ्यामप्यधिकं माधुर्यं विप्रलम्भे
तेष्ठतीति द्वितीयं मतम्। सम्भोगशृङ्गारादधिकं (मिथस्तु तुल्यमेव) करुण-विप्रलम्भ-
ान्तेषु माधुर्यं तिष्ठतीति च तृतीयं मतम्।

उन गुणों के विषय में कतिपय पण्डितों का कथन है कि—सम्भोग-शृङ्गार में जितना
ाधुर्य होता है, उससे अधिक करुण-रस में और उन दोनों से अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार
स में, एवम् इन सबसे अधिक शांत-रस में होता है, क्योंकि पूर्व पूर्व रस की अपेक्षा उत्तर
त्तर रस में चित्त अधिक द्रुत होता है। अन्य विद्वानों का मत है कि—सम्भोग-शृङ्गार से
धिक माधुर्य, करुण और शान्त रसों में होता है और इन दोनों से अधिक विप्रलम्भ
ृङ्गार में होता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि—सम्भोग-शृङ्गार से करुण, विप्रलम्भ-
ृङ्गार और शान्त इन तीनों रसों में अधिक माधुर्य होता है, फिर इन तीनों में परस्पर कुछ
ी तारतम्य (कमी बेशी) नहीं होता, अर्थात् ये सब समान ही मधुर होते हैं।

मतत्रयं परीक्षते—

तत्र प्रथम-चरमयोर्मतयोः—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्'

इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्, तस्योत्तरसूत्रगतस्य 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य सम्भवात्।

मध्यस्थे तु मते करुण-शान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये, यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति, तदा स प्रमाणम्।

संयोगापेक्षया क्रमेण करुण-विप्रलम्भ-शान्तेष्वधिकं माधुर्यमिति प्रथममते, संयोगापेक्षयाऽधिकं मिथस्तु तुल्यं करुण-विप्रलम्भ-शान्तेषु माधुर्यमित्यन्तिममते च प्राचां मम्मटभट्टानां—'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति सूत्रमनुकूलत्वात् प्रमाणम्। तथाहि-तस्य कारिकार्धरूपस्य सूत्रस्य, 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः। बीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु।' इत्युत्तरं यत् कारिकात्मकं सूत्रं, ततः 'क्रमेण' इति पदस्यापकर्षेण प्रथमा व्याख्या, तदनपकर्षेण चान्तिमा व्याख्या सम्भवतीति ते मते प्राचीनानुमते प्रामाणिके। संयोगापेक्षयाऽधिकं मिथस्तु समप्रमाणकं माधुर्यं करुण-शान्तयोः, ततोऽप्यधिकं विप्रलम्भे तिष्ठतीति मध्यम (द्वितीय)मते तु, यत् करुण-शान्तापेक्षयाऽधिकं विप्रलम्भे माधुर्यमुच्यते, तत्र प्रमाणान्तरानुपलम्भात्, सहृदयानामनुभवो यदि भवेत्, तदा स एवानुभवः प्रमाणम्, अन्यथा त्वप्रमाणं तन्मतमनादेयमित्यर्थः।

पूर्वोक्त तीन मतों में से प्रथम और तृतीय मत में 'करुणे विप्रलम्भे' इत्यादि मूलोक्त मम्मट का सूत्र प्रमाण हो सकता है, क्योंकि उक्त सूत्र से अग्रिम 'दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजोवीररसस्थितिः। बीभत्स-रौद्र-रसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण तु॥' इस सूत्र में कथित 'क्रमेण' पद का सम्बन्ध उक्त सूत्र में मान लेने पर प्रथम मतानुकूल व्याख्या और उस पद का सम्बन्ध वहां नहीं मानने पर तृतीय मतानुकूल व्याख्या हो सकती है। परन्तु मध्यम मत में उक्त सूत्र किसी भी तरह प्रमाण नहीं हो सकता, अतः यदि सहृदयों का ऐसा अनुभव हो कि करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शृङ्गार में अधिक माधुर्य होता है, तब इस सहृदयानुभव को ही प्रमाण मान कर मध्यम मत भी ठीक है अन्यथा अप्रामाणिक होने के कारण वह मत अग्राह्य है।

इत्थं शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यस्य स्थितिं प्रतिपाद्य, वीरादिरसत्रय ओजसः स्थितिं प्रतिपादयति—

वीर-बीभत्स-रौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदीप्तेर्जननात्।

यतो वीरापेक्षया बीभत्से, तदपेक्षयाऽपि रौद्रेऽधिका चित्तदीप्तिर्जायते, तस्माद् वीररसादधिकं बीभत्से, ततोऽप्यधिकं रौद्ररस ओजस्तिष्ठतीत्यर्थः।

ओज गुण वीर-रस में साधारण, वीभत्स-रस में उससे अधिक और रौद्र-रस में सबसे अधिक होता है, क्योंकि ये तीनों रस क्रमशः हृदय में अधिक दीप्ति (जोश) उत्पन्न करते हैं।

अथावशिष्टोऽद्भुतादिरसत्रये प्रसादस्य मतभेदाद् गुणान्तरेण सङ्कीर्णामसङ्कीर्णां च स्थितिं प्रतिपादयति—

अद्भुत-हास्य-भयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु प्रसादमात्रम्।

अद्भुते हास्ये भयानके च रसे प्रसाद ओजश्च गुणौ तिष्ठत इत्येकं मतम्। प्रसाद एव केवलं तिष्ठतीत्यपरं मतम्।

अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद दोनों गुण रहते हैं, यह कुछ विद्वानों का मत है, इन तीनों रसों में प्रसाद गुण ही रहता है—ओज नहीं, ऐसा मत अन्य विद्वानों का है।

गुणद्वयापेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमाचष्टे—

प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु, सर्वासु रचनासु च साधारणः।

माधुर्यमोजश्च प्रतिनियतरसत्रयवृत्ति नियतरचनाव्यङ्ग्यं च, प्रसादस्तु नाद्भुतादिरसत्रय एव तिष्ठति, किन्तु सर्वेषु, न वा नियतरचनयैव व्यज्यते, किन्तु सकलाभिरेव रचनाभिरिति माधुर्यौजोऽपेक्षया प्रसादस्य वैलक्षण्यमस्तीत्याशयः।

इदमिहाकलनीयम्—काठिन्यादिदोषापगमाहितः शृङ्गारादिरसत्रयचर्वणाजन्यश्चित्तस्या-र्द्रीभावरूप आनन्दलक्षणो वृत्तिविशेषो द्रुतिरेव माधुर्यं गुणः, न तु द्रुतेः कारणं माधुर्यम्, द्रुतेरास्वादाभिन्नतया माधुर्यकार्यत्ववैधुर्यात्। नचैवं माधुर्यस्य रसाभेदापत्तिः, कारणभेदात्, तथाहि—रसस्य विभावादिसम्बन्धो द्रुतेस्तु शृङ्गारादिरसास्वादः कारणम्।

तथा—प्रतिपक्षोत्कर्षदर्शनाद्याहितो वीरादिरसत्रयचर्वणाजन्यश्चित्तस्य विस्ताररूपो वृत्ति-विशेषो दीप्तिरेवौजो गुणः, न तु दीप्तेः कारणम्, दीप्तिकारणताया वीरादिरसास्वादनिष्ठत्वात्।

एवं सरलशब्दार्थज्ञानाहितोऽद्भुतादिरसचर्वणाजन्यश्चित्तस्य विकासरूपो वृत्तिविशेषः प्रसादो गुणः, न तु विकासस्य कारणम्, प्रागुक्तयुक्तेः। स हि शृङ्गारादिरसत्रये माधुर्यलेश-मिश्रितः, वीरादिरसत्रय ओजोलेशमिश्रितः, अद्भुतादिरसत्रये तु निस्सपत्नस्तिष्ठतीति रसत्रये सर्वेषु रसेषु चास्य वृत्तिस्सङ्गच्छते।

प्रसाद गुण सब रसों में तथा सब तरह की रचनाओं में रहता है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य तथा ओज गुण उक्त तीन तीन निश्चित रसों में ही रहते हैं, एवम् उन दोनों गुणों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना भी नियत ही है। परन्तु प्रसाद गुण के विषय में ऐसी बात नहीं है, वह सब रसों में होता है और सब प्रकार की रचनाओं से व्यक्त होता है, यही अन्य गुणों की अपेक्षा प्रसाद गुण में विशेषता है।

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां गुणवद्रसास्वादजन्यत्वाद् गुणप्रयोज्यत्वं, नतु गुणजन्यत्वमित्याह—

गुणानां चैषां द्रुति-दीप्ति-विकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः, तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत्।

द्रुत्यादिचित्तवृत्तीनां माधुर्यादिगुणविशिष्टशृङ्गारादिरसास्वादेन साक्षाज्जन्यत्वाद् गुणप्र-योज्यत्वं, न तु साक्षाद्गुणजन्यत्वमिति सारम्।

इन गुणों में माधुर्य द्रुति का, ओज दीप्ति का और प्रसाद विकास का प्रयोजक है—जनक नहीं। जनक तो इनके उन गुणों से युक्त रसों के आस्वाद होते हैं। अर्थात्-द्रुति, दीप्ति और विकास ये तीनों चित्तवृत्तियाँ उक्त तीनों गुणों से साक्षात् उत्पन्न नहीं होतीं, अपि तु इन गुणों से विशिष्ट रसों के आस्वादन से साक्षात् उत्पन्न होती हैं। सारांश यह है कि मधुर रसास्वाद से चित्त पिघल जाता है, ओजस्वी रसों के आस्वाद से चित्त में एक प्रकार का जोश पैदा होता है और प्रसाद गुणयुक्त रस के आस्वादन से चित्त विकसित हो जाता है।

नन्वेवं गुणानां रसमात्रवृत्तित्वस्याभ्युपगमे गुणविशिष्टरचनाबोधकाः 'मधुरा रचना' इत्यादिव्यवहारा गुणानां रचनावृत्तित्वस्य विरहात् कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्कां समादधत्प्राचीन-मतमुपसंहरति—

एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवसितेषु, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादयो व्यवहाराः 'आकारोऽस्य शूरः' इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका' इति मम्मटभट्टादयः।

एतेषु त्रिषु। व्यवसितेषु निर्णीतेषु। औपचारिका लाक्षणिकाः। मम्मटभट्टादय आहुरिति शेषः।

यथा शौर्यस्यात्मवृत्तित्वेनावयवसंस्थानविशेषरूपाकारवृत्तित्वाभावेऽपि 'आकारोऽस्य शूरः' इत्यादिर्व्यवहारः स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपाद्यते, तथैव गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे निर्णीते, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वीबन्धः' इत्यादयो व्यवहाराः स्वाश्रयव्यञ्जकत्वसम्बन्धेन लक्षणयोपपादनीयाः' इति मम्मटभट्टादीनां मतमित्यर्थः ।

इस प्रकार इन गुणों के केवल रस-धर्म (उन्हीं में रहने वाले) सिद्ध होने पर, लोगों का जो-'रचना मधुर है' 'बन्ध ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार होता है, वह 'इसका आकार सूर है' इस व्यवहार के समान लाक्षणिक है—मुख्य नहीं। अर्थात् शौर्य आत्मा में रहनेवाला धर्म है, अवयवों के गठन-विशेष-रूप आकार में रह नहीं सकता, फिर 'इसका आकार सूर है' इस व्यवहार को उपपन्न करने के लिये जैसे लक्षणा की शरण लेनी पड़ती है, उसी प्रकार रस में रहनेवाले गुणों को रचना और बन्ध में रखने के लिये लक्षणा का आश्रयण करना चाहिये । यह मम्मटभट्ट आदि प्राचीन विद्वानों का मत है ।

खण्डनाय प्राचीनमते प्रत्यक्षप्रमाणाभावं दर्शयति—

येऽमी माधुर्यौजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्ताः, तेषां रसमात्रधर्मत्वे किं मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न, दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतयाऽनुभवः, तथाद्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात् ।

'येऽमी' इत्यारभ्य 'मादृशाः' इति यावत् सन्दर्भेण परमतखण्डनपूर्वकं स्वमतमुपक्षिप्तम् । गुणानां रसमात्रवृत्तित्वे किं प्रमाणमिति प्रश्ने सति, प्रत्यक्षं प्रमाणमस्तीति वक्तुं न शक्यम्, यतो यथाऽग्नेर्दाहादिरूपात् कार्यात् पृथगग्नेर्गुणस्योष्णस्पर्शादेः प्रत्यक्षं जायते, न तथा रसानां कार्येभ्यो द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यः पृथग् रसगतानां रसनिष्ठानां माधुर्यादीनां गुणानां द्रुत्यादिचित्तवृत्तितादात्म्यात्प्रत्यक्षञ्जायत इत्यर्थः ।

अग्नेः कार्यस्य दाहादेर्गुणस्य चोष्णस्पर्शादेर्भिन्नतया पृथगनुभवः, रसानां तु कार्यस्य द्रुत्यादेर्गुणस्य च माधुर्यादेरभिन्नतया न पृथगनुभव इति गुणानां रसवृत्तित्वे प्रत्यक्षप्रमाणाभावो बोध्य इत्यभिसन्धिः ।

अब पण्डितराज गुण के विषय में उक्त प्राचीनों के मत का खण्डन करते हैं 'येऽमी' इत्यादि । उनका कथन है कि प्राचीनों ने जो गुणों को केवल रस का धर्म बतलाया है— अर्थात् उन्होने जो यह कहा है कि गुण रस में ही रहते हैं—रचना आदि में नहीं—इसमें प्रमाण क्या है ? आप यदि कहेंगे कि—प्रत्यक्ष ही प्रमाण है क्योंकि उक्तरीति से उन-उन रसों के आस्वाद से हमको उन चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है, तब हम कहेंगे कि-नहीं, जैसे अग्नि का कार्य दाह (जलाना) है और उष्ण स्पर्श उसका (अग्नि का) गुण है, इन दोनों का अनुभव हमें अलग-अलग होता है अर्थात् हम जब आग से जलते नहीं, तब भी हमें उसके गुण-उष्ण स्पर्श (गरमी) का अनुभव होता है, उसी तरह रसों के कार्य जो द्रुति-आदि चित्त-वृत्तियाँ हैं, उनके अतिरिक्त रसों में रहनेवाले गुणों का हमें अनुभव नहीं होता ।

तत्रानुमानं प्रमाणमप्युपन्यस्य निरस्यति—

तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादि-कारणत्वात् कारणताऽवच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, (न) प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुण-कल्पने गौरवात् ।

तादृशैर्माधुर्यादिभिर्गुणैर्विशिष्टानां रसानाम् । आदिपदेन दीप्ति-विकासयोर्ग्रहणम् । 'द्रुत्यादिनिष्ठकार्यतानिरूपिता रसनिष्ठा कारणता, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वात्' इत्याकार-

कानुमित्यनन्तरं परिशेषानुमितिर्गुणसाधिका । प्रकोष्ठस्थो नकारो मूलेऽदृष्टोऽपि नागेशभट्टानुमतः सन्दर्भसङ्गतये स्थापितः । प्रातिस्विकरूपेण शृङ्गारत्वादिविशेषधर्मेण । गौरवं क्लृप्तानां शृङ्गारत्वादीनामेव कारणतावच्छेदकत्वकल्पनेनैव निर्वाहेऽक्लृप्तानां गुणानां तत्त्वकल्पनाद् बोध्यम् । कल्पनमनुमानम् ।

द्रुतित्वादिधर्मावच्छिन्नकार्यतानिरूपितगुणवद्रसनिष्ठकारणताऽवच्छेदकत्वेन गुणानामनुमानं प्रमाणमस्तीति न वाच्यम्, गौरवेण गुणानुमानासम्भवात् । तथाहि—द्रुतिं प्रति शृङ्गारः कारणमिति विशेषेण यद्यपि नव कार्यकारणभावाः, 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवद्रसः करण'मिति सामान्येन तु त्रय एव कार्यकारणभावाः स्वीकरणीया भवन्ति, किन्तु क्लृप्तानां शृङ्गारत्वादीनामवच्छेदकत्वकल्पनापेक्षयाऽक्लृप्तानां माधुर्यादीनामवच्छेदकत्वकल्पन एव गौरवं भवति । तस्मान्न सामान्येन कार्यकारणभावो न चानुमानं गुणानामित्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता तो न सही, माधुर्य आदि गुणों से युक्त होकर ही रस, द्रुति-आदि के कारण होते हैं—अर्थात् गुणहीन रसों से द्रुति आदि चित्त-वृत्तियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः कारणता के अवच्छेदक अर्थात् कारण में रहने-वाले एक धर्म-विशेष के रूप में उनका अनुमान हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'सभी कारणतायें किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न (परिचित) अवश्य होती हैं' इस तरह की व्याप्ति के निश्चय हो जाने पर द्रुति-आदि में रहने वाली कार्यता से निरूपित, रस में रहने वाली कारणता किसी धर्म से अवच्छिन्न है, क्योंकि वह भी कारणता है, जैसे घट में रहने वाली कार्यता से निरूपित दण्ड में रहने वाली कारणता (दण्डत्व से अवच्छिन्न है), इस तरह की अनुमिति के हो जाने पर परिशेषानुमान से अर्थात् 'रस में रहने वाली कारणता के अवच्छेदक, गुण हैं, क्योंकि वे ही उसके (रसके) समनियत (न अधिक में रहने वाले, न कम में रहने वाले) धर्म हैं' इस अनुमान से गुणों की सिद्धि होगी और धर्मि-ग्राहक मान (जिस प्रमाण से गुणों की सिद्धि हुई है, उसी) से गुणों की रस-धर्मता भी सिद्ध हो जायगी। परन्तु यह कथन भी आपका ठीक नहीं, क्योंकि गुणविशिष्ट रसों से ही द्रुति-आदि होते हैं, ऐसा मान लेने पर भी द्रुति-आदि और रस में जो कार्य-कारण-भाव कल्पित होगा, उसमें गुणों को घुसेड़ने से क्या लाभ ? अर्थात्-'द्रुति के प्रति शृङ्गार कारण है' इस तरह से प्रत्येक रस का नाम लेकर ही कार्यकारणभाव बनाया जायगा, फिर तो शृङ्गारत्व आदि क्लृप्त (अनिवार्य) धर्म को ही कारणतावच्छेदक मान लेने से निर्वाह हो जायगा, अक्लृप्त गुणों की कल्पना से होने वाले गौरव का स्वीकार नहीं करेंगे।

लाघवमाशङ्क्य निराकरोति—

शृङ्गार-करुण-शान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं, प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग् द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाऽभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गड्डुभूतत्वात् ।

परेण मम्मटभट्टादिना । गड्डुः 'घेघ' इति प्रसिद्धो गलग्रन्थिः । शृङ्गारादिरसा द्रुत्यादीनां कारणानि, माधुर्यादिगुणास्तु प्रयोजका इति प्रागावेदितम् ।

ननु 'शृङ्गारो द्रुतेः कारणम्' 'करुणो द्रुतेः कारणम्' 'शान्तो द्रुतेः कारणम्' इति विशेष-रूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रयः, दीप्तिविकासयोश्च प्रत्येकं त्रय इति सङ्कलनया नव कार्य-कारणभावाः कल्पनीया भवन्ति, 'द्रुतिं प्रति शृङ्गार-करुण-शान्ता माधुर्यवत्त्वेन कारणानि' 'दीप्तिं प्रति वीर-बीभत्स-रौद्रा ओजोवत्त्वेन कारणानि' 'विकासं प्रति चाद्भुत-हास्य-भया-नकाः प्रसादवत्त्वेन कारणानि' इति सामान्यरूपेण कारणताऽभ्युपगमे त्रय एव कार्य-

कारणभावाः कल्पनीया भवन्तीति सामान्येन कारणत्वाभ्युपगमे लाघव गुणसिद्धिश्च भवतीति पूर्वपक्षाशयः ।

प्राक्प्रतिपादितमम्मटादिमतेन मधुरत्वेन सम्भोगस्य, मधुरतरत्वेन करुणस्य, (शान्तस्य च) मधुरतमत्वेन विप्रलम्भस्य च कारणस्य, द्रुतेः, अतिद्रुतेः, अतितमां द्रुतेश्च कार्यस्य त्रैविध्यात् 'द्रुतिं प्रति माधुर्यवान् सम्भोगः कारणम्' 'अतिद्रुतिं प्रति नितरां माधुर्यवान् करुणः (शान्तश्च) कारणम्, 'अतितमां द्रुतिं प्रति नितरां माधुर्यवान् विप्रलम्भः कारणम्' इति त्रयः सङ्कलनया नव कार्यकारणभावा विशेषरूपेण, त्रयश्च भवदभिमताः सामान्यरूपेणेति सङ्कलनया द्वादशानां कार्यकारणभावानां कल्पनीयत्वाद् भवतां लाघवस्थाने गौरवमेवापतेदित्युत्तरपक्षाशयः ।

यदि आप कहेंगे कि उक्त कार्यकारणभाव में गुणों का निवेश अवश्य करना पड़ेगा, क्योंकि अलग-अलग कार्यकारणभाव मानने पर 'श्रृङ्गार द्रुति का कारण है' 'करुण द्रुति का कारण है' 'शान्त द्रुति का कारण है' ये तीन, इसी तरह 'वीर दीप्ति का कारण है' 'बीभत्स दीप्ति का कारण है' 'रौद्र दीप्ति का कारण है' ये भी तीन, एवम् 'अद्भुत विकास का कारण है' 'हास्य विकास का कारण है' 'भयानक विकास का कारण है' ये भी तीन, फलतः नौ कार्यकारणभाव मानने पड़ेगें और 'द्रुति के प्रति माधुर्य गुणयुक्त रस कारण है' 'दीप्ति के प्रति ओज गुण युक्त रस कारण है' विकास के प्रति प्रसाद गुण युक्त रस कारण है' इस तरह से गुणद्वारक कार्यकारणभाव मानने पर तीन ही कार्यकारणभाव होते हैं, क्योंकि प्रथम में माधुर्य गुण युक्त होने के कारण श्रृङ्गार, करुण और शान्त का, द्वितीय में ओज युक्त होने के कारण वीर, बीभत्स और रौद्र का, तृतीय में प्रसाद युक्त होने के कारण अद्भुत, हास्य और भयानक का संग्रह हो जाता है। इस स्थिति में लाघवात् गुणद्वारक कार्यकारणभाव ही मान्य होंगे, किन्तु यह तर्क भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि मम्मटभट्ट ने श्रृङ्गारादित्रिक में क्रमशः माधुर्य का वीरादित्रिक में क्रमशः ओज का और अद्भुतादित्रिक में क्रमशः प्रसाद का आधिक्य माना है और तदनुसार कार्य में भी द्रुति, अतिद्रुति, दीप्ति, अतिदीप्ति इत्यादि रूप से तारतम्य माना है। अतः अलग-अलग नौ विशेष कार्यकारणभाव मानने ही पड़ेगें और साथ-साथ आप के कथनानुसार उक्त तीन सामान्य कार्यकारणभाव भी होगें, जो उसी तरह व्यर्थ हैं, जिस तरह गड्डु (घेघ-गलग्रन्थि)। सारांश यह हुआ कि गुणद्वारक सामान्य कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता, अतः अनुमान प्रमाण से भी गुणों की सिद्धि किंवा रस-धर्मता प्रमाणित नहीं की जा सकती है।

निगमयति—

इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम् ।

सामान्यकार्यकारणभावत्रयाकल्पनादिति शेषः ।

गुणद्वारक कार्यकारणभाव वाले पक्ष में सामान्य और विशेष के योग से कार्यकारणभावों की संख्या द्वादश हो जाती है, जिसकी प्रक्रिया ऊपर बताई जा चुकी है और प्रत्येक रस का नाम लेकर (गुण को द्वार न बनाकर) कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर उक्त रीति से उनकी संख्या नौ ही रहती है, अतः इस पक्ष में ही लाघव भी है।

ननु मम्मटादिरीत्या प्रातिस्विकरूपेण कारणतोपगमेऽपि रसधर्मत्वेन गुणाः सिध्यन्त्येवेत्याशङ्कायामाह—

किञ्चात्मनो निर्गुणतयाऽऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् ।

सच्चिदानन्दस्वरूपो निर्गुण आत्मेति वेदान्तसिद्धान्तेन काव्यात्मभूतानां रसानामपि निर्गुणत्वस्यौचित्यान्न माधुर्यादिगुणसिद्धिरित्याशयः ।

वस्तुतः उक्त दलीलों से गुणों की रसधर्मतावादी प्राचीनों का कुछ बिगड़ा नहीं, क्योंकि

प्रातिस्विकरूपेण (गुण को द्वार न बनाकर अलग-अलग) कार्यकारणभाव मानने पर भी 'गुण रस का धर्म है' यह सिद्ध होगा ही। तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार अथवा वीर किंवा हास्य रस होने के नाते द्रुति अथवा दीप्ति किंवा विकास के कारण नहीं हो सकते, कारण ? ऐसा मानने पर सभी रस द्रुत्यादि तीनों चित्त वृत्तियों के कारण हो जाँयगे, क्योंकि सभी रस ब्रह्मरूप हैं, एक है, अतः अगत्या यही मानना पड़ेगा कि श्रृङ्गार इसलिये द्रुति कारण है कि वह माधुर्य गुण शाली है, वीर इस लिये दीप्ति का कारण है कि वह ओज गुण से ओत-प्रोत है, हास्य इस लिये विकास का कारण है कि वह प्रसाद गुण से प्रसादित है और जब ऐसा मान लिया गया, तब तो उक्त प्रातिस्विक रूप वाले कार्यकारणभाव से भी कारणतावच्छेदक रूप में गुणों की रसधर्मता सिद्ध होगी ही' इसी अवतरण को हृदय में रख कर ग्रन्थकार पण्डित राज जगन्नाथ दूसरी युक्ति बतलाते हैं—'किंच' इत्यादि। गुण, रस-धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तानुसार रस आत्मरूप है और आत्मा निर्गुण है—अर्थात् आत्मा में कोई गुण नहीं रहता, ऐसा वेदान्तियों का सिद्धान्त है।

ननु माधुर्यादिगुणानां रसगुणत्वाभावेऽपि रसोपाधिस्वरूपस्थायिभावगुणत्वमेवास्तु, तावताऽपि गुणसिद्धिः स्यादेवेत्याशङ्कायामभिदधाति—

एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौचित्याच्च।

अनुपपन्नमित्यनुवर्तते।

माधुर्यादीनां यथा रसगुणत्वं युक्तिप्रमाणाभावादनुपपन्नम्, एवं तदुपाधयो रसस्थायिभावाये रत्यादयः, तेषां गुणत्वमपि ग्राहकप्रमाणाभावात्, पररीत्या मम्मटाद्युक्तरीत्या रत्यादीनां सुखरूपत्वाङ्गीकारेण गुणरूपतया, तत्र पुनर्गुणानां माधुर्यादीनां गुणे गुणाभाव इति सिद्धान्तेनासत्त्वाच्चानुपपन्नमित्यर्थः।

यदि आप कहें कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस उक्ति का तात्पर्य है, रस के उपाधिभूत रति आदि स्थायीभावों के धर्म गुण हैं, तो यह भी सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि प्रथम तो इसमें कुछ प्रमाण नहीं और दूसरे काव्यप्रकाशकार आदि विद्वानों के मत से रति आदि सुख रूप हैं, अतः वे स्वयं गुण हैं, फिर उनमें अन्य गुणों का होना सम्भव नहीं, कारण ? गुण में गुण नहीं रहते, यह दार्शनिकों का सिद्धान्त है।

ननु श्रृङ्गारादिरसेषु माधुर्यादिगुणानङ्गीकारे 'श्रृङ्गारो मधुरः' 'वीर ओजस्वी' इत्यादयो व्यवहाराः कथमुपपद्येरन्नित्याशङ्कायामाह—

अथ 'श्रृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्, एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारवद्गतः।

द्रुत्यादीनां श्रृङ्गारादिवृत्तिताया रत्यादिवृत्तितायाश्चास्वीकारे श्रृङ्गारे माधुर्यासम्भवात् 'श्रृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारः प्रसिद्धो नोपपद्येतेति शङ्कायाम्-द्रुत्यादिप्रयोजकत्वम्, अथवा संसर्गकुक्षिप्रविष्टपदार्थानां स्वरूपेणैव भाननियमाज्ञाभवाय प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिकमेव माधुर्यादिकमस्त्वित्यङ्गीकृत्या माधुर्यादीनां निर्वचनम्, वाजिगन्धायाः 'असगन्ध' इति प्रसिद्धाया अश्वगन्धौषधेस्तत्कालमुष्णत्वस्यानुपलम्भेऽपि पारिणामिकं तदादाय, यथा 'वाजिगन्धोष्णा' इति व्यवहारो भवति तथैव श्रृङ्गारादिरसानां सद्यो द्रुत्याद्यभावेऽपि पार्यन्तिकास्वादकालिक-द्रुत्यादिकमादाय 'श्रृङ्गारो मधुरः' इत्यादिव्यवहारो भवेदिति व्यवहारोपपादनं च समाधानं बोध्यम्।

माधुर्यादीनां द्रुत्यादिप्रयोजकत्वस्य द्रुत्यादितादूप्यस्य वाऽङ्गीकृतौ सहृदयानुभवस्य प्रमाणस्य सत्त्वान्न मतान्तरवदप्रमाणत्वमित्याकूतम्।

अब यहां यह शङ्का हो सकती है कि जब आप के हिसाब से गुण न रस के धर्म हो सके, और न रसोपाधिभूत रति आदि के अर्थात् गुण कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध हो सका, तब 'शृङ्गार रस मधुर होता है' इत्यादि व्यवहार कैसे बनेगा? इसका उत्तर यह है कि द्रुत्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व (उन चित्तवृत्तियों का परम्परया कारण होना) ही माधुर्य आदि गुण है, अथवा प्रयोजकतासम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ उभारने का (प्रयोजकता) सम्बन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। इस द्वितीय कल्प में प्रयोजकता को सम्बन्ध कोटि में ले आने से यह लाघव होता है कि उसका भान स्वरूपतः हो जायगा अतः प्रयोजकता के आगे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी और प्रथम कल्प में उसका भान स्वरूपतः नहीं होगा जिससे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना करनी होगी, अतः गौरव होगा। यदि आप कहें कि इस प्रकार से गुणों का निर्वचन भले ही कर लिया जाय, परन्तु इससे 'शृङ्गार मधुर है' इत्यादि व्यवहार तो उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि प्रयोजकता वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं है—अर्थात् उस सम्बन्ध से कोई पदार्थ कहीं रहने वाला नहीं कहला सकता, अत एव कोई दूसरा दृष्टान्तभूत ऐसा व्यवहार भी दृष्टि गोचर नहीं होता। इसका समाधान यह है कि यदि प्रयोजकता को वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं मानें, तब 'असगन्ध (औषध) उष्ण (गरम) है' यह व्यवहार कैसे होता? क्योंकि असगन्ध में उष्णता नहीं है, बरन वह उष्णता का प्रयोजक है। अतः प्रयोजकता सम्बन्ध से असगन्ध को उष्णता का आश्रय मान कर 'असगन्ध उष्ण है' यह व्यवहार जैसे होता है, वैसे उक्त व्यवहार भी होंगे।

ननु द्रुत्यादिप्रयोजकत्वमेव यदि माधुर्यादि, तदाऽदृष्ट-कालेश्वरेच्छादीनां कार्यमात्र-प्रयोजकत्वात् तेष्वपि माधुर्यादिव्यवहारः प्रसज्येतेत्यत आचष्टे—

प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थ-रस-रचनागतमेव ग्राह्यम्, अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः।

चकारो हेत्वर्थकः। अदृष्टादिविलक्षणमदृष्टाद्यवृत्ति। शब्दार्थाश्च रसाश्च रचनाश्चेति द्वन्द्वः। अतिप्रसक्तिरतिव्याप्तिः।

यतोऽदृष्टाद्यवृत्ति शब्द-तदर्थ-रस-रचनामात्रवृत्ति द्रुत्यादिप्रयोजकत्वमेव माधुर्यादि गृह्यते, तस्मान्नादृष्टादिषु माधुर्यादिव्यवहारातिव्याप्तिरिति सारम्।

यदि आप कहें कि इस तरह प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुत्यादि रूप माधुर्य आदि गुण तो अदृष्ट (धर्म अधर्म) काल आदि में भी रह सकते हैं, क्योंकि अदृष्ट, काल, ईश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रयोजक हैं, उनकी प्रेरणा के विना संसार के कोई भी कार्य नहीं होता—एक पत्ता भी नहीं हिलता, अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता भी उनमें अवश्य स्वीकर्तव्य होगी, फिर तो आप के हिसाब से 'अदृष्ट मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होने लगेंगे। इसका उत्तर यह है कि रस में रहने वाली द्रुत्यादि प्रयोजकता असाधरण और अदृष्टादि में रहने वाली साधारण है, अतः यहां अदृष्ट आदि से व्यावृत्त (उनमें नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना इन सबों में ही रहने वाली प्रयोजकतासंबन्ध के रूप में ग्राह्य है, अतः उक्त दोष नहीं होगा।

तथाऽङ्गीकारे फलं दर्शयन् स्वमतमुपसंहरति—

तथा च—शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः, इति तु मादृशाः।

ईदृशस्य द्रुत्यादिप्रयोजकत्वरूपस्य। तुना मम्मटादिव्यवच्छेदः।

तथा च माधुर्यादीनां द्रुत्यादिप्रयोजकत्वरूपताऽभ्युपगमे च, ईदृशस्य द्रुत्यादिप्रयोज-

कत्वरूपस्य माधुर्यादेः शब्देऽर्थे च सत्त्वात्, 'मधुरा रचना' 'ओजस्वी बन्धः' इत्यादिव्यवहारोपपत्तये, उपचारः 'गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इत्युक्तेर्लक्षणा, मम्मटादिमतवदस्मन्मते, न कल्प्यो भवति मुख्यार्थान्वयबाधवैधुर्यादिति फलं भवतीति मादृशा विवेचका वदन्तीति शेषः।

इदमिहाकलनीयम्—गुणानां शब्दार्थगतत्वं, विंशतित्वं, काव्यशोभाकारित्वेन तदतिकारिभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च वामनेनास्थितम्। माधुर्यौजःप्रसादात्मकत्वेन त्रित्वं, क्रमेण द्रुति-दीप्ति-विकासकारणत्वं, रसमात्रवृत्तित्वेन शब्दार्थमात्रवृत्त्यलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यं च गुणानां मम्मटेनानुशिष्टम्। विश्वनाथेन तु माधुर्यादीनां द्रुत्यादितादात्म्यमात्रमभिनवं स्वीकृत्य मम्मटपथमेवानुसृतम्। जगन्नाथेन पुनर्द्रुत्यादीनां जनकत्वस्य रसास्वादमात्रवृत्तितया, गुणानां तत्प्रयोजकत्वं शब्दार्थरसरचनावृत्तित्वं चाभिहितम्। तत्र परीक्षायां विश्वनाथमतमेव सर्वथा निर्दूषणं प्रतिभाति। न च गुणानामानन्दविशेषात्मकद्रुत्यादिरूपत्वे रसाभेदापत्तिः, कारणभेदेनोभयोर्भेदस्य प्रागेव निवेदितत्वात्। अत एव रसगुणयोराधाराधेयोऽपि नानुपपन्नः। न च गुणानां रसमात्रवृत्तिताङ्गीकारे 'मधुरा रचना' इत्यादिषु लक्षणास्वीकाराद् गौरवम्, उपायान्तराभावेन गौरवस्येष्टत्वात्। इतरथा 'आकारोऽस्य शूरः' 'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादिष्वपि लक्षणाभयादाकारे शौर्यस्य, देशे साहसिकत्वस्य च स्वीकारेण, रूढिमूलकलक्षणा उच्छेद एव कृतः स्यात्।

इस तरह माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन करने पर एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'यह रचना मधुर है' 'यह पदावली मधुर है' 'यह अर्थ ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता, क्योंकि उक्त प्रकारक माधुर्यादि गुण शब्द, अर्थ और रचना आदि में भी रह ही सकते हैं—रहते ही हैं। ये हैं हमारे (पण्डितराज) जैसे—विद्वानों के विचार।

इत्थं स्वमतेन गुणान् प्रतिपाद्य, निराचिकीर्षया वामनादिमतं प्रतिपादयति—

जरत्तरास्तु—

'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता॥

अर्थव्यक्ति-रुदारत्व-मोजः-कान्ति-समाधयः॥'

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति। नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम्।

जरत्तरा अतिप्राचीना वामनादय इत्याहुरित्यर्थः।

लक्षणमित्येकवचनं तु प्रत्येकाभिप्रायेण योजनीयम्।

श्लेषादीनि यान्येव शब्दगुणानां नामानि, तान्येवार्थगुणानामपीति नामसाम्येऽपि तेषां स्वरूपभेदाल्लक्षणभेद इत्याशयः।

अत्यन्त प्राचीन आचार्य वामन आदि तो :—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि ये दश शब्दों के गुण और दश ही अर्थों के गुण मानते हैं। नाम दोनों के वे ही हैं, परन्तु लक्षण भिन्न-भिन्न हैं।

अथ प्रथमं बुद्धिविषयत्वेन शब्दगुणान् निरूपयन्नाद्यं श्लेषं लक्षयति—

तथा हि—

शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः।

भिन्नानां विरूपाणाम्। एकत्वेनाभेदेन प्रतिभानस्य ज्ञानस्य प्रयोजकः। संहिताया

परसन्निकर्षेण सन्धिकार्येण एकजातीयानां सदृशानां वर्णानां विन्यासविशेषो विलक्षणरचना। गाढत्वमपरपर्यायो नामान्तरं यस्य सः।

भिन्नानामपि शब्दानां व्याकरणानुशिष्टसन्निकर्षविशेषप्रयुक्ताभिन्नत्वप्रकारकप्रतीति-प्रयोजको गाढत्वनामा श्लेषः शब्दगुण इत्यर्थः।

अब शब्द-गुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम 'श्लेष' का लक्षण दिखलाते हैं—'तथाहि' इत्यादि। भिन्न-भिन्न रूप वाले शब्दों के भी उस योजना-विशेष को 'श्लेष' कहते हैं, जो एक जातीय वर्णों से युक्त हो और अत्यन्त सन्निकर्ष (सर्वथा समीप-समीप में रहना) से एक ही तरह के शब्दों से बना हुआ सा प्रतीत हो। उस योजना-विशेष का दूसरा नाम 'गाढत्व' भी दिया जाता है।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—'श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यम्' इति।

श्लिष्टं श्लेष इति भावे क्तः। अस्पष्टं न स्फुटं शैथिल्यं पदानां भेदो यत्र, तत्, 'बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा श्लेषः' इत्यन्यत्र दर्शनात्।

श्लेष के उक्त लक्षण में प्राचीनों की भी सम्मति है—उन्होंने लिखा है कि-श्लेष उस रचना-विशेष को कहते हैं, जिसमें शिथिलता (पदों का भेद) स्पष्ट लक्षित नहीं हो।

श्लेषमुदाहरति—

यथा—

कश्चिच्चाटुकारो राजानं वर्णयति—

'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति।

अनवरतं सततं विद्वांस एव परार्थजीवितत्वात् फलगौरवनतत्वाद्वा द्रुमास्तेषां द्रोहि-पीडाकरत्वाद्वैरि, यद्दारिद्र्यं निर्धनत्वं, तदेवानिवारणीयत्वान्माद्यदुन्मत्तीभवन् द्विपो हस्ती, तस्य य उद्दामदर्पौघ उत्कटमदराशिः, तस्य विद्रावणे दूरीकरणे प्रौढः प्रगल्भः पञ्चाननः सिंहस्त्वमसीत्यर्थः। इहभिन्नानामपि शब्दानां सन्धिवशेनाभिन्नवत्प्रतिभानं स्पष्टम्।

जैसे—कोई कवि किसी राजा का वर्णन करता है कि-हे राजन्! तुम, विद्वत्समाजरूप वृक्षों (दूसरों के लिये जीने वाले) के सर्वदा द्रोह करने वाले दारिद्र्य रूप मद-मत्त हाथी के उत्कट गर्व-समूह (मद) को नष्ट करने में महान् सिंह हो-अर्थात् तुम्हारे दर्शन से विद्वानों की दरिद्रता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस तरह सिंह के दर्शन से मद-मत्त गजों के दानवारि सूख जाते हैं। यहाँ सन्धि करने के कारण भिन्न-भिन्न पद भी एक पद के समान प्रतीत होते हैं, अतः यह 'श्लेष' गुण का उदाहरण है।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः।

भिन्नानामभिन्नतया भानं गाढ़त्वम्, भिन्नतया भानन्तु शैथिल्यम्, तयोः क्रमेण आदौ गाढत्वम्, अन्ते शैथिल्यमिति रीत्या, सन्निवेशस्तु वक्ष्यमाणे समाधिगुणे, अत्र तु व्युत्क्रमेण विपरीतक्रमेण-आदौ शैथिल्यमन्ते गाढत्वमिति रीत्या सन्निवेश इति समाधि-प्रसादयोर्भेदः।

अब 'प्रसाद' गुण का लक्षण देखिये—रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा लगना) और शिथिलता (पदों का भिन्न जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से मिश्रण अर्थात् रचना का पहले शिथिल और बाद में गाढ होना-'प्रसाद गुण' कहलाता है।

प्रसादमुदाहरति—

यथा—

राजानं चाटुकारो ब्रवीति—

> 'किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी, यस्मिन् धराखण्डल !
> क्रीडाकुण्डलितभ्रुशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।
> माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
> र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥'

हे धराखण्डल धरणीन्द्र ! यस्मिंस्त्वयि, क्रीडया क्रीडायां वा कुण्डलिते वर्तुलीकृते भ्रुवौ यत्र, तद्यथा स्यात्, तथा शोणनयने रक्तनेत्रे दोर्मण्डलं बाहुवलयं पश्यति सति, विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहा विन्ध्याचलकाननकन्दरायतनसन्निकृष्टवृक्षाः, तत्कालं तस्मिन्नेव समये (भिया पलाय्य गतानां त्वद्वैरिनृपाणां) माणिक्यावलिकान्तिभिः शोणमणिश्रेणी-द्युतिभिः, दन्तुरतरैरत्युन्नतैः, भूषासहस्रोत्करैः शाखावलम्बितभूषणसहस्रसमुदायैः, उल्ला-सिता अतितरां शोभितां भवन्ति, तस्य तव वीरतां पराक्रमम्, अमी वराकाः, वयं किं ब्रूमः किमपि वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ।

जैसे—किसी चाटुकार (खुशामदी) कवि ने राजा का वर्णन किया है—हे पृथवी के इन्द्र ! जिन आप के खेल में भ्रूयुगल को गोल और नेत्रों को लाल करके भुज-मण्डल को देखने पर तत्काल ही विन्ध्य पर्वत के वनों के कन्दरा-रूप घरों में रहने वाले वृक्ष, माणिक्या-वलि की कान्तियों से अत्यन्त उन्नत हजारों आभूषणों के समूहों से चमकने लग गये, उन आप की वीरता का वर्णन हम बेचारे क्या करें । श्लोक का सारांश यह है कि जिस राजा की उक्त चेष्टाओं से घबड़ा कर शत्रुभूत राजा लोग भाग कर विन्ध्य पर्वत की गुहाओं में जा छिपे, उनकी वीरता का वर्णन साधारणजन क्या कर सकते हैं ।

उपपादयति—

अत्र 'यस्मिन्नि'त्यन्तं शैथिल्यम्, 'भ्रू' शब्दान्तं गाढत्वम्, पुन'र्नयने'त्यन्तं प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

प्रथमं शैथिल्यम् । अत्र श्लोके प्रथमचरणे यस्मिन्निति यावद् बन्धस्य शैथिल्यं विभागप्रत्यवभासात्, तदनु द्वितीयचरणे भ्रुशब्दं यावद्गाढत्वम्, पुनस्तत्रैव नयने इति यावच्च शैथिल्यमिति प्रसादो गुणो ज्ञेय इत्यर्थः ।

इस श्लोक में 'यस्मिन्' पद तक शिथिलता है, फिर 'भ्रू' शब्दपर्यन्त गाढता है और पुनः 'नयने' पद पर्यन्त शिथिलता है, अतः 'प्रसाद-गुण' का उदाहरण होता है, इत्यादि समझना चाहिये ।

तृतीयां समतां लक्षयति—

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ।

उपक्रमादारम्भात्, आ समाप्तेरवसानं यावत्, रीतेरुपनागरिकादिवृत्तिलक्षणाया वैदर्भ्यादेः अभेद एकरूपता समता नाम गुण इत्यर्थः ।

अब समता का लक्षण करते हैं—'उपक्रमात्' इत्यादि । आरम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार की रीति के होने को 'समता' कहते हैं । यहाँ यह भी समझना चाहिये कि-उपना-गरिका, परुषा और कोमला ये तीन रीतियाँ होती हैं । इन्हीं को वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली भी कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—वक्ष्यमाण-माधुर्योदाहरणे।

'नितरां परुषा' इत्यादौ।

जैसे कि आगे-माधुर्य के उदाहरण 'नितरां परुषा.........' इत्यादि श्लोक में है।

उपपादयति—

तत्र ह्युपनागरिकयैवोपक्रमोपसंहारौ।

तत्र 'नितरा'मित्युदाहरणे यत आदेरन्तं यावदेकैवोपनागरिका वृत्तिरतः समतेत्यर्थः।

वहाँ 'उपनागरिका' वृत्ति से ही आरम्भ और उसी से समाप्ति की गई है।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।

संयोगो हल्द्वयानन्तर्यं परो येभ्यस्तादृशा ये ह्रस्ववर्णा एकमात्रिकाक्षराणि, तेभ्योऽतिरिक्तैर्वर्णैर्घटितत्वे सति, पृथक्पदत्वमसंश्लिष्टपदत्वं माधुर्यं गुण इत्यर्थः। संयोगे परे येषां ह्रस्वाक्षराणां गुरुत्वं, तद्भिन्नत्वस्य लक्षणे निवेशः, संयोगश्चात्र परसवर्णेनानिष्पन्नैर्हल्वर्णैरघटितो गृह्यते, तेन तत्पद्ये 'पल्लवाना'मित्यत्र पकारोत्तरह्रस्वाकारस्य लकारद्वयसंयोगपरकत्वेन गुरुत्वेऽपि न क्षतिः, लकारद्वयसंयोगस्य परसवर्णानिष्पन्नत्वात्। पदानां संहितयाश्लिष्टत्वाभावः पृथक्पदत्वम्।

अब माधुर्य गुण का लक्षण देते हैं—'संयोग' इत्यादि। संयुक्त (स्वर-रहित अनेक व्यञ्जन) वर्णों के आगे में रहने से पूर्व के जिन ह्रस्व स्वरों को गुरु संज्ञा होती है, ऐसे ह्रस्व स्वरों से अतिरिक्त वर्णों की सहायता से रचित होना और पदों का अलग अलग रहना-अर्थात् सन्धि और समास से रहित होना, इन दोनों 'होने' को सम्मिलित रूप में 'माधुर्यगुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृद्दयितः प्रणयिनीं वदति—

'नितरां परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकाना-मथ का नाम कथाऽपि पल्लवानाम्॥'

हे प्रिये! यदि तव अङ्गकानां मृदुत्वातिशयेनानुकम्पनीयावयवानां कोमलता विभाव्यते, तदा सरोजानां सरोजन्यत्वेन मृदुतमानां कमलानां, माला स्रक्, नितरामत्यन्तं, परुषा कर्कशा, प्रतिभाति। मृणालानि विसानि च, विचारे तवाङ्गानि मृणालानि वाऽधिकं कोमलानीति विवेचनायामल्पगुणतया पेशलानि योग्यानि न प्रतिभान्ति। अथ तदुभयातुल्यत्वनिर्णये, पल्लवानां किसलयानां कथा त्वदङ्गसाम्यचर्चाऽपि का? न काऽपीत्यर्थः।

इह प्रायः पदानि पृथग्भूतानि परसवर्णनिष्पन्नसंयोगनिमित्तकगुर्वक्षराघटितानि चेति माधुर्यं गुणः। तच्च प्रागुक्तया समतया, वक्ष्यमाणयाऽर्थव्यक्त्या च सङ्कीर्णम्।

जैसेः—नायक नायिका से खुशामदभरी बातें कहता है—हे प्रिये! जब-जब मैं तुम्हारे इन कोमल अङ्गों के विषय में सोचता हूं, तब-तब मुझे कमलपुष्पों की माला अत्यन्त कठोर मालूम पड़ती है, मृणाल तो इस विचार में आने योग्य भी नहीं दीखते कि-ये तेरे अङ्गों के समान कोमल हैं—किं वा नहीं, रहे पल्लव सो जब कमल और मृणालों की वह दशा है, तब उनकी तो चर्चा भी तुम्हारे अङ्गों के सामने व्यर्थ है। यहाँ यद्यपि पल्लव पद में दो लकारों का ऐसा संयोग है जिसके परे पकारोत्तर अकार को गुरु संज्ञा होती है, तथापि

दोष इसलिये नहीं होता कि–उक्त लक्षण में जो संयोग पद आया है, उससे ऐसा ही संयोग लिया जाता है जो परसवर्ण (एक प्रकार की व्याकरणानुशिष्ट सन्धि) के द्वारा अनिष्पन्न हल्वर्णों से युक्त न हो और यहां का लकारद्वय संयोग परसवर्ण द्वारा निष्पन्न नहीं हुआ है, अतः वैसे हल्वर्णों से युक्त ही हुआ।

पञ्चमीं सुकुमारतां लक्षयति—

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता।

केवलकोमलवर्णघटितत्वं बन्धस्य सुकुमारत्वं गुण इत्यर्थः।

अब सुकुमारता गुण का लक्षण सुनिये—कठोर वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित होने का नाम 'सुकुमारता' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको वदति परामृशति वा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालि-कपोलपालिदोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि, रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः॥'

स्वेदाम्बुनो घर्मजलस्य, सान्द्रैर्निबिडैः, कणैर्बिन्दुभिः, शालिन्यां शोभमानायां, कपोलपालौ गण्डस्थले, दोलायिताभ्यामितस्ततश्चलद्भ्यां, श्रवणस्थिताभ्यां कुण्डलाभ्यां, वन्दनीया श्लाघनीया, काऽप्यनिर्वचनीया, मदिरेक्षणायाः खञ्जनाक्ष्याः (प्रेयस्याः) रम्या मनोरमा, दशाऽवस्था, स्मरणेन (हृदि) आनन्दम्, अङ्कुरयत्युत्पादयतीत्यर्थः।

जैसे—नायक किसी से कहता है कि—पसीने के जल की सघन बिन्दुओं से शोभित कपोल- स्थल पर झूलते हुये कानों के कुण्डलों के कारण अभिनन्दनीय और अनिर्वचनीय, मदमाते नयन वाली नायिका की रमणीय अवस्था, याद आते ही, हृदय में आनंद को अंकुरित कर देती है।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे। उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि।

अत्र श्लोके पूर्वार्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः कोमलवर्णघटितत्वात् सुकुमारता शुद्धा। उत्तरार्धे तु पृथक्पदत्वान्माधुर्येण सङ्कीर्णा। क्षकारस्य कार्कश्येऽप्येकाकितया न गणना। श्रवणकुण्डलेत्यत्र पौनरुक्त्यम्, श्रवणस्थितत्वबोधकत्वेन परिहारस्तु 'स्थितेष्वेतत् समर्थनम्' इत्यनुशासनात् प्राचीनतमोक्तिष्वेव युक्तः।

उक्त पद्य के पूर्वार्ध (प्रथम-द्वितीय चरणों) में सुकुमारता है। उत्तरार्ध (तृतीय-चतुर्थ चरणों) में माधुर्य और सुकुमारता दोनों का मिश्रण है।

षष्ठीमर्थव्यक्तिं लक्षयति—

झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः।

झगिति शीघ्रमाकाङ्क्षादिसामग्रीसमवधानात् प्रतीयमानोऽर्थानामन्वयः सम्बन्धो यत्र, तत्त्वम्, अविलम्बेन शाब्दबोधजनकत्वं पदानामर्थव्यक्तिरित्यर्थः।

अब 'अर्थव्यक्तिगुण' का लक्षण देखिये—अर्थों के अन्वय का शीघ्र ज्ञान होना अर्थात् शीघ्र शाब्द-बोध के होने को–'अर्थ-व्यक्तिगुण' कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—'नितराम्' इत्यादौ।

माधुर्योदाहरणे।

जैसे कि 'नितरां' परुषा सरोजमाला इत्यादि······पूर्वोक्त पद्य आदि में।

सप्तमीमुदारतां लक्षयति—

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।

टवर्गादिकठोरवर्णघटितत्वं बन्धस्योदारता गुण इत्यर्थः ।

अब 'उदारता गुण' का लक्षण परखिये—रचना का टवर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना-जिसे विकटत्व भी कहते हैं—'उदारता गुण' कहलाता है ।

उदाहरति—

यथा—

शिवस्य ताण्डवं भक्तो वर्णयति—

'प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटा-
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥'

प्रमोदभरेण तुन्दिलैरानन्दातिशयेनोत्फुल्लैः, प्रमथैः शङ्करपारिषदैः दत्ताभिर्विहिताभिः, तालावलीभिः कालक्रियामानबोधककरध्वनिपरम्पराभिः, विनोदिनि कौतूहलभृति, विनायके गणेशे, डमरुं डिण्डिमं च वाद्यविशेषं ध्वनयति वादयतीति तच्छीले सति, ललाटतटात् कपालस्थलात्, विस्फुटन्ती प्रकटीभवन्ती कृपीटयोनेरग्नेश्छटा प्रभा यस्य तादृशः, हठेन नृत्याभिनिवेशेन, उद्धताभिरूर्ध्वं विकीर्णाभिः, जटाभिः, उद्भटो विकटः, गतपटो दिगम्बरत्वान्निर्वसनः, नटो नर्तकः शिवो नृत्यतीत्यर्थः ।

जैसे—कोई भक्त शिवजी के ताण्डव-नृत्य का वर्णन करता है—भाल-देश से फूटकर निकलती हुई अग्नि की नवीन-छटा से युक्त और हठ से (नृत्याभिनिवेश से) ऊपर उछाली हुई जटा के कारण विकट लगने वाले नंगे नटराज (शिव) नाच रहे हैं, अति आनन्द से फूले हुये प्रमथ लोगों के द्वारा दी गई तालियों से विनोद-मग्न गणेशजी डमरू और डिण्डिम (वाद्यविशेष) को बजा रहे हैं ।

अत्र परोक्तिमाक्षिपति—

'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां, झटिति रणितमासीत्' इत्यादि । तत्र तेषामेतादृशीं विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति ।

झटिति स्थानेऽनुकरणार्थको झणितीति, स्वचरणस्थाने सुचरणेति पाठश्च साधीयान् । तत्र तस्मिन् विषये । तेषां टीकाकाराणाम् ।

काव्यप्रकाशव्याख्यातृभिर्यत् 'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इत्युदारताया लक्षणं कृत्वा 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणं दर्शितम्, तन्न समीचीनम्, उदारताया ओजस्यन्तभावं कुर्वतः काव्यप्रकाशात्मकमूलग्रन्थकृतोऽभिमते विरुद्धत्वादित्याशयः ।

यहाँ कुछ अन्य विद्वानों का असंगत मत है, जिसका अब खण्डन करते हैं—'पदानाम्' इत्यादि । काव्यप्रकाश के टीकाकार व्याख्या करते हैं कि 'पदों के नाचने से प्रतीत होने का नाम विकटता है' और उदाहरण देते हैं—'स्वचरणविनिविष्टैः......' इत्यादि । इस विषय में पण्डितराज का कथन है कि-टीकाकार के अभिमत इस तरह की विकटता से अभिन्न उदारता का ओजगुण में अन्तर्भाव करने वाले मूलकार (मम्मट) उनके अनुकूल कैसे हुये अर्थात् मूलकार और टीकाकार में एकवाक्यता कैसे हुई—इसे वे ही जानें ।

तामेवानभिमतिं प्रकाशयति—

न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति। 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त–' इत्यत्र सन्नप्योजसो लवो न चमत्कारी। नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्वं वर्णानामनुभवन्ति सहृदयाः। अंशान्तरे तु माधुर्यमेव।

हि यतः अत्र 'स्वचरणे'त्याद्युदाहरणे ओजसो गुणस्य, वैपुल्येन बहुलतया प्रतिभानं प्रतीतिर्नास्ति, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त–' इत्येतावदंशे संयुक्तषकारटकाररेफघटितत्वात् सन् विद्यमानोऽपि, ओजसो लवो लेशः, वैपुल्याभावाद् वीराद्योजस्विरसाभावाच्च चमत्कारी न भवति, वर्णानां नृत्यत्प्रायत्वस्यानुभवोऽपि सहृदयानामत्र न भवति, अंशान्तरे 'स्वचरणे'त्याद्यंशे बहुत्र तु पुनर्माधुर्यमेवास्ति, तस्मान्मात्रौजो गुण इत्यर्थः।

अत्रौजसो लेशतो माधुर्यस्य तु बाहुल्येन सद्भावात् पदनृत्यत्प्रायत्वाननुभवाच्च टीकाकर्तुरुदारताया लक्षणोदाहरणे न समीचीने इति सारम्।

अब उक्त मूलकार और टीकाकार में होने वाले विरोध का स्वरूप तथा उसमें युक्ति बतलाते हैं—'न ह्यत्र' इत्यादि। 'स्वचरण······'इत्यादि पद्य में प्रचुर रूप से ओजोगुण भासित नहीं होता। यद्यपि 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस अंश में कुछ ओज है, पर वह चमत्कारी नहीं और उस पद्य में सहृदयों को नाचते से पदों का अनुभव भी नहीं होता। अन्य अंशों में माधुर्य का ही अनुभव होता है। कहने का सारांश यह है कि—उक्त पद्य में ओज अगर है भी तो अंशतः और माधुर्य प्रचुर-मात्रा में है और नाचते हुये से पद भी नहीं है, अतः टीकाकार ने जो उदारता के लक्षण और उदाहरण दिखलाये हैं, वे ठीक नहीं और मूल ग्रन्थ से विरुद्ध भी हैं।

अष्टममोजो लक्षयति—

संयोगपरहृस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः।

संयोगः परो येभ्यस्तादृशानां हृस्ववर्णानां प्राचुर्यं विपुलत्वमेव रूपं यस्य, तद्गाढत्वं वर्णादीनामोजो गुण इत्यर्थः।

अब 'ओजोगुण' का लक्षण सुनिये—गाढता को 'ओजोगुण' कहते हैं और गाढता कहते हैं-आगे में स्थित संयुक्त अक्षरों से गुरु बने हुये हृस्व स्वरों की बहुलता को।

उदाहरति—

यथा—

चाटुकृत् क्षितिपतिं स्तौति—

'साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वङ्कषाः।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण ! भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्त्तयः॥'

हे भूमीभूषण धरालङ्कार नृप ! साहङ्कारायाः सबलाभिमानायाः, सुरासुरावलेर्देवदानवपङ्क्तेः, करैराकृष्टेन, अत एव भ्रमता घूर्णमानेन, मन्दरेण मन्थानदण्डीभूतपर्वतेन, क्षुभ्यतो विलोडनात् सञ्चलतः, क्षीरधेर्दुग्धसमुद्रस्य, वल्गूनां सुन्दराणां, वीचिवलयानां तरङ्गमण्डलानां, श्रियः शोभायाः, गर्वस्य श्वेतिमाभिमानस्य, सर्वङ्कषाः सर्वापहारकारिकाः, तृष्णया पिपासया प्रेप्सया वा, ताम्यद्भिर्व्यग्रीभवद्भिः, अमन्दैरुत्कृष्टैः, तापसकुलैरमरत्वलाभनिमित्तकतपस्यापरायणगणैः, सानन्दं रूपसादृश्यादमृतभ्रमेण साह्लादम्, आलोकिता दृष्टाः, भवतः कीर्त्तयः, भुवनानाम्, आभोगं विस्तारं, भूषयन्त्यलङ्कुर्वन्तीत्यर्थः।

अत्रोक्तसंयोगनिमित्तकगुरुत्वप्राप्तहृस्ववर्णप्राचुर्यादोजोगुणः।

जैसे-कोई चाटुकार राजा की स्तुति करता है-हे धरालङ्कार! अत्यधिक अभिमानशाली देवों और दानवों की पङ्क्तियों से खिंचे हुये, अत एव घूमते हुये, मन्दराचल से क्षुब्ध बने हुये क्षीर-सागर की मनोहर तरङ्गों के समूह की शोभा के गर्व को सर्वथा नष्ट कर देने वाली और प्यास से व्याकुल तपस्वियों के झुण्डों से (तृषा-शान्ति का साधन समझ कर) आनन्द पूर्वक देखी गईं आपकी कीर्तियाँ सम्पूर्ण संसार को शोभित करती हैं। यहाँ अग्रिम संयोग निमित्तक गुरुता को प्राप्त करने वाले ह्रस्व स्वरों की अधिकता है, अतः 'ओजोगुण' का उक्त लक्षण संघटित हुआ।

उदाहरणान्तरमाह—

यथा वा—'अयं पततु निर्दयम्' इत्यादिप्रागुदाहृते।

प्राग्रौद्ररसनिरूपणे। 'नवोच्छलित-' इत्यादिपद्ये।

अथवा, 'रौद्र-रस' के निरूपण-प्रसङ्ग में उल्लिखित 'अयं पततु······' इत्यादि पद्य को 'ओजोगुण' का उदाहरण समझना चाहिये।

नवमीं कान्तिं लक्षयति—

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।

यथा—'नितराम्' इत्यादिप्रागुदाहृते।

असहृदयानां वैदिकप्रभृतीनां प्रयोगोचितानि यानि पदानि, तानि विहाय, सहृदयैः कविभिः प्रयुज्यमानानि यानि पदानि, तेषु, याऽलौकिकी शोभा, सैवोज्ज्वलत्वरूपा कान्तिरिति सारम्।

अत्र विदग्धमात्रप्रयोज्यपदबाहुल्यात् कान्तिः, पूर्वोक्तमाधुर्यार्थव्यक्तिभ्यां सङ्कीर्णा।

अब 'कान्तिगुण' का लक्षण देखिये—सहृदयता-शून्य वैदिक आदि लोगों के प्रयोग करने योग्य पदों को छोड़कर, सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होती है-जिसको उज्वलता भी कहते हैं-उसी (शोभा) को 'कान्ति' गुण कहते हैं।
जैसे कि—'नितरां परुषा······' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में। इस पद्य में सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों की प्रचुरता रहने के कारण 'कान्ति' गुण है और 'माधुर्य' तथा 'अर्थव्यक्ति' गुण भी हैं, अतः तीन गुणों का संकर यहाँ माना जायगा।

दशमं शब्दगुणं समाधिं लक्षयति—

बन्धगाढत्व-शिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः।

बन्धस्य प्राग्गाढत्वं पश्चाच्छिथिलत्वमेवं क्रमेण, न तु प्रसादवद्व्युत्क्रमेण, अवस्थापनं विन्यसनं समाधिरित्यर्थः।

अब 'समाधि' गुण का लक्षण करते हैं—रचना की गाढता और शिथिलता को क्रम से रखना-अर्थात् पहले गाढ रचना का और पश्चात् शिथिल रचना का होना-'समाधि' गुण कहलाता है।

स्वोक्तिं प्राचीनसम्मत्या द्रढयति—

अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः।

अनयोर्बन्धस्य गाढत्वशिथिलत्वयोरेव, प्राचीनैर्वामनादिभिः, आरोहावरोहयोः, व्यपदेशो व्यवहारः कृत इत्यर्थः।

आरोहो गाढत्वम्, अवरोहश्च शैथिल्यं बन्धस्य क्रमेण प्राचीनैः 'चञ्चद्भुजभ्रमितचण्ड-गदाभिघात-सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य। स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणि-रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः।' इत्यत्रोदाजह्ने।

इन्हीं—गाढता और शिथिलता को प्राचीन वामन आदि आचार्य आरोह और अवरोह शब्द से कहते हैं।

प्रसादात् समाधेर्व्यतिरेकं दर्शयति—

क्रम एव हि तयोः, प्रसादादस्य भेदकः, तत्र हि तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तेः।

तयोर्गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमः पूर्वापरीभाव एवास्य समाधेः प्रसादाद् भेदकः, हि यतस्तत्र प्रसादे तयोर्व्युत्क्रमेण वृत्तिः, इह तु क्रमेणेत्युक्तमेव प्रसादरूपणे प्राक्।

प्रसाद और समाधि गुण में परस्पर भेद दिखलाते हैं—'क्रम एव' इत्यादि। गाढता और शिथिलता का भिन्न क्रम से रहना ही प्रसाद और इस समाधि गुण को परस्पर भिन्न बनाता है, क्योंकि प्रसाद गुण में ये दोनों (गाढता और शिथिलता) विपरीत क्रम से रहती हैं। तात्पर्य यह है कि प्रसाद गुण में पहले शिथिलता और पश्चाद् गाढता तथा समाधि गुण में प्रथम गाढता और पश्चात् शिथिलता रहती है।

समाधिमुदाहरति—

यथा—

कविः कश्चिद् वर्णयति—

'स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गा-तुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम्।
केवलामृतमुचां वचनानां, यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम्॥'

स्वर्गान्निर्गताया निष्पतितायाः, निरर्गलाया निष्प्रतिबन्धायाः, गङ्गाया मन्दाकिन्याः, तुङ्गा उच्चाः, भङ्गुराभङ्गशालिनश्च ये तरङ्गाः, तत्सखानां तत्तुल्यानां, केवलामृतमुचां पीयूषमात्रं प्रवाहयतां, वचनानां, लास्यगृहं नृत्यायतनमुल्लासास्पदं, यस्य, आस्यं मुखमेव सरोजं कमलमस्तीत्यर्थः।

समाधि का उदाहरण जैसे—

कवि किसी का वर्णन करता है—जिसका मुख-कमल, स्वर्ग से निकली हुई, अत एव निर्विघ्न होकर प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी की ऊँची-नीची अर्थात् लचकती हुई लहरों के मित्र (अर्थात् उनके समान) तथा केवल अमृत बरसाने वाले वचनों का नाट्य-गृह है अर्थात् जिसके मुख में सर्वदा ऐसे वचन विराजमान रहते हैं।

उपपादयति—

अत्रारोहः प्रथमेऽर्धे, तृतीयचरणे त्ववरोहः।

अत्र स्वर्गेत्यादिपद्ये, प्रथमेऽर्धे प्रथमद्वितीयचरणयोः, आरोहो गाढत्वम्, तृतीयचरणे त्ववरोहः शैथिल्यमिति समाधिः, गाढत्व-शैथिल्ययोः क्रमेण सन्निवेशात्। इह 'तृतीयचरणे' इत्यत्र बहुव्रीहिरिति केषाञ्चिद् विवरणं चिन्त्यम्, बहुव्रीहिणा तस्योत्तरार्धपरत्वाभ्युपगमे तद्घटकचतुर्थचरणे बन्धशैथिल्याप्रतीतेर्लक्षणसमन्वयासम्भवात्।

उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में आरोह (गाढता) और तृतीय चरण में अवरोह (शिथिलता) है।

अत्रैव पूर्वार्धे माधुर्यसाङ्कर्यं निराकृत्योत्तरार्धेऽभ्युपगच्छति—

गङ्गेत्यादौ माधुर्यस्य व्यञ्जकेषु वर्णेषु सत्स्वपि, दीर्घसमासान्तःपातितया न तस्य प्ररोहः। उत्तरार्धे तु सोऽपि।

उक्तोदाहरणे पूर्वार्धे गङ्गेत्यादिपदघटकवर्णानां माधुर्यव्यञ्जकानां सत्त्वेऽपि, तेषां

दीर्घसमासघटकत्वेन पृथक्पदत्वविरहान्न माधुर्यस्य प्ररोहः (दाढर्यम्), उत्तरार्धे तु दीर्घसमासाभावान्माधुर्यस्य प्ररोहोऽपीति माधुर्यसङ्कीर्णः समाधिरस्तीत्यर्थः।

यद्यपि यहाँ गङ्गा आदि पदों में माधुर्य-गुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, तथापि वे पद लम्बे समास के मध्य में पड़ गए हैं, अतः माधुर्य गुण पुष्ट नहीं हो सकता, हाँ, उत्तरार्ध में वह (माधुर्य) भी अवश्य है, क्योंकि उधर लम्बे समास नहीं हैं। इस तरह यहाँ समाधि और माधुर्य का सङ्कर है, ऐसा समझना चाहिये।

शब्दगुणनिरूपणमुपसंहरति—

एते दश शब्दगुणाः।

एते श्लेषादयो दश शब्दगुणा निरूपिता इत्यर्थः।

ये ही दश शब्द गुण हैं।

अथार्थगुणेषु प्रथमं श्लेषं निरूपयँल्लक्षयति—

एवं क्रियापरम्परया, विदग्धचेष्टितस्य, तदस्फुटत्वस्य, तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः संसर्गः श्लेषः।

एवं शब्दगुणवत्, विदग्धचेष्टितस्य चतुरचेष्टायाः, तदस्फुटत्वस्य तच्चेष्टाया अव्यक्तत्वस्य, तदुपपादिकायास्तद्व्यापारसाधिकाया युक्तेरुपायस्य च यत् सामानाधिकरणम् एकस्मिन्नधिकरणे क्रियापरम्परया पूर्वापरीभूतानेकक्रियाभिः, (वर्णितत्वाद्) वृत्तित्वम्, तद्रूपो यः संसर्गः स श्लेष इत्यर्थः।

चातुर्येण कार्यविधानस्य, तद्गोपनस्य, तत्साधकोपायस्य चार्थस्य क्रमिकानेकक्रियाभिरेकत्रैव मिथस्सम्बन्धकरणपूर्विका घटना श्लेषनामाऽर्थगुण इति सारम्।

'क्रियापरम्परायाः' इति षष्ठ्यन्तपाठे तु क्रियापरम्पराया विदग्धचेष्टितादीनां सामानाधिकरण्यं बोध्यम्।

एतदुदाहरणन्त्वमरुककवेर्यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति' ॥ इति।

धूर्तश्चतुरो नायकः, एकासनसंस्थिते एकस्मिन्नेवास्तरण उपविष्टे, प्रियतमे ज्येष्ठाकनिष्ठे प्रेयस्यौ, दृष्ट्वा निभृतं दूरादवलोक्य, तद्दृष्टिपथं परिहरन् पश्चात् पृष्ठतः, आदरादतर्किताលिङ्गनकौतुकात्, उपेत्योपगत्य, विहितं कृतं क्रीडानुबन्धस्याक्षिनिमीलनरूपलीलानुष्ठानस्यच्छलम् उभयत्र तुल्यप्रेमाभावाद् व्याजं येन, तादृशः, एकस्याः कनिष्ठायाः, नयने पिधाय, कराभ्यां निमील्य, ईषद्वक्रितकन्धरो ग्रीवाधिकनमने कदाचित् कनिष्ठा रहस्यं जानीयादिति भिया किञ्चिदिव कुटिलितग्रीवः, सपुलकः स्वाभीष्टसिद्धिसान्निध्यसम्भूतहर्षात् सरोमाञ्चः, प्रेम्णा सपत्न्यपेक्षयाऽऽत्मनि पतिप्रणयाधिक्यावधारणादुद्भूतया प्रीत्या, उल्लसदामोदमानं मानसं यस्यास्तादृशीम्, अन्तर्हासेन रहस्यभेदभिया स्मितरूपाव्यक्तहसितेन, लसच्छोभमानं कपोलफलकं सन्निकृष्टैकगण्डतलं यस्यास्तथाभूताम्, अपरां ज्येष्ठां चुम्बतीत्यर्थः।

अत्रैकस्या वञ्चनेनावरस्याश्चुम्बनं विदग्धचेष्टितम्, तस्यास्फुटत्वमपरयाऽज्ञातत्वात्, तदुपपादकयुक्तिश्च नयननिमीलपूर्वकं क्रीडानुष्ठानम्, तेषां पश्चादागमन-नयननिमीलनलीलाविधान-चुम्बनरूप-क्रमिकक्रियाणां च सामानाधिकरण्येन निबन्धतः श्लेषः।

अब अर्थगुण-निरूपण के क्रम में सर्वप्रथम श्लेष का लक्षण करते हैं—'क्रम' इत्यादि। इसी तरह चतुरता से काम करना, उसको प्रकट न होने देना, उसको सिद्ध करने वाली युक्ति, इनका क्रियापरम्परा (एक के बाद दूसरी क्रिया) द्वारा एक ही स्थान में इस प्रकार वर्णन करना कि परस्पर का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने पावे श्लेष कहलाता है। जैसा कि अमरुक कवि का 'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते…' इत्यादि पद्य है, जो संस्कृतटीका में उद्धृत है। इस पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—धूर्त नायक ने देखा कि दोनों प्रियतमायें (ज्येष्ठा और कनिष्ठा) एक ही आसन पर बैठी हुई हैं। दबे पाँव उसने, पीछे से, उनके समीप में आकर एक (नायिका) के नेत्रों को, खेल करने के छल से, बन्द कर दिया, इसके बाद रोमाञ्चयुक्त वह नायक अपनी गरदन को थोड़ी-सी टेढ़ी करके उस दूसरी नायिका को चूम रहा है, जिसका मन सपत्नी की अपेक्षा अपने में पति का अधिक अनुराग देखकर प्रेम से प्रसन्न हो रहा है और (सपत्नी न जान जाय, इस कारण) भीतर ही भीतर हँसने से जिसके कपोल शोभित हो रहे हैं। यहाँ एक नायिका को छोड़कर दूसरी नायिका को चूमना चतुरता से काम करना है, वह प्रकट भी न हो सका क्योंकि दूसरी नायिका उसको नहीं समझ सकी और उसको सिद्ध करने वाली युक्ति है आँखमिचौनी का खेल। इन सब बातों का पीछे से आना, आँख मूँदना और खेल करना आदि क्रियाओं के साथ-साथ होते रहना वर्णन किया गया है।

द्वितीयं प्रसादं लक्षयति—

यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः।

यावदर्थकान्यर्थान्यूनाधिकानि पदानि यत्र, तद्रूपमर्थस्य वैमल्यस्पष्टप्रतीयमानता लक्षणा स्वच्छता प्रसाद इत्यर्थः।

यत्रैकमपि पदं निरर्थकं विलम्बेनार्थोपस्थापकं वा न, स प्रसादोऽर्थगुण इति सारम्।

अब 'प्रसाद गुण' का लक्षण देखिये—जितने अर्थ हों उतने ही पदों का होना अर्थात् पदों का अर्थ से न्यून अथवा अधिक न होना 'प्रसाद गुण' कहलाता है, अर्थ-वैमल्य भी इसी को कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

नायको दूती वा वदति—

'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः' इत्यादि।

इह वदननिष्ठ-कमलसादृश्यदार्ढ्यबोधनात् किलेत्यस्यापि सार्थक्यात् प्रसादः।

जैसे—नायक किसी नायिका के विषय में कहता है—उसका मुखकमल का अनुकरण निश्चित रूप से करता है। यहां शब्द और अर्थ दोनों नये तुले हैं, 'किल' पद मुख में कमल-सादृश्य को दृढ़ करता है, इसलिये वह भी सार्थक है, अतः प्रसाद गुण का उक्त लक्षण यहां समन्वित हुआ।

स्पष्टप्रतिपत्तये प्रत्युदाहरणमपि दर्शयति—

प्रत्युदाहरणन्तु यथा—'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्' इत्यादि।

अत्र 'अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः' इति सिद्धान्तेन कान्तिपदानुपादानेऽपि प्राग्वत्तदर्थावगमसम्भवान्नार्थवैमल्यम्।

पाठकों को स्पष्ट ज्ञान कराने के लिये प्रत्युदाहरण का भी निर्देश करते हैं—'प्रत्युदाहरणं तु' इत्यादि। अर्थात् उक्त पद्यांश को ही यदि '(उसका) मुखकमल की कान्ति का अनुकरण करता है' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तो प्रसाद गुण का प्रत्युदाहरण हो जायगा, क्योंकि 'कान्ति' पद वक्तव्य अर्थ में अनपेक्षित होने के कारण निरर्थक है।

तृतीयां समतां लक्षयति—

प्रक्रमाऽभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैषम्यं समता ।

प्रक्रम आरम्भक्रमस्तस्याभङ्गेनानन्यथाकरणेन, याऽर्थस्य घटना, तद्रूपम् अवैषम्यं विषमताऽभावः समतेत्यर्थः ।

आदौ येन शब्देन यस्यार्थस्योपादनं क्रियेत, तेनैव न तु तत्पर्यायेण, अन्तं यावन्निर्वाहो यत्र विधीयेत, तत्र समतेत्याशयः ।

अब 'समता गुण' का लक्षण सुनिये—विषमता के अभाव को 'समता गुण' कहते हैं और विषमता का अभाव कहते हैं—आरम्भ का क्रम जिससे भग्न न होने पावे, इस तरह की अर्थयोजना को अर्थात् आरम्भ में जिस तरह का आर्थिक क्रम रखा गया हो, अन्त तक उस क्रम का निर्वाह करना ही 'समता' है ।

उदाहरति—

यथा—

भगवद्भक्तो वक्ति—

'हरिः पिता, हरिर्माता, हरिर्भ्राता, हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि, हरेरन्यन्न भाति मे ॥'

भाति रोचते, मे मह्यम् । अन्यत् स्फुटमेव ।

जैसे—कोई भक्त कहता है—(मेरे) हरि ही पिता हैं, हरि ही माता हैं, हरि ही भाई हैं और हरि ही सखा हैं । मैं सब स्थानों में हरि को ही देखता हूँ, मुझे कहीं भी हरि से भिन्न वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती ।

उपपादयति—

अत्र 'विष्णुर्भ्राता' इत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मकं वैषम्यम् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

इत्यभियुक्तोक्तेः शब्दस्यापि शाब्दिकनये शाब्दबोधविषयत्वादिह हरिशब्दस्य विष्णुशब्देन परिवृत्तौ, प्रक्रान्तहरिपदाभावाद् वैषम्ये नानुदाहरणत्वं स्यादिति तात्पर्यम् ।

यहां यदि 'हरि भाई हैं' की जगह 'विष्णु भाई हैं' ऐसा कह दिया जाय तो प्रक्रम-भङ्गरूप विषमता हो जायगी, यद्यपि 'हरि' और 'विष्णु' पद के अर्थ में कोई भेद नहीं है, तथापि शब्द और अर्थ में एक ऐसा तादात्म्य है कि एक अर्थ भी दो तरह के शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने पर दो जैसे लगने लगता है, अतः हरि शब्द से आरम्भ करने पर उसी शब्द से समाप्ति भी करनी चाहिये, तभी समता की रक्षा होगी अन्यथा विषमता दुर्वार है।

चतुर्थं माधुर्यं लक्षयति—

एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनःकथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।

एकस्यैवार्थस्य, भङ्ग्यन्तरेण भिन्नेन प्रकारेण, पुनरुपादानमुक्तिवैचित्र्यं यत्, तदेव माधुर्यमित्यर्थः । इहोक्तेरर्थस्येति विवरणन्तु 'एषोऽर्थः' इत्यग्रिमवृत्तिग्रन्थानुरोधेन विहितम् ।

अब 'माधुर्य गुण' (अर्थगत) का लक्षण करते हैं—एक ही अर्थ को भिन्न भिन्न भङ्गी (प्रकार) से पुनः पुनः कहना यह जो उक्ति की विचित्रता है, उसे 'माधुर्य-गुण' कहते हैं ।

उदाहरति—

यथा—

भक्तो भागीरथीं भाषते—

'विधत्तां निश्शङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो,
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः,
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ॥'

भगवति गङ्गे! कामानां स्वर्गादिविषयकसकलाभिलाषाणां, सवित्री पूरयित्री, भवती, यदि अहो! जगति भूलोके, जागर्ति सावधाना तिष्ठति, अथ तदा, विधिर्ब्रह्मा, निश्शङ्कं कर्तव्याभावान्निस्सन्देहं, निरवधि निस्सीम समाधिं विधत्ताम्, हरिर्विष्णुः सुखं सनिर्वृति शेषेऽनन्तभोगशय्यायां, शेतां स्वपितु, हरः शिवः, अविरतं सततं नृत्यतु, प्रायश्चित्तैः पापनाशकानुष्ठानविशेषैः, कृतमलम्, अन्यथैव तत्साध्यसिद्धेः, तपोदानयजनैस्तपसा दानेन यज्ञेन चालं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः।

जैसे—कोई भक्त भगवती भागीरथी से कहता है—ब्रह्मा (कुछ भी कर्तव्य नहीं रहने के कारण) सन्देह रहित होकर, अनन्त समय तक समाधि में बने रहें, विष्णु भगवान् शेष-शय्या पर सुखपूर्वक सोते रहें और शिवजी भी सदा ताण्डव-नृत्य में मग्न रहा करें, मुझे उन सबों से कुछ प्रयोजन नहीं। अब मेरे लिये प्रायश्चित्तों (पाप-नाशक अनुष्ठान विशेष) की भी कोई आवश्यकता नहीं और तप, दान तथा यज्ञ ये सब भी अब मेरी दृष्टि में व्यर्थ हैं, जब कि हे जगन्मातः! सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली तू संसार में (मेरे लिये) सावधान होकर खड़ी है।

उपपादयति—

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येषोऽर्थः, समाधिविधानादिप्रेरणारूपेणोक्तिवैचित्र्येणाभिहितः, अन्यथाऽनवीकृतत्वापत्तेः।

अत्रोदाहरणे भवत्यां सत्यां विधिहरिप्रभृतीनां किंप्रयोजनमित्येतादृश एक एवार्थः समाधिविधान-सुखशयनादिप्रवर्तनास्वरूपेण नवनवेन प्रकारेणोक्त इति माधुर्यम्। अन्यथा कथनप्रकारनवनवत्वाभावे 'सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः।' इत्यादाविवात्राप्यनवीकृतत्वदोषस्यापातः स्यादित्यर्थः।

यहाँ 'ब्रह्मा-आदि से कुछ भी प्रयोजन नहीं है' इसी एक अर्थ को 'समाधि में बने रहें' इत्यादि प्रेरणात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहा गया है, अन्यथा 'अनवीकृतता' नामक दोष आ जाता।

पञ्चमीं सुकुमारतां लक्षयति—

अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता।

अकाण्डेऽवसरे शोकदायित्वं शोकजनकत्वं पारुष्यं कठोरता, तदभावश्च सुकुमारतेत्यर्थः।

अब 'सुकुमारता-गुण' का लक्षण दिखलाते हैं—अपारुष्य (कठोरता के अभाव) को 'सुकुमारता' कहते हैं और कठोरता का अभाव कहते हैं—विना खास अवसर के शोक न देने को।

उदाहरति—

यथा—'त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः।'

प्रियाया विरहात् कातरस्त्रस्तः पान्थः पथिकोऽयं त्वरया शीघ्रं याति गृहं गच्छतीत्यर्थः।

जैसे कि—यह पथिक प्रियतमा के वियोग से डरता हुआ शीघ्रता से जा रहा है। यह एक स्त्री की किसी दूसरी स्त्री के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

'प्रियामरणकातरः' इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य सत्त्वात् पारुष्यम्। इदञ्चाश्लीलतादोषव्याप्यम्।

त्वरयेत्याद्युदाहरणे विरहशब्दस्य मरणशब्देन परिवर्तने च, विरहस्य दुःखजनकत्वेऽपि शोकजनकत्वाभावादपारुष्यम, मरणस्य त्वालम्बननाशरूपतया शोकजनकत्वेन पारुष्यमिति क्रमेणोदाहरणप्रत्युदाहरणत्वे स्फुटे। इदं पारुष्यं च व्रीडा-जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वेन त्रिविधस्याश्लीलतादोषस्य व्याप्यं तृतीयप्रकारतयाऽन्तर्गतमित्यर्थः।

यहीं यदि 'प्रियतमा के मरण से डरता हुआ' ऐसा कह दिया जाय, तो शोक-सूचक 'मरण' पद के आ जाने से पद्य में कठोरता आ जायगी। यह कठोरता अमङ्गल-व्यञ्जक 'अश्लीलता'-नामक दोष के अन्तर्गत है।

षष्ठीमर्थव्यक्तिं लक्षयति—

वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारण-क्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः।

वर्णनीयस्य वस्तुनः पदार्थस्य तदेकजातिमात्रवृत्तितयाऽसाधारणे इतरव्यावृत्ते, ये क्रियारूपे व्यापारावयवसंस्थाने, तयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिरित्यर्थः।

अब 'अर्थ-व्यक्ति गुण' का लक्षण कहते हैं—जिस वस्तु का वर्णन करना हो, उसके असाधारण (खास) कर्तव्य और रूप का वर्णन करना 'अर्थ-व्यक्ति' गुण कहलाता है।

उदाहरति—

यथा—

नायकः सखायं ब्रवीति—

> 'गुरुमध्ये कमलाक्षी, कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम्।
> रदयन्त्रितरसनाग्रं, तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे॥'

गुरूणां श्वश्रूप्रभृतीनां मध्ये स्थिता कमलाक्षी नलिननयना प्रिया, कमलाक्षेण पद्मबीजेन, प्रहर्तुकामं ताडयितुमिच्छुं, माम्, रदैर्दन्तैर्यन्त्रितं निपीडितं रसनाया जिह्वाया अग्रं यत्र, तद्यथा स्यात् तथा, तरलिते चञ्चलीकृते नयने च यत्र, तद्यथा स्यात्तथा मैवं कार्षीरिति निवारयाञ्चक्रे निवारितवतीत्यर्थः।

इह कमलवद्दीर्घनयनरूपस्य रूपस्य, जिह्वाग्रदन्तनिपीडन-लोचनचञ्चलीकरणरूपयोरनुचिताचरणनिवारणसूचकक्रिययोश्च ललनाजनमात्रवृत्तीनां वर्णनादर्थव्यक्तिः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है—सास-ननद आदि गुरुजनों के बीच में बैठी हुई कमल से नेत्रों वाली (नायिका) ने कमल के बीजों से अपने ऊपर प्रहार करने के लिये उद्यत मुझको दाँतों से जीभ के अग्रभाग को दबा कर तथा नेत्रों को चञ्चल बना कर (नचाकर) रोक दिया—सूचित कर दिया, कि ऐसा न कीजियेगा, अन्यथा बड़ी हँसी होगी। यहाँ नायिका के कमलवत्-दीर्घ-नयनात्मकरूप और जीभ के अग्रभाग को दबाने तथा नेत्रों के चञ्चल करने-रूप कतव्यों का वर्णन किया गया है, अतः 'अर्थव्यक्ति गुण' का लक्षण संघटित हुआ।

अर्थव्यक्तेः स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतामाचष्टे—

अयमेवेदानीन्तनैः स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते।

अयमर्थव्यक्तिगुण एव, इदानीन्तनैराधुनिकैर्विद्वद्भिः, स्वभावोक्त्यलङ्कार इति व्यपदिश्यते व्यवह्रियते 'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्यादिभिरित्यर्थः।

इसी को आधुनिक विद्वज्जन 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहते हैं।

सप्तमीमुदारतां लक्षयति—

'चुम्बनं देहि मे भार्ये ! कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादिग्राम्यार्थ-परिहार उदारता।

त्रिविधा हि शब्दाः—नागरिका औपनागरिका ग्राम्याश्च। तत्रोत्तमप्रकृतौ वक्तरि भार्यादितृतीयशब्दार्थस्यानौचित्येन यद्ग्राम्यत्वं दोषः, तदभाव उदारतेत्यर्थः।

ग्राम्यभिन्नं सर्वमेवोदारताया उदाहरणं सम्भवतीति पृथङ् न प्रतिपादितम्।

अब 'उदारता गुण' का लक्षण दिखलाते हैं—'चुम्बनं देहि मे भार्ये !' काम चाण्डाल-तृप्तये' अर्थात् 'अरी मेहरिया ! तू काम-रूप चाण्डाल को तृप्त करने के लिये मुझे अपना एक चुम्बन दे' इत्यादि ग्राम्य (गमैया) बातों का परित्याग करना ही 'उदारता' कहलाता है। तात्पर्य यह है कि शब्दों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं, जिनमें भार्या आदि शब्द तृतीय श्रेणी के कहे जाते हैं, अतः उत्तम कोटि के वक्ताओं को उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इस गुण का उदाहरण अलग करके इसलिये नहीं दिखलाया गया कि उक्त तृतीय श्रेणी के शब्दों से अतिरिक्त सब शब्दों का प्रयोग होने पर उक्त गुण का उदाहरण सम्भव है, जिसका समझना सरल है।

अष्टममोजो लक्षयति—

एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशे-षणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः।

एकपद-प्रतिपाद्यस्यार्थस्यानेकैः पदैः प्रतिपादनं प्रथमः प्रकारः, अनेकपदप्रतिपाद्य-स्यार्थस्यैकेन प्रतिपादनं द्वितीयः प्रकारः, एकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यानेकैर्वाक्यैः प्रतिपादनं तृतीयः प्रकारः, अनेकवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन वाक्येन प्रतिपादनं चतुर्थः प्रकारः, सार्थ-विशेषणकत्वं च पञ्चमः प्रकार इति प्रकारपञ्चकान्यतमत्वमोज इत्यर्थः।

अब 'ओजगुण' (अर्थगत) का लक्षण देखिये—'ओजगुण' के पाँच भेद हैं—१. एक पद से कहने योग्य अर्थ का अनेक पदों के द्वारा कथन। २. अनेक पदों से कहने योग्य अर्थ का एक पद से कथन। ३. एक वाक्य से कहने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन। ४. अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन करने योग्य अर्थ का एक वाक्य के द्वारा प्रतिपादन। ५. विशेषणों का सप्रयोजन होना-निरर्थक नहीं होता।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'पदार्थे वाक्यरचना, वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यास-समासौ च, साभिप्रायत्वमस्य च ॥' इति।

विवृणोति—

पूर्वार्धप्रतिपाद्यं द्वयम्, व्यास-समासौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढिः, साभिप्रा-यत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः।

पदार्थस्य वाक्येन, वाक्यार्थस्य पदेन प्रतिपादनम्, एकवाक्यार्थस्यानेकवाक्यैः प्रति-पादनं व्यासः, अनेकवाक्यार्थस्यैकवाक्येन प्रतिपादनं समासश्चेति प्रकारचतुष्टयरूपा प्रौढिः, अस्य विशेषणसाभिप्रायत्वं सार्थकत्वं चेति पञ्चप्रकारकमोज इत्यर्थः।

इह वाक्यपदं योग्यतादिमतस्तद्रहितस्य च पदसमूहस्य बोधकं बोध्यम्। इतरथाऽनुपदं वक्ष्यमाणे 'सरसिजे-'त्याद्युदाहरणे प्रथमचरणस्य वाक्यत्वं न स्यात्।

ओज के उक्त पाँच भेदों के विषय में प्राचीन आचार्यों की भी सम्मति है, उन्होंने लिखा है—एक पद के अर्थ में वाक्य की रचना, वाक्य के अर्थ में एक पद का कथन तथा किसी बात का विस्तार और संक्षेप करना, यह चार प्रकार की प्रौढ़ि—अर्थात् वर्णन करने की विचित्र निपुणता और विशेषणों का सप्रयोजन होना—इस प्रकार से ओज के पाँच भेद होते हैं।

प्रौढेरतिरिक्तप्रकारत्वभ्रमनिवारणार्थमभिधत्ते—

प्रौढिः प्रतिपादनवैचित्र्यम्।

उक्तिवैचित्र्यरूपा प्रथमप्रकारचतुष्टयबोधिका प्रौढिर्न प्रकारान्तरमित्याशयः।

प्राचीनों की कारिका में 'प्रौढ़ि' से ओज का कोई खास छठ्ठा भेद विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रतिपादन की विचित्रता मात्र विवक्षित है, ऐसा समझना चाहिये।

ओजसः प्रथमं प्रकारं पदार्थे वाक्यरचनारूपमुदाहरति—

यथा—

प्रभातंव र्णयति—

'सरसिजवनबन्धु-श्रीसमारम्भकाले,
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।
परमपुरुषवक्त्रा-दुद्गतानां नराणां,
मधुमधुरगिरां च प्रादुरासीद् विनोदः॥'

सरसिजवनबन्धोः सूर्यस्य, श्रियः कान्तेः समारम्भस्य प्रारम्भस्य, काले प्रभातसमये, रजनिरमणराज्ये चन्द्रसुषमावैभवे, आशु, नाशं लोपं प्रयाति सति, परमपुरुषस्येश्वरस्य वक्त्रान्मुखादुद्गतानामुत्पन्नानां नराणां ब्राह्मणानां, मधुमधुरगिरां विनोदः क्षौद्रमधुरसौतमन्त्रोच्चारणकौतुकं प्रादुरासीदभवदित्यर्थः।

जैसे कि—ओज के प्रथम भेद (पद के अर्थ में वाक्य-रचना) का उदाहरण—जिस समय कमल-कानन के बान्धव (अकारण हितैषी) भगवान् सूर्य की शोभा का प्रारम्भ हो रहा था—अर्थात् सूर्य उदित हो रहे थे और निशा-नाथ चन्द्र का राज्य शीघ्रता से नष्ट हो रहा था—अर्थात् चन्द्र अस्त हो रहे थे, उस समय परम पुरुष (जगदीश ब्रह्मा) के मुख से उत्पन्न हुए मनुष्यों (अर्थात् ब्राह्मणों) का और मधु के समान मधुर वचनों (अर्थात् वेदों) का विनोद प्रकट हुआ। यह प्रभात का वर्णन है, जिसका सारांश है कि प्रातःकाल में ब्राह्मणों ने वेद-पाठ करना प्रारम्भ किया।

उपपादयति—

अत्रोषसीत्येकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरणः।

अत्रोदाहरणे, उषसीत्येकपदेन प्रतिपाद्यस्य प्रभातस्य बोधनाय सरसिजेत्यादिराद्यचरणः समस्तैकपदरूप उपात्त इत्यर्थः।

यहाँ 'प्रातःकाल में' इस एक पद के अर्थ में पूर्वार्ध के दो चरण (जो वाक्य रूप हैं) बनाये गये हैं।

अग्रेऽप्येवमूहितुमुपदिशति—

इत्याद्यग्रेऽपि बोध्यम्।

अग्रेऽप्येवमुपपादनमूहनीयमित्यर्थः।

और 'ब्राह्मणों' तथा 'वेदों' इन एक-एक पदों के अर्थ में आगे के डेढ़ चरण की रचना की गई है, अतः यह 'पद के अर्थ में पद की रचना' का उदाहरण हुआ।

द्वितीयं प्रकारमुदाहरति—

'खण्डितानेत्रकञ्जालि-मञ्जुरञ्जनपण्डिताः।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ता-श्चण्डांशोर्भान्ति भानवः॥'

खण्डिताया इतरललनालयनीतरात्रिक-प्रातरुपेतपतिप्रतिकूलाचरणावगमोदितदुःखमामिकायाः नेत्रकञ्जालेर्नयननलिनश्रेण्याः, मञ्जुनि सुन्दरे, रञ्जने शोणिमसम्पादने, पण्डिता निपुणाः, मण्डिताः प्रभया प्रकाशेन भूषिता अखिला दिक्प्रान्ता आशान्ता यैस्तादृशाः, चण्डांशोः सूर्यस्य, भानवः किरणाः, भान्ति शोभन्त इत्यर्थः।

अब 'वाक्य के अर्थ में पद की रचना का उदाहरण सुनिये—खण्डिता नायिकाओं के नेत्र-कमलों की पङ्क्तियों को सुन्दरतया रंगने में निपुण तथा दिग्भागों को भूषित करने वाली सूर्य की किरणें शोभित हो रही हैं।

उपपादयति—

अत्र 'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति' इति वाक्यार्थे खण्डिता-पदाभिधानम्।

'यस्या' इत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यार्थस्यैकेन खण्डितापदेन प्रतिपादनादत्रौजसो द्वितीयः प्रकार इत्यर्थः।

यहां 'जिसका पति दूसरी नायिका के घर से प्रातःकाल में अपने घर आवे' इस वाक्यार्थ के स्थान में केवल 'खण्डिता' पद का प्रयोग किया गया है।

तृतीयं प्रकारमुदाहरति—

'अयाचितः सुखं दत्ते, याचितश्च न यच्छति।
सर्वस्वं चापि हरते, विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम्॥'

उच्छृङ्खलः स्वातन्त्र्यादुन्मुक्तबन्धनः, नृणां विधिर्दैवम्, अयाचितोऽप्रार्थितः, सुखं, दत्ते वितरति, याचितश्च पुनः सुखं न यच्छति न ददाति, अपि तु सर्वस्वं पूर्वसञ्चितसकलधन-मपि हरते नाशयतीत्यर्थः।

अब 'एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्यों का कथन' का उदाहरण देखिये—कोई दीन व्यक्ति अपने भाग्य को कोसता है। कहता है—उच्छृङ्खल दैव (भाग्य) बिना मांगे सुख देता है और मांगने पर नहीं देता, वरन् उसका सर्वस्व भी लूट लेता है।

उपपादयति—

अत्र दैवाधीनं सर्वमित्येकस्मिन् वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यासपद-वाच्यो विस्तरः।

एकवाक्यार्थस्य चतुर्भिर्वाक्यैरभिधानादिह व्यासरूप ओजसस्तृतीयः प्रकारः।

यहां 'सब कुछ भाग्य के अधीन है' इस एक वाक्य के अर्थ में अनेक वाक्य का कथन हुआ है, अतः यह विस्तार है, जिसको प्राचीन आचार्य 'व्यास' कहते हैं।

चतुर्थं प्रकारमुदाहरति—

'तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद् वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा, विवेश परमं पदम्॥'

तपस्यतस्तपः कुर्वतः, मुनेः, वक्त्रान्मुखात्, सः, वेदार्थम्, अधिगत्य ज्ञात्वा, वासुदेवे भगवति परब्रह्मणि निविष्टः प्रविष्ट आत्मा मनो यस्य, तादृशः परमं पदं मुक्तिपदवीं

विवेशेत्यर्थः । 'आत्मा कलेवरे, यत्ने, स्वभावे, परमात्मनि। चित्ते, धृतौ च, बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च ।' इति धरणिकोशादात्मपदमिह मनोवाचकमवसेयम् ।

'अब 'अनेक वाक्यों के अर्थ में एक वाक्य की रचना' का उदाहरण देखिये—कोई किसी भक्त के विषय में कहता है कि—उसने तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेद के अर्थ को समझ कर वासुदेव भगवान् में मन को लगा कर मोक्ष को प्राप्त किया।

उपपादयति—

अत्र 'मुनिस्तपस्यति' 'तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्' 'तदनन्तरं वासुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्' 'ततश्च मुक्तोऽभूत्' इति वाक्यार्थकलापः शतृ-क्त्वा-बहुव्रीहिभिस्तिङन्तेन चानुवाद्यविधेयभावेनैकवाक्यार्थीकृतः।

वाक्यार्थकलाप उल्लिखितवाक्यचतुष्टयार्थसमूहः। तपस्यत इत्यत्र शतृप्रत्ययः। अधिगत्येत्यत्र क्त्वाप्रत्ययः। तृतीयचरणे बहुव्रीहिः। विवेशेति च तिङन्तम्। अनुवाद्यमुद्देश्यम्। वाक्यचतुष्टयप्रतिपाद्यार्थानामुद्देश्यविधेयभावेन सम्बन्धितानामेकवाक्यप्रतिपाद्यतासम्पादनात् समास ओजसश्चतुर्थः प्रकारोऽत्र बोध्यः।

यहां (१) मुनि तपस्या करते हैं। (२) उनके मुख से उसने वेद के अर्थ को समझा। (३) उसके बाद भगवान् में मन लगाया और (४) तदुत्तर मोक्ष को प्राप्त किया, इतने वाक्यों के अर्थों का समूह शतृ-प्रत्यय (तपस्यतः), क्त्वा-प्रत्यय (अधिगत्य) और बहुव्रीहि समास (वासुदेव निविष्टात्मा) के द्वारा अनुवाद्य रूप से और तिङन्त (क्रिया विशेष) के द्वारा विधेय रूप से लिख कर एक वाक्यार्थ के रूप में कर दिया गया है।

विशेषणस्य साभिप्रायत्वं विवृणोति—

साभिप्रायत्वं च प्रकृतार्थपोषकता।

प्रकृतस्य प्रस्तुतविशेष्यस्य पोषकत्वमुपस्कारकत्वं विशेषणस्य साभिप्रायत्वमित्यर्थः।

विशेषण की साभिप्रायता से यहां यह तात्पर्य है कि जो वर्णन चल रहा है, उसको पुष्ट करना अर्थात् उसमें सहायता पहुँचाना।

पञ्चमं प्रकारमुदाहरति—

यथा—

भक्तो भगवन्तं प्रार्थयते—

> 'गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि।
> सीदन् भवमरुगर्ते, करुणामूर्ते न सर्वथोपेक्ष्यः॥'

हे करुणामूर्ते प्रत्यक्षकारुण्यरूप भगवन्! गणिका विदेहनगरस्था पिङ्गलाभिधा वेश्या, अजामिलस्तन्नामा कान्यकुब्जदेशोद्भूतो दासीपतिर्द्विजस्तौ मुख्यौ येषां, तान् पतितान्, अवता नरकाद् रक्षता, भवता, भवः संसार एव क्लेशकरत्वान्मरुगर्तो निर्जलदेशावटस्तत्र सीदन् यातनामनुभवन्, बत हन्त! अहमपि सर्वथा नितरां न उपेक्ष्य उपेक्षणीय इत्यर्थः। पिङ्गलाऽजामिलयोः कथा श्रीमद्भागवते प्रसिद्धा।

जैसे कि—हे करुणामूर्ते! गणिका (पिङ्गला नाम की एक वेश्या) और अजामिल (एक, दासी-पति द्विज) आदि (पापिजनों में) मुख्य जनों की रक्षा करने वाले आप संसार रूप मरुस्थल (निर्जल) गड्ढे में जो मैं सीदित हो रहा हूँ उसकी उपेक्षा नहीं कीजियेगा। यह एक भक्त की भगवान् से प्रार्थना है।

उपपादयति—

अत्रोपेक्षाऽभावे करुणामूर्त्तित्वं पोषकम्। पापिष्ठत्वात् करुणाया अभावे, प्रकृतेऽस्याः सम्पादनाय गणिकेत्यादि, सीदन्निति च।

यद्यन्योऽपि कारुणिको दयनीयं न कदाचिदुपेक्षते, तदा साक्षात्करुणामूर्त्तः कथमुपेक्षितुमर्हतीति करुणामूर्त्तित्वं भगवतो विशेषणमनुपेक्षायाः साधकम्, पापातिशयाचरणात् स्वस्मिन् करुणाया अनुत्पत्तिसम्भवे पतितेष्वपि भगवतो दयालुताया बोधकत्वाद् गणिकेत्यादिविशेषणं करुणोत्पादने साधकम्, दुःखिनोऽनुपेक्षणीयत्वात् सीदन्निति निजविशेषणं स्वानुपेक्षायाः साधकमिहास्तीति विशेषणसाभिप्रायत्वम्।

यहां 'उपेक्षा न कीजियेगा' इस अर्थ को पुष्ट करने के लिये भगवान् में 'करुणामूर्ति' विशेषण लगाया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि जब साधारण कारुणिक भी किसी दीन की उपेक्षा नहीं करता, तब आप करुणामूर्ति होकर मेरी उपेक्षा कैसे करेंगे—नहीं कर सकते। पर यदि महान् पापी समझ कर करुणा न करें, तो यह भी आपके स्वभाव के अनुकूल नहीं है, इसी बात को प्रमाणित करने के लिये गणिका आदि का दृष्टान्त दिया गया है और अपना विशेषण 'सीदित होता हुआ' लिखा है। इस तरह यहां एक भी पद निष्प्रयोजन नहीं है, सब में कुछ न कुछ अभिप्राय है।

नवमीं कान्ति लक्षयति—

दीप्तरसत्वं कान्तिः।

दीप्तः स्फुटप्रतीयमानतयोज्ज्वलो रसो यत्र, तत्त्वं कान्तिरित्यर्थः।

अब 'कान्ति गुण' का लक्षण देखिये—दीप्त-रसत्व को 'कान्ति' कहते हैं।

दीप्तरसत्वं विवृणोति—

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम्।

रसप्रतीतौ स्फुटताऽविलम्बितोत्पत्तिः।

स्पष्टतया रस के प्रतीत होने को दीप्तरसत्व कहते हैं। शीघ्र उत्पन्न होना ही रस-प्रतीति की स्पष्टतया यहां विवक्षित है, यह भी समझना चाहिये।

उदाहरणादर्शनान्न्यूनतां परिहरति—

उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च।

प्राग् रसनिरूपणे 'शयिता' इत्यादिना वर्णितम्, अग्रे वर्णयिष्यते चालङ्कारप्रसङ्गेन तदुदाहरणमितीह नोपन्यस्तमित्याशयः।

इसके उदाहरण रसप्रकरण में 'शयितासविधे' इत्यादि पद्य के द्वारा दिखलाया जा चुका है और आगे भी दिखलाया जायगा, अतः यहां नहीं दिखलाया गया।

दशमं समाधिं लक्षयति—

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः।

अयं वर्ण्यमानोऽर्थः केनापि पूर्वं न वर्णित इत्यवर्णितपूर्वोऽयोनिरित्यन्यत्र प्रसिद्धः, अथवा पूर्वं केनापि वर्णितस्यैवार्थस्य छाया (सादृश्यं) यस्मिंस्तादृशोऽन्यच्छायोनिरिति-प्रसिद्धोऽस्तीति कवेः कविकृतं यदालोचनं विभावनं, तत् समाधिः। तत्रावर्णितपूर्वत्वालोचनं प्रथमः, पूर्ववर्णितच्छायत्वलोचनन्तु द्वितीयः प्रकारः समाधेरिति सारम्।

अब 'समाधिगुण' का लक्षण पढ़िये—कवि जब किसी वस्तु का वर्णन करने लगता है, तब वह सोचता है कि इस वस्तु का वर्णन पहले किसी ने नहीं किया है? अथवा किसी के द्वारा पूर्व-वर्णित वस्तु का यह (मेरा वर्णनीय वस्तु) छाया मात्र है? इस तरह की कवि की आलोचना को 'समाधि गुण' कहते हैं। तात्पर्य यह निकला कि समाधि के दो भेद हैं, एक 'यह अर्थ पूर्व वर्णित नहीं है' इस तरह का आलोचन और दूसरा 'यह पूर्व वर्णित की छाया है' इस प्रकार का आलोचन।

आलोचनस्य ज्ञानविशेषरूपतयाऽऽत्मगुणत्वेनार्थगुणत्वसम्पादनायाह—

ज्ञानस्य विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता ।

ज्ञानं समवायेनात्मनि विषयतया तु सम्बन्धेन विषये ज्ञेयार्थे तिष्ठतीति ज्ञानविशेषरूपालोचनस्यार्थगुणत्वमुपपद्यत इत्याशयः ।

अब 'आलोचन ज्ञान-विशेष-रूप है, अतः वह आत्मा में रहेगा—अर्थ में नहीं, फिर वह अर्थ-गुण कैसे होगा ?' इस शङ्का का समाधान करते हैं—'ज्ञानस्य' इत्यादि । समाधान का आशय यह है कि ज्ञानात्मक आलोचन यद्यपि समवायसम्बन्ध से आत्मा में रहेगा, तथापि विषयतासम्बन्ध से ज्ञान के विषय अर्थ में भी रहता ही है, अतः उसे अर्थ गुण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती ।

तयोः प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

आद्यो यथा—'तनयमैनाकगवेषण-' इत्यादौ ।

काव्यतृतीयप्रकारनिरूपणे प्रागेव व्याख्यातमिदं गद्यम् । इह भगवत्या भागीरथ्या हिमाचलभुजायमानत्वं पूर्वं केनापि न वर्णितमिति 'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धिनारङ्गकम्' इत्यादाविव कविना केवलं प्रतिभयैव कल्पितम् ।

अब समाधि गुण के प्रथम भेद का उदाहरण देते हैं—जैसे कि 'तनय मैनाक......' इत्यादि गद्य में । इस गद्य का ।पूर्वरूप काव्य के तृतीय भेद के उदाहरण के रूप में पहले दिखलाया जा चुका है, इसकी व्याख्या भी वहां की जा चुकी है । इस गद्य में हिमालय की भुजा के रूप में गङ्गा की उत्प्रेक्षा की गई है, जो सर्वथा नवीन कल्पना है, पहले किसी ने इस तरह की कल्पना नहीं की, अतः यह प्रथम भेद का उदाहरण हुआ ।

द्वितीयप्रकारोदाहरणस्य बाहुल्यं दर्शयन् वामनमतमुपसंहरति—

द्वितीयस्तु प्रायशः सर्वत्रैव' इत्याहुः ।

प्रायशो बाहुल्येन 'कविरनुहरतिच्छायाम्' इत्युक्तेः । केवलं सर्वत्रैवेत्युक्तौ तु प्रथमप्रकारविलोपप्रसङ्गः । उदाहरणान्वेषणे तु नायिकानयननलिनयोः सादृश्यस्य कविसमयप्रसिद्धत्वे, निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता काऽपि । नीलोत्पलेऽपि विमृशति, करमर्पयितुं कुसुमलावी ।' इत्येव ज्ञेयम् । आहुरित्यस्य पूर्वोक्तेन 'जरत्तरास्तु' इत्यनेनान्वयः ।

द्वितीय भेद अर्थात् अन्यच्छायायोनि अर्थ का उदाहरण तो प्रायः सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात् अधिकतर वर्णन इसी तरह का होता है, जिससे पूर्व वर्णित की छाया रहती है । यह है अति प्राचीन आचार्य वामन आदि का सिद्धान्त ।

अथ परमतमखण्डितमभ्युपगतं भवतीति प्राचीनतरमतं निराकरोति—

अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तैस्त्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावालङ्कारैश्च गतार्थयन्तः, कांश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया, कंचिद् दोषतया च मन्यमाना न तावतः स्वीकुर्वन्ति ।

अपरे वामनादिभ्यो नवीना मम्मटादयस्तु । त्रिभिर्माधुर्यौजःप्रसादैः । वक्ष्यमाणा ये दोषाभावा अलङ्काराश्च तैः । गतार्थयन्तो निष्प्रयोजनीकुर्वन्तः । तावतो दशशब्दगुणान् दशार्थगुणांश्च न स्वीकुर्वन्ति । इतरदनुपदं स्फुटीभविष्यति ।

अब गुण के विषय में वामन आदि से नवीन मम्मट आदि आचार्यों के मत का उल्लेख करते हैं—'अपरे तु' इत्यादि । मम्मट आदि विद्वान् तो २० गुण नहीं मानते हैं, क्योंकि वे इन २० गुणों में से कुछ को पूर्वोक्त स्व सम्मत माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों में गतार्थ कर देते हैं, कुछ को आगे वर्णित होने वाले दोषों के अभावरूप मान लेते हैं और कुछ को अलङ्कारस्वरूप कह कर उड़ा देते हैं । इसी तरह कुछ को विचित्रता मान

लते हैं तथा कुछ को गुण की जगह दोषरूप ही कह डालते हैं। इस प्रकार वे केवल
३ गुण मानते हैं, २० नहीं।

तत्र प्रथमं 'केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः। अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश।' इति समासेन शब्दगुणानां दशत्वखण्डनमुपपादयति—

तथाहि—श्लेषोदारता-प्रसाद-समाधीनामोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः।

वामनोक्ताः श्लेषोदारताप्रसादसमाधयो न शब्दगुणा मम्मटोक्तौजोगुणव्यञ्जकवर्णरचनारूपत्वादित्याकूतम्।

अच्छा अब २० गुण नहीं मानने की युक्तियां भी सुनिये। वे कहते हैं—पूर्वोक्त दश शब्द-गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि इन चार गुणों का ओजोगुण को अभिव्यक्त करने वाली रचना में अन्तर्भाव हो जाता है।

तत्राशङ्क्य समादधाति—

न च श्लेषोदारतयोः सर्वांशे गाढबन्धात्मनोरोजोव्यञ्जकघटनाऽन्तर्भावोऽस्तु, प्रसादसमाध्योस्तु गाढशिथिलात्मनोरंशेनौजोव्यञ्जकान्तर्भावेऽप्यंशान्तरेण कुत्रान्तर्भाव इति वाच्यम्, माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति सुवचत्वात्।

वामनोक्तयोः श्लेषोदारतयोः सर्वस्मिन्नंशे गाढबन्धस्वरूपत्वादोजोव्यञ्जकरचनायामन्तर्भावस्य सम्भवेऽपि, प्रसादसमाध्योः किञ्चिदंशावच्छेदेन गाढबन्धस्वरूपत्वात् किञ्चिदंशावच्छेदेन च शिथिलबन्धस्वरूपत्वान्नौजोव्यञ्जकरचनायां गाढमात्रबन्धस्वरूपायामन्तर्भावस्यासम्भव इति न वाच्यम्, तयोः शिथिलबन्धांशस्य माधुर्यव्यञ्जकरचनायां प्रसादव्यञ्जकरचनायां वा तदन्तर्भावस्य वक्तुं शक्यत्वादित्याशयः।

यहां यदि आप शङ्का करें कि—श्लेष और उदारता सब अंशों में गाढ रचनारूप होते हैं, अतः उनका अन्तर्भाव ओज को अभिव्यक्त करने वाली रचना में भले ही हो जाय, परन्तु प्रसाद और समाधि तो गाढ और शिथिल दोनों प्रकार की रचनाओं के मिश्रणरूप होते हैं, अतः एक (गाढ) अंश का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव होने पर भी दूसरे (शिथिल) अंश का अन्तर्भाव किसमें होगा? तो इसके उत्तर में सुख से यह कहा जा सकता है कि माधुर्य अथवा प्रसाद की व्यञ्जक रचना में। अर्थात् शिथिल अंश भी कहीं माधुर्य गुणव्यञ्जक रचना में और कहीं प्रसाद गुणव्यञ्जक रचना में समाविष्ट हो जायगा, अतः ये चार अतिरिक्त गुण नहीं हो सकते।

माधुर्यगुणं निराकरोति—

माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव।

मम्मटाद्युक्त-रसनिष्ठ-व्यङ्ग्यमाधुर्यगुणव्यञ्जकरचनैव वामनादिसम्मतं माधुर्यं गुण इति तस्यापि गुणत्वं निरस्तमिति भावः।

प्राचीनों का माधुर्य गुण तो हमारे (मम्मट के) माधुर्य को अभिव्यक्त करने वाली रचना ही है।

पर्यवसितमाह—

एवं च सर्वत्र व्यञ्जके व्यङ्ग्यशब्दप्रयोगो भाक्तः।

एवमुक्तरीत्या, सर्वत्र प्राक्प्रतिपादितवामनोक्तश्लेषादिगुणचतुष्टये, व्यञ्जके तत्तद्गुणव्यञ्जकरचनाविशेषे व्यङ्ग्यश्लेषादिगुणवाचकस्य श्लेषादिशब्दस्य प्रयोगो भाक्तो लाक्षणिको ज्ञेय इति सारम्।

इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राचीनों के मत में सब जगह व्यञ्जक (रचना) में व्यङ्ग्य (माधुर्य आदि) का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। अतएव ओज गुण का ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव समझ लेना चाहिये ।

समताया गुणत्वं निरस्यति—

समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रतिपाद्योद्धटत्वानुद्धटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात् ।

सर्वत्रेति समतान्वयि । उद्भटत्वमुद्धतत्वम् ।

यतः क्वचिदेकस्मिन्नेव पद्ये, यत्रांशे वाच्यमुद्धतम्, तत्रोद्धता रचनेष्टा, यत्रत्वंशे वाच्यमनुद्धतम्, तत्र कोमलैव रचनेष्टा, तस्मात् सर्वेषु पद्येषु सर्वांशे रचनाया एकविधत्वमनौचित्याद्दोष इति मार्गाभेदरूपा समता न गुण इत्यभिप्रायः ।

अब समता की बात सुनिये—सब जगह तो वह (समता) अनुचित ही है, क्योंकि वक्तव्य अर्थ के उद्धत होने से उद्धत और उसके अनुद्धत होने से अनुद्धत रचना का एक ही श्लोक में होना इष्ट है ।

तदुदाहरणं दर्शयति—

यथा—

सुकवित्वाभिमानाध्मातहृदयः कश्चित् परं विपश्चितं ब्रूते—

'निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
न्मृद्वीकामधुमाधुरी-मदपरीहारोद्धुराणां गिराम् ।
काव्यं तर्हि सखे ! सुखेन कथय त्वं सम्मुखे मादृशां,
नो चेद् दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः ॥'

हे सखे ! यदि त्वम् अत्यन्तपाकेनातिशयितपक्कतया, द्रवन्त्याः सरसीभवन्त्याः, मृद्वीकाया द्राक्षायाः, मधुनो मधुररसस्य, माधुर्यामिष्टतायाः, मतस्याभिमानस्य, परीहारे निराकरणे, उद्धुराणामुद्युक्तानां शक्तानां वा, गिरां काव्यवाचां, निर्माणे रचने, मार्मिको मर्मज्ञः (कुशलः) असि, तर्हि मादृशां मत्तुल्यानामत्युत्कृष्टकाव्यरचनाकुशलानां, सम्मुखे पुरः, स्वरचितं काव्यं, सुखेन, कथय, नोचेत् तदमार्मिको यद्यसि तदा, आत्मना कृतं दुष्कृतं पातकमिव, तत् काव्यं, स्वान्तान्मनसः, बहिर्मा कृथा नितरां गोपयेत्यर्थः ।

जैसे—हे सखे ! यदि तुम अत्यन्त पक जाने के कारण चूते हुये दाख के मधुर रस की मधुरता के मद को हटा देने में समर्थ वचनों की रचना में कुशल हो, तब अपने काव्य को मेरे जैसे लोगों के सामने सुखपूर्वक कहो। परन्तु यदि ऐसा (मृद्विका-मधुर-वाणी-निपुण) न होओ, तो जिस तरह अपने किये हुये पाप को किसी के सामने प्रकट नहीं किया जाता, उसी तरह उस (अपने काव्य) को अपने हृदय से बाहर न करो-मन ही मन रख लो, जबान पर मत आने दो ।

उपपादयति—

अत्र पूर्वार्धे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न स चतुर्थचरणे कदर्यकाव्यप्रतिपादक इति वैषम्यमेव गुणः ।

मार्गो वर्णरचनारीतिः । कदर्यं कुत्सितम् । गुणत्वमुपकारकत्वम् ।

'निर्माणे' इत्यादावेकस्मिन्नेव पद्ये तृतीयचरणान्तं यावद् वाच्यस्य लोकोत्तरनिर्माणस्योद्भटत्वादुद्धता रचना, तुरीयचरणे तु वाच्यस्य कुत्सितकाव्यस्यानुद्भटत्वादनुद्धतैव रचनेति विषमतैवोपकारकत्वाद्गुणः 'वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्णाना-मन्यथात्वमपीष्यते ।' इत्युक्तेः-प्रत्युतसमतायामत्रकृतायां दोष एव स्यादित्याशयः ।

यहां अलौकिक काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले आदि तीन चरणों में जिस मार्ग (वर्ण-रचना की रीति) का ग्रहण किया गया है, उसका कदर्प (कुत्सित-हीन) काव्य-निर्माण का प्रतिपादन करने वाले चतुर्थ चरण में ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् प्रथम तीन चरणों का वाच्य अर्थ उद्धत था, अतः वहां तदनुकूल उद्धत वर्ण-विन्यास ही किया गया और चतुर्थ चरण का प्रतिपाद्य अर्थ अनुद्धत था, अतः वहां का वर्ण-विन्यास अनुद्धत-शिथिल-रखा गया, इस तरह यहां विषमता ही गुण (उपकारक) है और यदि समता-एक ही रीति-कर दी जाती, तो दोष ही कहलाता।

कान्तेः सुकुमारतायाश्च दोषाभावरूपत्वाद् गुणत्वं निरस्यति—

ग्राम्यत्व-कष्टत्वयोस्त्यागात् कान्ति-सौकुमार्ययोर्गतार्थता।

ग्राम्यत्वदोषाभावरूपतया कान्तेः, श्रुतिकटुत्वलक्षणकष्टत्वदोषाभावरूपतया च सुकुमारताया गतार्थता तदभावान्तर्भावाद् गुणत्वाभाव इत्यर्थः।

कष्टत्वमिह दुश्श्रवत्वम्, न तु दुरूहत्त्वं तस्यार्थवृत्तित्वात्। ओजो व्यञ्जकवर्णघटितत्व-रूपकष्टत्वाभावरूपता, माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्वरूपसौकुमार्यस्यासम्भवाच्चिन्तनीयेति केषांचिदाक्षेपस्तु, परैरपरुषवर्णघटितं सौकुमार्यं परुषवर्णघटितत्वं च कष्टत्वमभिदधानैरुभयोः परस्पराभावरूपतां व्यवस्थापयद्भिर्निरस्तः।

अब रही कान्ति और सुकुमारता, वे भी ग्राम्यता और कष्टत्व नामक जो दोष हैं, उनके अभाव में अन्तर्भूत हैं—अर्थात् कान्ति ग्रामत्व-दोषाभाव-स्वरूप है और श्रुतिकटुत्व-रूप-कष्टत्व-दोषाभाव-स्वरूप सुकुमारता है। तात्पर्य यह है कि यहां 'कष्टत्व' का मतलब 'दुरुहता' नहीं है, क्योंकि वह अर्थ में रहने वाला दोष है और यहां शब्द-गुण को दोष में गतार्थ करने का प्रसङ्ग चल रहा है, फिर शब्द-गुण अर्थ-दोष में कैसे गतार्थ किया जा सकता था। यहां नागेश ने लिखा है कि कष्टत्व दोष का लक्षण है 'ओजोव्यञ्जकवर्ण-घटितत्व' और सुकुमारत्व-गुण का लक्षण है 'माधुर्यव्यञ्जकवर्णघटितत्व' अतः ये (कष्टत्व और सुकुमारत्व) एक दूसरे का अभावरूप नहीं हो सकते, फिर सुकुमारता को कष्टत्व के अभाव में गतार्थ करने की मूलोक्त बात असङ्गत है। परन्तु विचार करने पर नागेश का कथन ही असङ्गत प्रतीत होता है, क्योंकि मम्मट ने कष्टत्व का लक्षण 'परुषवर्णघटितत्व' किया है और प्राचीनों ने सुकुमारता का लक्षण 'अपरुषवर्णघटितत्व' कहा है, अब देखिये-कि सुकुमारता, कष्टत्व के अभावरूप सिद्ध होता है या नहीं ? कहना पड़ेगा कि अवश्य, फिर जो नागेश ने अपने मन से लक्षणों की कल्पना करके मूल की असङ्गति दिखलाई है, वह किसी तरह मूल ग्रन्थ का खण्डन करने का दुराग्रह मात्र है।

प्रसादेऽन्तर्भावादर्थव्यक्तिं निराकरोति—

प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति।

प्रसादेन गुणेन स्पष्टप्रतीतिजनकत्वरूपाया अर्थव्यक्तेश्च गतार्थतेति शेषः। इत्थं च वामनेन—

'पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः। श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते॥
यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि। अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः॥
प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः। दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति गुणो मतः॥
आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हि यत्। समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूजा सरस्वती॥
बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यं कथितं बुधैः। बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम्॥
विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम्। पश्चादवगतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुतः॥
यत्रार्थव्यक्तिहेतुत्वात्, सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः। औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः॥'

इति प्रतिपादितानां दशानामपि शब्दगुणानामन्तर्भावादिभिर्निराकरणं समाप्तमिति सूचयतीहेतिशब्दः।

अब केवल 'अर्थ-व्यक्ति गुण' अवशिष्ट रह जाता है, परन्तु प्रसाद गुण के मान लेने पर उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती अर्थात् प्रसाद गुण में ही वह भी गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार अति प्राचीन आचार्यों का अभिमत, गुणों की विंशति संख्या असङ्गत है, यह बात सिद्ध हो गई।

अथार्थगुणानामपि दशानां निरसनमारभते—

अर्थगुणेष्वपि—श्लेषः, ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च, वैचित्र्यमात्ररूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति।

वामनोक्तस्य श्लेषस्यौजस्समासान्तप्रकारचतुष्टयस्य च क्षोदिष्ठचमत्कृतिजनकत्वेन द्रुत्यादिचित्तवृत्तिरूपत्वासम्भवान्न गुणत्वमिति तात्पर्यम्।

अब वामन आदि अति प्राचीन आचार्यों से स्वीकृत दश अर्थ-गुणों का खण्डन आरम्भ करते हैं—'अर्थ-गुणेष्वपि' इत्यादि। अर्थ-गुणों में भी श्लेष और ओज-गुण के पहले चार भेद तो विचित्रता मात्र हैं, अतः उन्हें गुणों के अन्तर्गत मानना समुचित नहीं है।

वैचित्र्यमात्रस्य गुणत्वाङ्गीकारे दोषमाह—

अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैलक्षण्याद् गुणभेदापत्तेः।

यदीदृशार्थवैचित्र्यस्यापि गुणत्वमभ्युपगम्येत, तर्हि सर्वेषु श्लोकेषु यत्किञ्चिदर्थवैचित्र्यस्य सत्त्वात् तत्रापि गुणत्वाभ्युपगमे गुणप्रकारबाहुल्यमापद्येतेत्यभिसन्धिः।

अन्यथा (विचित्रतामात्र को गुण मान लेने पर) प्रत्येक श्लोक में कुछ न कुछ अर्थों की विचित्रता अवश्य रहती है, वे सब विलक्षणतायें गुण कहलाने लगेंगी, जिनकी गणना भी असम्भव हो जायगी।

ओजःपञ्चमप्रकारसहितं वामनोक्तार्थगुणसप्तकं दोषाभावरूपतादर्शनेन निरस्यति—

अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुष्यशरीरं सौकुमार्यम्, अग्राम्यत्वरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता, साभिप्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वा-नवीकृतत्वा-मङ्गलरूपाश्लील-ग्राम्य-भग्नप्रक्रमा-पुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन, स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, रसध्वनि-रसवदलङ्कारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि।

यथासङ्ख्यमन्वयः।

अधिकपदत्वरूपदोषाभावरूपत्वात् प्रसादः, अनवीकृतत्वदोषाभावरूपत्वान्माधुर्यम्, अमङ्गलरूपाश्लीलत्वदोषाभावरूपत्वात् सुकुमारता, ग्राम्यत्वदोषाभावरूपत्वादुदारता, भग्नप्रक्रमत्वदोषाभावरूपत्वात् समता, अपुष्टार्थत्वदोषाभावरूपतया साभिप्रायविशेषणत्वात्मक ओजसः पञ्चमप्रकारः, स्वभावोक्त्यलङ्काररूपतयाऽर्थव्यक्तिः, रसप्राधान्ये रसध्वनिरूपतया रसाप्राधान्ये तु रसवदलङ्काररूपतया कान्तिश्च नैव गुणत्वेन गणनामर्हतीति सारम्।

दश अर्थगुण मानने वाले वामन आदि के मत के अनुसार पद का अधिक न होना प्रसाद है, उक्ति की विचित्रता माधुर्य है, कठोरता का न होना सुकुमारता है, ग्राम्यता का न होना उदारता है और विषमता का न होना समता है, एवं पदों का साभिप्राय होना ओज-गुण का पांचवां भेद है। ये सब क्रमशः अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, अमङ्गल सूचक अश्लीलता, ग्राम्यता, भग्न-प्रक्रमता और अपुष्टार्थता रूप दोषों के निकाल देने से गतार्थ हो जाते हैं। अर्थात् ये दोषों के अभावमात्र हैं, गुण नहीं। इसी तरह किसी वस्तु के स्वभाव का स्पष्ट वर्णन करना जो अर्थ-व्यक्ति गुण है वह स्वभावोक्ति अलङ्कार में गतार्थ

है और रस का स्पष्टतया प्रतीयमान होना जो कान्ति गुण है, वह रस की प्रधानता रहने पर रस-ध्वनि में अन्यथा रसवत् अलङ्कार में गतार्थ है।

समाधिं निराकरोति—

समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं, न तु गुणः।

आलोचनात्मकज्ञानरूपत्वादात्मगुणो न तु रसवृत्तिः कविनिष्ठः समाधिस्तु न गुणः, किन्तु काव्यस्य कारणमित्यर्थः।

अब बचा केवल समाधिगुण, वह भी गुण नहीं, अपि तु काव्य का कारण है, क्योंकि उसका स्वरूप आलोचनात्मक माना गया है और आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है, अतः वह कवि की आत्मा में रहेगा, रस किंवा अर्थ में नहीं, फिर उसे अर्थ गुण कैसे कहा जा सकता? यदि उसे विषयता सम्बन्ध से अर्थ में रहने के कारण अर्थ का गुण माना जाय, तब तो—

ननु काव्यकारणत्वेऽपि समाधेः कुतो न गुणत्वमित्यत आह—

प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः।

यदि हि काव्यस्य कारणमपि गुणः स्यात्, तर्हि प्रागुक्ता प्रतिभाऽपि काव्यस्य कारणत्वाद् गुणः स्यादित्यापत्तेः समाधिरपि न गुण इत्यभिसन्धिः।

प्रतिभा भी काव्य का गुण हो जाय, क्योंकि आलोचन और प्रतिभा दोनों ही एक प्रकारके ज्ञान हैं और कवि में रहते हैं तथा विषयता सम्बन्ध से अर्थ में भी रह सकते हैं, फिर यदि प्रतिभा को काव्य-कारण माना जाता है, तब आलोचन को ही गुण क्यों मानें?

निगमयति—

अतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः।

अत उक्तहेतुभिः, त्रयो माधुर्यौजःप्रसादा एव, न तु श्लेषादयोऽपि गुणाः सम्भवतीति मम्मटभट्टादय आहुरित्यर्थः।

अतः अन्त में यही सिद्ध हुआ कि गुण तीन ही हैं, दश या बीस नहीं। यह है-मम्मट आदि विद्वानों की विचार-पद्धति।

अथ प्राचीनोक्तगुणानां कियतां रचनास्वन्तर्भावकथनाद्रचनाज्ञानस्यापेक्षायां ताः क्रमेण निरूपयन्नादौ माधुर्यव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथम-तृतीयैः, शर्भि-रन्तस्थैश्च घटिता, नैकट्येन प्रयुक्तैरनुस्वार-परसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः संयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिर्मृदुवृत्तिर्वा रचनाऽऽनुपूर्व्यात्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका।

तत्र तासु रचनासु। नैकट्येन सामीप्येन। परसवर्णैस्तदादेशनिष्पन्नवर्णैः। शुद्धैः केवलैरनुनासिकैः। वृत्तिपदं प्रकरणात् समासमात्रपरम्। आनुपूर्वी श्रावणप्रत्यक्षविषयताऽवच्छेदकं तद्वर्णोत्तरतद्वर्णत्वम्।

आनुपूर्वीरूपा रचना यदि टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयघटकैः प्रथम-तृतीयवर्णैः, शर्भिश्शषसैः, अन्तस्थैर्यरलवैश्च घटिता, अदूरप्रयुक्तानुस्वार-परसवर्णकेवलानुनासिकयुक्ता, अनुपदनिषेत्स्यमानसंयोगादिरहिता, समासशून्याऽल्पसमासा वा स्यात्, तर्हि सा माधुर्यस्य गुणस्य व्यञ्जिका भवतीत्यर्थः।

अब तत्तद्गुण-व्यञ्जक-रचना-निरूपण के क्रम में सर्व प्रथम माधुर्य-गुण-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं-'तत्र' इत्यादि। आनुपूर्वी (क्रम बद्ध वर्ण-विन्यास) रूपा वह

रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है, जो, टवर्ग से भिन्न वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों अर्थात् क-ग, च-ज, त-द, प-ब, इन अक्षरों, तथा श-ष-स एवं य-र-ल-व से युक्त, समीप समीप में प्रयुक्त किये गये अनुस्वारों, परसवर्णों और केवल अनुनासिकों से शोभित, आगे वर्णित होने वाले, साधारणतया और विशेषरूपेण निषिद्ध संयोगादिकों से रहित और समास से शून्य अथवा छोटे-छोटे कतिपय समासों से युक्त हो।

तद्वर्गचतुष्टयघटक-व्यवच्छिन्न-द्वितीयचतुर्थवर्णविषये विशेषमाह—

द्वितीय-चतुर्थास्तु वर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूलाः, नापि प्रतिकूलाः, दूरतया सन्निवेशिताश्चेत्।

वर्गे भवा वर्ग्या वर्णाः।

टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयस्यावशिष्टा द्वितीयाश्चतुर्थाश्च वर्णा अस्य माधुर्यगुणस्य, अनुकूला उपकारका न भवन्ति, यदि दूरतया विप्रकर्षेण सन्निवेशिताः, तदा प्रतिकूला विरोधिनोऽपि न भवन्ति, किन्तूदासीना एवेत्यर्थः।

टवर्ग से अतिरिक्त चार वर्गों के दूसरे और चौथे वर्ण अर्थात् ख-घ, छ-झ, थ-ध, फ-भ, यदि दूर-दूर में प्रयुक्त किये गये हों, तो वे न माधुर्य गुण के अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, अर्थात् उदासीन रहते हैं—उनके रहने और न रहने से कुछ बनता, बिगड़ता नहीं।

तत्रापि विशेषमभिधत्ते—

नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः।

यदि तदायत्तस्तदधीनोऽनुप्रासो भवति, तर्हि नैकट्येन सामीप्येन सन्निवेशितास्ते द्वितीयादिवर्णा माधुर्यस्य प्रतिकूला अपि न तूदासीना भवन्तीत्यर्थः।

यदि समीप-समीप में उनका प्रयोग हुआ हो और उनसे अनुप्रास भी बन जाते हों, तब प्रतिकूल भी हो जाते हैं।

अत्रैव परकीयं मतमाचष्टे—

अन्ये तु—वर्गस्थानां पञ्चानामप्यविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः।

टवर्गातिरिक्तवर्गघटकानां पञ्चनामपि (न तु द्वितीयचतुर्थभिन्नानां) वर्णानाम् अविशेषेण तुल्यतया नैकट्यनिवेशादिविचाररहित्येन वा, माधुर्यगुणव्यञ्जकतामन्ये वदन्तीत्यर्थः।

वर्गद्वितीयचतुर्थवर्णानां नैकट्येन प्रयुक्तानामोजोगुणव्यञ्जकत्वस्यानुपदं वक्ष्यमाणत्वात्तन्न विचाररमणीयमिति बोध्यम्।

टवर्ग से भिन्न वर्गों के पांचो अक्षर समान रूप से माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है।

माधुर्यगुणव्यञ्जकरचनामुदाहरति—

उदाहरणम्—

भगवद्भक्तः स्वान्तं बोधयति—

'तां तमालतरुकान्तिलङ्घिनीं, किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्त! मे कलय शान्तये चिरं, नैचिकीनयनचुम्बितां श्रियम्॥'

हे स्वान्त मानस! तमालतरोस्तापिच्छद्रुमस्य, कान्तेः श्यामद्युतेः, लङ्घिनीमतिशायिनीं, किङ्करीकृता विजितत्वाद्दासीकृता नवाम्बुदस्य नवीनमेघस्य त्विट्छविर्यया तादृशीम्, नैचिकीनां धेनूनां नयनैश्चुम्बितां प्रेम्णा विलोकितां, श्रियं श्रीकृष्णशोभां, मे मम शान्तयेऽन्तस्सुखाय, चिरं चिन्तय भावयेत्यर्थः।

इह स्वान्तेत्यस्यामन्त्रितसञ्ज्ञोत्तरम्—'आमन्त्रितमविद्यमानवत्' इत्यनेनाविद्यमानवद्भावे पदात्परत्वाभावान्ममेत्यस्य म आदेशश्चिन्तनीयः ।

अब माधुर्य व्यञ्जक रचना का उदाहरण देखिये—कोई भक्त अपने अन्तःकरण से कहता है—हे मेरे मन ! तू, शान्ति के लिये चिरकाल तक उस श्री-शोभा की भावना कर, जो तमाल तरु की कान्ति (श्यामद्युति) को लाँघ गई है—अर्थात् उससे भी अधिक श्यामलता-मनोहर है, और जिसने नवीन जलद की द्युति को दास बना लिया है—अर्थात् उसको पराजित कर दिया है-अपने सामने तुच्छ बना डाला है, एवं जो गायों के नेत्रों से चुम्बित (इकटक देखी गई) है। सारांश है कि नवाम्बुद-श्यामल भगवान् गोपाल की शोभा का स्मरण सदा करता रह ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

'स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि,
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥'

पद्यमिदं सप्रसङ्गनिर्देशं प्राग्विवृतमेवेतीह केवलं टवर्गपरिहाराय परिवर्तितपदमात्रं व्याख्यायते—अन्तःस्मितेनाभ्यन्तरस्थतयाऽव्यक्तहासेन, अलसविलोकनेन मदश्रमादिप्रयुक्तालस्ययुक्तनिरीक्षणेन, यद्वाऽन्तःस्मितं यत्र, तादृशेनालसविलोकनेन, वन्दनीयेत्यर्थः ।

अथवा, जैसे—जिसका कपोल-फलक सघन घर्म-जल-बिन्दुओं से शोभित है और जो आन्तर (अप्रकट) मन्द हास एवं अलसाई हुई चितवनों से प्रशंसा करने योग्य है, उस मदमय नयन वाली नायिका की रमणीय और अनिर्वचनीय अवस्था, स्मरण करते ही मेरे मन में आनन्द को पनपा देती है।

पद्यद्वयोदाहरणतासुपपादयति—

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलङ्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यस्य भगवद्विषयकरतेर्वा ध्वन्यमानायाः शान्त एव पर्यवसानात् तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका रचनेयम् । द्वितीये तु स्मृत्युपष्टब्धशृङ्गाररसस्य ।

प्रथमे 'ताम्' इत्यादिपद्ये गोविन्दश्रियस्तमालतरुकान्तिलङ्घन-नवाम्बुदत्विड्दासीकरण-सम्बन्धकल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारोपस्कृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यरूपव्यभिचारिभावस्य, विनिगमनविरहाद् भगवद्विषयकरतिभावस्य वा व्यज्यमानस्य प्रधानव्यङ्ग्य-शान्तरसोपस्कारकतया शान्तरसवृत्तिमाधुर्यगुणस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्ति । द्वितीये 'स्वेदाम्बु-' इत्यादिपद्येषु व्यज्यमानेन मदिरेक्षणादशास्मृतिरूपव्यभिचारिभावेन पोषिते शृङ्गाररसे वर्तमानस्य माधुर्यस्य व्यञ्जिका रचनाऽस्तीत्यर्थः ।

इह 'रतेर्वा' इत्यत्र 'रतिभावस्य वा' इति सुपठम् ।

यहां प्रथम श्लोक में गोपाल की शोभा का सम्बन्ध, तमाल-तरु कान्ति-लंघन से और नव-जलद-कान्ति-दासीकरण से दिखलाया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है, जिससे वह भगवान् के ध्यान की उत्सुकता (व्यभिचारीभाव) अथवा वह भगवान् के विषय में प्रेम (स्थायीभाव) अलंकृत होता है, जो व्यङ्ग्य है, परन्तु ये दोनों भाव यहां अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, वरन चरम व्यङ्ग्य शान्त रस के पोषक हैं, अतः यहां की रचना शान्तरस-गत माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है। द्वितीय श्लोक में नायिका की दशा के स्मरण (व्यभिचारीभाव) से पुष्ट हो कर अभिव्यक्त होने वाले शृङ्गार-रस के माधुर्य को रचना ध्वनित करती है।

ओजोव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

नैकट्येन द्वितीय-चतुर्थवर्गवर्ण-टवर्ग-जिह्वामूलीयो-पध्मानीय-विसर्ग-सकारबहुलैर्वर्णैर्घटितो झय्-रेफान्यतरघटितसंयोगपरह्रस्वैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः।

द्वितीयैश्चतुर्थैश्च टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयवर्णैः, टवर्गेण, जिह्वामूलीयेनोपध्मानीयेन, विसर्गेण, सकारेण च बहुलैर्भूयिष्ठैः, समीप्येन प्रयुक्तैर्वर्णैः, घटितः, पञ्चमवर्णातिरिक्तवर्गपञ्चकवर्णात्मकेन झय्प्रत्याहारेण रेफेण वा घटितो यः संयोगः, स परो येभ्यस्तादृशैर्ह्रस्ववर्णैश्च नैकट्येन प्रयुक्तैर्युक्तः, दीर्घसमासरूपश्च गुम्फो रचनाविशेष ओजसो व्यञ्जक इत्यर्थः।

अब ओजो-व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं—'नैकट्येन' इत्यादि। वह गुम्फ (रचना-विशेष) ओजोगुण का व्यञ्जक होता है, जो समीप-समीप में प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ अर्थात् ख-घ आदि वर्णों टवर्ग के पांचो अक्षरों और जिनमें जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग तथा सकार ये अक्षर अधिक हों—ऐसे अक्षरों से बना हुआ, वर्गों के आदि चार-चार अक्षररूप झय प्रत्याहार अथवा रेफ के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हों ऐसे समीप-समीप में प्रयुक्त ह्रस्व स्वरों से युक्त, एवं बड़े-बड़े समास वाला होता है।

विशेषमाचष्टे—

अस्मिन् पतिताः प्रथम-तृतीयवर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूलाः संयोगाघटकाश्चेत्। तद्घटकास्त्वनुकूला एव। एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि।

अस्मिन् गुम्फे, पतिता गुम्फघटकाः, प्रथमे काद्याः, तृतीया गाद्याश्च ये वर्ग्या वर्गचतुष्टयघटका वर्णाः, ते माधुर्यव्यञ्जकत्वादस्यौजोगुणस्य, अनुकूला न भवन्ति, यदि संयोगस्याघटकास्तदा प्रतिकूला अपि न किन्तूदासीना भवन्ति। त एव पुनस्संयोगघटका ओजसो व्यञ्जकत्वादुपकारका एव भवन्ति। इत्थमनुस्वार-परसवर्णा अपि संयोगघटका उदासीनाः संयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः।

इस ओजोगुण व्यञ्जक रचना-विशेष के मध्य में आगत वर्गों के प्रथम और तृतीय—अर्थात् क-ग आदि वर्ण यदि संयुक्त न हों, तब ओजोगुण के न अनुकूल होते हैं, न प्रतिकूल, और यदि संयुक्त हों, तब तो अनुकूल ही हो जाते हैं। इसी तरह अनुस्वार और पर सर्वण को भी समझना चाहिये अर्थात् वे भी ओज के अनुकूल, प्रतिकूल कुछ नहीं होते।

उदाहरति—

यथा—'अयं पततु निर्दयं दलितदृप्त-' इत्यादौ प्रागुदाहृते।

न वोच्छलित-' इत्यादिनाऽऽरम्भोऽस्य पद्यस्य। गुम्फोऽयं झय्-संयोगादिघटितत्वादोजसो व्यञ्जकः, किन्तु टवर्गशून्यः।

जैसे—'अयं पततु निर्दयम्......' इत्यादि श्लोक में। इस पद्य का आरम्भ 'नवोच्छलित...' इत्यादि वाक्यों से है, और पहले रौद्र-रस आदि के उदाहरणों में लिखे जा चुके हैं। यद्यपि इस पद्य में टवर्ग के वर्ण नहीं आवे, तथापि झय् प्रत्याहार तथा संयोग आदि से युक्त होने के कारण यह पद्य ओजोगुण व्यञ्जक रचना का उदाहरण होता है। (हन्दी में भूषण कवि की रचना प्रायः इसी गुण की अभिव्यञ्जिका है)

प्रसादव्यञ्जकरचनां निरूपयति—

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य।

या घटना वर्णविशेषनियमरहिता श्रवणेनैव सद्यः करतलस्थितं बदरमिव सर्वांशैर्वाक्यार्थं निवेदयन्ती वाक्यार्थबोधिका भवति, सा प्रसादगुणस्य व्यञ्जिकाऽस्तीत्यर्थः।

अब प्रसादगुण—व्यञ्जक रचना का निरूपण करते हैं 'श्रुतमात्रा' इत्यादि। जिसके सुनते ही वाक्य का अर्थ हाथ के बेर की तरह दीखने लगे—उसके समझने में कुछ भी आयास नहीं करना पड़े–वही रचना प्रसादगुण–व्यञ्जिका कहलाती है।

अत्र विशेषमाह—

अयं च सर्वसाधारणो गुणः।

अयमेतद्घटनाव्यङ्ग्यो गुणः प्रसादस्तु सर्वेषु रसेषु सर्वासुरचनासु च साधारणः, केवलमिह वाक्यार्थस्य झटितिप्रतीतिविषयत्वमपेक्ष्यत इति भावः।

यह (प्रसाद) गुण सब रसों में सब भावों में रहता है, इस गुण की अभिव्यक्ति भी सब प्रकार की रचनाओं से हो सकती है, बशर्ते वे रचनायें झटिति अर्थबोधक हों।

उदाहरणविषये ब्रवीति—

उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि। तथापि यथा—

यद्यपि मद्रचितानि सर्वाण्येव प्रायशो बाहुल्येनात्र प्रसादव्यञ्जकरचनायामुदाहरणानि, सन्तीति विशिष्यनिर्देशस्यापेक्षा नास्ति तथापि दिग्दर्शनाय किञ्चिन्निर्दिश्यते।

प्रायः मेरे (पण्डितराज के) सभी पद्य इस गुण के उदाहरण हो सकते हैं, तथापि जैसे—

मानिनीं मुग्धां सहचरी परिबोधयति—

'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः, सख्यो विहीनप्रभाः,
प्राणेशः प्रणयाकुलः, पुनरसावास्तां समस्ता कथा।
एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे,
मुग्धे ! मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति॥'

हे मुग्धे ! त्वदस्थानमानदुराग्रहेण मनसिजः कामः, का परिणतिरस्य स्यादिति चिन्तया मीलितं सङ्कुचितं मानसं यस्य, तादृशोऽस्ति, सख्यः सहचर्यश्च विपरीतफलशङ्कया विहीनप्रभानिस्तेजस्काः सन्ति, प्राणेशः प्रियतमश्च प्रणयेनाकुलः स्वापराधानाकलनाद्व्यग्रचित्तोऽस्ति, (एतदाकलय्य मानाद्विरम, अथवा) असौ स्वजनदौस्थ्यस्य समस्ता कथा पुनरास्तां तिष्ठतु (न कथयामि, किन्तु) चेद् यदि, मम सदा हिताचरणपरायणाया उक्तिं हितां स्वोपकारिणीं मन्यसे, तर्हि, 'अधुना पूर्णचन्द्रोदयसमये, मानं मा कुरु, अन्यथा, इदं निसर्गनिष्कलङ्कमपि रोषकलुषितमिदं तवाननं राकापतिः पूर्णचन्द्रो यातनाविधानेन सकलङ्कोऽपि सुषमाप्रकर्षेण जेष्यति' इत्येतत् त्वां विनिवेदयामि कथयामीत्यर्थः।

मुग्धा मानिनी नायिका को सखी समझा रही है कि तेरे दुराग्रह को देख कर 'इसका क्या परिणाम होगा' इस चिन्ता से कामदेव का मन सङ्कुचित हो रहा है, सखियां विपरीत फल की आशङ्का से कान्तिहीन हो गई हैं और प्राण–नाथ प्रेम के कारण अधीर हो उठे हैं—अब भी तो मान का त्याग कर, अच्छा, इन बातों को छोड़ भी दे, फिर भी यदि मेरे कथन को अच्छा मानती है–जैसाकि बराबर मानती आ रही है–तो तुझसे इतना निवेदन कर देती हूं कि मुग्धे ! तू अभी मान कर, अन्यथा इस सुन्दर मुख को पूनो का चाँद जीत लेगा—कोप से मुख के कलुषित हो जाने के कारण कलङ्की चन्द्र की भी सुषमा बढ़ जायगी। ऐसी मुग्धता किस काम की ? जिसके चलते अपना हित भी समझ में न आ सके।

उपपादयति—

अत्र सर्वावच्छेदेन प्रसादाभिव्यञ्जकत्वम्, अंशभेदेन तु माधुर्यौजोऽभिव्यञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य माकुर्वादेश्च माधुर्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, सख्य- इत्यादेरोजोगमकत्वात्।

अत्रास्मिन् पद्ये मनसिज इत्यन्ते 'मा कुरु' इत्यादौ चांशे माधुर्यव्यञ्जकतायाः, सख्य इत्यादावंशे चौजोव्यञ्जकताया दर्शनादंशतो माधुर्यौजोव्यञ्जकत्वेऽपि, सर्वैरंशैर्झटित्यर्थ-समर्पणात् सर्वांशे प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमेवेतिसारम् ।

यह सम्पूर्ण श्लोक प्रसाद गुण को व्यक्त करता है, क्योंकि इसकी रचना ऐसी है, जिससे वाक्य के अर्थ को समझने में कोई कठिनता नहीं होती। हाँ! इस श्लोक का कोई-कोई अंश ऐसा भी है, जो माधुर्य और ओज को भी अभिव्यक्त करता है, जैसे—'चिन्ता-मीलित-मानसो मनसिजः' और 'मा कुरु मानमाननमिदम्' ये दोनों अंश माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं, तथा 'सख्यो विहीनप्रभाः' इत्यादि भाग ओज को ध्वनित करता है।

अत्रौजोव्यञ्जकरचनाया अप्रसक्तिमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्वत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलाऽस्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गो यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्, नायिकामानोपशान्तये कृतानेकयत्नायास्तदीयं हितमुपदिशन्त्याः सख्याः सक्रोधत्वस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासस्य साफल्यात् ।

शृङ्गार आश्रयो यस्येति विग्रहः । तदनुकूला माधुर्यव्यञ्जिका । कः प्रसङ्गो वीरादिरसाप्रतीतेः । तथा विन्यासस्य-ओजोव्यञ्जकवर्णरचनायाः । साफल्यात् सार्थकत्वात् ।

इह वीरादिरसाव्यञ्जनादोजोव्यञ्जकरचनाया निरर्थकत्वं न शङ्कनीयम्, व्यङ्ग्यसखीक्रोधोपहितरौद्ररसप्रतीत्या तद्वृत्त्योजोरचनायाः सार्थकत्वस्य स्फुटं सत्त्वादिति सारम् ।

यदि यहां यह शङ्का की जाय कि यहां शृङ्गार-रस की प्रधानता है, अतः उस रसमें रहने वाले माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करने के लिये तदनुकूल रचना ठीक है, परन्तु ओज का तो यहां कोई प्रसङ्ग ही नहीं है, क्योंकि वह (ओज) वीर-रस का गुण है और यहां रस है शृङ्गार, फिर ओजोगुण के अनुकूल रचना क्यों की गई? इसका समाधान यह है कि सखियों ने नायिका के मान को शान्त करने के लिये अनेक प्रयत्न किये पर नायिका ने अपने हठ को नहीं छोड़ा, अब भी उसके हित का ही उपदेश सखियां कर रही थीं, किन्तु नायिका उसका ग्रहण नहीं कर रही थी, इस स्थिति में सखियों का क्रोधयुक्त हो उठना स्वाभाविक है, उसी क्रोधयुक्तता को अभिव्यक्त करने के लिये ओजो गुण के अनुकूल वर्ण-विन्यास भी अंश-विशेष में किया गया है और वह सफल है।

उत्तरपक्षं समर्थयति—

किं बहुना—रसस्यौजस्विनोऽमर्षादेर्भावस्य चाविवक्षायामपि, वक्तरि क्रुद्धतया प्रसिद्धे, वाच्ये वा क्रूरतरे, आख्यायिकादौ प्रबन्धे वा परुषवर्णघटनेष्यते ।

यतो ह्योजोव्यञ्जकरचनाया रौद्रादिरसामर्षादिभावव्यञ्जनस्थल एव नैव नियतत्वम्, अतो यत्र रौद्रादिरसस्य, अमर्षादिभावस्य च यत्र न विवक्षा, तत्रापि क्रोधित्वेन प्रख्याते वक्तरि, अतिकर्कशे (दारुणतरे वा) वाच्ये, दीर्घसमासोचिताख्यायिकादौ प्रबन्धे च 'वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् । रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ।' इति मम्मटोक्तेर्वक्तृ-वाच्य-प्रबन्धानुरोधेनौजोव्यञ्जकरचना दृश्यते, तस्मादुत्तरपक्ष एव सम्यगित्याकूतम् ।

अधिक कहने सुनने की कोई आवश्यकता नहीं, जहां ओजस्वी रस (वीर आदि) और अमर्ष प्रभृतिभाव (जो ओज गुण के आश्रय के रूप में प्रसिद्ध है) नहीं भी वर्णनीय हो, वहां भी यदि वक्ता क्रोधी के रूप में प्रसिद्ध हो, अथवा वर्णनीय अर्थ क्रूरतामय हो, यद्वा लेखनीय निबन्ध आख्यायिका आदि हो, तो कठोर वर्णों का विन्यास इष्ट है।

पूर्वोदाहरणे माधुर्यसाङ्कर्यादसङ्कीर्णमुदाहरणमाह—

यथा वा—

भक्तो भगवन्तं भाषते—

'वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ ! शिक्षा मदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहम्भावावृतो निस्त्रपः ॥
इत्यागश्शतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते ! मत्तो न मत्तः परः ॥'

हे नाथ ! यदुपते ! निर्मलया स्फुटया निर्दोषया वा, सुधामधुरयाऽमृतमिष्टया, वाचा, मह्यमादौ, यां कर्तव्यशिक्षां त्वमदा व्यतार्षीः, अहम्भावोऽभिमानस्तेनावृत आच्छन्नः, निस्त्रपः कर्तव्यच्यवनोचितलज्जाशून्यः, अहं स्वप्नेऽपि का कथा जागरणस्य, तां शिक्षां, न संस्पृशामि नानुतिष्ठामि न स्मरामि वा, इत्यागश्शतशालिनमेवंरूपकापराधशतविधायिनं मां, पुनरपि तथापि, स्वीयेष्वात्मीयजनमध्ये, बिभ्रतो गणयतः पुष्णतो वा त्वत्तस्त्वत्सकाशात्, परोऽन्यो दयानिधिः कारुणिकतमो मत्तो मत्सकाशात् परो मत्तः क्षीवोऽज्ञानोपहतान्तरात्मा वा नास्तीत्यर्थः।

अच्छा, यदि माधुर्य और ओजोगुण से सङ्कीर्ण प्रसाद के उदाहरण में आपत्ति उठती है, तो, जाने दीजिये उसको अब शुद्ध प्रसाद गुण का ही उदाहरण लीजिये—हे नाथ ! आप ने अमृत तुल्य मधुर और निर्मल वाणी के द्वारा, जो शिक्षा दी, उसे अहङ्कार से आच्छन्न तथा निर्लज्ज मैं सपने में भी नहीं छूता-स्मरण करता। हे यदुपते! इस तरह सैकड़ों अपराधों से युक्त होने पर भी मुझको आत्मीय जनों में गिनने वाले आपसे अधिक कोई दयालु नहीं है, और मुझ से अधिक कोई मत्त (पागल) नहीं है।

उपपादयति—

अत्र गुणान्तरासमानाधिकरणः प्रसादः ।

अत्र माधुर्येणौजसा वा न प्रसादः सङ्कीर्णः, किन्तु स्वतन्त्र इत्यर्थः ।

यहाँ अन्य गुणों से अमिश्रित अर्थात् केवल-प्रसाद गुण है ।

अथोक्तरचनासु सामान्येन विशेषेण च श्रवणोद्वेजकत्वाद्वर्जनीयानां निरूपणमवतारयति—

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मितेः परिचयाय, सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किञ्चिन्निरूप्यते—

वर्णानां स्वानन्तर्यं सकृदप्येकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम् ।

निर्मिते रचनायाः ।

किञ्चिदित्यनेन क्वचित्तस्य क्षम्यता सूच्यते ।

स्वानन्तर्यं स्वाव्यवहितोत्तरत्वं, वर्णानां, किञ्चिदीषत्, अश्रव्यं श्रवणेऽप्रियत्वादनर्हं तदा भवति, यदि एक पदगतमेकस्मिन्नेव पदे तद्वर्णद्वयं तिष्ठेदित्यर्थः ।

अब उक्त गुणों को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखने वाली रचना के परिचय कराने के लिये, साधारणतया-अर्थात् जिनको सब रसों में छोड़ना चाहिये और विशेषतया—अर्थात् जिनको किसी-किसी खास रस में ही छोड़ना चाहिये, सब में नहीं, त्याज्यों का कुछ निरूपण किया जाता है। एक बार भी यदि कोई वर्ण एक ही पद में लगातार दो बार प्रयुक्त हो, तो वह सुनने में कुछ भद्दा सा लगता है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिये।

उदाहरति—

यथा—'ककुभसुरभिः, विततगात्रः, पललमिवाभाति' इत्यादौ ।

ककुभः कुटजः । पललं मांसम् । अत्र ककारद्वयस्य, तकारद्वयस्य, लकारद्वयस्य चैकपदघटकस्य सकृदप्यव्यवधानं किञ्चिदश्रव्यत्वाद् वर्जनीयमिति भावः ।

जैसे—ककुभसुरभि (कुटज पुष्पके समान सुगन्धित), विततगात्र (विस्तृत अङ्ग वाला), और पललमिवाभाति (मांस सा दीखता है), इत्यादि स्थलों में। तात्पर्य यह है कि यहां क्रमशः क-क, त-त और ल-ल ये अक्षर एक ही एक ही पद में लगातार दो-दो बार प्रयुक्त होने के कारण अश्रव्य हो गये हैं।

विशेषमाचष्टे—

असकृच्चेदधिकम्।

एकपदघटकानां वर्णानामसकृदनेकवारं यदि स्वानन्तर्यं, तर्हि तदधिकं नितरामश्रव्यत्वाद्वर्जनीयमित्याशयः।

यदि एक ही पद में अनेक बार एक ही अक्षर लगातार प्रयुक्त हों, तब तो और अधिक अश्रव्यता-दोष आ जाता है।

उदाहरति—

यथा—'विततततरस्तरुरेष भाति भूमौ'।

अत्रैकपदघटकस्य तकारस्य द्विःस्वानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्। अतो न क्षम्यमित्याशयः।

जैसे—'विततततर......' इत्यादि मूलोक्त व्याक्य में। यहां एक ही पद में लगातार तीन बार तकार का प्रयोग हुआ है।

स्वानन्तर्यस्य पृथक्पदघटकत्वेऽप्यश्रव्यत्वमाह—

एवं भिन्नपदगतत्वेऽपि।

एवमेकपदवत्।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी कुछ अश्रव्य प्रतीत होता है।

उदाहरति—

यथा—'शुक ! करोषि कथं विजने रुचिम्' इत्यादौ।

अत्र पृथक्पदघटकयोः ककारयोः सकृदानन्तर्यमीषदश्रव्यमिति ज्ञेयम्।

जैसे—'शुक ! करोषि......' इत्यादि मूलोक्त वाक्य में। यहां भिन्न-भिन्न पदों में ककार का एक बार प्रयोग हुआ है।

पृथक्पदघटकत्वेऽसकृत् स्वानन्तर्यस्यातिवर्ज्यत्वमभिदधाति—

असकृद्भिन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम्।

ततः पूर्वापेक्षयाऽप्यधिकमश्रव्यम्।

भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक श्रवण-पीड़ा-दायक होता है।

उदाहरति—

यथा—'पिक ! ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'।

ककुभोदिशः। इह भिन्नपदघटककककारासकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्।

जैसे—'पिक ! ककुभो......' इत्यादि मूल के पदों में। यहां भिन्न-भिन्न पद में ककार का चार बार प्रयोग हो गया है। वाक्य का अर्थ यह है कि 'रे कोकिल ! तू, दिशाओं को यथेच्छ अपनी गूँज से भर दे'।

इत्थं स्वानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं प्रतिपाद्य, स्ववर्ग्यानन्तर्यस्य तत् प्रतिपादयति—

एवं स्ववर्ग्यानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किञ्चिदश्रव्यम्।

एवं स्वानन्तर्यवत्।

इसी प्रकार जिस वर्ग का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ उसी वर्ग के भिन्न अक्षर का प्रयोग, यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी कानों में कुछ खटकता है।

उदाहरति—

यथा—'वितथस्ते मनोरथः।'

वितथो निष्फलः।

अत्र तकार-थकारयोरेकवर्गघटकयोरेकपदगतयोरानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यम्।

जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' (तुम्हारा मनोरथ विफल है) इस वाक्य में 'त' और 'थ' का।

विशेषमाह—

असकृच्चेदधिकम्।

असकृत् स्ववर्ग्यानन्तर्यं वर्णानां यदि स्यात्, तदा नितरां तदश्रव्यमित्यर्थः।

एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अश्रव्य होता है।

उदाहरति—

यथा—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः।'

प्रतीमो जानीमः।

इह तकार-थकार-तकाराणामेकपदास्थानामसकृदानन्तर्यमधिकमश्रव्यम्।

जैसे—'वितथतरम्'... इत्यादि मूल के वाक्य में। यहाँ त-थ-त का प्रयोग। वाक्य का अर्थ यह है कि 'तेरे वचन को हम अत्यन्त मिथ्या समझते हैं'।

भिन्नपदघटकवर्णानां सकृत् स्ववर्ग्यानन्तर्यस्य किञ्चिदश्रव्यत्वमभिधत्ते—

एवं भिन्नपदगतत्वे।

एवमेकपदघटकत्ववत्।

इसी तरह भिन्न-भिन्न पदों में भी एक-वर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है।

उदाहरति—

यथा—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादौ।

अत्र भिन्नपदघटकयोस्थकार-तकारयोः सकृदानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यमवसेयम्।

जैसे—'अथ तस्य'...इत्यादि मूलपद्यांश में। यहां भिन्न-भिन्न पदों में लगातार एक वर्गीय 'थ' और 'त' का प्रयोग।

भिन्नपदघटकस्ववर्ग्यासकृदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

असकृद् भिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम्।

तत एकवारापेक्षयाऽपि।

भिन्न पदों में भी बार-बार ऐसा होने पर और अधिक अश्रव्य हो जाता है।

उदाहरति—

'अथ तथा कुरु, येन सुखं लभे'।

इह भिन्नपदघटकानां थकार-धकार-थकाराणामसकृदानन्तर्यं नितरामश्रव्यम्।

जैसे—'अथ तथा'..... इत्यादि मूल की पाँती में। यहाँ 'थ-त-थ' का प्रयोग।

विशेषमाह—

एतच्च वर्गाणां प्रथमद्वितीययो-स्तृतीयचतुर्थयोरान्तर्यम्।

वर्गाणां प्रथमद्वितीययोः, तृतीयचतुर्थयोर्वा वर्णयोर्यत् सकृदसकृद्वाऽऽनन्तर्यं, तदेव नितरामश्रव्यमित्यर्थः ।

यह एक वर्ग के वर्णों का सह-प्रयोग [प्रथम के बाद द्वितीय का और तृतीय के बाद चतुर्थ का हो, तभी अश्रव्य होता है ।

तदतिरिक्तानामीषदश्रव्यत्वमाचष्टे—

प्रथमतृतीययो-द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नाश्राव्यम् , किन्त्वीषत् , निर्माणमार्मिकैकवेद्यम् ।

सकृदिति शेषः ।

तथा प्रथमद्वितीयानन्तर्यवदधिकम् । ईषत्त्वस्य विवरणं निर्माणेत्यादि ।

यथा प्रथमद्वितीययोः सकृदानन्तर्यमश्रव्यं, तथा प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं नाधिकमश्रव्यम् , किन्तु निर्माणे काव्यरचनायां ये मार्मिकाः (निपुणतयाः) तन्मात्रवेद्यमत्यल्पमित्यर्थः । उदाहरणन्तु 'निगदति खगः शुकोऽयम्' इत्यादि ज्ञेयम् ।

एक वर्गीय प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और तृतीय अक्षरों का सहप्रयोग तो उतना अश्रव्य नहीं होता—बहुत कम होता है, जिसको रचना-मर्मज्ञ जन ही समझ सकते हैं ।

असकृत्तदानन्तर्यस्य नितरामश्रव्यत्वमाह—

एतदप्यसकृच्चेत् , ततोऽधिकत्वात् साधारणैरपि वेद्यम् ।

एतत् प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोरानन्तर्यमपि, यद्यसकृत् स्यात् , तर्हि तत्राश्रव्यत्वस्याधिक्यात् साधारणैर्निर्माणमार्मिकभिन्नैरपि ज्ञेयत्वं भवतीत्यर्थः ।

यह (प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय का सहप्रयोग) भी यदि बार-बार हो, तब उसे साधारण शिक्षित भी समझ सकते हैं ।

क्रमेणोदाहरति—

यथा—'खग ! कलानिधिरेष विजृम्भते ।' 'इति वदति दिवानिशं स धन्यः ।'

इह पूर्वत्र खकार-गकार-ककाराणां वर्गद्वितीय-तृतीयप्रथमानामसकृदानन्तर्यात् , परत्र च दकार-तकार-दकाराणां वर्गतृतीय-प्रथम-तृतीयानामसकृदानन्तर्यादधिकाश्रव्यत्वम् ।

जैसे—'खग !' कला......' इत्यादि और 'इति वदति दिवा......' इत्यादि मूल लिखित वाक्यों में । यहाँ प्रथम वाक्य में ख-ग-क' रूप वर्ग के द्वितीय-तृतीय और प्रथम अक्षरों का अनेक बार सहप्रयोग है, एवं द्वितीय वाक्य में 'द-त-द' रूप वर्ग से तृतीय-प्रथम और फिर तृतीय का अनेक बार सहप्रयोग हुआ है ।

वर्गपञ्चमवर्णानन्तर्यविषये विशेषमाह—

पञ्चमानां मधुरत्वेन स्ववर्ग्यानन्तर्यं न तथा ।

वर्गपञ्चकस्य ये पञ्चमा ङकारादयो वर्णाः, तेषां स्ववर्ग्यैः सहानन्तर्यं मधुरत्वात् तथाऽश्रव्यं न भवतीत्यर्थः ।

पांचों वर्गों के पञ्चम अर्थात् 'ञमङणन' मधुर अक्षर हैं, अतः उनमें से किसी भी वर्ण का अपने-अपने वर्ग के किसी भी भिन्न अक्षर के साथ प्रयोग अश्रव्य नहीं होता ।

उदाहरति—

यथा—'तनुते तनुतां तनौ ।'

अत्र नकारस्य तकारेण सहासकृदानन्तर्यं नैवाश्रव्यं मधुरत्वात् ।

जैसे—'तनुते तनुतां तनौ' अर्थात् 'शरीर में कृशता का विस्तार करता है' इस वाक्य में नकार का तकार के साथ अनेक बार अव्यवधानेन प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं हुई ।

विशेषमभिदधाति—

स्वानन्तर्यं त्वश्रव्यमेव ।

वर्गपञ्चमानामपि स्वानन्तर्यमश्रव्यमेव, न तु मधुरम्, स्ववर्गघटकस्वान्यानन्तर्यस्यैव मधुरत्वात् ।

'ञमङणन' इन पञ्चम वर्णों में भी किसी एक ही वर्ण का साथ ही साथ बार-बार प्रयोग तो अश्रव्य होता ही है ।

उदाहरति—

यथा—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत् ।'

इह मकारस्य मकारेणैवासकृदानन्तर्यमश्रव्यम् ।

जैसे—'मम महती मनसि व्यथाऽविरासीत्' **अर्थात् 'मेरे मन में बड़ी व्यथा उत्पन्न हुई' इस वाक्य में मकार का प्रयोग ।**

प्रागुक्तानामपवादमाह—

एतानि चाश्रव्यत्वानि गुरुव्यवायेनापोद्यन्ते ।

गुरुव्यवायेन गुरुवर्णव्यवधानेन । अपोद्यन्ते बाध्यन्ते ।

प्राग्यावन्त्यश्रव्यत्वानि कथितानि, तत्र सर्वत्र यदि गुरुरज्वर्णो व्यवधानं भवेत्, तदाऽश्रव्यत्वदोषस्य बाधः स्यात् ।

पूर्व में जितनी अश्रव्यतायें कही गई हैं, वे सब तब दूर हो जाती हैं, जब दो अश्रव्य व्यञ्जनों के बीच में गुरु स्वर रख दिया जाता है ।

उदाहरति—

'सञ्जायतां कथङ्कारं काके केका-कलस्वनः ।'

इह गुरुभिराकारैकाराकारैर्व्यवधानात् ककारस्यासकृत् स्वानन्तर्यमपि नाश्रव्यम् । काकेति प्रथमान्तपाठे सम्बोधनम्, तवेत्यध्याहारः । यत्तु टीकायां सप्तम्यन्तपाठस्यैव युक्तत्वमभिहितम्, तच्चिन्त्यम्, प्रथमान्तपाठे काकेति वर्णसमुदायावृत्त्या यमकस्य लाभात् षष्ठीतत्पुरुषाङ्गीकारे तवेत्यध्याहारानपेक्षणात् ।

जैसे—'सञ्जायतां कथंकारं काके केकाकलस्वनः'—**अर्थात् 'कौवे में मयूर-वाणी सा मधुर शब्द कैसे हो' इस वाक्य में यद्यपि ककार का लगातार अनेक बार प्रयोग हुआ है, तथापि वह अश्रव्य नहीं लगता, क्योंकि बीच-बीच में आदर आदि गुरु स्वर आ गये हैं ।**

दार्ढ्याय पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः परामृशति—

'यथा यथा तामरसायतेक्षणा, मया सरागं नितरां निषेविता ।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो-विकृष्य मामेकरसं चकार सा ॥'

सा शतशोऽनुभूता प्रसिद्धा वा, तामरसायतेक्षणा सरोजदीर्घनयना, मया, सरागं सप्रणयं नितरामत्यन्तं, यथायथा येन येन प्रकारेण, निषेविता परिचरिता भावितोपभुक्ता वा, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण तत्त्वकथा गुरुकृतब्राह्मणोपदेशभणितिरिव, माम्, सर्वतः सर्वेभ्यो विषयेभ्यः, विकृष्याकृष्य, एकरसं स्वमात्रसंलग्नचित्तं चकारेत्यर्थः ।

अत्र 'था-ता' 'था त' 'था त' इत्यंशेषु थकारस्य स्ववर्ग्येण तकारेणानन्तर्यं दीर्घाकारगुरुव्यवधानान्नाश्रव्यम् । एवं 'मा मे' इत्यंशे स्वानन्तर्येऽपि दीर्घव्यवायादश्रव्यत्वाभावो बोध्यः ।

से कहता है अथवा स्वयं सोचता है कि—मैंने उस कमलनयनी नायिका का प्रेमपूर्वक ज्यों-ज्यों पूर्णतया सेवन किया, त्यों-त्यों उसने मुझे, तत्त्व-कथा (गुरुप्रदत्त ब्रह्मोपदेश) की तरह, सब ओर से खींच कर, एक-रस कर दिया—अर्थात् जैसे ब्रह्मज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही केवल दीख पड़ता है, वैसे मुझे भी सब जगह वही नायिका दिखाई देने लगी है। यहां 'था-ता-' 'था त' 'था त' इन अंशों में थकार का स्ववर्गीय तकार के साथ अव्यवधानेन प्रयोग, दीर्घ आकार-स्वर के मध्य में रख देने से अश्रव्य नहीं हुआ।

तदाह—

इदन्तु दीर्घव्यवाये।

दीर्घत्वाद् येषां गुरुत्वं, तद्व्यवधानस्येदमुदाहरणम्।

गुरु स्वर दो प्रकार के होते हैं—दीर्घ और ह्रस्व, जिनके आगे में संयुक्त व्यञ्जन होता है। उनमें से पूर्वोक्त उदाहरणों में दीर्घ होने के नाते गुरु स्वरों के मध्य में आ जाने के कारण अश्रव्यता निवृत्त हो गई-यह दिखाया गया है।

येषां पुनर्लघूनामपि संयोगपरकत्वेनातिदेशिकं गुरुत्वं तद्व्यवधानमुदाहरति—

संयोगपरव्यवाये तु—

'सदा जयानुषङ्गाणा-मङ्गानां सङ्गरस्थलम्।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति, तत्तत्तुरगताण्डवैः॥'

सदा सततं, जयेऽनुषङ्गः सम्बन्धो येषां, यद्वा जय एवानुषङ्ग आनुषङ्गिकफलं येषां, तथाभूतानाम्, अङ्गानां गङ्गादक्षिणतटस्थदेशविशेषाणां तद्वासिनां वा, सङ्गरस्थलं युद्धस्थानम्, तत्तत्तुरगताण्डवैस्तेषां तेषां तुरगाणामश्वानां ताण्डवैर्मुहुर्मण्डलाकारसञ्चारणरूपोद्धतनृत्यैः रङ्गाङ्गणमिव नृत्यशालाप्रस्थलमिव आभाति शोभत इत्यर्थः।

अत्र चतुर्थचरणे ह्रस्वस्य संयोगपरकत्वप्राप्तगुरुत्वस्यावर्णस्य व्यवाये स्वानन्तर्यं तकारस्य नाश्रव्यम्।

अब ह्रस्व होने पर भी जो स्वर आगे में संयुक्त व्यञ्जन के रहने से गुरु हो गये हैं, उनके मध्य में आ जाने से अश्रव्यता की निवृत्ति का उदाहरण देखिये—'सदा जयानु......' इत्यादि। कवि अङ्ग देश के राजाओं का वर्णन करता है कि—जय जिनका सर्वदा आनुषङ्गिक-स्वाभाविक फल रहा-अर्थात् जो सदा विजयको ही पाते रहे-कभी पराजित नहीं हुये, उन अङ्गदेश-वासियों का युद्ध-स्थल उन-उन (विलक्षण) अश्वों के नृत्यों (गति-विशेषों) से नाटक-घर के प्राङ्गण सा भासित होता है। यहां चतुर्थ चरण में तकार का बार-बार लगातार प्रयोग हुआ है, फिर भी अश्रव्यता नहीं, क्योंकि संयुक्त व्यञ्जन के आगे में रहने से गुरु बना हुआ अकार बीच में आ गया है।

उक्तापवादे विशेषमभिधत्ते—

इदन्तु बोध्यम्—गुरुर्ययोर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयो-रानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमपवदति, तेनात्र [थकारतकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि] तकारथकारानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमनपनोदितमेव।

अपवदति बाधते। अत्र 'यथायथा' इत्यादिपद्ये। अनपनोदितमनिरस्तं विद्यमानमेवेति यावत्।

ययोर्वर्णयोर्मध्यपाती गुरुः, तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं व्यपोहति, नतु तदुत्तरस्थास्यापि, तस्माद्यथेत्यादिपद्ये गुर्वाकारव्यवहितयोस्थायेति थातेति-थकारतकारयोरेवानन्तर्यस्याश्रव्यत्वं व्यापोढम्, नतु तथेति तथेति तकारथकारयोरपि, ततस्तदंशेऽश्रव्यताऽस्त्येवेत्याशयः।

यहां एक बात और समझने योग्य यह है कि—जिन दो वर्णों के बीच में गुरु स्वर

आता है, उन दोनों वर्णों के सामीप्य (एक के बाद एक की स्थिति) से उत्पन्न अश्रव्यता को ही वह गुरु दूर करता है, अतः 'यथा-यथा तामरसा……' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'था-त' 'था-त' इस अंश में जो थकार के अनन्तर तकार आया है, उनका दोष दूर हो जाने पर भी तकार के बाद थकार के आने से जो अश्रव्यता उत्पन्न होती है, वह बनी ही रही-उसकी निवृत्ति नहीं हुई, क्योंकि उसके मध्य में कोई गुरु स्वर नहीं, अपि तु ह्रस्व अकार है।

अश्रव्यान्तरं वदति—

एवं त्र्यादीनां संयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्यः।

एवमुक्तस्थलवत् त्र्यादीनां त्रिप्रभृतीनां (त्रयाणां चतुर्णां वा) वर्णानां, संयोगोऽपि प्रायेण बहुधाऽश्रव्यो भवतीत्यर्थः। प्रायेणेति क्वचित् त्र्यादिसंयोगस्याप्यश्रव्यत्वं सूचयति।

इसी प्रकार तीन अथवा तीन से भी अधिक वर्णों का संयोग भी प्रायः अश्रव्य होता है। यहां प्रायः-पद इस बात को सूचित करता है कि कहीं-कहीं तीन-चार वर्णों का संयोग भी अश्रव्य नहीं होता।

उदाहरन्नुपसंहरति—

'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति' इत्येवमादयः श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनुभवानुसारेण बोध्याः।

श्रुतिकाटवं श्रुतिकटुत्वम्।

राष्ट्र इत्यत्र षकार-टकार-रेफाणां त्रयाणाम् उष्ट्र्य इत्यत्र च यकारसहितानां तेषां चतुर्णां संयोगः। अन्येऽपि श्रुतिकटुत्वप्रकारा एवमूहनीया इति सारम्।

जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति'-अर्थात् 'तेरे राष्ट्र में उटनियां चारो ओर चरती-फिरती हैं' इस वाक्य में एक जगह षकार-टकार-रेफों का और दूसरी जगह षकार-टकार-रेफ-यकारों का संयोग है। इसी प्रकार श्रुति-कटुता के अन्य अन्य भेदों को भी अनुभव के अनुसार समझ लेना चाहिये।

पुनरश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य भिन्नपदगतस्य सकृदप्यश्रव्यम्, असकृत् तु सुतराम्।

पृथक् पदघटकस्य संयोगस्य सकृदपि दीर्घादव्यवहितोत्तरत्वमश्रव्यम्भवति, असकृत् पुनः सुतरामश्रव्यं भवतीत्यर्थः।

पूर्व पद के अन्त में दीर्घ स्वर हो और उसके आगे दूसरे पद में संयोग हो, तो उसका एक बार भी प्रयोग अश्रव्य होता है और यदि अनेक बार हो, तब तो बहुत ही अधिक अश्रव्य होता है। यहां एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि-यह दोष संस्कृत में ही होता है, हिन्दी में नहीं, क्योंकि वहां भिन्न पद में संयोग के रहने पर भी पूर्व-पद के स्वर का गुरु जैसा उच्चारण करने की रीति प्रायः नहीं है।

उदाहरति—

'हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते।
सेवितं सर्वसम्पद्भि-रपि तद्भवनं वनम्॥'

यत्र भवने, हरिणीप्रेक्षणा मृगीविलोचना, गृहिणी, न विलोक्यते, सर्वसम्पद्भिः सेवितमपि तद्भवनं वनमित्यर्थः। अत्र हरिणीपदघटकदीर्घेकारानन्तर्यं प्रेक्षणापदावयवस्य प्रेतिसंयोगस्य सकृदित्यश्रव्यम्। समासादिहैकपदत्वेऽपि भिन्नपदत्वं प्रागुक्तयुक्त्याऽवसेयम्। ईदृशन्त्वश्रव्यत्वं पण्डितराजस्यापि पद्येषु—'ब्रह्मविद्या-प्रपञ्चः' 'रम्या स्फुरति बहुविधा' 'आप्रयागात्' इत्यादिषु बहुश उपलभ्यते। असकृद्दीर्घाव्यवहितोत्तरसंयोगोदाहरणं मृग्यम्।

जैसे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र······' इत्यादि। अर्थात्–जहां मृगी सी चपल और विशाल नयनों वाली गृहिणी (घर की मालिकिन) दृष्टि-गोचर नहीं होती, वह गृह सब सम्पत्तियों से भरा पूरा होने पर भी वन है—निर्जन वन के एकान्त वास जैसा ही वहां का वास मनहूस होता है। यहां पूर्व-पद 'हरिणी' शब्द के आगे पकार और रेफ का संयोग है।

अभिन्नपदकत्वे दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य नाश्रव्यमित्याह—

एकपदगतस्य तु तथा नाश्रव्यम्।

किञ्चिदश्रव्यं तु भवत्येवेति तथा शब्देन सूच्यते।

यदि दीर्घस्वर और उसके आगे का संयोग एक ही पद में हों, तब वैसी अश्रव्यता नहीं होती।

उदाहरति—

यथा—'जाग्रता विचितः पन्थाः, शात्रवाणां वृथोद्यमः।'

वृथा व्यर्थ उद्यमो यत्र, तादृशः शात्रवाणां शत्रूणां पन्थाः, मया जाग्रता विचितोऽन्विष्ट इत्यर्थः। इह जाग्रतेत्येकपदघटकत्वे दीर्घानन्तर्यं ग्रेतिसंयोगस्य तु तथा नाश्रव्यम्।

जैसे—'जाग्रता ·····' इत्यादि—अर्थात्-व्यर्थ उद्योग वाले शत्रुओं के मार्ग को मैंने सावधानतापूर्वक खोज निकाला। यहां 'जाग्रता' इस एक पद में 'जा' के आगे 'ग-र' का संयोग उतना अश्रव्य नहीं होता।

संयोगान्तरे विशेषमभिधत्ते—

परसवर्णकृतस्य तु संयोगस्य सर्वथा दीर्घाद् भिन्नपदगतत्वाभावान्मधुरत्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम्।

परसवर्णनिष्पन्नो हि संयोगः पूर्वपदावयवत्वात् सर्वथा भिन्नपदघटक एकपदाघटको न, मधुरः सुश्रवश्च भवतीति तस्य दीर्घानन्तर्यं नेषदप्यश्रव्यं भवतीत्यर्थः।

पर-सवर्ण से बने हुए संयोग का दीर्घ स्वरके अनन्तर विद्यमान होना, नाम मात्र भी अश्रव्य नहीं होता, क्योंकि वह संयोग सर्वथा भिन्न पद-गत नहीं होता और मधुर भी होता है।

उदाहरति—

यथा—'तान्तमालतरुकान्ति–' इत्यादिपद्ये।

पूर्वमुदाहृते।

जैसे—'तान्तमाल-तरु-कान्ति लङ्घिनीम्···' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में।

इह 'तान्ते'ति 'नीङ्घि'मिति संयोगस्य दीर्घानन्तर्यं भिन्नपदगतत्वाभावान्न श्रव्यमित्याह—

अत्र 'ता'मित्यत्र 'नी'मित्यत्र च परसवर्णस्य पूर्वपदभक्ततया न संयोगोभिन्नपदगतः।

भक्तत्वमवयवत्वम्।

उक्त श्लोक के 'तान्त और नीङ्घि' इन दोनों स्थानों में जो परसवर्ण हुआ है, वह पूर्व-पद का अङ्ग है, अतः यह संयोग भिन्न-पद में होने वाला नहीं कहा जा सकता।

ननु 'हलोऽनन्तराः संयोगः' इति सूत्रभाष्ये प्रत्येकं हल्वर्णानां संयोगसंज्ञाया अपि व्यवस्थापना–तत्पक्षे 'तान्ते'त्यादौ संयोगस्य भिन्नपदघटकत्वमस्त्येवेति चेत्, उच्यते—तथासति नकारस्य पूर्वपदावयवत्वाभावात् तेन व्यवहितस्य संयोगस्य न दीर्घाव्यवहितपरत्वमिति न दोष इत्याह—

प्रत्येकं संयोगसंज्ञेति पक्षेऽपि भिन्नपदगतः संयोगो न दीर्घाव्यवहितपरः।

यदि आप कहें कि व्याकरण-भाष्य के कर्ता पतञ्जलि ने 'प्रत्येकं संयोगसंज्ञा'-अर्थात्

'संयुक्त व्यञ्जनों में प्रत्येक व्यञ्जन को पृथक्-पृथक् संयोग कहना चाहिये' यह पक्ष भी माना है, तदनुसार तो उक्त स्थल में 'न' और 'त' आदि दोनों अलग-अलग संयोग कहे जायेंगे, फिर 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत कहलायगा, इसका उत्तर यह है कि उक्त रीति से 'त' रूप संयोग भिन्न पदगत अवश्य हुआ, परन्तु वह दीर्घ स्वर से अव्यवहित अग्रिम वर्ण ही नहीं हुआ, क्योंकि मध्य में 'नकार' व्यवहित है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि समुदाय को संयोगसंज्ञक मानिये, चाहे प्रत्येक को, यहां अश्रव्यता नहीं हो सकती।

नन्वेवमपि 'नव-अम्बुद-' इत्यत्र दीर्घैकादेशस्य पूर्वापरपदद्वयावयवत्वे निर्णीते, परपदगतस्य 'म्बु' इति संयोगस्य, पूर्वपदावयवदीर्घाकारादानन्तर्यं भिन्नपदघटकत्वं चास्त्ये-वेत्यश्रव्यत्वं दुष्परिहरमिति चेत्, न, भिन्नपदगतत्वमित्यस्यैकपदाघटकत्वपरत्वात्, प्रकृते दीर्घैकादेशस्य पूर्वपदस्याप्यवयवत्वेन संयोगघटितपरपदघटकत्वादेकपदाघटकत्वस्या-भावान्न दोष इत्याह—

'नवाम्बुदे-'त्यत्र त्वेकादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वे सत्य-व्यवहितोत्तरत्वं यद्यपि परसवर्णकृतसंयोगस्य भवति, तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्व-मेकपदगतभिन्नत्वं विवक्षितमित्यदोषः।

इसी श्लोक के 'नवाम्बुद' पद में 'नव' शब्द के अन्तिम स्वर 'अ' और 'अम्बुद' शब्द के आदि स्वर 'अ' के स्थान में जो 'आ' दीर्घ हुआ है, वह व्याकरण के नियमानुसार एका-देश है, अतः वह व्याकरण के 'अन्तादिवच्च' सूत्र के बल से दोनों पदों का अवयव माना जाता है, इसलिये जब वह पूर्व पद का अवयव माना जायगा, तब 'म्बु' में जो संयोग है, वह यद्यपि भिन्न-पद-गत है, दीर्घ से आगे है, तथा उसके बीच में कोई व्यवधान भी नहीं है, अत एव यहां अश्रव्यता दोष हो सकता था। तथापि यहां 'भिन्न-पद-गत' संयोग उसे ही माना गया है, जो किसी एक पद के अन्तर्गत न हो, अतः कुछ दोष नहीं होता। सारांश यह है कि 'नव' और 'अम्बुद' पद यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि समास हो जाने के कारण 'नवाम्बुद' रूप एक पद हो गया है, अतः अश्रव्यता का अवसर नहीं रहा।

इत्थं दीर्घादनन्तरस्य परसवर्णानिष्पन्नस्य भिन्नपदघटकस्य संयोगस्य सकृदपि प्रयोगेऽ-श्रव्यत्वं चेत्, तदा किमुतासकृत्प्रयोग इत्याख्याति—

असकृत्तु सुतराम्।

अश्रव्यत्वमिति शेषः।

पूर्वोक्त भिन्न-पद-गत संयोग यदि बार-बार आवे, तब और अधिक कर्णकटु हो जाता है।

उदाहरति—

यथा—'एषा प्रिया मे क गता त्रपाकुला'।

इह 'प्रेति' 'त्रेति' संयोगयोर्भिन्नपदगतयोर्दीर्घाकारानन्तर्यात् दोषः।

जैसे—'एषा प्रिया मे क गता भयाकुला'-अर्थात्-'यह मेरी प्रेयसी लज्जा से व्याकुल होकर कहां गई' इस वाक्य में। यहां उक्त प्रकार का संयोग बार-बार आया है—अर्थात् 'प्र' और 'त्र' इन दो स्थानों पर है।

नन्वनेनाश्रव्यत्वेन काव्यस्य का क्षतिरित्याकाङ्क्षायामभिदधाति—

इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते।

पङ्गुत्वं खञ्जता।

पङ्गुत्वं शरीरस्येवाश्रव्यत्वं काव्यस्यापकर्षकमित्येव क्षतिरित्याशयः।

उक्त अश्रव्यतायें काव्यकी पङ्गुता (लङडापन) जैसी लगती है—अर्थात् इन अश्रव्य-

ताओं के कारण काव्य की सरस धारा में रुकावट पैदा हो जाती है, अतः इनका परिहार करना नितान्त आवश्यक है।

अश्रव्यान्तरमाचष्टे—

अथ स्वेच्छया सन्ध्यकरणं सकृदप्यश्रव्यम्।

स्वेच्छयेत्यनेन प्रकृतिभावव्यवच्छेदः। सन्धिः सन्धिकार्यं यणादि।

सूत्रापेक्षया सकृदपि यदि सन्धिकार्यं न क्रियेत, तदप्यश्रव्यं स्यादित्यर्थः।

अब सन्धि के नियमों के सम्बन्ध में सुनिये। अपनी इच्छा से (न कि व्याकरण के नियम से) एक बार भी सन्धि का नहीं करना अश्रव्य होता है।

उदाहरति—

यथा—'रम्याणि इन्दुमुखि! ते किलकिञ्चितानि।'

किलकिञ्चितं 'स्मितशुष्करुदित-हसित-त्रास-क्रोध-श्रमादीनाम्। साङ्कर्यं किलकिञ्चित-मभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्।' इत्युक्तलक्षणम्। अत्रेकारद्वयस्य सूत्रप्राप्तोऽपि सवर्णदीर्घ उपेक्षित इत्यश्रव्यता।

जैसे—'रम्याणि ....' इत्यादि-अर्थात् 'हे चन्द्रवदने! तुम्हारे ये किलकिञ्चित (अभीष्ट जन के संगम आदि हेतुओं से उत्पन्न हर्ष के कारण होने वाले ईषत्-हास्य, शुष्क-रोदन, क्रोध, भय और श्रम आदि भावों का मिश्रण) बड़े रमणीय हैं'। यहां 'रम्याणि' पद का अन्तिम और 'इन्दुमुखि' पद का आदिम इकार का ऐच्छिक सन्धि-विरह अश्रव्य है।

प्रगृह्यसंज्ञया प्रकृतिभावे सकृत् सन्धिकार्याकरणे नाश्रव्यत्वम्, असकृत्त्वश्रव्यत्वमेवेत्याह—

प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्वसकृदेव।

सकृत् सन्ध्यकरणस्य दुष्टत्वे तु विधायकशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत।

प्रगृह्यसंज्ञा के कारण जो सन्धि नहीं की जाती वह बार-बार आवे, तभी अश्रव्य होती है, केवल एक बार आने से नहीं।

उदाहरति—

'अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः'।

अत्र द्विरवादेशदीर्घरूपसन्धिकार्याकरणं प्रगृह्यसंज्ञाप्रकृतिभावप्रयुक्तमित्यश्रव्यता।

जैसे—'अहो अमी .....' इत्यादि-अर्थात् 'चन्द्रमुखी नायिका के ये विलास आश्चर्य-जनक हैं'। यहां ओ + अ और ई + इ में।

एवं 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रेण य-वयोर्लोपस्यासिद्धताप्रयुक्तमसकृद् विश्लेषरूपं सन्धिकार्याननुष्ठानमप्यश्रव्यमित्युपदिशति—

एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम्।

उदाहरति—

'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः'।

अत्रासकृद्यलोपस्यासिद्धत्वाद्गुणवृद्धिरूपसन्धिकार्याननुष्ठानादश्रव्यत्वम्। वस्तुतस्त्वत्र सन्धिविश्लेषतादोषः। 'इषव' इत्यत्र 'इव त' इति पाठान्तरम्।

इसी तरह 'य' और 'व' के लोप हो जाने के कारण जो सन्धि नहीं की जाती, वह भी यदि बार-बार आवे तो कर्णकटु प्रतीत होती है, जैसे—'अपर इषव......' इत्यादि—अर्थात् 'कामिनियों के ये कटाक्ष दूसरे बाण हैं' यहां अ + इ और अ + ए में।

स्वकीयकाव्य एतद्दोषमाशङ्क्य परिहरति—

कथं तर्हि—

चाटुकारो नृपमाचष्टे—

'भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ! ।
तारा इव, तुरगा इव, सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥'

इति भवदीयं काव्यमिति चेद् , अकृत्वैव यलोपं पाठान्न दोषः ।

हे अवनीरमण ! भूपते ! भवतो मन्त्रिणोऽमात्याः, गरुडदेवताका गारुडा मन्त्रा इव भुजगानां सर्पाणां निवारकत्वादहिता प्रकृतिः स्वभावो येषां तादृशाः, पक्षे भुजगानां विटानां निरोधकत्वादहिता प्रकृतिर्येषां, यद्वा—भुजैर्गाहिता अधिष्ठिताः प्रकृतयः प्रजाः, यैस्तादृशाः सन्ति। तथा तारा उडव इव, तुरगा अश्वा इव च, शोभने खे नभसि लीनाः, पक्षे सुष्ठु खलीनं कविका येषां तादृशाः, मन्त्रिपक्षे सुखे सौख्ये लीनानि मग्नाः सन्तीति श्लोकार्थः ।

इह दोषमिमं जानताऽपि भवता स्वकाव्ये 'मन्त्रा इव' 'तारा इव' 'तुरगा इव' इत्यत्र त्रिर्यलोपप्रयुक्तो विश्लेषः कथं कृत इति शङ्कायाः—यलोपस्य वैकल्पिकत्वेन मन्त्रा यिवेत्यादि यकारघटितपाठे विश्लेषविरहान्न दोष इति समाधानम् ।

उक्त प्रसङ्ग पर यदि कोई पूछे कि—'भुजगाहित······' इत्यादि काव्य, जिसका अर्थ है—हे राजन् , आपके मन्त्री गारुड़ मन्त्रों की तरह, 'भुजगाहित-प्रकृति' हैं—अर्थात् गारुड़ मन्त्रों के स्वभाव जैसे भुजगों-सर्पों के लिये अहित होते हैं, वैसे भुजगों-धूर्तों के लिये मन्त्रियों के स्वभाव अहित हैं, अथवा भुजों-बाहुओं से गाहित-अधिष्ठित प्रकृति-प्रजाजन वाले हैं और आपके मन्त्री तारे तथा घोड़ों के जैसे सुखलीन हैं—अर्थात् तारे सु-सुन्दर ख-आकाश में लीन हैं, घोड़े सु-सुन्दर खलीन-लगाम वाले हैं और मन्त्री सुख-आनन्द में लीन-मग्न हैं—कैसे बना डाला आप ने-यहां तो यलोप-प्रयुक्त सन्धिका अभाव बार-बार हुआ है ? इसका उत्तर यह है कि यकार का लोप न करके पड़ने से दोष नहीं होगा, अर्थात्—'मन्त्रा यिवा' 'तारा यिव' 'तुरगा यिव' इसी प्रकार पढ़ना चाहिये ।

अश्रव्यान्तराणि सङ्गृह्य वक्ति—

एवं रोरुत्वस्य, हलि लोपस्य, यण्-गुणवृद्धि-सवर्णदीर्घ-पूर्वरूपादीनां नैकट्येन बाहुल्यमश्रव्यताहेतुः ।

इत्थं 'धीरो वरो नरो याति' इत्यादौ रोरुत्वस्य, 'इमा निशा गता व्यर्थम्' इत्यादौ हलि-यलोपस्य, 'तर्व्यररिप्रदमवेद्य' इत्यादौ यणः, 'रमेशोमेशलोकेशाः' इत्यादौ गुणस्य, 'प्रौढ-सूर्यौघती व्रौजाः' इत्यादौ वृद्धेः, 'अद्याद्रीन्द्रविधूद्‌यः' इत्यादौ सवर्णदीर्घस्य, परत्र पूर्वरूप-पररूपप्रभृतीनां निकटतया प्रयोगप्राचुर्यमश्रव्यतायाः कारणमित्यर्थः । एतान्येव लुप्ताहत-विसर्गतादिदोषरूपेणान्यत्र निरूपितानि ।

इसी प्रकार 'र' के 'उ', हल्पर रहते 'य' के लोप, यण् , गुण, वृद्धि, सवर्ण-दीर्घ और पूर्वरूपादिकों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग भी अश्रव्यता का कारण होता है ।

उपसंहृति—

एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः ।

इत्थमिमे प्रागुक्ताः सर्वेऽपि वर्णस्वानन्तर्यप्रभृतयोऽश्रव्यत्वदोषप्रकाराः काव्यसामान्ये, न तु श्रुतिकटुत्वादिवत् काव्यविशेष एव, वर्जनीया नित्यदोषत्वात् परिहरणीया इत्यर्थः ।

इदमिहावगन्तव्यम्—श्रुतिकटुत्वं कठोरवर्णघटितत्वेन श्रवणोद्वेजकत्वं मधुररसप्रतिकूल-मोजस्विरसानुकूलमित्यनित्यदोषः काव्यविशेष एव परिहारमर्हति । अश्रव्यत्वं त्वनेकविधं कोमलवर्णघटितत्वेनापि, वर्णस्वानन्तर्यादिमूलकं श्रवणानर्हत्वरूपं सर्वरसप्रतिकूलतया नित्य-दोषतां बिभ्रत् काव्यसामान्ये परिहरणीयमित्युभयोर्वैजात्यम् ।

ये ऊपर कहे गये अश्रव्यों के सभी भेद सभी काव्यों में वर्जनीय हैं, चाहे किसी रस का वर्णन हो, इन अश्रव्यताओं का परिहार करना ही समुचित है। यहां यह विशेष समझना चाहिये कि 'श्रुतिकटुत्व' और यह 'अश्रव्यत्व' दो दोष हैं, एक नहीं, क्योंकि 'श्रुतिकटुत्व' का अर्थ है 'कठोर-वर्ण-युक्त रचना का कान में उद्वेग पैदा करना' जो मधुर-रसों का प्रतिकूल और ओजस्वी रसों का अनुकूल है, अतः अनित्य दोष है और काव्य-विशेष (मधुर-रस वाले काव्य) में ही त्याज्य है। परन्तु पूर्वोक्त अनेकविध अश्रव्यत्व का सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनन्तर उन-उन वर्णों के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कोमल वर्णों से ही क्यों न बनी हो' यह दोष सब रसों का प्रतिकूल ही है, अतएव नित्य है और सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है।

अथ रसविशेषानुसारं काव्यविशेषे वर्जनीयान् दोषान् वक्तुमुपक्रमते—

अथ विशेषतो वर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते, त एवौजस्विष्वनुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्ताः, ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः।

तत्र तेषां मध्ये। मधुररसेषु माधुर्यगुणाश्रयेषु शृङ्गार-करुण-शान्तरसेषु। अनुपदं 'दीर्घसमास'मित्यादिना वक्ष्यन्ते। ओजस्विष्वोजोगुणाश्रयेषु वीर-बीभत्स-रौद्ररसेषु। अनुकूला उपकारकत्वादवर्जनीयाः। अनुकूलतयोक्ता मधुररसेष्विति शेषः, टवर्गवर्जितेत्यादिना पूर्वं कथिताः। प्रतिकूला विरोधिन ओजस्विरसेष्विति शेषः।

मधुररसापकारका ओजस्विरसोपकारकाः, ओजस्विरसापकारकाश्च मधुररसोपकारका भवन्तीति साधारणतया निर्णयोऽस्तीत्यर्थः।

अब विशेषतया वर्जनीयों (अर्थात् जो रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में ही त्याज्य हैं, सब काव्यों में नहीं) का निरूपण किया जाता है। उनमें से जो दोष मधुर-रसों में विशेष रूप से निषिद्ध हैं और जिनका प्रतिपादन अभी किया जायगा, वे ओजस्वी रसों के अनुकूल होते हैं—अर्थात् वहां उनका रहना उचित ही नहीं आवश्यक भी है और जो दोष मधुर-रसों के अनुकूल कहे गये हैं, वे ओजस्वी रसों के प्रतिकूल होते हैं, अतः उन दोषों से उन रसों को बचाना चाहिये। यह एक साधारण नियम है।

मधुररसेषु प्रतिकूलतया वर्जनीयान् गणयन्नादावसकृत्प्रयोग एव दूषकान् ब्रवीति—

मधुररसेषु दीर्घसमासं झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्य, विसर्जनीयादेशसकार-जिह्वामूलीयो-पध्मानीयानां टवर्ग-झयां, रेफ-हकारान्यतरघटितसंयोगस्य, हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य, झय्द्वयघटितसंयोगस्य चासकृत् प्रयोगं नैकट्येन वर्जयेत्।

मधुरेषु, न त्वोजस्विषु रसेषु व्यङ्ग्येषु दीर्घसमासं झयादिशब्दप्रतिपाद्यानां नैकट्येनासकृत्प्रयोगं च वर्जयेदित्यन्वयः। पञ्चमवर्णातिरिक्ता वर्गपञ्चकघटका विंशतिर्वर्णा झय्सञ्ज्ञकाः, तद्घटितः संयोगः परो यस्मात् तादृशस्य ह्रस्वस्य, विसर्जनीयो विसर्गस्तत्स्थानिकादेशभूत-सकारस्य, अच्Xपरस्य काखभ्यां पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्यविसर्जनीयादेशस्य जिह्वामूलीयस्य, अच्Xपरस्य पफाभ्यां पूर्वस्यार्धविसर्गाकारस्योपध्मानीयस्य च विसर्जनीयादेशस्य टवर्गस्य, झयः (असंयुक्तस्य), रेफहकारयोरन्यतरेण घटितस्य संयोगस्य, लकार-मकार-नकारातिरिक्तानां हलां व्यञ्जनवर्णानां स्वात्मना घटितस्य संयोगस्य च नैकट्येनासकृत् प्रयोगं दीर्घसमासं च वर्जयेदित्यर्थः।

अब मधुर-रसों के प्रतिकूल वस्तुओं को गिनाते हैं—'मधुर' इत्यादि। लम्बे समास, जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षरों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्वस्वर, विसर्ग, विसर्ग के स्थान में आदेश-द्वारा आये

हुये सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार-द्वारा बने हुये संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के उन्हीं के साथ संयोग—अर्थात् उनके द्वित्व और वर्गों के प्रथम से लेकर चतुर्थ पर्यन्त के वर्णों में से किन्हीं दो वर्णों के संयोग, इन सबों के समीप-समीप में बार-बार प्रयोगों को मधुर-रसों में छोड़ना चाहिये।

अथ सकृदसकृच्च प्रयोगो ययोर्वर्जनीयौ, तावाह—

सवर्णझयूद्वयघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपीति संक्षेपः।

सवर्णं प्राप्तसवर्णसञ्ज्ञाकं यज्झयूप्रत्याहारघटकं वर्णद्वयं तेन घटितस्य संयोगस्य, तथा शर्भिन्नैः शषसातिरिक्तैर्महाप्राणप्रयत्नवद्भिर्वर्गपञ्चकघटकद्वितीयचतुर्थवर्णैर्घटितस्य संयोगस्य नैकट्येन, सकृदपि किमुतासकृत्, प्रयोगं मधुररसेषु वर्जयेदित्यर्थः।

सर्वण—अर्थात् जिनके स्थान एवं प्रयत्न एक से हों—ऐसे वर्णों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों से बने हुये संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुये संयोग का एक बार भी प्रयोग मधुर-रसों में नहीं करना चाहिये। यह संक्षेपतः मधुर-रसों में वर्जनीयों का विवरण दिया गया है।

अथ वर्जनीयानुदाहरन्नुद्देशक्रमेण प्रथमं दीर्घसमासमुदाहरति—

दीर्घसमासो यथा—

अभिसारिकां वर्णयति—

> 'लोलालकावलि-वलन्नयनारविन्द-
> लीलावशंवदितलोकविलोचनायाः।
> सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
> श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः॥'

लोलाया गतिवशाच्चपलाया अलकावलेश्चूर्णकुन्तलश्रेण्याः, वलतोश्शङ्कया चञ्चलीभवतो-र्नयनारविन्दयोश्च लीलया विलासेन, यद्वा लोलालकावल्या वलतोः संसृज्यमानयोर्नयनार-विन्दयोर्लीलया, वशंवदितानि स्वाधीनीकृतानि लोकानां दर्शकयुवजनानां विलोचनानि यया, तादृश्याः, प्रणयिनो वल्लभस्य भवनं सायाह्नि सायंसन्ध्यासमये व्रजन्त्याः, अङ्गनाया वरवर्णिन्याः, गतिः, कस्य चेतो न हरत इत्यर्थः।

अत्र पूर्वार्धे दीर्घसमासस्य प्रयोगः शृङ्गाररसप्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयः।

अब इनमें से प्रत्येक के उदाहरण सुनिये। लम्बा समास जैसे—'लोलालका……' इत्यादि। अभिसारिका का वर्णन है कि—चञ्चल केश-कपाल और चपल नेत्र-कमलों की लीला से दर्शक जन के नयनों को वशीभूत कर लेने वाली, सायं समय में अपने प्रेमी के घर जाती हुई नायिका की चाल किसका चित्त नहीं चुराती? इस श्लोक में शृङ्गार-रस के प्रतिकूल लम्बा समास पूर्व के दो चरणों में किया गया है।

द्वितीयमुदाहरति—

झयूर्घटितसंयोगपर-ह्रस्वानां प्राचुर्यं नैकट्येन यथा—

ललनाजनं विलोकयन् कोऽपि विमृशति—

> 'हीर-स्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किञ्च,
> सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः।
> वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं,
> दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः॥'

हीरा पद्मरागव इव सुलक्षणा स्फुरन्तः शोभमाना ये रदना दन्तास्तेषां शुभ्रिम्णा स्वच्छतया, शोभि शोभनशीलम्, किञ्च सान्द्रं घनममृतं (मण्डलेऽधरे च) यत्र तादृशम्, एणविलोचनाया मृगनयनायाः, वदनं मुखं, विधाय विरचय्य, विदुषां वरेण्यः श्रेयान्, (न त्वनभिज्ञः) वेधा ब्रह्मा, पुनरुक्तमिव पुनरुच्चारितपदमिव निष्प्रयोजनं, चन्द्रबिम्बमिन्दु-मण्डलं, कथं न दूरीकरोति कुतो न दूरे निक्षिपतीति न जाने, यद्वा नञ्काका दूरीकरोत्येवेत्यर्थः।

जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों के संयोग हों—ऐसे ह्रस्व स्वरों का समीप-समीप में अधिक प्रयोग, जैसे—'हरि-स्फुरद्रदन……' इत्यादि। नायिका के मुख को देखता हुआ कोई अपने मन में सोचता है कि—हीरों के समान चमकते हुये दांतों की स्वच्छता से शोभित और सघन अमृत (अधर-बिम्ब-रस) से युक्त मृग-नयनी नायिका के मुख को बनाकर विद्वानों में श्रेष्ठ विधाता पुनरुक्त के समान (निरर्थक) चन्द्र-बिम्ब को क्यों नहीं हटा देता—अब भी गगन में उसे क्यों उगा रखा है?

उपपादयति—

अत्र भ्रिशब्दपर्यन्तं शृङ्गाराननुगुणम्, शिष्टन्तु रमणीयम्। उत्तरार्धे ककार-तकाररूपझयद्वयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि, प्राचुर्याभावान्न दोषः। यदि तु 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि, सान्द्रामृतम्' इत्यादि क्रियते, तदा सर्वमेव रमणीयम्।

इह क्रमेण फ-द-भरूपैकमात्रझय्घटितात् 'स्फु-द्र-भ्रि-'रूपसंयोगत्रयात् पूर्ववर्तिनः मकारयोरुकारस्य च ह्रस्वानां प्राचुर्यं शृङ्गाररसस्यानुपकारकम्। शिष्टं तदतिरिक्तं तु दोषराहित्यात् सुन्दरम्। उत्तरार्धे क्तेतिककारतकारयोः संयोगः सन्नपि प्राचुर्यविरहान्न दूषकः। यदि तु प्रथमचरणे 'दन्तानामंशुभिः किरणैः कान्तं मनोहरम्, अरविन्दस्य पद्मस्य रमायाः श्रियोऽपहारि' इत्यर्थकं दन्तेत्यादिपाठान्तरं क्रियते, तर्हि तादृशसंयोगपरह्रस्वाभावात् सर्वमेव सुन्दरमित्यर्थः।

पूर्वोक्त पद्य में 'भ्रि' शब्द पर्यन्त की रचना शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है, क्योंकि यहां क्रम से 'फ-द-भ' रूप झय् से बने हुये 'स्फु-द्र-भ्रि' रूप संयोग से पूर्व में स्थित अकार-द्वय तथा एक उकार रूप स्वरों की अधिकता समीप-समीप में है। अवशिष्ट अंश इस पद्य का सुन्दर है—शृङ्गार के अनुकूल है। यद्यपि उत्तरार्ध में 'पुनरुक्त' पद में ककार और तकार का संयोग है तथापि ऐसे संयोगों की अधिकता नहीं रहने के कारण दोष-रूप वह नहीं होता और यदि इसी पद्य के प्रथम चरण को 'दन्तांशुकान्त……' इत्यादि मूलोक्त रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तब सम्पूर्ण पद्य निर्दोष रमणीय हो जा सकता है। परिवर्तित पाठ का अर्थ यह होगा कि—'दांतों की किरणों से मनोहर और कमल की शोभा को चुराने वाला' (मुख)।

तृतीयमुदाहरति—

विसर्गप्राचुर्यं यथा—

इहोदाहरणानुरोधाद् विसर्गपदं तत्स्थानिकयोः सकारश्रुत्वनिष्पन्नशकारादेशयोर्बोधकम्।

विसर्गों—अर्थात् विसर्ग के स्थान में आदिष्ट हुये 'स' और 'श' की अधिकता जैसे—

नायको विभावयति—

'सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुराश्शीलशीतलाः।
हरन्ति हृदयं हन्त! कान्तायास्स्वान्तवृत्तयः॥'

अनुरागेण सहिताः सानुरागाः, अनुकम्पया कृपया समेताः सानुकम्पाः, चतुराः पर-वशीकरणकुशलाः, शीलेन विनयार्जवादिसद्वृत्तेन शीतलाः क्रोधाद्यौष्ण्यरहिताः सन्तापहारका वा, कान्तायाः स्वान्तवृत्तयो मनोव्यापाराः, हन्त बत! मे हृदयं हरन्ति वशीकुर्वन्तीत्यर्थः।

नायक सोचता है कि—सुन्दरियों की प्रेम से युक्त और दया से मृदुल तथा चतुर और विनय आदि अच्छे आचरणों से शीतल चित्तवृत्तियां, हाय ! हृदय को हरण किये लेती हैं।

उपपादयति—

अत्र शकारद्वयसंयोगान्तं पूर्वार्धं माधुर्याननुगुणम् ।

इह विसर्गस्थानिकसकारस्य, तत्स्थानिकशकारस्य, शकारद्वयसंयोगस्य च 'शशी'ति पर्यन्तं पूर्वार्धे प्राचुर्यमोजस्विरसानुकूलत्वान्मधुररसप्रतिकूलमिति वर्जनीयम् । कियदन्त्यांशविकले पूर्वार्धे प्रयुक्तः पूर्वार्धशब्दोऽवयवे, माधुर्यशब्दश्च तदाश्रयरसेषु लाक्षणिकः ।

पूर्व पद्य में दो शकारों के संयोग पर्यन्त पूर्वार्ध का भाग मधुर-रस के प्रतिकूल हैं।

विसर्जनीयादेशजिह्वामूलीयप्राचुर्यमुदाहरति—

जिह्वामूलीयप्राचुर्यं यथा—

जिह्वामूलीय की अधिकता, जैसे:—

वियोगिनी सखीं ब्रूते—

'कलितकुलिशघाता ᳵकेऽपि खेलन्ति वाता ᳵ-
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे ।
अयमपि बत ! गुञ्जन्नालि ! माकन्दमौलौ,
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः ॥'

हे आलि ! कथय, यतः कलितः कृतः कुलिशस्य वज्रस्य घात इव घातो यैस्ते सद्य ᳵ-प्राणहारकाः, केऽपि विशेषेण वर्णयितुमशक्याः, वाता मलयानिलाः, खेलन्ति लताभिः क्रीडन्त इव वहन्ति । अपि च—अयं पुरःस्थः, माकन्दमौलौ रसालशिखरे, गुञ्जन् निस्वनन्, चञ्चरीको मधुकरः, मदीयां चेतनां संज्ञां बत ! चुलुकयति चुलुकस्थसलिलमिव निश्शेषीकरोति, तस्मान्मे मम जीविते जीवने, कुशलं कल्याणं कथमिह वा जायताम्, न कथमपीत्यर्थः।

विरहिणी नायिका सखी से कहती है—वज्र के समान आघात करने वाले न जाने कौन से वायु (मलयानिल) खेल रहे हैं—लताओं के साथ खेलते से बहरहे हैं, फिर, भला ! मेरे जीवन में कल्याण कैसे उत्पन्न हो सकता और हे सखि ! सबसे बड़ी खेद की बात तो यह है कि आम के शिखरों पर गूँजता हुआ यह भ्रमर भी मेरी चेतना (ज्ञान-शक्ति) को चुल्लू किये जा रहा है—नष्ट करता जा रहा है।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयजिह्वामूलीयपर्यन्तमननुगुणं माधुर्यस्य । यदि च—'कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः ।' इति विधीयते, तदा नायं दोषः ।

इह प्रथमचरणे जिह्वामूलीयस्य द्विरुपात्तस्य प्राचुर्यं शृङ्गारस्य प्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयम् । मलयाचलस्थसर्पमुखनिस्सृता विरहिणामन्तका वाता वान्तीत्यर्थकपाठान्तरकरणे तु जिह्वामूलीयाभावाद्दोषाभावः । वान्तपदस्य लाक्षणिकत्वाच्च नाश्लीलता ।

उक्त श्लोक में द्वितीय जिह्वामूलीय पर्यन्त का भाग माधुर्य के अनुकूल नहीं है। यदि यहाँ पर 'कथय कथमिवाशा......' इत्यादि मूलोक्त के रूप में प्रथम और द्वितीय चरणों को परिवर्तित कर दिया जाय, तब यह दोष नहीं रहता। परिवर्तित पाठ का अर्थ (जो पूर्व पाठ में नहीं था) यह होगा कि 'मलयाचल पर रहने वाले सर्पों से वान्त (उनके मुख से निकले हुए) विरहिणियों के लिये कृतान्तरूप वायु कहते हैं'।

विसर्गस्थानिकोपध्मानीयप्राचुर्यमुदाहरति—

उपध्मानीयप्राचुर्यं यथा—

उपध्मानीयों की अधिकता, जैसे:—

निर्विण्णः परामृशति—

'अलका ꣹फणिशावतुल्यशीला-नयनान्ता ꣹परिपुङ्खितेषु लीलाः ।
चपलोपमिता खलु स्वयं या, बत ! लोके सुखसाधनं कथं सा ॥'

यस्याः स्त्रिया अलकाश्चूर्णकुन्तलाः फणिशावतुल्यशीलाः सर्पशिशुसदृशकुटिलस्वभावाः सन्ति, तथा यस्या नयनान्ताः कटाक्षाः परिपुङ्खितेषूणामारोपितपक्ष-बाणानां लीला इव लीला येषां तादृशास्तीक्ष्णतमाः सन्ति, किञ्च या स्वयं खलु चपलया विद्युल्लतयोपमिताऽति-चञ्चलाऽस्ति, सा स्त्री, लोके कथं वत ! सुखस्य सौख्यस्य साधनं सम्पादिका स्यादित्यर्थः ।

कोई दुःखी जन अपने मन में सोचता है कि—जिसके केश सर्प के बच्चों के तुल्य स्वभाव वाले हैं, जिसके कटाक्ष पङ्ख वाले बाणों की सी लीला दिखलाने वाले हैं और जो स्वयं विद्युल्लता सरीखी है, वह (स्त्री) संसार में सुख का साधन कैसे हो सकती ?

उपपादयति—

अत्र द्वावुपध्मानीयावेव न शान्तानुगुणौ ।

अत्र श्लोकेऽन्येषां शान्तरसानुकूलत्वेऽपि, पूर्वार्धघटकं विसर्गस्थानिकोपध्मानीयद्वयं केवलं माधुर्यापकर्षकत्वाच्छान्तरसस्य प्रस्तुतस्य प्रतिकूलत्वाद् वर्जनीयमित्याशयः ।

जिह्वामूलीयोपध्मानीयोदाहरणयोः 'कुप्वो꣹क꣹पौ च' इति सूत्रस्य वैकल्पिकतदादेश-विधायकत्वेन विसर्गस्थितौ नायं दोषः सम्भवतीति विभावनीयम् ।

उक्त श्लोक में और सब शान्त रस के अनुकूल हैं, परन्तु दोनों उपध्मानीय केवल उस (शान्त रस) के अनुकूल नहीं हैं ।

टवर्गस्य झयां च प्राचुर्यमुदाहरति—

टवर्ग-झयां प्राचुर्यं यथा—

ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन टवर्गस्य पृथगुपादानम् ।

टवर्ग और झय् अर्थात् वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्णों की अधिकता जैसे:—

न्यक्कृतो नायको मानिनीमनुनयन्नभिदधाति—

'वचने तव यत्र माधुरी सा, हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।
अधुना हरिणाक्षि ! हा कथं वा, कटुता तत्र कठोरताऽऽविरासीत् ॥'

हे हरिणाक्षि ! यत्र तव कोमले वचने साऽनुभूतपूर्वा माधुरी, कोमले हृदि पूर्णा करुणा च मानात् पूर्वमभूत् ; अधुना मानसमये, हा ! तत्र तव वचने कटुता, हृदि कठोरता च कथं वाऽऽविरासीदुदभूदित्यर्थः ।

अत्रोत्तरार्धे टकारठकारात्मकटवर्गस्य ककारथकारादीनां झयां च नैकट्येन प्राचुर्यं मधुरतमविप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्वर्जनीयम् । 'कोमले' इत्यस्य सम्बोधनत्वापेक्षया वचन-हृदयविशेषणत्वमेवाधिकचमत्कारकम् ।

नायक किसी नायिका से कहता है कि—हे हरिणनेत्रे ! तेरे जिस वचन में वह अनिर्वचनीय मधुरता थी और जिस कोमल हृदय में पूरी दयालुता थी, हाय ! आज उन्हीं दोनों (वचन और हृदय) में (क्रमशः) कटु और कठोरता कैसे उत्पन्न हो गई ! यहां उत्तरार्ध में टकार-ठकार रूप टवर्ग और ककार थकार आदि रूप झय् की समीप-समीप में ही अधिकता है ।

अत्रैव पाठान्तरदर्शनेन दोषं परिहरति—

'अधुना सखि ! तत्र हा कथं वा, गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम् ।' इति त्वनुगुणम् ।

इदानीं सख्या उक्तिरियम् । गुणानां मधुरत्वादीनां गतिरन्यैव विलोक्यते, तत्स्थाने कटुत्वादीनामुपलम्भादित्यर्थकोत्तरार्धपाठपरिवर्तने तु टवर्गाद्यभावाद्दोषाभावः ।

यही यदि सखी की उक्ति के रूप में 'अधुना सखि······' इत्यादि मूलोक्त रीति से उत्तरार्ध को बदल दिया जाय, तब मधुरतम विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुकूल हो जायगा। बदले हुये पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि—'हे सखि ! अब उन्हीं दोनों में गुणों की गति दूसरी ही क्यों दृष्टिगोचर होती है'।

रेफघटितसंयोगस्यप्राचुर्यमुदाहरति—

रेफघटितसंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

रेफों के द्वारा बने हुये संयोग का बार-बार प्रयोग जैसे:—

अनुपमम्मन्यामन्याऽभिधत्ते—

'तुला मनालोक्य निजामखर्वं, गौराङ्गि ! गर्वं न कदापि कुर्याः ।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो-लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ॥'

हे गौराङ्गि ! प्रतिवेशियुवतीषु निजां तुलां स्वकीयोपमाम् , अनालोक्य, अखर्वं विपुलं गर्वमनुपमत्वाभिमानं, कदापि न कुर्याः, यतो गहनान्तरेषु काननप्रदेशेषु, नानाफलानां भारोऽस्त्यास्विति नानाफलभारवत्यः कियत्यो भूयस्यः, लताः (तादृश्यः) लसन्ति शोभन्त इत्यर्थः ।

अत्र रेफघटितसंयोगप्राचुर्यं शृङ्गाररसप्रतिकूलम् ।

अपने को अनुपम मानने वाली किसी नायिका से कोई दूसरी नायिका कहती है कि—हे गोरे अङ्गों वाली ! अपनी तुलना न देख कर तुझे अत्यधिक गर्व नहीं करना चाहिये। वनों के मध्य में विविध फलों के भार से झुकी हुई कितनी लतायें शोभित हो रही हैं। यहां रेफों के द्वारा बने हुये संयोगों का बार-बार प्रयोग हुआ है, जो शृङ्गार-रस के प्रतिकूल है।

पाठपरिवर्तनेन दोषं परिहरति—

यदि तु 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' इति निर्मीयते, तदा साधु ।

पाठपरिवृत्तावेकस्य रेफसंयोगस्याभावान्न दोष इत्याशयः । किन्तु तथापि रेफघटित-संयोगद्वयस्य तादवस्थ्यात् कथं न प्राचुर्यमिति विभावनीयम् । इह हकारघटितसंयोग-प्राचुर्योदाहरणत्रुटिपूर्त्तिस्तु—'चिरमिलितावुपगुह्य प्रणयिजनौ गुह्यमक्रमं वदतः' इत्यनेन कथञ्चन विधेया ।

उक्त पद्य के प्रथम चरण की जगह में 'तुलामनालोक्य······' इत्यादि मूलोक्त रीतिसे पाठ-परिवर्तन कर दिया जाय, तब ठीक हो जाय। परिवर्तित अंश का अर्थ यह होगा, कि—'इस पृथवी पर समानता न देख कर'।

लकार-मकार-नकारभिन्नानां व्यञ्जनवर्णानां स्वेनैव संयोगस्य प्राचुर्यमुदाहरति—

हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मनासंयोगस्यासकृत् प्रयोगो यथा—

ल, म और न से भिन्न व्यञ्जनों का उन्हीं व्यञ्जनों के साथ संयोग का बार-बार प्रयोग, जैसे:—

खण्डिता नायकमुपालभते—

'विगणय्य मे निकाय्यं, तामनुयातोऽसि, नैव तन्न्याय्यम् ।'

हे शठ ! मे मम निकाय्यं भवनं, विगणय्य विहाय, तामन्यां प्रेयसीम्, यत् त्वम् अनुयातोऽनुगतोऽसि, तन्नैव न्याय्यमुचितमस्तीत्यर्थः । अत्र यकारस्यासकृत् स्वसंयोगो विप्रलम्भप्रतिकूलत्वाद्दोषः ।

खण्डिता नायिका उपपत्ति से कहती है कि—मेरे घर की अवहेलना करके (तू) उस (सपत्नी) के पीछे लगा फिरता, यह न्यायोचित नहीं है। यहां यकार का बार-बार संयोग, विप्रलम्भ श्रृङ्गार के प्रतिकूल होने से दोष है।

नकारादिवर्णत्रयव्यवच्छेदकारणं भणति—

ल-म-नानां स्वात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यमावहति ।

आवहति जनयति । ल-म-नभिन्नानां हलां स्वात्मनासंयोगो यथाऽश्रव्यतां जनयति तथा ल-म-नानां नेति तद्भिन्नत्वं हलां निवेशितमिति भावः ।

ल, म और न का जो अपने आप के साथ संयोग होता है, वह इतना कठोर नहीं होता।

उदाहरति—

यथा—

लक्षितां नायिकामालिः पृच्छति—

'इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा, परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते ।
जलदालिमयं जगद् वितन्वन्, कलितः क्वापि किमालि ! नीलमेघः ।।'

हे आलि ! इयं ते मुखस्य शोभा श्रीः, उल्लसिता नितरामुज्जृम्भिता यदस्ति, यच्च ते नयनाम्बुजद्वयं परिफुल्लं परितो विकसितमस्ति, तत्, जलदालिमयं वपुष्प्रभया नीरद-श्रेणीमयं जगद्विश्वं वितन्वन् नीलमेघस्तत्त्वेनाध्यवसितः—कृष्णचन्द्रः, किं क्वापि कलितो विलोकितो मिलितो वाऽभूत् ? । अन्यथेदृशोल्लासासम्भवादित्यर्थः ।

अत्र लकारद्वयसंयोगस्य द्विःप्रयोगेऽपि नाश्रव्यत्वम् । एवं मकारद्वय-नकारद्वय-संयोगेऽपि ज्ञेयम् । तदुदाहरणन्तु मृग्यमेव ।

जैसे—सखी लक्षितागोपी से कह रही है कि—हे सखि! तेरे मुख की यह शोभा उल्लास युक्त हो रही है, और तेरे दोनों नेत्र-कमल पूरे खिल रहे हैं, यह क्यों ? क्या, कहीं, सम्पूर्ण संसार को मेघ-माला मय बनाने वाला नील मेघ (भगवान् कृष्ण) मिल गया था ? यहां लकार-लकार का संयोग दो बार आया है, फिर भी अश्रव्यता प्रतीत नहीं होती।

झयूद्वयसंयोगमुदाहरति—

झयूद्वयघटितसंयोगस्य यथा—

मधुरविप्रलम्भप्रतिकूलतयाऽश्रव्यत्वमिति शेषः ।

झय् प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का बार-बार संयोग, जैसेः—

नायको मानिनीं ब्रवीति—

'आ सायं सलिलभरे, सवितारमुपास्य सादरं तपसा ।
अधुनाऽब्जेन मनाक् तव, मानिनि ! तुलना मुखस्याप्ता ।।'

अयि मानिनि ! आसायं सायंसन्ध्यापर्यन्तं सलिलभरे वारिपूरे, सवितारं सूर्यं सादर-मुपास्य, पूजयित्वा, तपसा तद्रूपतपस्यया, अब्जेन कमलेन, अधुना तद्द्वितीयदिने माना-वसरे तव मुखस्य तुलना समता, मनागीषत्, आप्ता लब्धेत्यर्थः ।

दूती अथवा सखी किं वा नायक मानिनी नायिका से कहते हैं, कि—हे मानिनि ! सन्ध्या काल तक गहरे जलमें रहकर आदर-पूर्वक सूर्य भगवान् की उपासना करने के बाद उसी तपस्या के बल से अब कमल ने तेरे मुख की किञ्चिन्मात्र शोभा प्राप्त की है।

उपपादयति—

अत्र द्वितीयार्धमरम्यम् ।

अत्र बकारजकारयोः पकारतकारयोश्च झयोः संयोग उत्तरार्धे द्विरुपात्तो दोषावहः ।

यहां उत्तरार्ध रमणीय नहीं है, क्योंकि बकार-जकार और तकार-पकार-रूप झय् का संयोग दो बार आ गया है, जो दोष है।

तत्परिहाराय पाठं परिवर्तयति—

'सरसिजकुलेन सम्प्रति, भामिनि ! ते मुखतुलाऽधिगता ।' इति तु साधु ।

झयुद्वयसंयोगाभावादिति तु साधु सम्यक् । इह तुरीयचरणाद्यस्य भामिनीति सम्बोधन-पदस्याविद्यमानवद्भावात् तवेत्यस्य त आदेशो दुर्लभ इति तवेत्येव तत्स्थाने पठनीयम्, अन्यथाच्युतसंस्कारतास्यात् ।

यदि 'सरसिजकुलेन……' इत्यादि मूलोक्त-रूप में उत्तरार्ध को परिवर्तित कर दिया जाय, तब दोष के हट जाने से पद्य रमणीय हो जाय। परिवर्तित पाठ का यह अर्थ होगा कि—'हे मानि ! अब जाकर कमल-कुल ने तेरे मुख की तुल्यता प्राप्त की है'। यहां परिवर्तित पाठ में 'ते' का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि उससे पूर्व 'भामिनि' यह सम्बोधन पद है, जिसको व्याकरण के अनुसार अविद्यमानवद्भाव हो जायगा, फिर पद से पर नहीं होने के कारण 'ते' आदेश होगा ही नहीं, अतः 'तव' ऐसा ही पाठ मानना चाहिये, अन्यथा च्युतसंस्कारता नामक अलङ्कार-दोष हो जायगा।

झयुद्वयसंयोगस्त्वसकृद्दुष्टः, सवर्णझयुद्वयसंयोगस्तु सकृदपि दुष्ट इत्युदाहरन्नाह—

सवर्णझयुद्वयघटितसंयोगस्य सकृत्प्रयोगो यथा—

सवर्ण झय् से बने हुये संयोग का एक बार प्रयोग जैसेः—

नायको मानिनीमनुनयन् ब्रूते—

'अयि ! मन्दस्मितमधुरं, वदनं तन्वङ्गि ! यदि मनाक्कुरुषे ।
अधुनैव कलय शमितं, राकारमणस्य हन्त ! साम्राज्यम् ॥'

अयि तन्वङ्गि कोमलावयवे ! त्वं यदि वदनं मन्दस्मितेनाव्यक्तहसितेन, मधुरं मनोहरं, मनागीषदपि कुरुषे, तर्हि अधुनैव न तु कालान्तरे, राकारमणस्य पूर्णिमाचन्द्रस्य, साम्राज्यं सुषमैकाधिपत्यं, हन्त ! (हर्षे) शमितं निवर्तितं, कलय जानीहीत्यर्थः ।

इह 'मनाक्कुरुषे' इत्यत्र सवर्णककारद्वयघटितसंयोगस्य सकृदपि सत्त्वाद्दोषः ।

नायक मानिनि नायिका से अनुनयभरी बात कहता है कि—हे कृशाङ्गि ! यदि तू अपने मुख को, थोड़ा भी मन्द-हास से मनोहर बना ले, तब हर्ष की बात होगी कि रजनीपति चन्द्रमा का साम्राज्य (शोभा के विषय में एकाधिपत्य) अभी-अभी शान्त हो जायगा, ऐसा तू निश्चित समझ। यहाँ 'मनाक्कुरुषे' इस अंश में दो सवर्ण झय् रूप ककार का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने से अश्रव्य हो गया है।

सवर्णझयुद्वयघटितसंयोगनिषेधस्य निषेधान्तरैर्गतार्थत्वमाशङ्क्य निरस्यति—

नन्वत्र ककारद्वयसंयोगस्य हलूघटितस्वात्मसंयोगत्वेनैव निषेधात्, क-ख-संयोगस्य महाप्राणसंयोगनिषेधविषयत्वात्, तृतीयसंयोगस्य चासम्भवात्, सवर्णझयुद्वयसंयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्, न, सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्थक्यात् । अन्यथा 'मनाक्कुरुषे' इति निर्दोषं स्यात् ।

इह ककारद्वयसंयोगः, क-ख संयोगश्चेति द्वावेव सवर्णझय्घटितसंयोगः सम्भवति, न तु तृतीयः कश्चित्; तथा च-ककारद्वयसंयोगस्य हल्स्वात्मसंयोगनिषेधेनैव, क-ख संयोगस्य तु महाप्राणघटितसंयोगनिषेधेनैव निषिद्धत्वात् सवर्णझय्संयोगनिषेधो यदत्र विशिष्य विधीयते, तन्निरर्थकमेवेति पूर्वपक्षे—

हल्स्वात्मसंयोग-महाप्राणघटितसंयोगयोरसकृत्प्रयोग एव दुष्टतया निषेधः, सवर्णझय्संयोगस्य तु सकृत् प्रयोगेऽपि दुष्टतया निषेधः पृथगपेक्षित एव, न तु ततो गतार्थः। पृथगेतन्निषेधानुपादाने तु 'मनाक्कुरुषे' इत्यत्रासकृत् संयोगाभावाद् दोषाभावः प्रसज्येतेत्युत्तरम्। क-खसंयोगस्तु 'सम्यक् खेलसि' 'मनाक् खिद्यते' इत्यादावूहनीयः।

सवर्ण झय् का संयोग दो ही प्रकार का हो सकता है, एक ककार-ककार का, दूसरा ककार-खकार का, तृतीय प्रकार का सवर्ण झय् का संयोग सम्भव ही नहीं है, अतः यह शङ्का हो सकती है कि सवर्ण दो झयों का संयोग जो पृथक् करके निषिद्ध माना गया है, वह व्यर्थ है—उसका कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता, क्योंकि ककारद्वय संयोग (जो उक्त पद्य में आया है) का निषेध तो—व्यञ्जनों का जो अपने आपके साथ संयोग निषिद्ध माना गया है—उसी से हो जाता है और जहाँ क ख संयोग रहेगा, वहाँ महाप्राणों के संयोग का जो निषेध किया गया है, उसी से वह गतार्थ हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि व्यञ्जनों का अपने आपके साथ संयोग अथवा महाप्राणों का संयोग बार-बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट होता है, अतः उसका निषेध भी उसी स्थिति में किया गया है और सवर्ण झय् का संयोग एक बार भी प्रयुक्त होने पर दुष्ट है, अतः उसका निषेध पूर्व निषेध से गतार्थ नहीं हो सकता—अर्थात् ये तीन दोष भिन्न-भिन्न हैं, फिर अलग-अलग उनका निषेध करना भी आवश्य ही है। यदि सवर्ण झय् का संयोग भी बार-बार आने पर ही दुष्ट माना जाय, तब 'मनाक् गुरुषे' यह निर्दोष ही हो जायगा, क्योंकि बार-बार यहाँ उक्त संयोग नहीं है।

महाप्राणप्रयत्नवद्वर्णघटितसंयोगमुदाहरति—

महाप्राणघटितसंयोगो यथा—

'अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले समातनुषे।' उत्तरार्धं तु प्राचीनमेव।

अत्र महाप्राणप्रयत्नवता भकारेण घटितः संयोगो दुष्टः। मात्रापूर्त्तावपि, चेच्छन्दस्य प्राङ्निवेशेन सम्भवन्ती छन्दःकलशुद्धिः प्रायो महाप्राणसंयोगदर्शनार्थमेवोपेक्षिता। अधुनैव महाप्राणसंयोगनिषेधस्यासकृत् प्रयोगविषयतां व्यवस्थाप्य, तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं कथं सङ्गच्छत इति चिन्त्यम्। इह पद्ये चरणद्वयमुपात्तं प्राचीनस्य 'अयि मन्दस्मितमधुर'मित्यादिपद्यस्य पूर्वार्धं विधाय श्लोकपूर्त्तिर्विधेया।

महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों से बने हुये संयोग का प्रयोग जैसे—पूर्वोक्त 'अयि मन्दस्मित......' इत्यादि श्लोक के पूर्वार्ध को 'अयि मृगमदबिन्दुम्' इस मूलोक्त के रूप में परिवर्तित कर देने पर। यहां महाप्राण भकार के साथ दकार का संयोग दोषयुक्त है। अर्थ इस परिवर्तित अंश का यह है कि 'हे बाले! यदि ललाट पर कस्तूरी की बिन्दी लगा लोगी, तब.....'। उत्तरार्ध तो वही रहेगा, जिसका अर्थ पहले लिखा जा चुका है। यहां एक बात विचारने की यह है कि जब ग्रन्थकार ने पूर्व में यह सिद्धान्त कर दिया है कि महाप्राण वर्ण से बने हुये संयोग बार बार प्रयुक्त होने पर ही दुष्ट है, तब फिर महाप्राणघटित संयोग का 'अयि मृगमद......' इत्यादि उदाहरण कैसे दिखलाया, क्योंकि यहां महाप्राणघटित संयोग का प्रयोग एक ही बार हुआ है, बार-बार नहीं।

अथ मधुररसेषु व्यञ्जनीयेषु वर्जनीयान्तराणि प्रतिपादयति—

एवं त्वप्रत्ययं, यङन्तानि, यङ्लुगन्तान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुररसे न प्रयुञ्जीत।

एवमुक्तसंयोगवत् कविभिर्भावार्थकं त्वप्रत्ययं, यङन्तयङ्लुगन्तानि, पराणि चेदृशानि कृत्तद्धितान्तानि शाब्दिकप्रियाणि न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। अयं निषेधो विपुललक्ष्यानुरोधादसकृत्प्रयोगविषयक एव, सकृत्प्रयोगे तेषां दुष्टत्वाभावात्। अत एव, 'अलमतिचपलत्वात् स्वप्नमायोपमत्वात्' इत्याद्येवान्यत्र दुश्श्रवत्वेनोदाहृतम्। त्वादीनामसकृत्प्रयोगे कर्कशत्वं स्फुटमेव।

जैसे उक्त अश्रव्यों का मधुर-रस-प्रधान काव्यों में त्याग करना आवश्यक है, उसी प्रकार–'त्व' प्रत्यय, यङन्त, यङ् लुगन्त तथा अन्य इसी प्रकार के प्रयोग (कृदन्त तद्धितान्त आदि) यद्यपि वैयाकरण लोगों को प्रिय लगते हैं, तथापि मधुर–रस में उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

अथ ध्वनिकारानुमतानि मधुररसेषु वर्जनीयान्याह—

एवं व्यङ्ग्यचर्वणातिरिक्तयोजनाविशेषापेक्षा–नापाततोऽधिकचमत्कारिणोऽनुप्रासप्रबन्धान् यमकादींश्च सम्भवतोऽपि कविर्न निबध्नीयात्।

ये व्यङ्ग्यरसादिचर्वणाया अतिरिक्तं यत्नविशेषरूपं योजनाविशेषमपेक्षन्ते, तान्, आपाततस्तत्काल एव (न तु परिणामे) चमत्कारिणः परिणतिचमत्कारतुच्छान्, अनुप्रास–यमक–शब्दश्लेष–चित्रप्रभेदानतिदुर्घटान् वाचकालङ्कारान्, प्रतिभाप्रभावेण कथञ्चन सम्भविनोऽपि, रसाद्यास्वादस्य पृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वेन प्रतिबन्धकान्, कविर्मधुररसव्यञ्जने प्रस्तुते, न प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। अत एवोक्तं ध्वनिकृता—'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्। अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥' इति।

व्यङ्ग्यों के आस्वादन कराने के लिये जो यत्न करना पड़ता है, उसमें पृथक् यत्न जिनके समावेश में अपेक्षित हो जाय, ऐसे, ऊपरी तौर से (न कि गहरी दृष्टि से विचार करने पर) अधिक चमत्कार–जनक भी प्रतीत होने वाले अनुप्रास के समूहों तथा यमकादिकों का, यद्यपि वे कवि के साध्य हों, तथापि समावेश न करना चाहिये, यह कवि के लिये ध्यान देने योग्य परामर्श है।

तेषां वर्ज्यताया निमित्तमभिधत्ते—

यतो हि ते रसचर्वणायामनन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना रसपराङ्मुखं विदधीरन्।

अनुप्रासादीनां प्रतीतेः स्ववैचित्र्यविशेषेण रसाद्यास्वादान्तर्भावाभावात् सदा रसास्वादैकपरायणस्य सहृदयहृदयस्य स्वाभिमुखीकरणेन रसाद्यास्वादपराङ्मुखीकरणस्य कदाचित् सम्भवात्, ते मधुररसेषु वर्जनीया इत्यर्थः।

रस–प्रधान काव्य में अनुप्रास आदि के निबन्ध नहीं करने का बीज यह है कि यदि वे अधिक और प्रधान हो जायगें, तो उनका समावेश रस के आस्वादन में न हो सकेगा और वे सहृदय जन के हृदय को अपनी ओर खींच लेंगे, इस कारण रस से विमुख कर देंगे—अर्थात् सहृदय जन उनके चमत्कार के चक्कर में पड़कर रसास्वाद से वञ्चित ही रह जायंगे।

'विप्रलम्भे विशेषतः' इत्युक्तं विप्रलम्भशृङ्गारध्वनौ विशेषेण तन्निषेधमाह—

विप्रलम्भे तु सुतराम्।

ते वर्जनीया इति शेषः।

विप्रलम्भ-श्रृङ्गार में तो खासकर अनुप्रास आदि के समावेश का प्रयास नहीं करना चाहिये।

तत्र हेतुं प्रतिपादयति—

यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव, तनीयानपि स्वातन्त्र्यमावहन् पदार्थः, सहृदयहृदयारुन्तुदतया न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति।

सामानाधिकरण्यमेकत्र वृत्तिः।

यतोऽस्य विप्रलम्भस्य सम्भोगाद्यपेक्षयाऽधिकमधुरत्वात् तदास्वादे विलक्षणपानकरसास्वाद इव स्वतन्त्रास्वादकस्य वस्त्वन्तरस्य लेशतोऽपि सम्पर्कः सर्वथा सहृदयहृदयोद्वेजकः स्यात्, तस्मादनेन सहानुप्रासादीनां समावेशो न विधेय इत्याशयः।

विप्रलम्भ-श्रृङ्गार में अनुप्रास आदि के प्रयास नहीं करने के संबन्ध में अधिक सावधान रहने का कारण यह है कि विप्रलम्भ श्रृङ्गार सब रसों से अधिक मधुर माना गया है और इसी कारण, उसे शुद्ध चीनी के बनाये हुये शरबत की उपमा दी गई है, उसमें यदि थोड़ी मात्रा में भी कोई ऐसी चीज मिल जाय, जिसका स्वाद अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता हो, तो वह सहृदयजनों के हृदय में बड़ी मार्मिक पीडा पहुंचाती है, विप्रलम्भ श्रृङ्गार में अनुप्रास आदि ठीक वैसी ही चीजें हैं, अतः उसके साथ उनका रहना सर्वथा अनुचित है।

एतत्प्रघट्टकोक्तमर्थं प्रमाणयति—

यदाहुः—

ध्वनिकारा इति शेषः।

‘ध्वन्यात्मभूते श्रृङ्गारे यमकादिनिवेशनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं, विप्रलम्भे विशेषतः॥

इह श्रृङ्गारपदं मधुररसमात्रपरम्। आदिपदेन स्वतन्त्रप्रयत्नापेक्ष्यलङ्कारान्तरपरिग्रहः। शक्तौ प्रतिभायां सत्यामपि प्रमादित्वं कवेरनवधानता दोषः। विप्रलम्भस्य मधुरतमत्वात्तत्र विशेषेण तेषां निषेधः।

जैसा कि ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—‘ध्वन्यात्मभूते······’ इत्यादि—अर्थात् यदि कवि में ऐसी शक्ति हो कि ध्वनि-काव्य में अनायास यमक आदि की रचना कर सकें, तब भी जिस ध्वनि-काव्य की आत्मा श्रृङ्गार रस है, उसमें यदि कवि वैसा यमक आदि का निवेश) करे तो कहना चाहिये कि उसकी असावधानता है जो उसने उन्हें (यमकादिकों को) श्रृङ्गार प्रधानकाव्य में आ जाने दिया और यदि विप्रलम्भ श्रृङ्गार प्रधान काव्य में वे (यमक आदि) आ गये, तब तो विशेष-रूप से कवि की असावधानता समझी जायगी।

निषेधप्रतिप्रसवमाख्याति—

ये तु पुनरक्लिष्टतयाऽनुन्नतस्कन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किन्तु रसचर्वणायामेव सुसुखं गोचरीकर्तुं शक्याः, न तेषामनुप्रासादीनां त्यागो युक्तः।

अक्लिष्टताऽकठिनप्रयत्ननिष्पाद्यता। अनुन्नतस्कन्धत्वमनुत्कटत्वम्। सुसुखमतिसुखेनानायासमिति यावत्।

ये पुनरनुप्रासादयोऽप्यपृथग्यत्ननिष्पाद्या अपृथग्भावनाविषयीभावयोग्याश्च, रसप्रतिकूलत्वाभावात्तेषां नैव निषेध इति तात्पर्यम्।

जो अनुप्रास आदि क्लिष्ट और विस्तृत न होने के कारण पृथक् (रसनिवेश प्रयत्न से) पल की अपेक्षा नहीं रखते और न रसास्वाद से पृथक् आस्वाद की ही आवश्यकता

रखते, किन्तु रस-परिपाक के लिये जो प्रयत्न किया जाय, उसी से बन जा सकते हैं, उन अनुप्रासादिकों को छोड़ देना भी उचित नहीं।

मधुररसानुकूलमनुप्रासमुदाहरति—

यथा—

सखी नायिकां व्याहरति—

'कस्तूरिकातिलकमालि ! विधाय सायं,
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम्।
प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥'

हे आलि ! सायं कस्तूरिकातिलकं भाले विधाय, स्मेराननेषद्धसितमुखी, त्वं सौधस्य सुधा(शुक्तिचूर्णलेप)धवलप्रासादस्य, मौलिं शिखरं, सपदि शीघ्रं, शीलयाध्यास्स्व, तथा च तेन कुमुदानि मुदामुदारां प्रौढिमतिशयितोल्लासं भजन्तु प्राप्नुवन्तु, हरितो दिशश्च परितो विष्वक्, मुखान्यग्रभागान् उल्लासयन्तूद्भासयन्त्वित्यर्थः।

अत्र वृत्त्यनुप्रासः शृङ्गाररसापृथग्यत्ननिष्पन्नत्वादनुकूल एवेति न निषिद्धः।

जैसे—'कस्तूरिकातिलक......' इत्यादि। सखी नायिका से कहती है—हे सखि ! तू सायंकाल में कस्तूरी का तिलक लगाकर शीघ्र मन्द मन्द हँसती हुई अटारी पर चढ़ जा, जिससे कुमुद अपार हर्ष को प्राप्त कर लें-अर्थात् पूर्णरूप से विकसित हो उठें और दिशायें अपने मुखों को पूर्णतया उल्लसित बना लें उनके प्रारम्भिक भाग अच्छी तरह प्रकाशमय हो जायँ। यहां अनुप्रास हैं, परन्तु कवि उनके लिये पृथक् यत्न किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता, वरन ऐसा ही प्रतीत होता है कि शृङ्गाररस के लिये जो कवि का यत्न हुआ है, उसी से अनुप्रासों की भी सृष्टि हो गई है और इन अनुप्रासों का आस्वादन भी रस के आस्वादन के साथ ही हो जाता है, अतः ऐसे अनुप्रास कोमल रसों में भी ग्राह्य हैं।

माधुर्यगुणाश्रयरसव्यञ्जकरचनादोषप्रदर्शनमुपसंहरति—

इत्थमेते प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां सङ्क्षेपेण निरूपिता दोषाः।

इहौजस्वि-प्रसन्न-रसाभिव्यञ्जकरचनयोर्वर्जनीयानामनभिधानान्न्यूनता न शङ्कनीया, 'मधुररसेषु येऽनुकूलाः, त एवौजस्विरसेषु प्रतिकूलाः' इति प्रागेवौजस्विरसप्रतिकूलानां सामान्येनाभिधानात्, प्रसादगुणस्य सर्वरसरचनासाधारण्येन तद्व्यञ्जकरचनायां वर्जनीयत्वाभावाच्च।

इस तरह प्रसंग आ जाने के कारण मधुर-रसों को अभिव्यक्त करने वाली रचना में होने वाले इन दोषों का निरूपण संक्षेप में कर दिया गया है।

प्रसङ्गाद् वैदर्भी रीतिं निरूपयति—

'एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्यभारभङ्गुर-सुन्दर-पद-वर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती, निर्मातुर्या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं, वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥'

एभिरुक्तैः सामान्यैर्विशेषैश्च दूषणै रहिता, माधुर्यभारेण भङ्गुराणामतिमधुराणामत एव सुन्दराणां पदानां वर्णानां च विन्यासो यत्र, सा, या निर्मातुः कवेः व्युत्पत्तिं काव्यशास्त्रादिनिपुणता मुद्गिरन्ती सूचयन्ती, प्रसादेन गुणेन व्यञ्जकतया युता, तां गृहीतः परिपाको रसास्वादपरिनिष्ठा यस्यां, तादृशीं वैदर्भीं वृत्तिं रीतिं, विबुधाः काव्यार्थभावनाकुशला वदन्तीत्यर्थः। अस्या एवोपनागरिकावृत्तिरिति नामान्तरं बोध्यम्।

अब प्रसङ्ग-प्राप्त वैदर्भीरीति का निरूपण करते हैं—'एभिः' इत्यादि। विद्वज्जन उस रचना-विशेष को 'वैदर्भीरीति' कहते हैं, जो उक्त विशेष और साधारण-दोनों प्रकार के दोषों से रहित हो, जिसमें माधुर्य-गुण के भार से भरे हुये अतएव सुन्दर पदों और वर्णों का विन्यास हो, जिससे बनाने वाले (कवि) की व्युत्पत्ति प्रकाशित होती हो जो प्रासद गुण से युक्त हो और जिसमें रस का पूर्ण परिपाक हुआ हो। इसी रीति को कुछ लोग उपनागरिक वृत्ति के नाम से पुकारते हैं।

अस्याः प्रसिद्धिं दर्शयति—

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्ति पद्यानि।

अस्यां वैदर्भ्यां रीतौ, उदाहृतानि शृङ्गाररस-माधुर्यगुणोदाहरणतयोक्तानि, कियन्त्यनल्पामि पद्यान्येवोदाहरणानीति न तदपेक्षेत्याशयः।

इस रीति के उदाहरण हो सकने वाले कितने ही पद्य पूर्व में कहे जा चुके हैं।

तथापि सहृदयहृदयविनोदायोदाहरति—

यथा वा—

मानिनीमालिः प्रेयान् वा बोधयति—

'आयातैव निशा, निशापतिकरैः कीर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम्।
वामे! मानमपाकरोषि न मनागद्यापि रोषेण ते
हा हा!! बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति॥'

हे वामे मानग्रहिले! निशा आयाता प्राप्तैव (न तु निशारम्भे विलम्बः) दिशामन्तरं मध्यं निशाकरस्य करैः किरणैः कीर्णं व्याप्तमुद्भासितमिति यावत्, भामिन्योऽपरामानवत्यश्च, विलासोचितकालमालोच्य, भवनेषु भोगावासेषु, भूषणगणैः परिहितालङ्कारनिकरैः, श्रियं शोभामुल्लासयन्ति वर्धयन्ति, त्वं पुनरद्यापीदानीमपि मानं न अपाकरोषि न त्यजसि, तेन रोषेण बालान्मृणालादपि, अतितमां नितमां तन्वी कोमला, ते तनुस्ताम्यति क्लाम्यतीत्यर्थः। अत्रोक्तलक्षणा वैदर्भी रीतिः। अतितमामित्यत्र तकारस्य स्वानन्तर्यादश्रव्यत्वं विभावनीयम्।

अथवा, जैसे:—

नायक नायिका से कह रहा है:—प्रेयसि! अब रात आधी गई, उसके आने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं है, विश्वाश न हो तो देख निशा-नाथ चन्द्र-देव की किरणों से दिशाओं के अन्तराल व्याप्त हो चुके हैं और मानिनी स्त्रियां मान छोड़कर आभूषणों से क्रीडा-मन्दिरों में शोभा को बढ़ा रही है। हे वामे! संसार भर से विपरीत ही आचरण करने वाली! तू अब भी मान को किञ्चित् भी कम नहीं कर रही है। हाय! हाय! देख तो नवीन मृड़ाल से भी अत्यन्त दुर्बल यह तेरा शरीर तेरे ही रोष के कारण क्लान्त हो रहा है। जाने दे, यदि मेरे ऊपर दया नहीं करती, तो मतकर, परन्तु अपने इस सुकोमल शरीर पर तो दयाकर। यहां वैदर्भीरीति के उक्त सभी लक्षण घटते हैं।

एतद्रचनायां स्खलनपरिहाराय कवेरवधानातिशयस्यापेक्षां प्रतिपादयति—

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम्। अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात्।

अन्यथाऽवधानाभावे।

इस रीति के निर्माण करने में कवि को अत्यन्त सावधानी से बरतना चाहिये, अन्यथा परिपाक का भङ्ग हो जायगा—रस में जितनी माधुरी आनी चाहिये, उतनी नहीं आ सकेगी।

अमरुककवेरनवधानेनोपहितं परिपाकभङ्गमुदाहरति—

यथाऽमरुककविपद्ये—

जैसा कि अमरुक कवि के पद्य में हुआ है:—

मुग्धावृत्तं वर्णयति—

> 'शून्यं वासगृहं विलोक्य, शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
> विश्रब्धं परिचुम्ब्य, जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥'

वासगृहं क्रीडागारं, शून्यं प्रियातिरिक्तलोकरहितं, विलोक्य निलीनसहचरीसद्भाव-सन्देहाद् विशेषेण दृष्ट्वा, शयनात् तल्पात्, किञ्चिदीषदेव (तावनः पार्श्वपरिवर्तनोपन्यासेनाप्यपलपितुं शक्यत्वात्) शनैर्यथाभूषणझणत्कारो न भवेत् तथा मन्दम्, अपरकायेनैवोत्थाय, निद्राव्याजमनुरागजिज्ञासया कृतकनिद्राविडम्बनम्, उपागतस्य लब्धवतः, पत्युः स्वामिनो न तु परिचयप्राचुर्यविरहाद्वल्लभस्य, मुखं सुचिरं जागरणशङ्कया सुदीर्घकालं, निर्वर्ण्य निद्रानिर्णयाय निश्शेषमवेद्य, विस्रब्धं सविश्वासं यथा स्यात् तथा गाढं, परिचुम्ब्य परितः कपोल-नयनादिषु चुम्बित्वा, तेन जातपुलकामुद्भिन्नरोमाञ्चां, गण्डस्थलीं कपोलपालिम्, आलोक्य, लज्जा सापत्रपा, अत एव नम्रमुखी नतानना, बाला षोडशवार्षिकी (मुग्धा), हसता स्वाभीष्टानायासलाभहेतुकहासभृता, प्रियेण, चिरं लज्जाऽपगमपर्यन्तं, चुम्बिताऽभूदित्यर्थः।

समानकर्तृक-प्राक्कालिकक्रियायां क्त्वो विधानात्तदर्थमिह पचाद्यजन्तलज्जापदपार्थक्यमवसेयम्।

कोई मुग्धा नायिका के आचरणों का वर्णन करता है कि—बाला (मुग्धा नायिका) क्रीडागृह को जनों से शून्य देखकर–प्रियप्राणेश–मात्र को वहां पाकर धीरे धीरे शय्या से कुछ उठी और निद्रा का व्याज किये हुये (न कि वस्तुतः सोये हुये) पति के मुख को चिरकाल तक निहार कर (पति के निद्रा–मग्न हो जाने के विश्वास से) लगी उसके मुख को अच्छी तरह चूमने, पर चूमने के बाद जब उसने देखा कि पति के कपोल–प्रदेश रोमाञ्चयुक्त हो उठे हैं, तब लज्जा के मारे उसका मुख नीचा हो गया, पति के सामने उसकी दृष्टि टिक न सकी। फिर क्या था? पतिमहाशय उठ बैठे और हँस हँस कर घण्टों मुग्धा पत्नी को चूमते रहे।

उपपादयति—

अत्र 'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र सवर्णझय्द्वयसंयोगः, तत्रापि नैकत्र्येन सुतरामश्रव्यः। एवं झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्यापि। तथा 'शनैर्निद्रा' इत्यत्र 'निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इत्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुर्यम्। विस्रब्धम्' इत्यत्र महाप्राणघटितस्य, 'लज्जा' इत्यत्र स्वात्मसवर्णझय्द्वयघटितस्य, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य, तथा क्त्वाप्रत्ययस्य पञ्चकृत्वः, लोकतेश्च द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं प्रकाशयति।

'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इत्यत्र तथयोश्चच्छयोश्च सवर्णझयोः सामीप्येन संयोग एकः, झय्द्वयघटितसंयोगद्वयात् पूर्वयोर्ह्रस्वोकारेकारयोः सत्त्वादपरश्च दोषः, 'निद्रा' इत्यत्र 'पत्युः' इत्यत्र च क्रमेण दकार–तकाररूपझय्घटितसंयोगतः पूर्ववर्तिन इकाराकाररूपह्रस्वस्य

प्राचुर्यं, 'शनैर्निद्रा' 'निर्वर्ण्य' 'पत्युर्मुखम्' इत्यत्र रेफघटितसंयोगस्य प्राचुर्ये च दोषः, 'विस्रब्धम्' इत्यत्र धकाररूपमहाप्राणघटितसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'लज्जा' इत्यत्र झयो जकारस्य स्वात्मना सवर्णझया संयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'मुखी प्रियेण' इत्यत्र पृथक्पद-घटकस्य दीर्घकारानन्तर-पकाररेफसंयोगस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'उत्थाय' 'निर्वर्ण्य' 'परिचुम्ब्य' 'आलोक्य' इति पञ्चवारान् क्त्वाप्रत्ययस्य प्रयोगो दोषः, 'विलोक्य' 'आलोक्य' इति द्विर्लोकृधातोः प्रयोगो दोषश्च कवे रचयितुः, निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं काव्यरचनाकारणी-भूताया व्युत्पत्त्युद्भावितप्रतिभाया राहित्यमल्पत्वं वा प्रकाशयति बोधयतीति कविभिर्वैदभी-रीतिनिर्माणे सावधानैर्भाव्यमिति भावः।

उक्त पद्य में 'उत्थाय' और 'किञ्चिच्छनैः' इन दो स्थानों पर दो-दो सवर्णझयों (तकार-थकार और चकार-छकार) का संयोग है और वह भी समीप-समीप में, अतः अतिशय अश्रव्य है। इसी तरह इसी स्थान पर उक्त झयों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों (उकार और इकार) का भी प्रयोग हुआ है। तथा 'शनैर्निद्रा' और 'पत्युर्मुखम्' इन दो जगहों पर रेफ के द्वारा बने हुये संयोग की और झयों के द्वारा बने हुये संयोग जिनके आगे हैं, उन ह्रस्वों की अधिकता है। एवम् 'विश्रब्धम्' इस जगह महा प्राणों के द्वारा बना हुआ संयोग, 'लज्जा' इस जगह दो सवर्ण झयों का अपने ही साथ संयोग और 'मुखी प्रियेण' इस जगह भिन्न पदगामी दीर्घ के बाद का संयोग है। इसी प्रकार क्त्वा-प्रत्यय का पाँच बार (विलोक्य, उत्थाय, निर्वर्ण्य, परिचुम्ब्य और आलोक्य, इन पदों में) और 'लोकृ' धातु का दो बार (विलोक्य और आलोक्य में) प्रयोग किया गया है, जिससे कवि के पास रचना की सामग्री की कमी सूचित होती है।

'महीयसां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवती'त्यभियुक्तोक्तिं स्मरंस्ततो विरमति—

इत्यलं परकीयकाव्यविमर्शनेन।

परकीयकाव्यदोषाद्यालोचनेनालम् 'परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्' इति भगव-द्बादरायणोक्तेरित्यर्थः।

पर, जाने दीजिये, दूसरों के काव्यों की आलोचना करना व्यर्थ है।

प्रक्रान्तं सविशेषरसनिरूपणमुपसंहरति—

इति सङ्क्षेपेण निरूपिता रसाः।

रसानां प्रकारानन्त्याद् विस्तरेण वर्णयितुमशक्यत्वम्।

इस प्रकार रसों का संक्षेप से निरूपण समाप्त हुआ।

रसध्वनिनिरूपणानन्तरं प्राप्तावसरतया भावध्वनिं निरूपयितुमाचष्टे—

अथ भावध्वनिर्निरूप्यते—

अब भाव-ध्वनि का निरूपण करते हैं:—

प्रथमं भावस्य ज्ञानाय लक्षणं पृष्ट्वा परोक्तं तत् खण्डयति—

अथ किं भावत्वम् ?, विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः।

रसव्यञ्जके काव्यवाक्ये विभावानुभावभिन्नत्वस्य रसव्यञ्जकत्वस्य च सत्त्वाद् भावल-क्षणातिव्याप्तेरिदं लक्षणं न सम्यगित्यभिसन्धिः।

यहां सर्व प्रथम विचारणीय वस्तु यह है कि 'भाव' किनको कहते हैं ? उनका लक्षण क्या है ? यदि कोई कहे कि 'विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यञ्जक हों-जिनसे रस व्यक्त हों, उन्हीं को 'भाव' कहते हैं, तो, यह समुचित नहीं, क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है-अर्थात् रस-प्रति-

दक काव्य के वाक्य विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त हुए हैं और रस-व्यञ्जक भी अतः उनको भी 'भाव' कहना पड़ेगा।

ननु शब्दस्य व्यञ्जकत्वविरहात् कुतोऽतिव्याप्तिरत आह—

अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्।

साक्षादव्यञ्जकत्वेऽप्यर्थद्वारेण परम्परया शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्। तदुक्तम्—'शब्द-
ोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता।'
ते। इत्थं सहकारिव्यञ्जकत्वाच्छब्दस्यातिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशयः। वस्तु तस्तु गीतवा-
ादिशब्दानां वाच्यार्थाप्रत्यायकत्वेऽपि रसव्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकारादिभिर्निर्णीतत्वेन न
ब्दस्यार्थद्वारैव व्यञ्जकत्वम्। तथा च नाग्रिमनिवेशस्यावसरः।

यदि वादी कहे कि रस के व्यञ्जक तो अर्थ होते हैं, शब्द नहीं, फिर शब्द-समूह-रूप
ाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे होगी, तो इसका उत्तर यह है कि साक्षात् रस
ञ्जक अर्थ ही भले हों पर उन अर्थों के द्वारा शब्द भी रस-व्यञ्जक माने जाते हैं, अत एव
द्वानों का कथन है कि 'शब्द-बोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः। एकस्य व्यञ्ज-
त्वे तदन्यस्य सहकारिता'—अर्थात् 'अर्थ शब्दों के द्वारा अवगत होकर व्यञ्जक होता है,
ौर शब्द भी अर्थों का आश्रय-वाचक हो कर ही (न कि निरर्थक) व्यञ्जक होता है,
ातः एक के साक्षात् व्यञ्जक होने पर दूसरा सहकारी होता है'। वस्तुतः तो ध्वनिकार
ादि ने शब्दों को भी साक्षात् व्यञ्जक माना है, तदनुसार अर्थद्वारा वाक्य को व्यञ्जक
ानने की आवश्यकता भी नहीं है।

शब्दस्य साक्षाद्व्यञ्जकत्वमबुद्ध्वा दोषवारणाय लक्षणे निवेशं विधाय निरस्यति—

द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत, भावस्यापि
ावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च।

विभावादिभिन्नत्वे सति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वमिति लक्षणे तु दोषद्वयं स्यात्, रसस्य
ुनःपुनरनुसन्धानरूपाया भावनाया एव साक्षाद्व्यञ्जकत्वं, भावस्य तु भावनाद्वारैव रसव्य-
ञ्जकत्वमस्तीति साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वस्य भावेऽप्यभावादसम्भव एकः, साक्षाद्रसव्यञ्जिकायां
ावनायामतिव्याप्तिश्च द्वितीयो दोष इत्येतन्निवेशोऽसङ्गत इत्यभिप्रायः।

वादी कह सकते हैं कि इसी लक्षण में 'जो किसी को द्वार न बना कर रसों का व्यञ्जक
ो' इस तरह व्यञ्जक में एक विशेषण और लगा देंगे, तब तो वाक्य में अतिव्याप्ति नहीं
ोगी, क्योंकि वह अर्थ को द्वार बना कर व्यञ्जक है, परन्तु ऐसा करने पर लक्षण में अस-
म्भव दोष ही आ जायगा-अर्थात् यह भाव का लक्षण कहीं भी संघटित नहीं हो सकेगा,
क्योंकि जिनको सब लोग भाव मानते हैं, वे भी भावना (बार-बार अनुसन्धान) के
द्वारा ही व्यञ्जक होते हैं। दूसरे, भावना में अतिव्याप्ति भी हो जायगी, क्योंकि विना
किसी के द्वार बनाये वही रसों की व्यञ्जिका होती है। वस्तुतः तो उक्त रीति से शब्द भी
विना किसी को द्वार बनाकर व्यञ्जक होता ही है, अतः वहां तथा भावना में उक्त लक्षण
की अतिव्याप्ति ही होगी—असम्भव नहीं।

ननु काव्यवाक्येऽतिव्याप्तिं वारयितुं शब्दभिन्नत्वे सतीत्यपि लक्षणे प्रवेश्यतामित्युक्तिं
निराकरोति—

अत एव च [विभावानुभावभिन्नत्वस्येव] शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे
न निस्तारः। प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताऽभावादव्याप्त्यापत्तेश्च।

निस्तारो निर्वाहः।

अत एव-भावनायाः साक्षाद्रसव्यञ्जकत्वाच्छब्दभिन्नत्वाच्च तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेरेव,

एवं भावध्वनौ भावस्य प्राधान्येन व्यज्यमानतया रसव्यञ्जकत्वाभावाद् भावलक्षणाव्याप्तेश्च शब्दभिन्नत्वनिवेशेनापि न निर्वाह इति सारम्।

इसी लिये व्यञ्जक में 'शब्द-भिन्नत्व' विशेषण जोड़ने पर भी उद्धार नहीं हो सकता-अर्थात् यदि 'विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा शब्द से भिन्न जो रसों का व्यञ्जक हो, वह 'भाव' है' ऐसा भी लक्षण बनावें, तब भी छुटकारा नहीं, क्योंकि भावना (जो शब्द से भिन्न है) में अतिव्याप्ति रहेगी ही। एवम् भाव-ध्वनि-स्थल में जो भाव प्रधानतया अभिव्यक्त होता है, वह रसों का व्यञ्जक नहीं होता, अतः उसमें लक्षण की अव्याप्ति भी होगी—अर्थात् उस भाव में लक्षण संघटित नहीं होगा।

भावध्वनावव्याप्तिमात्रवारणमाशङ्क्य खण्डयति—

न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात्।

तत्र भावध्वनावपि प्रान्ते भावध्वननानन्तरमन्ते भावेन रसस्य व्यञ्जनं भवत्येव, ततश्च भावस्यापि रसव्यञ्जकत्वान्नाव्याप्तिरिति वक्तुं नैव शक्यम्, यतो भावध्वनावपि यदि पर्यन्ते रसप्रतीतिः स्वीक्रियेत, तर्हि तत्रापि रसस्यैव प्राधान्याद् रसध्वनित्वमेव स्यान्न तु भावध्वनित्वमिति भावध्वनेर्विलोप एव भवेदतो न तत्र पार्यन्तिकी रसप्रतीतिरङ्गीकार्येति तात्पर्यम्।

यदि वादी यह तर्क उपस्थित करें कि जहां भावकी ध्वनि प्रधान होती है, वहां भी भाव-ध्वनि के बाद अन्त में रस की ध्वनि होती ही है, अतः उस तरह के भावों में रस-व्यञ्जकता है ही। इसका समाधान यह है कि यदि भाव-ध्वनि-स्थल में भी अन्त में रस की अभिव्यक्ति मान लेंगे, तब तो वहां भी रस की ही प्रधानता हो जाने से रस-ध्वनि का ही व्यवहार होने लगेगा, फलतः 'भाव-ध्वनि' का साहित्यक जगत् में उच्छेद ही हो जायगा, अतः भाव-ध्वनि-स्थल में रस की ध्वनि नहीं माननी चाहिये।

पुनरिहाशङ्क्य समादधाति—

भावचमत्कारप्रकर्षाद् भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्काररहितरसव्यक्तौ मानाभावात्।

ननु भावध्वनिस्थले प्रथमं भावप्रतीतिः, पश्चाद्रसप्रतीतिश्च भवति, किन्तु तत्र रसप्रतीतेश्चमत्कारकत्वाभावान्न रसध्वनिव्यवहारः, अपि तु भावप्रतीतेश्चमत्कारितया भावध्वनिव्यवहार एव स्यादिति चेत्, न, 'लोकोत्तरचमत्कारप्राणः' 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते' इत्याद्युक्तेरनुभवाच्च चमत्कृतिरहिताया रसप्रतीतेरङ्गीकृतौ मानाभावादिति भावः।

यदि इस पर भी वादी यह कहें कि 'भाव-ध्वनि' स्थल में भी भाव की अभिव्यक्ति के बाद अन्त में रस की अभिव्यक्ति यद्यपि अवश्य होती है, तथापि वहां 'रस-ध्वनि' का व्यवहार इस लिये नहीं होता कि रसाभिव्यक्ति में वहां कोई चमत्कार नहीं रहता और भाव की अभिव्यक्ति में चमत्कार रहता है अतः 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार होता है, परन्तु यह कथन भी वादियों का ठीक नहीं, क्योंकि चमत्कार-हीन रस की अभिव्यक्ति में कोई प्रमाण नहीं—रस चमत्कार-हीन होता ही नहीं।

तदेव समर्थयति—

रसे हि धर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्।

येन सहृदयसभवेतप्रत्यक्षरूपप्रमाणेनात्र धर्मिणो रसस्य ग्रहणं ज्ञानं साधनं वा भवति, तद्धर्मिग्राहकं मानम्, तेन यतः सच्चिदानन्दमयो ब्रह्मसनाभिरेव रसो ज्ञापितः, तस्मात् तस्य

रसस्य चमत्काराभिन्नानन्दं विनाऽभावाद् रसाभिव्यक्तिश्चमत्कारिण्येव, न तु कदापि तद्र-हिता, स्वीक्रियत इति प्राग् रसनिरूपणेऽपि प्रतिपादितमित्यर्थः।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस पदार्थ की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि रसमें आनन्द (चमत्कार) अंश का अविनाभाव (उसके बिना न होना) है—अर्थात् रस चमत्कार स्वरूप ही जब है, तब चमत्कार-रहित रस की सत्ता कैसे हो सकती है।

इदानीं भावध्वनौ पार्यन्तिकीं रसाभिव्यक्तिमभ्युपगत्यापि तद्भावलक्षणं दूषयति—

अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम्; तथापि देश-काल-वयोऽवस्थादिनानापदार्थघटिते पद्यवाक्यार्थे तथाप्यति-व्याप्तिः, तस्य विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वात्।

तथापि भावध्वनावव्याप्त्यापत्तिवारणेऽपि। तथापि विभावानुभावभिन्नत्वे सति, शब्द-भिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकत्वमिति कथनेऽपि। विभावानुभावभिन्नत्वे सतीति शब्दभिन्नत्वे सतीत्यस्याप्युपलक्षणम्।

अथवा भावध्वनावपि चरमदशायां रसाभिव्यक्तिरस्तु, तथापि न तवेष्टसिद्धिः, यतो ध्वन्यमानभावस्य रसाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकारेण तत्रोक्तपूर्वाया भावलक्षणाव्याप्तेर्वारणेऽपि, काव्यवाक्यार्थस्य देशकालाद्यनेकपदार्थघटितस्य विभावानुभावभिन्नत्वेन शब्दभिन्नत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वेन च, तत्र भावलक्षणातिव्याप्तेर्जागरूकत्वादित्याशयः। इह 'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः' इत्यभियुक्तोक्तेर्भावध्वनावपि विवाहप्रवृत्तभृत्यानुगतराजवद् रसस्य प्रतीतिरल्पचमत्कारा भवन्ती, राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद् भावस्य प्रतीतेश्चमत्कारोत्कर्ष-निबन्धनं प्राधान्यं न विलोप्तुमर्हतीत्येवाभ्युपगमपक्षस्य निदानम्।

अब यदि वादी कहें कि रस की अपेक्षा भाव के गौण होने पर भी वाच्य की अपेक्षा प्रधान होने के कारण, अथवा विवाह में दूलहे बने हुये दीवान आदि नौकर के पीछे चलते हुये राजा की तरह (क्योंकि वहां राजा की अपेक्षा दूलहा की प्रधानता रहती है) रस की अपेक्षा भाव की प्रधानता होने के कारण काव्य में 'भाव-ध्वनि' का व्यवहार हो सकता है, तो हम प्रधानतया ध्वनित होने वाले भाव को भी पर्यन्त में रस-व्यञ्जक मान लेते हैं, परन्तु तब भी भाव का उक्त लक्षण ठीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि देश-काल अवस्था और स्थिति आदि (जो विभाव-अनुभाव से भिन्न हैं) अनेक पदार्थों से बने हुये श्लोक के वाक्यार्थ में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त भी है और रस का व्यञ्जक भी है। सारांश यह है कि यह लक्षण किसी भी प्रकार से सङ्गत नहीं हो सकता।

पुनर्लक्षणान्तरमुपक्षिप्य निरस्यति—

नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिचर्वणाया-मतिप्रसङ्गवारणाय चर्वणाविषयेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम्।

'कालागुरुद्रवं सा, हालाहलवद् विजानती नितराम्।
अपि नीलोत्पलमालां, बाला व्यालावलिं किलामनुते॥'

इत्यत्र हालाहलसदृशत्वप्रकारज्ञानेऽतिव्याप्तेः, तस्य विप्रलम्भानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च।

ननु रसाभिव्यञ्जकत्वे सति, चर्वणाविषयीभूतत्वे च सति, चित्तवृत्तित्वमेव भावस्य लक्षणमस्तु, रसाभिव्यञ्जकत्वमात्रविशेषणे भावचर्वणायामतिव्याप्तेर्वारणाय चर्वणाविषयी-

भूतत्वमपि चित्तवृत्तेर्विशेषणमुपात्तम्, तथा च भावादिचर्वणायां चर्वणाविषयत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति पूर्वपक्षः ।

'सा दयनीयदशापन्नत्वेन प्रसिद्धा, बाला सदसद्विवेकविधुरा मम सखी, कालागुरुद्रवं कृष्णागुरुरसमपि हालाहलवत् गरलतुल्यं, विजानती, नीलोत्पलानां कुवलयानां, मालामपि, व्यालावलिं कृष्णसर्पश्रेणीम्, आमनुते सर्वथा मन्यते, इत्यर्थके नायकं प्रति वियोगिन्याः सख्योक्ते 'काले'त्यादिपद्ये, नायिकानिष्ठस्य कालागुरुद्रवाधिष्ठानकस्य हालाहलसादृश्यप्रकारकचित्तवृत्तिविशेषरूपस्य ज्ञानस्य विप्रलम्भशृङ्गाररसानुभावत्वाद् रसाभिव्यञ्जकतया चर्वणागोचरतया च तत्रातिव्याप्तिः स्यादतो नेदं लक्षणं युक्तमित्युत्तरपक्षः ।

नागेशभट्टास्तु—लक्षणेऽस्मिन्ननुभावभिन्नत्वमपि निवेश्यातिप्रसङ्गं वारयन्ति ।

अब यदि कोई यह लक्षण बनावे कि 'उस चित्तवृत्ति को 'भाव' कहते हैं, जो रस को अभिव्यक्त करनेवाली चर्वणा (आस्वाद) का विषय हो-उस आस्वाद में आ जाती हो । यहां 'रसाभिव्यञ्जक चित्तवृत्ति का नाम भाव है' इतना ही लक्षण करने पर भावों की चर्वणा (आस्वाद) में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह भी रस को अभिव्यक्त करती है और चित्तवृत्ति रूप भी है, अतः 'चर्वणा-विषय' यह विशेषण चित्तवृत्ति में लगाया गया, जिससे उक्त अतिव्याप्ति का वारण हो गया, क्योंकि चर्वणा, चर्वणा का विषय नहीं होती, यह समझना चाहिये । परन्तु यह लक्षण भी ठीक नहीं, क्योंकि—'अगर-काष्ठ को जहर के समान समझने वाली वह बाला (भले बुरे के ज्ञान से शून्य मेरी सखी) नील-कमलों की माला को भी, मानो, सर्पों की पङ्क्ति मानती है' एतदर्थक, नायक के प्रति विरहिणी की सखी के द्वारा कहे गये 'कालागुरुद्रवं सा······' इत्यादि पद्य में जो 'कालागुरु (अगर) को जहर के समान समझती है' इत्याकारक नायिका के ज्ञान का वर्णन किया गया है, उस ज्ञान में अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभव है—वियोग कालिक प्रेम के चलते ही उत्पन्न हुआ है, अतः उसका आस्वाद होता है और वह आस्वाद रस का व्यञ्जक भी होता है, इस तरह वह ज्ञान रसाभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय है और चित्तवृत्ति रूप भी, क्योंकि ज्ञान चित्तवृत्ति रूप ही माना जाता है । नागेश भट्ट उक्त लक्षण में 'अनुभावभिन्नत्व' यह एक और विशेषण जोड़ कर अतिव्याप्ति का वारण करते हैं । यहां हिन्दी रसगङ्गाधर के निर्माता पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदीजी लिखते हैं कि—'इस स्थान पर, सहृदयभावक को, जो जहर की बराबरी का ज्ञान हो रहा है, उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी । वह ज्ञान विप्रलम्भ शृङ्गार का अनुभाव है—उसके द्वारा उत्पन्न हुआ है···इत्यादि' परन्तु चतुर्वेदी जी का यह कथन सङ्गत नहीं जँचता, क्योंकि-सहृदय भावक को जहर की बराबरी का ज्ञान कैसे होगा ? उस ज्ञान की उत्पत्ति तो वियोग कालिक प्रेम से होती है, और सहृदय वियुक्त प्रेमी नहीं रहता, हाँ, नायिकानिष्ठ उक्त ज्ञान का ज्ञान सहृदय को अवश्य होता है । परन्तु वह ज्ञान—ज्ञान, न अनुभाव ही है न रस-व्यञ्जक ही ।

गत्यन्तरविरहाद् भावत्वमखण्डोपाधिं मन्यमानानां मतमपाकरोति—

नाप्यखण्डम्, तत्त्वे मानाभावात् ।

भावत्वमिदमखण्डमेव, तेन नास्य लक्षणनिर्देशापेक्षेत्यपि निगदितुं न शक्यम्, भावत्वस्याखण्डोपाधित्वाङ्गीकारेऽनुगतप्रतीत्यादिज्ञापकमानाभावाद्, भावत्वस्यान्यथाऽपि निर्वक्तुं शक्यत्वाच्च ।

यदि वादी कहें कि भावत्व अखण्ड उपाधि है, अतः उसके लक्षण करने की कोई आवश्यकता नहीं, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि-भावत्व को अखण्ड उपाधि मानने में अनुगत प्रतीति आदि जो ज्ञापक प्रमाण हो सकता है, वह नहीं है, उसे अखण्ड उपाधि विना माने भी निर्वाह हो सकता है, फिर वैसा मानना निरर्थक भी है ।

इत्थं परकीयलक्षणानि प्रतिक्षिप्य, स्वकीयं लक्षणमुपक्षिपति—

अत्रोच्यते—

विभावादिव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ।

विभावादिभिर्व्यज्यमानत्वे सति, हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वम् । हर्षादयश्चतुस्त्रिंशदनन्तरं निरूपयिष्यन्ते । विशेषणानुक्तौ वाच्यहर्षादिषु, विशेष्यानुक्तौ च रसादिष्वतिव्याप्तिः । अन्यतमत्वस्य लक्षणकुक्षिप्रवेशे गौरवं, तत्परिहरणं च मया प्रागेवोपन्यस्तमवसेयम् ।

उक्त रीति से परकीय-भाव लक्षणों का खण्डन करके अब स्व-सम्मत सिद्धान्तभूत 'भाव' का लक्षण करते हैं–'अत्रोच्यते' इत्यादि । विभाव आदि से ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदिकों (जिनकी गणना आगे की जायगी) में से एक एक का नाम 'भाव' है ।

स्वलक्षणं प्राचीनोक्त्या द्रढयति—

यदाहुः—

'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति ।

अञ्जितोऽभिव्यक्तिविषयीभूतो व्यभिचारी भावः स्यादिति तदर्थः । अन्यत्र तु प्राधान्येनाभिव्यक्तो व्यभिचारी, अपुष्टः स्थायी च भावः कथितः ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'व्यभिचार्य' इत्यादि । अर्थात् ध्वनित होने वाले व्यभिचारी-भाव को 'भाव' कहते हैं ।

अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्तिं मतत्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधां दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमतेन दर्शयति—

हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः ।

न्यायस्तुल्यता ।

वासनारूपेण सामाजिकानां हृदये स्थितानां काव्यनाट्योपस्थापितैरविरुद्धैर्विरुद्धैश्च भावैरनभिभूतानां स्वाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव प्राधान्यमुपलब्धवतां हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति रसनिरूपणे प्रागुपन्यस्तं प्रथमं सिद्धान्तमतम् ।

भाव किस तरह ध्वनित होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने तीन तरीके बतलाये हैं, अब ग्रन्थकार उन्हीं तीनों तरीकों का क्रमशः प्रदर्शन करने के क्रम में सर्व-प्रथम सिद्धान्त-भूत तरीके का उल्लेख करते हैं—'हर्षादीनाञ्च' इत्यादि । सामाजिकों नाटकादिके देखनेवालों और काव्यके पढ़ने सुनने वालों में वासनारूप से जो हर्षादिक रहते हैं, उन्हीं की स्थायीभावों की तरह अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् वासनारूप से सामाजिकों के रहने वाले और काव्य अथवा नाटक से उपस्थित किये गये अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी तरह के भावों से नहीं दबाने योग्य स्थायीभावों की जैसे अपनी अभिव्यक्ति सामग्री से स्थिर अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार प्रधान बने हुये हर्ष आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है ।

द्वितीयं मतमाचष्टे—

साऽपि रसन्यायेनेति केचित् ।

साऽभिव्यक्तिः ।

सामाजिकानां हृदये स्वभावतो विद्यमानोऽपि पिहितो विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण पिधानस्य निवर्तने स्थायिभावोपहितो भग्नावरणश्चिदानन्द एव यथा रसत्वेनाभिव्यज्यते, तथैव विभावाद्यभिव्यक्तिसामग्र्या सत्त्वोद्रेकेण भग्नावरणचिद्विशिष्टा हर्षादयो भावा अपि सामाजिकहृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रसनिरूपणे केचिदित्यनेनोपन्यस्तं द्वितीयं मतम् ।

कुछ विद्वानों का कथन है कि भावों की अभिव्यक्ति रस की तरह होती है अर्थात् जैसे, सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला भी आत्मानन्द अविद्या से ढका रहता है, पर काव्यगत अलौकिक व्यापार से उस अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है और उसी आवरणमुक्त स्थायीभाव से उपहित चिदानन्द को रस कहा जाता है, उसी तरह आवरणमुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिक के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं।

तृतीयं मतमुपादत्ते—

व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यते।

व्यङ्ग्यान्तरं रसभिन्नं वस्तुरूपमलङ्काररूपं च।

वाचकशब्दाद् वाच्योपस्थितावपि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्ये सत्यनुरणनन्यायेन यथा वस्त्वलङ्काररूपो व्यङ्ग्योऽर्थः श्रोतॄणां हृदयेऽभिव्यज्यते, तथैव विभावादिवाचकतत्तच्छब्द-प्रत्ययानन्तरमनुरणनन्यायेन हर्षादयो भावा अपि श्रोतॄणां हृदयेऽभिव्यज्यन्त इति रस-निरूपणेऽपर इत्यनेनोपन्यस्तं तृतीयं मतम्।

अन्य विद्वानों का यह भी मत है कि अन्य व्यङ्ग्यों की तरह भावों की अभिव्यक्ति होती है—अर्थात् जैसे काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के बाद वक्ता एवं बोद्धव्य आदि के ज्ञान-द्वारा वस्तु अलंकाररूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं।

अथैषां भावानामभिव्यक्तौ कारणं परीक्षते—

विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ, न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने, व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः।

अत्र भावव्यञ्जने विभावानुभावावेव व्यञ्जकौ, न तु स्वातिरिक्तो व्यभिचारिभावो व्यञ्जकः, अन्यस्य व्यभिचारिणोऽभिव्यक्तिकुक्षिप्रवेशे कदाचित् तस्यैव प्राधान्यस्य सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकत्वमत्र नाङ्गीक्रियत इत्याकूतम्।

अब इन भावों के व्यञ्जक कौन हो सकते हैं? इस बात की परीक्षा करते हैं—'विभा-नुभावौ' इत्यादि। विभाव और अनुभाव ये दो ही भावों के व्यञ्जक हैं, व्यभिचारीभाव नहीं, यदि एक व्यभिचारी (जिसको प्रधान व्यङ्ग्य होने के नाते भाव कहते हैं) के ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारी को व्यञ्जक मानना आवश्यक समझा जायगा, तब वही (व्यञ्जक व्यभिचारीभाव ही) प्रधान हो जायगा। कारण यह है कि जैसे यह (भाव माना जाने वाला) व्यभिचारीभाव अभिव्यक्त होता है वैसे ही वह (व्यञ्जक माना जाने वाला) भी अभिव्यक्त होता है और व्यञ्जकता उसमें अधिक है। अतः भावों के दो ही (विभाव और अनुभाव) व्यञ्जक मानना उचित है।

प्रकरणादीनां तात्पर्यनियामकत्वेन व्यभिचार्यन्तरस्य व्यञ्जकतयाऽभ्युपगमेऽपि न प्राधा-न्यापत्तेः सम्भव इति व्यभिचार्यन्तरस्यापि व्यञ्जकत्वमभ्युपेयमेवेति सिद्धान्तपक्षमाह—

वस्तुतस्तु—प्रकरणादिवशात् प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे, तदीयसाम-ग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया तन्निमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्याङ्गत्वेऽपि न क्षतिः। यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य।

प्रकरणादिबलात् कस्मिंश्चिद्भावे प्रधाने सति, तद्भावस्य व्यञ्जिका या सामग्री, तयैवा-विनाभावित्वेन यतो व्यज्यमानोऽपरो भावो भवति, तस्मात् स्वल्पतया भासमानोऽपि परो-व्यभिचारिभावः प्रधानभावस्याङ्गमेव भवति, न त्वङ्गीति विभावानुभाववद् व्यभिचार्यन्तरस्य

भावव्यञ्जकताङ्गीकारे न तत्प्राधान्यापत्तिः। अत एव गर्वादौ भावेऽङ्गिनि, व्यभिचार्यन्तरस्यामर्षस्य, अमर्षादौ चाङ्गिनि गर्वस्याङ्गत्वं न विरुद्धमित्यभिप्रायः।

वस्तुतः तो जब प्रकरण आदि के बल से कोई एक भाव प्रधान हो जायगा, तब उसको ध्वनित करने वाली सामग्री के द्वारा, अन्यभाव से रहित केवल प्रधान भाव ध्वनित ही नहीं हो सकता, इस कारण यदि कोई अन्य भाव ध्वनित हो भी जाय और वह प्रकरण प्राप्त भाव की अपेक्षा दुर्बल होने के कारण उसका अङ्ग बनकर रहे तो कोई हानि नहीं—अर्थात् प्रकरण आदि की सहायता से प्रबल बना हुआ एक भाव जब प्रधान हो जायगा, तब दूसरा भाव अन्यथासिद्ध के रूप में अभिव्यक्त होकर भी दुर्बल रहेगा, अतः प्रधान हो नहीं सकता, इसलिये यदि विभाव अनुभाव की तरह व्यभिचारीभाव को भी भावों का व्यञ्जक माना जाय तो किसी हानि की सम्भावना नहीं है। जैसे कि गर्व के प्रधानतया व्यङ्ग्य होनेपर अमर्ष अङ्ग और 'अमर्ष के प्रधान व्यङ्ग्य होने पर गर्व अङ्ग होता है।

नन्वेकस्मिन् भावेऽङ्गिनि परस्य भावस्याङ्गत्वे, गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं, न तु भावध्वनित्वं तत्र स्यादित्याशङ्क्य समादधाति—

न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव (भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात्।

यत्र प्रधानभावव्यञ्जिकाया विभावानुभावरूपसामग्र्या भिन्नया सामग्र्या भावान्तरमभिव्यज्यते, तत्रैव तस्य भावान्तरस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यवहारकारणत्वम्, न त्वङ्गत्वेनैव। प्रकृते तूभयोरेकैव सामग्री व्यञ्जिका, तस्मान्नात्र गुणीभूतत्वं सम्भवतीति भावः।

यदि आप कहें कि इस तरह भाव-ध्वनि-स्थल में एक भाव को अङ्गीरूप में और दूसरे भाव को अङ्ग रूप में व्यङ्ग्य मानने पर वह काव्य 'गुणीभूत व्यङ्ग्य' कहलायगा 'भाव-ध्वनि' नहीं, तो इसके उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रधान भाव को व्यक्त करने वाले विभाव और अनुभाव से अतिरिक्त विभाव और अनुभाव से जो गौण भाव व्यक्त होता है, अत एव प्रधान भाव के व्यङ्ग्य होने पर जिसका व्यक्त होना आवश्यक नहीं, अपि तु आकस्मिक है, वही काव्य में गुणीभूत व्यङ्ग्त्व-व्यवहार का कारण होता है, भाव-ध्वनिस्थल में तो अङ्गभूत भाव भी उन्हीं विभाव-अनुभावों से अभिव्यक्त हुआ रहता है, जिनसे अङ्गीभाव ध्वनित होता है, अतः वहां का अङ्गभूत भाव-व्यङ्ग्य, गुणीभूत-व्यङ्ग्यता का नियामक नहीं बन सकता।

उक्तमर्थं समर्थयति—

अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति। अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव भवेत्।

अत एवाभिन्नसामग्रीव्यङ्ग्यत्वादेव नान्तरीयकयोर्नित्यसम्बद्धयोर्भावयोर्गुणप्रधानभावाभावः। अन्यथा—तत्रापि गुणप्रधानभावाभ्युपगमे गर्वादिभावध्वनावप्यमर्षादिभावानामभिन्नसामग्रीव्यङ्ग्यानां बलाद् गुणीभूतव्यपदेशे सर्वत्र प्रवृत्ते, भावध्वनिव्यपदेशस्य सर्वथा लोप एव स्यादित्यर्थः।

जिसलिये उक्त रीति से आकस्मिक भाव ही अङ्गभूत होने पर गुणीभूत व्यङ्ग्यता का कारण होता है, इसीलिये भावध्वनिस्थल में प्रधान भाव से भिन्न उसी भाव की ध्वनि होती है, जो नान्तरीयक रहता है—प्रधान भाव के ध्वनित होने पर जिसका ध्वनित होना आवश्यक होता है—अर्थात् जो प्रधान भाव-व्यञ्जक-सामग्री से ही व्यक्त हुआ रहता है। तात्पर्य यह है कि भाव-ध्वनि स्थल में प्रधान भाव से भिन्न उस भाव की ध्वनि नहीं होती, जिसका प्रधान-भाव-ध्वनि के साथ ध्वनित होना निश्चित नहीं है। अन्यथा (यदि प्रधान भाव-ध्वनि के साथ नियमतः ध्वनित होने वाले अङ्गभूत भाव भी गुणीभूत व्यङ्ग्यत्व-

व्यवहार के कारण हों, तब) गर्वादिभावध्वनि का लोप ही हो जाय, कारण यह कि गर्वादि-प्रधान-भाव-ध्वनि-स्थल में अङ्गरूप से नियमतः ध्वनित होने वाले अमर्ष आदि को लेकर गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य का व्यवहार ही सर्वत्र हो जायगा।

विभावस्य भावे निमित्तकारणतां वक्ति—

विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्येव सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते।

अत्र भावध्वनौ। यथा रसे व्यञ्जनीये विभावस्यालम्बनतयोद्दीपनतया चापेक्षा भवति, तथा व्यभिचारिभावे व्यञ्जनीये न भवति, किन्तु व्यभिचारिभावं प्रति विभावस्य निमित्तकारणतैव सामान्यत इत्यर्थः।

विभावपद से यहां व्यभिचारीभाव के साधारण निमित्तकारण का ग्रहण समझना चाहिये, न कि रस की तरह उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है।

विशेषमाह—

यदि तु क्वचित् सम्भवः, तदा न वार्येते।

क्वचित् कस्मिंश्चिद्, भावे व्यञ्जनीये सति, आलम्बनविभाववदुद्दीपनविभावस्यापि यदि सम्भवः स्यात्, तदा ते आलम्बनोद्दीपने न वार्येते। अत एवाग्रे रसाभासोदाहरणप्रसङ्ग उद्दीपनस्याप्युपादानं नासङ्गतम्।

यदि कहीं किसी खास भाव की ध्वनि में विभाव का आलम्बन और उद्दीपन होना भी सम्भव हो, तो उसका निषेध भी नहीं करना है। अत एव आगे रसाभास के उदाहरण-प्रसङ्ग में आलंबन के जैसे उद्दीपन की भी की गई चर्चा असंगत नहीं होती है।

भावरूपतां प्राप्तान् हर्षादीन् क्रमेणोद्दिशति—

हर्षादयस्तु—

हर्ष-स्मृति-व्रीडा-मोह-धृति-शङ्का-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-श्रम-गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-त्रास-सुप्त-विबोधा-ऽमर्षा-ऽवहित्थोग्रतोन्माद-मरण-वितर्क-विषादौत्सुक्या-ऽऽवेग-जडता-ऽऽलस्या-ऽसूया-ऽपस्मार-चपलताः। प्रतिपक्षकृताधिक्कारादिजन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः। गुरु-देव-नृप-पुत्रादिविषयारतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।

भावानामिहोद्देशक्रमः प्राचीनग्रन्थप्रतिकूलः।

हर्षप्रभृतयस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभावा गुर्वादिविषयकरतिश्चेति चतुस्त्रिंशद् भावाः सन्तीत्यर्थः।

इह गुर्वादिविषयकरतिरिति 'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।' 'रत्यादिश्चेदनिरङ्गः स्याद्देवादिविषयोऽथवा। अन्याङ्गभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक्।' 'रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः' 'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः। उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।' इत्यादिदर्शनात् सामग्रीविरहेणाप्राप्तरसभावानामन्येषामपि स्थायिभावानामुपलक्षणम्।

अब भावों का परिगणन करते हैं—'हर्षादयस्तु' इत्यादि। भावों की कुल संख्या ३४ हैं। उनमें से—हर्ष, स्मृति, व्रीडा, मोह, धृति, शंका, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, त्रास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, उन्माद,

मरण, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, आवेग, जड़ता, आलस्य, असूया, अपस्मार, चपलता और प्रति पत्नी के द्वारा किये गये तिरस्कार आदि से उत्पन्न हुआ निर्वेद ये ३३ व्यभिचारी हैं और चौतिसवाँ है गुरु, देवता, राजा और पुत्र आदि के विषय में होने वाला प्रेम।

ननु पुत्रादिविषयकरतिस्थायिकं वात्सल्यनामकं रसान्तरमेवान्यत्रोक्तमिति कुतोऽत्र तद्रतेर्भावत्वेन गणनेत्याशङ्कां निराकरोति—

एतेन वात्सल्याख्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्, उच्छृङ्खलताया मुनिवचनपराहतत्वात्।

रससङ्ख्यास्वीकारे भरतमुनिवचनस्यैव व्यवस्थापकत्वं यतः प्राग् रसनिरूपणेऽनायत्याऽङ्गीकृतम्, अतस्तेनैव मुनिना पुत्रादिविषयकरतेर्भावत्वेन व्यवस्थापनान्न वात्सल्यरसोऽस्तीति सारम्।

अब किसी किसी विद्वान् ने जो 'वात्सल्य' को रस माना है, उसका खण्डन करते हैं— 'एतेन' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि पुत्र आदि विषयक प्रेम को उक्त भावों की श्रेणी में क्यों गिनते हैं? जब कि अन्य विद्वान् उसको 'वात्सल्य' नामक रस मानते हैं और पुत्र आदि को उस रस का आलम्बन आदि। इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं कि 'वात्सल्य' नामक कोई रस नहीं हो सकता, क्योंकि भरत मुनि ने ऐसा नहीं माना है और उच्छृङ्खलता उनके आगे चल नहीं सकती, अतः भरत मुनि के कथनानुसार उसे भाव मानना ही उचित है।

इदानीमेकैकशो हर्षादीन् निरूपयितुमुद्यत उद्देशक्रमेणादौ हर्षं निरूपयति—

तत्र—

इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः।

इष्टप्राप्त्यादिजन्यः सुखविशेषो हर्ष इति लक्षणम्। भावत्वेनास्य चित्तवृत्तिविशेषरूपता।

अब क्रमशः उक्त भावों में से एक एक का निरूपण, लक्षणोदाहरणादि-प्रदर्शन द्वारा करते हैं।

(अभिलषित वस्तु की प्राप्ति आदि से जो एक तरह का सुख उत्पन्न होता है, उसे 'हर्ष' कहते हैं।)

आदिपदग्राह्यैर्विभावैः सहास्यानुभावान् दर्शयितुमन्यदीयमपि लक्षणं वक्ति—

तदुक्तम्—

'देव-भर्तृ-गुरु-स्वामिप्रसादः प्रियसङ्गमः।
मनोरथाप्ति-रप्राप्यमनोहरधनागमः॥
तथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्र-वक्त्रप्रसादश्च, प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥' इति।

भर्ता पतिः स्वामी त्वधिपतिः। पुत्राद्युत्पत्तिपर्यन्तं हर्षस्य निमित्तानि विभावाः, नेत्रप्रसादादयश्च नैमित्तिकान्यनुभावाश्च यत्र जायन्ते, तं हर्षमादिशेदित्यन्वयः।

हर्ष का परिभाषा प्राचीनों ने भी इसी तरह की है, जैसे—'देवभर्तृ·······इत्यादि जिसका अर्थ यह है कि—देवता, पति, गुरु और स्वामी (अधिपति) की प्रसन्नता, प्रिय समागम, इच्छित वस्तु की प्राप्ति, दुर्लभ और लोभ-जनक धन का लाभत था पुत्र आदि का जन्म जिसके विभाव होते हैं और नेत्र तथा मुख की प्रसन्नता प्रियवचन, रोमाञ्च, आँसू और प्रस्वेद आदि जिनके अनुभाव होते हैं, उसको हर्ष कहना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं कथयति—

'अवधौ दिवसावसानकाले, भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव ॥'

अवधौ प्रतिज्ञातागमनसमयसीमनि, दिवसस्यावसानकाले गोधूलिसमये, भवनस्य द्वारि दूरादेव मम दिदृक्षया विलोचने रणरणकातिरेकेणोभे अपि नयने, दधाना संयोजयन्ती रामा, तदा तदवसरे समागतं प्राप्तं माम्, अवलोक्य, अथ हर्षोद्भवानन्तरं, विकसन्मुखी विहसद्वदना, बभूवेत्यर्थः।

उदाहरण देखिये—'अवधौ.......' इत्यादि। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरे आगमन के अवधि-दिन की गोधूलि वेला थी, प्रियतमा ने घर के द्वार पर अपनी आँखें बिछा रखी थीं-मेरे दर्शन की प्रतीक्षा में उसकी आँखें एकटक द्वार की ओर लगी थीं, उसी समय उसने मुझे आया हुआ देखा, फिर क्या था, हर्ष से उसका मुख खिल उठा।

अत्र हर्षस्य विभावमनुभावं चाह—

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः, मुखविकासोऽनुभावः।

विभावानुभावज्ञानं भावज्ञानसाधनम्।

यहां प्रियका आगमन विभाव और मुख का खिल उठना अनुभाव है।

स्मृतिं निरूपयति—

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।

अनुभवज्ञानानां क्षणत्रयमात्रावस्थायित्वे विलम्बेन स्मरणानुपपत्तेः स्मृतिं प्रति ज्ञानस्य कारणतां निरस्य चिरस्थायिनः संस्कारस्यैव कारणतां निर्णयन्ति नैयायिका इत्यनुभवजन्य-संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मरणमवसेयम्। तदुक्तम्-'स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयं ज्ञानमुच्यते।' इति।

किन्हीं वस्तुओं के दर्शनात्मक-श्रवणात्मक आदि ज्ञान से जो हृदय में संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से जो ज्ञान होता है, उसका नाम 'स्मृति' है। दार्शनिकों के विचारानुसार सभी ज्ञान (अपेक्षा बुद्धि को छोड़कर) तीन ही क्षण रहते हैं, अतः ज्ञान को स्मरण के प्रति कारण नहीं माना जा सकता, इसलिये अनुभव-जन्य-संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मरण कहा गया है, यह विशेष यहाँ समझना चाहिये।

उदाहरति—

यथा—

नायको विमृशति—

'तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि,
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराऽऽननश्रीः।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त !,
सायन्तनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥'

द्वितीयचरणान्ते समुच्चयार्थकश्चकार आक्षेप्यः, अथवा—'गामश्वं पुरुषं पशुम्' इत्यत्रेव तदर्थप्रतीतिर्बोध्या।

सायन्तनाम्बुजस्य निमीलन्मुखकमलस्य सहोदरसदृशं लोचनं यस्याः सा तादृशी, तस्या विलासश्रमेण वस्तुतस्त्वानन्दातिरेकेण निमीलन्नयनायाः प्रेयस्याः, तत् पूर्वानुभवैक-

गोचरीभूतं मञ्जुमुग्धं मन्दहसितं स्मितम्, तानि श्वसितानि श्रमादिजन्यश्वासाः, सा कलङ्क-विधुरा निष्कलङ्काऽत एव पूर्णेन्दुसुषमापेक्षयाऽपि मधुरा मनोहरा, आननश्रीर्वदनशोभा च (स्मर्यमाणानि) हन्त ! वत !, मे मम हृदयं मानसम्, अधुनाऽसान्निध्यकालेऽपि, उन्मद-यन्त्युन्नतीकुर्वन्तीत्यर्थः ।

जैसे :—

नायक अपने मन में सोचता है अथवा किसी मित्र से कहता है कि—सायंकालिक कमलों के समान, अर्ध-मुद्रित नयनों वाली प्रेयसी का वह सुन्दर मन्द हास, वे श्वास, वह निष्कलङ्क और मधुर मुख की शोभा, हाय ! आज भी मेरे हृदय को पागल बना रही हैं ।

विभावादि प्रतिपादयति—

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः, भ्रून्नति-गात्रनिश्चलत्वादय आक्षेपगम्या अनुभावाः ।

चिन्ताविशेषस्य भावनाख्यसंस्काररूपस्य स्मृतौ निमित्ततया विभावत्वम्, अनुक्त-त्वादाक्षेपबोध्यानां भ्रून्नतिप्रभृतीनां च कार्यत्वादनुभावत्वमाकलनीयम् ।

यहां एक तरह की चिन्ता विभाव है, भ्रू-लता का उन्नयन, शरीर का निश्चलीभवन-आदि जो वाच्य नहीं हैं, फिर भी आक्षेप से समझ में आ जाते हैं—अनुभाव हैं ।

इहोदाहरणे विप्रलम्भध्वनित्वमाशङ्क्य निरस्यति—

यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः सञ्चारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपद-गम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य संयोगाद् विप्रलम्भरसाभिव्यक्तेः रसध्वनित्वं शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्ध्वनित्वमुक्तम् ।

विभावस्यालम्बनस्य । पुरोऽग्रे स्फूर्त्तिः प्रतीतिर्यस्याः सा पुरस्स्फूर्त्तिका, तस्या भाव-स्तत्त्वम् । तद्ध्वनित्वं स्मृतिध्वनित्वम् ।

नन्वस्मिन्नुदाहरणे नायिकारूपालम्बनविभावस्य, हन्तपदव्यङ्ग्यहृदयवैकल्यरूपानु-भावस्य, स्मृतिरूपव्यभिचारिभावस्य च नायकनिष्ठरतौ सम्बन्धाद् विप्रलम्भध्वनिरेवेति शङ्कायाः—पश्चाद्ध्वनन्त्यामल्पचमत्कारायां सत्यामपीह विप्रलम्भप्रतीतौ, पुरो भावित्वाद-धिकचमत्कारवत्त्वाच्च स्मृतिप्रतीतेः, स्मृतिभावध्वनित्वमेवात्रेति समाधानम् ।

यद्यपि यहां नायिकारूप विभाव 'हन्त' अथवा 'हाय' पद से व्यक्त होने वाला हृदय की विकलतारूप अनुभाव और स्मृतिरूप सञ्चारीभाव के संयोग से विप्रलम्भ-शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति होती है, अतः यहां रस-ध्वनि है ऐसा कहा जा सकता है, तथापि भाव-ध्वनि इसलिये कही गई कि पहले स्मृति की ही प्रतीति होती है और चमत्कारिणी भी है, हां ! पश्चात् उक्त रस भी ध्वनित हो सकता है, तो हो, पर उसमें उतना चमत्कार नहीं होगा ।

ननु तच्छब्दस्य बुद्धिविषयीभूतार्थवाचकत्वाद् बुद्धिविशेषरूपायाः स्मृतेरपि तद्वाच्यतया कथमिह स्मृतिध्वनित्वमित्याशङ्कां मतद्वयेन समादधति—

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये-बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानु-गमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यताऽवच्छेदकमिति नयेऽपि स्मृतित्वेन स्मृतेर्व्यक्तिवेद्यतैव ।

'तच्छब्दस्य प्रकरणवशाद् घटपटादिनानाऽर्थबोधकत्वस्य दर्शनाद्धर्यादिपदवन्नानार्थ-कत्वापत्तेर्वारणाय, बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वोपलक्षित-तत्तद्धर्मावच्छिन्ने शक्तिः । न च तथापि शक्यताऽवच्छेदकभेदाच्छक्तिभेदः, शक्यताऽवच्छेदकानां नानात्वेऽपि, तेषामनु-गमकस्य बुद्धिविषयताऽवच्छेदकत्वरूपस्योपलक्षणधर्मस्यैक्याच्छक्तेरैक्यमेव, न तु नानात्वम्,

इत्यस्मिन् प्रथममते बुद्धेः शक्यताऽवच्छेदकानुगमकधर्मकुक्षिप्रवेशेऽप्युपलक्षणतया वाच्यत्वा-भावाद् ध्वन्यमानत्वमक्षतमेव। तच्छब्दस्य बुद्धिविषयत्वावच्छिन्ने शक्तिरिति मतेऽपि, बुद्धित्वेन सामान्यधर्मेण स्मृतेर्वाच्यतायामपि स्मृतित्वेनासाधारणधर्मेणावाच्यावाद् ध्वनित्वे न किञ्चिद्बाधकमिति द्वितीयमतेऽपि दोषभावो बोध्यः।

ननु द्वितीयमते बुद्धित्वेनाभिधया बोध्यमानाया एव स्मृतेः स्मृतित्वेन व्यङ्ग्यताङ्गीकारे 'शयिता सविधे' इत्यादौ प्रागुपात्तस्य-'व्यङ्ग्यस्य कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव चमत्कारित्वादित्यालङ्कारिकसमयः' इति स्वकीयग्रन्थस्य विरोधः स्फुट एवेति चेत्, उच्यते— वाच्यताऽवच्छेदको व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकश्च प्रतीतिविषयो जातिरूपस्तदन्यो वा यत्रैक एव धर्मो भवति, तत्रैव तदर्थस्य न व्यङ्ग्यता चमत्कारिता वा, यत्र तु सामान्यविशेषभावा-दिनाऽपि तद्धर्मयोस्तनीयानपि भेदः, तत्र नायं नियमः, तथा च 'शयिते'त्यादौ वाच्यताऽ-वच्छेदकस्य मनोरथत्वस्य, व्यङ्ग्यताऽवच्छेदकस्येच्छात्वस्य च घटत्व-कलशत्ववदैक्यम्, इह तु बुद्धित्व-स्मृतित्वयोर्गुणात्वज्ञानत्ववत् सामान्यविशेषभावाद् भेदस्तस्मान्न दोष इति व्याख्यातारः।

यहां एक शङ्का यह होती है कि जब तत्पद का वाच्य 'बुद्धि-विषयीभूत अर्थ' है, तब तो बुद्धि भी उसके वाच्य की श्रेणी में आगई और स्मृति भी एक प्रकार की बुद्धि (ज्ञान) ही है, अतः स्मृति यहां व्यङ्ग्य कैसे होगी? क्योंकि वाच्य अर्थ को आलङ्कारिक लोग व्यङ्ग्य नहीं मानते, इसी शङ्का का उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'तदादेः' इत्यादि। अभि-प्राय यह है कि तत्पद के घट-पट आदि अनेक अर्थ हैं, फिर हरिप्रभृति पद के जैसे वह (तत्पद) भी नानार्थक क्यों नहीं माना जाय? यह प्रश्न जब उठा, तब सभी दार्शनिकों ने एक स्वर से समाधान किया कि अर्थ के अनेक होने से कोई पद नानार्थक नहीं होता, वरन् किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित अनेक शक्ति मानने से वह पद नानार्थक होता है, यदि किसी पद में अनेक अर्थ निरूपित होकर भी शक्ति एक ही हो, तब वह पद एका-र्थक ही कहलाता है और शक्ति के एक होने के नियम ये हैं कि यदि शक्य एक हो, तब शक्ति एक, यदि शक्य अनेक भी हों और शक्यतावच्छेदक एक हो, तब भी शक्ति एक, यदि वह भी अनेक ही हों, तब भी शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक के एक होने पर शक्ति एक ही होती है, सारांश यह कि शक्य के पीछे यदि कहीं कोई अनुगमन एक धर्म हो, तो शक्ति एक होती है। इस पर प्रश्न उठा कि तत्पद में शक्ति एक है? या अनेक? इसका उत्तर भी सबों ने समान ही दिया कि—एक। इसके बाद यह प्रश्न सामने आया कि—क्यों? अर्थात् ऊपर जो शक्ति को एक बनाने वाले अनेक नियम बतलाये गये हैं, उनमें से यहां कौन सा नियम लागू होता है? इसके उत्तर में दार्शनिकों के दो मत हो गये। कुछ लोगों का मत है कि बुद्धिस्थ जो प्रकार (भेदक विशेषण) तदवच्छिन्न अर्थात् तद्विशिष्ट में तत्पद की शक्ति है। जैसे—घटत्व-पटत्व आदि प्रकार (भेदक विशेषण) को बुद्धिस्थ कर लेने पर तद्विशिष्ट घट-पट आदि में तत्पद की शक्ति होती है। इस मत के अनुसार तत्पद से घट-पटादि का बोध असाधारण अर्थात् घटपटादिरूप में ही होता है। इसी बात को कुछ लोग 'बुद्धि-विषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्न में तत्पद की शक्ति है' इस रूप से भी कहते हैं, तात्पर्य एक ही है। इस तरह से शक्ति मानने पर यद्यपि तत्पद के शक्य घट-पट आदि अनेक होते हैं, शक्यतावच्छेदक (उक्त प्रकार) घटत्व-पटत्व आदि भी अनेक ही होते हैं, तथापि शक्यतावच्छेदक घटत्वादिकों का अनुगम करने वाला, शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक, बुद्धिस्थत्व अथवा बुद्धिरूप उपलक्षक धर्म एक है, अतः शक्ति एक ही होगी और तत्पद नानार्थक नहीं होगा। अन्य लोगों का मत इससे कुछ भिन्न है, उनका कथन यह है कि—तत्पद की शक्ति बुद्धिस्थत्वावच्छिन्न में है,

इस मत के अनुसार तत्पद से घट आदि का बोध असाधारण घट आदि के रूप में नहीं होता, अपि तु साधारण बुद्धिस्थ के रूप में। इसप्रकार शक्ति मानने पर तत्पद के शक्य घटादि तो अनेक हुये, पर शक्यतावच्छेदक बुद्धिस्थत्व एक ही हुआ और अनुगत भी, अतः इस मत में भी अनेक अर्थ निरूपित एक ही शक्ति तत्पद की सिद्ध हुई, इस मत में शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक पर्यन्त, अनुगम के लिये अनुधावन नहीं करना पड़ता, यह लाघव है। फलतः इस मत के अनुसार भी तत्पद नानार्थक नहीं कहा सकता। अस्तु, ये तो हुये दार्शनिकों के झगड़े। अब प्रकृत में विचार यह करना है कि उक्त दोनों मतों में से किसी भी मत के अनुसार स्मृति (जिसकी ध्वनि यहां मानते हैं) तत्पद का वाच्य होती है या नहीं? उत्तर यह है कि—नहीं, क्योंकि प्रथम मत के अनुसार तत्पद के अर्थ में बुद्धि का स्थान तीसरे दर्जे—अर्थात् शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक में है और किसी भी पद की वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित रहती है अर्थात् शक्य और शक्यतावच्छेदक ही पद के वाच्य होते हैं, उसके आगे शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक नहीं वाच्य होता, दूसरी बात यह कि बुद्धि यहां शक्यतावच्छेदकों का अनुगम कराने के लिये उपलक्षण मात्र है, विशेषण नहीं; फिर वह वाच्य हो भी कैसे सकता है? द्वितीय मत के अनुसार यद्यपि बुद्धि शक्यतावच्छेदक है और विशेषण भी—उपलक्षण नहीं, अतः वह तत्पद का वाच्यार्थ अवश्य हो गया और स्मृति भी बुद्धिरूप होने से वाच्य हो गई, तथापि बुद्धित्व इस सामान्यरूप से ही स्मृति वाच्य हुई, स्मृतित्वरूप से तो स्मृति व्यङ्ग्य ही होगी और इस रूपभेद के कारण स्मृति के व्यङ्ग्य होने में कोई बाधा भी नहीं होगी। वादी यदि कहें कि—पहले आप कह आये हैं कि वही अर्थ व्यङ्ग्य हो सकता है, जिसमें किसी भी तरह वाच्य-वृत्ति (अभिधा) का स्पर्श न हो, अत एव आपने 'शयिता सविधे……' इत्यादि पद्य में मनोरथत्वरूपेण वाच्य बन चुकी चुम्बनेच्छा को व्यङ्ग्य नहीं माना है, फिर यहां आप बुद्धित्वेन रूपेण वच्य बनी हुई स्मृति को व्यङ्ग्य कैसे मानते हैं? यह तो आपकी परस्पर विरुद्ध बातें होती हैं, इसका समाधान यह है कि वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक (चाहे वह जातिरूप हो या अन्य कोई) धर्म जहां एक ही रहता है, वहीं वह अर्थ व्यङ्ग्य नहीं होता और चमत्कारी भी नहीं, जैसे 'शयिता……' इत्यादि पद्य में मनोरथत्व और इच्छात्व जो क्रमशः वाच्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्यतावच्छेदक है—एक ही जाति है—अर्थात् जैसे घटत्व और कलसत्व में कोई भेद नहीं है, वैसे उन दोनों में भी भेद नहीं है, अतः मनोरथत्वरूप से वाच्य हो जाने पर इच्छात्वरूप से व्यङ्ग्य नहीं होता।

पर यहां ऐसी बात नहीं है—अर्थात् बुद्धित्व और स्मृतित्व एक नहीं है, इन दोनों में सामान्यविशेषभाव है, अतः गुणत्व और ज्ञानत्व के जैसे ये दोनों दो धर्म हैं, फिर बुद्धित्वेन रूपेण वाच्य होने पर भी स्मृतित्वेन व्यङ्ग्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? किंवा विरोध कैसे होगा? अर्थात् न कोई आपत्ति होगी, न कोई विरोध होगा।

स्मृतेरिह पदप्रकाश्यत्वं व्यवस्थापयति—

तस्याश्चात्र वाक्यवेद्यत्वेऽपि, पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात् पदध्वनिविषयत्वम्। एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परास्तम्।

तस्याः स्मृतेः। वाक्येन तन्मञ्जिवत्यादिना। पदस्य तच्छब्दस्य। कुर्वद्रूपत्वं वैलक्षण्यमपूर्वशक्तिरिति यावत्। एतेन पदप्रकाश्यव्यङ्ग्यस्यापि चमत्कारित्वातिशयानुभवेन।

स्मृतेर्व्यञ्जकं यद्यपि समस्तमेव वाक्यमिदम्, किन्तु तच्चमत्कारापेक्षयाऽधिकश्चमत्कारस्तत्पदव्यङ्ग्यस्मृतेरेवानुभूयत इति प्राधान्यात् पदप्रकाश्यध्वनित्वमेवात्र प्रसिद्धम्। एतावताभावानां पदप्रकाश्यत्वे नैव चमत्कारो भवतीति वदन्तः प्रत्युक्ताः, तत्रापि चमत्कृतेरानु-

भविकत्वात्, 'विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी। पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती।' इति ध्वनिकारानुमतत्वाच्च।

यद्यपि यहां सम्पूर्ण वाक्य से ही स्मृति अवगत होती है, तथापि तत्पद ही कुर्वद्रूप है—अर्थात् वह एक पद ही स्मृति को ध्वनित करने में अग्रसर है, अतः यह 'पद-ध्वनि' का ही लक्ष्य माना जाता है। इससे लोगों की जो यह धारणा है कि—भाव यदि 'पद' के द्वारा ध्वनित हों, तो उनमें कुछ विचित्रता (चमत्कार) नहीं होती, उसे नष्ट हो जाना चाहिये।

प्रसङ्गादत्र पद्ये पदान्तरव्यङ्ग्यं प्रकाशयति—

सायन्तनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः।

नेत्रयोः सायङ्कालिककमलोपमया प्राक् क्रमिकनिमीलनोन्मुखत्वं, पश्चान्नायिकाया आनन्दमग्नत्वं च व्यज्यत इत्याशयः।

यहां नेत्रों को जो सायंकालिक कमलों की उपमा दी गई है, उससे यह अभिव्यक्त होता है कि नेत्र उत्तरोत्तर (आगे आगे) अधिक मुद्रित होते जा रहे हैं, जिससे नायिका की आनन्द मग्नता ध्वनित होती है।

प्रत्युदाहरणमाह—

'दरानमत्कन्धरबन्धमीष-न्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम्।
अनल्पनिश्श्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः॥'

दरमीषदामन् नम्रीभवन् कन्धराबन्धो ग्रीवाभागो यत्र, तम्, निर्मीलिते आनन्दातिरेकेण लज्जातिशयेन वा मुद्रिते, विलोचनाब्जे नयनकमले यत्र, तम्, अनल्पेन भूयसा, निश्वासभरेण विलासायासजन्यनिश्श्वसितभारेणालसानि शिथिलत्वात् क्रियानुन्मुखानि अङ्गानि यत्र, तादृशं च, अङ्गनाया ललनायाः, सङ्गं चिरं स्मरामीत्यर्थः।

अब स्मृति-भाव का प्रत्युदाहरण देखिये। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मैं, चिरकाल तक, नायिका के उस सङ्ग का स्मरण करता रहता हूं, जिसमें गरदन कुछ झुकती रहती है, प्रीति-पगे, नयन-कमल कुछ-कुछ मुद्रित होते रहते हैं और अङ्ग अत्यधिक श्वास के कारण अलसाये होते हैं।

समीक्षते—

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात्। नापि स्मरणालङ्कारः, सादृश्यामूलकत्वात्, सादृश्यमूलकस्यैव स्मरणालङ्कारत्वम्, अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात्। किन्तु विभाव एव सुन्दरत्वात् कथञ्चिद्रसपर्यवसायी।

अत्र पद्ये स्मरामीति स्ववाचकशब्दवाच्यत्वाद् व्यङ्ग्यत्वाभावेन स्मृतिर्न भावः। न चैषा स्मृतिः स्मरणालङ्कारः, सादृश्योद्भाविताया एव स्मृतेरलङ्कारत्वस्य व्यवस्थापयिष्यमाणत्वात्। असादृश्यमूलिकायास्तु व्यङ्ग्यायाः स्मृतेर्भावत्वम्, वाच्यायास्त्वर्थमात्रता। एवं स्थिताविह मनोहरस्य नायिकारूपालम्बनस्यैव माहात्म्यात् कन्धरेषन्नमन-नयनेषन्निमीलनाद्यनुभावस्य, तत्कारणतयाऽऽक्षिप्तस्य लज्जात्मकव्यभिचारिणश्च संसर्गान्नायकनिष्ठरतेः शृङ्गाररसे पर्यवसानमित्याशयः। राजानकरुय्यकस्तु—वैसादृश्यमूलिकामपि स्मृतिं स्मरणालङ्कारमङ्गीकृत्य 'शिरीषमृद्वीगिरिषु प्रपेदे, यदा यदा दुःखशतानि सीता। तदा तदाऽस्या भवनेषु सौख्य-लक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः।' इत्युदाजहार।

यहां जिस स्मृति की प्रतीति होती है, उसे 'भाव' नहीं मान सकते, क्योंकि वह साक्षात् स्मृति-वाचक 'स्मरामि' पद से ज्ञात होने से वाच्य है व्यङ्ग्य नहीं, स्मरणालङ्कार यहां नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न स्मरण को ही 'स्मरणालंकार' मानते हैं और यहां का स्मरण किसी समान वस्तु के अनुभव से उत्पन्न नहीं हुआ है। इस तरह सिद्धान्त यह स्थिर हुआ कि सादृश्यमूलक स्मरण 'स्मरणालंकार' होता है और जो सादृश्य मूलक नहीं हो, वह स्मरण यदि व्यङ्ग्य रहे, तो 'भाव' कहलाता है, अतः यहां का स्मरण सादृश्यमूलक और व्यङ्ग्य न होने के कारण 'अलंकार' अथवा 'भाव' कुछ नहीं है। अब आप पूछ सकते हैं कि यदि ऐसी बात है तो यहां चमत्कार का बीज ही क्या है, जिससे इस पद्य को काव्य कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि इस में वर्णित नायिकारूप विभाव ही रमणीय होने के कारण किसी तरह शृङ्गार-रस के रूप में पर्यवसित होता है और चमत्कार पैदा करता है, अत एव इस श्लोक को काव्य कहते हैं। यहां कथञ्चित्' पद से जो अस्वारस्य सूचित होता है, वह यह है कि केवल विभाव तो रसरूप में परिणत हो नहीं सकता, अतः ग्रीवा के नम्रीभाव और नेत्रों के मुद्रण को अनुभाव मानकर उसके कारणरूप में लज्जारूप सञ्चारी का आक्षेप करना पड़ेगा, जो क्लेश-प्रद है।

व्रीडां निरूपयति—

स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्ग-पराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।

पराभवो वैरिकृतः। वैवर्ण्यं वर्णान्यथाभावः। पुरुषमुखावलोकनादिजन्यः स्त्रीवृत्तिः, प्रतिज्ञाभङ्गादिजन्यश्च पुरुषवृत्तिर्वैवर्ण्यादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा लज्जेत्यर्थः। तदुक्तम्— 'सङ्कोचश्चेनसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वकृत्।' इति।

अब व्रीड़ा (लज्जा) का लक्षण करते हैं—'स्त्रीणाम्' इत्यादि। स्त्रीयों में पुरुष-मुख-दर्शन आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञा-भङ्ग एवं पराजय आदि से उत्पन्न होने वाली और विवर्णता एवं नताननता आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली जो एक तरह की चित्त-वृत्ति है, उसका नाम 'व्रीड़ा' है।

उदाहरति—

यथा—

नायको मुग्धावृत्तं सखायं व्याहरति—

> 'कुचकलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं,
> सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
> विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे,
> चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥'

बाला मुग्धा, कुचावेव पृथुलत्वादुन्नतत्वाच्च कलशौ तयोर्युगस्य युग्मस्यान्तर्मध्ये, मामकीनं मया कृतत्वान्मत्सम्बन्धिनं, नखाङ्कं नखचिह्नं, (रहसि) सपुलकतनु हर्षोद्भूतरोमाञ्चाञ्चितशरीरं यथा स्यात् तथा, मन्दं मन्दं शनैश्शनैः, आलोकमाना पश्यन्ती, गवाक्षे तद्दर्शनार्हवातायने, विनिहितवदनं स्थापितमुखं (पश्यन्तं) मां वीक्ष्य, चकितान्याश्चर्येण, नतनतानि नम्रतमानि च लज्जयाऽङ्गानि यस्यास्तादृशी, सद्यस्तत्काले, सद्म गर्भगृहं विवेशेत्यर्थः।

जैसे—नायक अपने मित्र से कहता है कि—कलशों के समान विशाल तथा उन्नत दोनों उरोजों के मध्य में मेरे द्वारा ही किये गये नख-क्षत के चिह्न को पुलकिताङ्गी होकर धीरे-धीरे देखती हुई उस मुग्धा नायिका ने ज्यों ही झरोखे में मुख डाले हुये (अपनी ओर

देखते हुये) हमें देखा, त्यों ही वह चकित होकर अपने अङ्गों को सिकोड़ती हुई घर में भाग गई।

उपपादयति—

अत्र प्रियस्य दर्शनम्, तेन नायिकाकर्तृकतत्कुचान्तर्वर्तिप्रियनखक्षतावलोकनजन्य-हर्षावेदकतत्पुलकादेर्दर्शनं च विभावः। सद्यः सदनप्रवेशोऽनुभावः।

तेन प्रियेण।

ताभ्यां विभानुभावाभ्यां प्राधान्येन लज्जाया व्यञ्जनाल्लज्जाध्वनेरिदमुदाहरणम्।

यहां नायिका को प्रियतम का दिखाई देना और उसके उरोजों में प्रिय के नख-क्षत के देखने से उत्पन्न हुये हर्ष की सूचना देने वाले रोमाञ्च आदि का प्रियतम को दीख जाना विभाव है तथा तुरत घर में भाग जाना अनुभाव है। इन दोनों विभावानुभावों से प्रधानतया लज्जा ध्वनित होती है, अतः यह पद्य 'भाव-ध्वनि' का उदाहरण हुआ।

पुनरुदाहरति—

यथा वा—

नायकः सखायमाख्याति—

'निरुद्धय यान्तीं तरसा कपोतीं, कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं, सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव॥'

मयि, तरसा वेगेन कोपात् त्रासाद्वा यान्तीं कपोतीं पारावतवधूं, निरुद्धयावरुद्धय, कूजतो रिरंसया कलकलं कुर्वतः, कपोतस्य, पुरोऽग्रे, ददाने स्थापयति, सति, स्मितेनार्द्रं स्तिमितं वदनं, मन्दमन्दं सा प्रेयसी, नमयाम्बभूव नम्रीचकारेत्यर्थः।

अथवा जैसे—'निरुध्य यान्तीम्.........' इत्यादि पद्य में। किसी मित्र के प्रति नायक का कथन है कि जब मैं वेग से दूर भाग कर जाती हुई कबूतरी को बलजोरी रोक कर (कामातुरता के कारण) कूजता हुआ कबूतर के आगे रख रहा था, तब उस नायिका ने (मेरे आचरण को देखकर) मन्द-हास से आर्द्र, मुख-कमल को धीरे धीरे नीचा कर लिया।

उपपादयति—

पूर्वत्र त्रास इवात्रापि हर्षो लेशतया सन्नपि व्रीडाया अनुगुण एव। प्रियकर्तृकं कपोतस्याग्रे कपोत्याः समर्पणं विभावः, वदननमनमनुभावः।

यथा पूर्वत्र 'कुचकलशे'त्यादौ चकितत्वेन लेशतया प्रतीयमानस्त्रासो लज्जायाः पोषकत्वादनुगुण एव, न तु प्रतिकूलः, तथैवात्र 'निरुद्धये'त्यादौ स्मितवदनत्वेन प्रतीयमानो हर्षोऽपि न प्रतिकूलः किन्तु व्रीड़ायाः पोषक एवेत्यर्थः।

जैसे 'कुच-कलश.........' इत्यादि पद्य में नायिका में 'चकित' विशेषण लगानेसे त्रास ईषत् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा के अनुकूल (पोषक) हुआ है, उसी तरह यहां (निरुध्य यान्तीम्.........इत्यादि पद्य में) 'मन्दहास से आर्द्र' इस मुख-विशेषण से हर्ष किञ्चित् अभिव्यक्त होकर भी लज्जा का पोषक ही होता है, विरोधी नहीं। नायक का कबूतर के आगे कबूतरी का रखना विभाव है और नायिका का मुख नीचा करना अनुभाव है, जिनसे यहां 'व्रीडा-भाव' अभिव्यक्त होता है।

मोहं निरूपयति—

भयवियोगादिप्रयोज्या वस्तुतत्त्वानवधारिणी चित्तवृत्तिर्मोहः।

भयवियोगप्रभृतिभिर्व्याकुलत्वं, तेन च मोहो जन्यत इति प्रयोज्यत्वं निवेशितम्। मोहे सति च कस्य वस्तुनस्तत्त्वावधारणं न भवतीति तदाख्यानम्। भयादिजन्यव्याकुलत्वजन्यो

वस्तुतत्त्वानवधारणजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो मोह इत्यर्थः। तदुक्तम्—'मोहो विचित्तता भीति-दुःखावेगानुचिन्तनैः। घूर्णनाज्ञानपतन-भ्रमणादर्शनादिकृत् ॥' इति।

अब मोह का निरूपण करते हैं—'भय' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति को 'मोह' कहते हैं जिसकी उत्पत्ति भय-वियोग आदि से उत्पन्न व्याकुलता के कारण होती है और जिसके कारण किसी भी वस्तु की यथार्थता को समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है—अर्थात् मोह के उत्पन्न हो जाने पर मनुष्य का अन्तःकरण शून्य सा हो जाता है, जिससे वह किसी भी चीज को यथार्थरूप से समझने की शक्ति को खो देता है।

नवीनमतमाह—

'अवस्थान्तरशबलिता सा तथा' इति तु नव्याः।

सा चिन्ताख्या वक्ष्यमाणैव वस्तुतत्त्वानवधारणरूपमवस्थान्तरं गता चित्तवृत्तिरेव तथा मोहाख्येति तु नव्याः कथयन्तीत्यर्थः।

नवीन विद्वानों का मत है कि 'चिन्ता' नाम की जिस चित्त-वृत्ति का वर्णन आगे किया जायगा, वही जब एक खास अवस्था तक पहुंच जाती है, तब 'मोह' नाम से पुकारी जाती है—अर्थात् चिन्ता जब इस दशा को पहुंच जाती है कि सूझना-समझना सब बन्द हो जाय, तब उसे मोह कहते हैं अतः चिन्ता से पृथक् उसकी (मोह की) गणना नहीं करनी चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

बालाया मोहावस्थाव्यापारं वर्णयति—

'विरहेण विकलहृदया, विलपन्ती दयित! दयितेति।
आगतमपि तं सविधे, परिचयहीनेव वीक्षते बाला ॥'

विरहेण विकलहृदया व्याकुलमनाः, अत एव दयित! दयित! क्वासीति विलपन्ती, सा बाला, सविधे समीपे, आगतमपि, तं दयितं, परिचयहीनाऽसञ्जातपरिचयेव, वीक्षते पश्यति, न तु किमपि कथयतीत्यर्थः।

अब मोह का उदाहरण देखियेः—

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—'प्यारे-प्यारे' की रट लगाती हुई उस मुग्ध नायिका का हृदय विरह से इतना कातर हो गया है कि पास में आये हुये भी प्रिय को इस तरह देखती रह जाती है, जैसे उसके साथ उसका कभी का कोई परिचय ही न हो।

अत्र विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र कान्तवियोगो विभावः, इन्द्रियवैकल्यं लज्जाद्यभावश्चानुभावः।

इन्द्रियाणां वैकल्यं ग्राह्याग्रहणम्, तच्चात्र परिचितचरस्य पत्युश्चक्षुषा विषयीकरणेऽपि परिचयाभावात्, लज्जाऽभावश्च बालात्वेऽपि पुरस्थस्य पत्युस्तथादर्शनादवगतौ विभावानुभावौ नायिकाया मोहरूपं भावं व्यङ्क्तः।

उक्त पद्य में प्रिय का विरह विभाव है और इन्द्रियों (चक्षु आदि) की विकलता (ज्ञान-शक्ति का लोप) तथा लज्जा आदि का अभाव अनुभाव है। लज्जा का अभाव यहां इस बात से प्रतीत होता है कि नायिका बाला होकर भी पति के सामने में (जब बाला की लज्जालुता प्रसिद्ध है) अपरिचित सी देखती रह जाती है। उक्त विभाव और अनुभावों से मोहभाव की ध्वनि होती है।

पुनरुदाहरति—

'शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले, कल्लोलिन्याः किञ्चिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाकर्षत्यम्बु, नैवाम्बुजालिं, कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ॥'

कान्तायाः प्रियहस्तिन्या अपेतो विरहितः, कल्लोलिन्याः सरितः, कूले तटे, शुण्डादण्डं शुण्डाहस्त एव दीर्घत्वाद्दण्डस्तं, कुण्डलीकृत्य लम्बमपि वर्तुलं विधाय, कृत्यशून्यः स्वविधेयज्ञानविधुरः, गजेन्द्रो हस्तिराजः, अम्बु नद्याजलं, दिनान्तरवत्, नैवाकर्षति करेण नैव पिबति, अम्बुजालिं सरसिजश्रेणीं चापि प्राग्वत्, नैवाकर्षति नैव गृह्णातीत्यर्थः ।

अत्र कान्तावियोगो विभावः, सरित्तटेऽपि सलिलाद्यनाकर्षणमनुभावश्च वस्तुतत्त्वानवधारणरूपं मोहमवगमयतः । 'कृत्यशून्यः' इति विशेषणेनाभिहितप्रायो मोह इत्यस्मात्पूर्वमेवोदाहरणं रुचिरं प्रतिभाति ।

अथवा, जैसे—'शुण्डादण्डम्.........' इत्यादि पद्य में । कोई दर्शक कहता है कि—हथिनी से वियुक्त हाथी निश्चेष्ट होकर, सूंड को वर्तुलाकार बना कर और नेत्रों को कुछ कुछ सिकोड़ कर नदी के तट पर खड़ा तो है, परन्तु न जल को खींचता है और न कमलों की पङ्क्ति को । यहां कान्ता का वियोग विभाव है और नदी के तट पर रह कर भी जल तथा कमलों को न खींचना अनुभाव है, जिससे मोह व्यक्त होता है ।

धृतिं निरूपयति—

लोभशोकभयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।

लोभ-शोक-भयादिभिर्जनितस्य, उपप्लवस्य चित्तक्षोभरूपोपद्रवस्य, निवारणे कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिरित्यर्थः । तदुक्तम्—'अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहा पर्याप्तता धृतिः । सौहित्य-वदनोल्लास-सहासवचनादिकृत् ।' इति ।

अब 'धृति' का निरूपण करते हैं—'लोभ' इत्यादि । उस चित्त-वृत्ति का नाम 'धृति' है, जिसके कारण लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

धीरः परामृशति—

'सन्तापयामि हृदयं, धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं, नन्दकुमारः प्रभुः परमः ॥'

अहं (लोभेनाभिभूतः) सततं धरातले (इतस्ततः) धावं धावं धावित्वा धावित्वा, हृदयं मनः, किं कुतः सन्तापयामि पीयामि । यतः परमः सर्वोत्कृष्टः, प्रभुः सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं समर्थः, नन्दकुमारः कृष्णचन्द्रः, मम शिरस्यस्त्येवेत्यर्थः ।

इह नन्दकुमारस्य शिरस्स्थत्वकथनेन भारभूतत्वप्रतीतेश्चारुताहानिरिति 'अस्ति ममाग्रे' इति पाठः समीचीनः प्रतिभाति ।

'धृति-भाव' का उदाहरण देखिये :—

किसी धैर्य-शाली पुरुष का मानसिक विचार है कि—मैं व्यर्थ भूतल पर इधर-उधर दौड़-दौड़ कर अपने हृदय को क्यों संतप्त कर रहा हूं । मेरे शिर पर प्रभुवर नन्दनन्दन सर्वदा विराजमान हैं—मुझे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ? वे स्वयं सब बातों की व्यवस्था कर ही लेंगे ।

विभावानुभावावाह—

अत्र विवेकश्रुतसम्पत्त्यादिर्विभावः, चापलाद्युपशमोऽनुभावः।

श्रुतसम्पत्तिः शास्त्रज्ञानसम्पत्। धैर्यं विवेकाद्युद्भूतं चापलमुपशमयति।

उक्त पद्य में विवेक और शास्त्र-ज्ञान-रूप-सम्पत्ति आदि विभाव है तथा चञ्चलता आदि की निवृत्ति अनुभाव है।

शङ्कते—

ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्तेः कथमस्य धृतिभावध्वनित्वमिति चेत्।

'का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते' इत्यादौ वाच्य इव चिन्ताऽभाव उत्तरार्धेऽस्तीत्यादौ वस्तुरूपो व्यङ्ग्य इति नायं भावध्वनिः, किन्तु वस्तुध्वनिरेवेति शङ्का।

यहां यह शङ्का होती है कि उक्त पद्य के उत्तरार्ध से तो 'मुझे चिन्ता नहीं है' यह वस्तु ध्वनित होती है, फिर इस पद्य को धृति-भाव-ध्वनि का उदाहरण कैसे कहते हैं?

उत्तरयति—

तस्य धृत्युपयोगितयैवाभिव्यक्तेः।

तस्य चिन्ताऽभावरूपव्यङ्ग्यस्य।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि 'मुझे चिन्ता नहीं है' इस वस्तु की ध्वनि यहां प्रधानरूप से नहीं होती, बरन, धृति-भाव से पोषकरूप में ही, अर्थात् चिन्ता का अभाव धैर्य में उपयोगी है, अतः उसका ध्वनित होना धृति की ध्वनि में सहायक ही होता है, बाधक नहीं।

शङ्कां निरूपयति—

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का।

भाव्यनिश्चिताकारकस्वानिष्टचिन्तनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषश्शङ्केत्यर्थः। तदुक्तम्—

परक्रौर्यात्मदोषादेः शङ्काऽनिष्टस्य चिन्तनम्।
वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य-पार्श्वालोका-स्यशोषकृत्।' इति।

चिन्तनं सम्भावनम्। परक्रौर्यादिर्विभावो वैवर्ण्यादिश्चानुभावः शङ्कायाः।

'मेरा क्या अनिष्ट होगा' इस तरह की चित्तवृत्ति का नाम 'शङ्का' है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

दैवप्रतिबद्धा सङ्केतस्थलं गन्तुमशक्ता स्वानिष्टं शङ्कमाना नायिका सखीं भाषते—

'विधिवञ्चितया मया न यातं, सखि! सङ्केतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत! किं विधातुकामो, मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने॥'

हे सखि! विधिवञ्चितया दैवेन विप्रलब्धया, मया, बत! हन्त! प्रियस्य प्रणयपात्रत्वेनापरिहार्यानुरोधस्य, सङ्केतनिकेतनं सङ्केतीकृतगृहं, न यातं नैव गतम्, अधुना दैवप्रेरणया न तु स्वेच्छयाऽस्मिन्नपराधे मया कृते सति, नृपतिः प्रकृत्यैव क्रूर आज्ञाभङ्गात् क्रुद्धो युवजनानांशाकत्वाद् राजा, कामो मन्मथः, मयि कृतागसि, पुनः, किं विधातुकामः किं चिकीर्षुरस्तीति न जाने नावगच्छामीत्यर्थः।

उदाहरण लीजिये। दैववश से संकेत-स्थल पर जाने में असमर्थ बनी हुई नायिका स्व-मनोगत अनिष्ट-शङ्का का वर्णन सखी से करती है:—हे सखि! विधाता ने मुझे धोखा

दिया, जिससे मैं प्रिय के संकेत-स्थान पर न जा सकी। अब भय है कि न जाने, महाराज कामदेव मेरे विषय में क्या करना चाहते हैं।

उपपादयति—

अत्र राजापराधो विभावः, मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः।

मुखवैवर्ण्यादीनां साक्षाच्छब्दानुक्तत्वादाक्षेप्यत्वम्।

इस श्लोक में राजा का अपराध करना विभाव है और मुख का विवर्ण हो जाना आदि अनुभाव हैं। यद्यपि यहां ये अनुभाव कहे नहीं गये हैं, तथापि आक्षेप (ऊपर) से उनका ज्ञान कर लिया जाता है।

शङ्कां चिन्ताया व्यतिरेचयति—

इयन्तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता।

इयं शङ्का भयमुत्पाद्य कम्पाद्यनुभावं जनयति, चिन्ता पुनर्न जयतीति कम्पादिजनकत्वमेव शङ्कायाश्चिन्तापेक्षया वैधर्म्यम्।

उक्त चित्त-वृत्ति (जिसको शङ्का कह आये हैं) चिन्ता नहीं कही जा सकती, क्योंकि शङ्का भय को उत्पन्न कर तद्द्वारा शरीर में कम्प आदि को उत्पन्न करती है और चिन्ता ऐसा नहीं करती, यह दोनों में भेद है।

ग्लानिं निरूपयति—

आधिव्याधिजन्य-बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलाङ्गत्व-दृग्भ्रमणादिहेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः।

आधिर्मनोव्यथा। व्याधिपदं क्षुदाद्युपलक्षकम्। दुःखविशेषश्चित्तवृत्तिविशेष एवेति न प्रक्रमभङ्गः, नापि भावसामान्यलक्षणासमन्वयः। उक्तञ्चान्यत्र—'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा। ग्लानिर्निष्प्राणता कम्प-कार्यानुत्साहितादिकृत्॥' इति। आधिव्याधिजन्याया बलहानेरुत्पन्नो वैवर्ण्यादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो ग्लानिरिति सारम्।

अब 'ग्लानि का निरूपण करते हैं—'आधि' इत्यादि। उस दुःख-विशेष को 'ग्लानि' कहते हैं, जो मानसिक व्यथा और शारीरिक रोग आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता से पैदा होती है तथा विवर्णता, अङ्गों की शिथिलता और आंखों में चौंध आना आदि अनुभावों को जन्म देती है।

उदाहरति—

यथा—

वियोगिनीदशां वर्णयति—

'शयिता शैवलशयने, सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे, सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥'

नवोद्यन्ती, इन्दुलेखा चन्द्रकलेव, सुषमा परमशोभैव शेषोऽवशिष्टांशो यस्यां तादृशी, शैवलस्य शयने शय्यायां शयिता सुप्ता विरहिणी, सविधे तल्पसमीपे, आगतमपि, प्रियं दयितं, मधुरैर्मनोरमैर्वीक्षणैरालोकनैरेव, न त्वभ्युत्थानादिभिः, सत्कुरुते सम्मानयतीत्यर्थः।

जैसे—'शयिता ......' इत्यादि पद्य में। एक सखी दूसरी सखी से वियोगिनी के वृत्तान्त का वर्णन करती है कि—नवीन चन्द्र-कला के समान जिसमें परम-शोभा ही शेष बच गई है, वह सेवाल की सेज पर सोई हुई सुन्दरी समीप में आये हुये भी प्रिय-पति का सत्कार केवल मधुर चितवनों से ही करती है, (अभ्युत्थान आदि से नहीं) अर्थात् विरह-वेदना से उसके अङ्ग इतने दुर्बल अत एव शिथिल हो गये हैं कि प्रियतम के आने पर भी उठ नहीं सकती, बोल नहीं सकती।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र प्रियविरहो विभावः, मधुरवीक्षणैरेवेत्येवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गम-चरणनिपतना-श्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः।

इह प्रियविरहपदं तज्जन्याधिसम्भूतबलहानिपरं सन्दर्भशुद्ध्यनुरोधात्। निवृत्तिरभावः।

उक्त पद्य में प्रियतम का विरह विभाव है और 'मधुरवीक्षणैरेव' यहां के एवकार से ज्ञात कराई गई, स्वागत के लिये सामने जाने, प्रणाम करने और आलिङ्गन करने आदि की निवृत्ति अनुभाव है।

अत्रोदाहरणे श्रमध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र श्रमः शङ्क्यः, कारणाभावात्।

इह श्रमस्य प्राधान्येन ध्वन्यत इति न शङ्कनीयम्, बहुतरशारीरव्यापारस्य तत्कारणत्वेन वक्ष्यमाणस्य प्रकृतेऽसत्त्वादित्यर्थः।

यहां श्रम-भाव ही प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रम के जो कारण अधिक शरीर-व्यापार आदि वर्णित किये जायँगे, उनका यहां अभाव है—अर्थात् शारीरिक श्रम का वर्णन यहां नहीं है, फिर अकारण श्रम की प्रतीति हो, तो कैसे ?

ग्लानेः परकीयं लक्षणमुपन्यस्य निराकरोति—

केचित्तु—व्याध्यादिप्रभव-बलनाशं ग्लानिमाहुः, तेषां मते चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु, नाशरूपाया ग्लानेः कथं समावेश इति ध्येयम्।

व्याध्यादिजन्यबलाभाव एव ग्लानिरिति केषांचिन्मतमयुक्तम्, अभावरूपत्वाङ्गीकारे ग्लानेरचमत्कारकत्वात्, चित्तवृत्तिरूपत्वाभावेन भावत्वाभावाच्चेत्याशयः।

कुछ लोग 'रोगादि से होने वाले बल-नाश (बल का अभाव) को ही 'ग्लानि' कहते हैं। परन्तु उनके मत में यह बात विचारणीय है कि जब सभी भाव चित्त-वृत्तिरूप माने जाते हैं, तब उन भावों में इस नाश (अभाव जो चित्तवृत्तिरूप नहीं हो सकता) रूप ग्लानि का समावेश कैसे होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता, अतः उनका कथन असंगत है।

परकीयलक्षणे भरतोक्तलक्षणसंवादात् सङ्गतिमाशङ्क्य खण्डयति—

यद्यपि—'बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिसमुद्भवः।' इति लक्षणवाक्यादपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःखमेव बलापचयशब्देन विवक्षितम्।

भरतमुनिलक्षणे बलापचयस्यैव ग्लानित्वप्रतिपादनात् प्रामाणिकं ग्लानेरभावरूपत्वं यद्यप्यस्ति, किन्तु भावानां चित्तवृत्तिरूपत्वस्य प्रतिपादिकाया भरतमुनेरेव प्रागुक्तेस्तात्पर्यानुपपत्तेरत्रापचयपदस्य तज्जन्यदुःखविशेषे लक्षणया पूर्वापरसङ्गतिर्विधेयेत्यभिसन्धिः।

यद्यपि प्राचीनों के 'आधि (मनोव्यथा) और व्याधि (रोग) से उत्पन्न होने वाला बल का अपचय ग्लानि है' इस लक्षण-वाक्य में जो अपचय पद आया है, उससे बल का नाश ही प्रतीत होता है तथापि पूर्वोक्त अनुपपत्ति के कारण बल के नाश से उत्पन्न होने वाला दुःख ही यहां 'बलापचय' पद से वक्ता का विवक्षित है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये।

दैन्यं निरूपयति—

दुःख-दारिद्र्या-पराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्त-वृत्तिविशेषो दैन्यम्।

दुःखादिजन्यः स्वापकर्षभाषणादिजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो दैन्यमित्यर्थः ।

अब 'दैन्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'दुःख' इत्यादि। किसी प्रकार के दुःख, दरिद्रता तथा अपराध आदि कारणों से उत्पन्न होकर जो चित्तवृत्ति अपने आप के विषय में हीन शब्द-प्रयोग आदि का कारण होती है, उसी चित्तवृत्ति को 'दैन्य' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीं विवास्य रामचन्द्रोऽनुतपति—

'हतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।
अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती ॥'

हतकेन हतभाग्येन विनष्टौचितीविचारेण वा, मया रामेण, सहसा सपदि (अविचार्यैव) वनान्तरे काननमध्ये, विवासिता निर्वासिता, वनजाक्षी नलिननयना (कोमलाङ्गतया स्वयं प्रतिकर्तुमक्षमा) सती पतिव्रता (कथमपि पत्यन्तरानङ्गीकारिणी) सीता, अधुना सम्प्रति, पतितस्य पातित्यप्रयोजकपापाचरणाद् भ्रष्टस्य द्विजस्य, परा स्मृत्यादिसकलशास्त्रमूलत्वात् सर्वोत्कृष्टा, सरस्वती श्रुतिवाणीव, मम साऽनुभूतपूर्वा, कुत्र ? क्व ? मिलिष्यतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीजिये—'हतकेन'······' इत्यादि। हत-भाग्य होने से मैंने पहले जिस कमल-नयनी (सीता) को वन में निर्वासित कर दिया, पतित पुरुष को वेद-वाणी की तरह, वह पतिव्रता अब मुझे कहां मिल सकती है ?

प्रकरणादि दर्शयति—

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामचन्द्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्याग-रूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः, पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषण-मनुभावः ।

तज्जन्यमपराधसमुद्भूतम्। अपराधदुःखयोर्विभावत्वे विकल्पस्य बीजं विनिगमनाविरहः ।

सीता को वन में निर्वासित कर देने के बाद भगवान रामचन्द्र की यह अनुतापोक्ति है। यहां सीता का परित्याग अथवा परित्याग-जन्य दुःख विभाव है और अपने विषय में 'पतित के समान' यह हीन कथन अनुभाव है, जिससे 'दैन्य व्यक्त होता है।

प्राचीनसम्मत्या स्वोक्तिं द्रढयति—

यदाहुः—

'चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।
अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यं भावं विभावयेत् ॥' इति ।
'दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनताऽऽदिकृत् ॥' इति च ।

दौर्गत्यं दारिद्र्यम्। शिरसोऽभ्यावृत्तिः पुनःपुनर्घूर्णनम्। गात्राणामङ्गानां गौरवं गुरुत्वं मन्दसञ्चारत्वम्। देहस्योपस्करणं प्रसाधनम्। विभावनं ज्ञानम्। अनौजस्यमोजोहीनता। मनस्तापादिजन्यं शिरोऽभ्यावृत्त्यादिजनकं चित्तवृत्तिविशेषं दैन्यं जानीयादित्यर्थः ।

दैन्य भाव के विषय में प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'चित्त की उत्सुकता, मानसिकताप और दरिद्रता इन विभावों से तथा शिर का बार-बार हिलाना, शारीरिक-प्रसाधनों का परित्याग और अङ्गों के भारीपन इन अनुभावों से 'दैन्य भाव' को पहचानना चाहिये। और यह भी लिखा है कि-दुर्गति आदि के कारण जो ओजस्विता नष्ट हो जाती है—उसका अभाव हो जाता है, उसी का नाम 'दैन्य' है। वह मालिन्य आदि का जनक होता है।

इहोपमालङ्कारस्य दैन्यभावोपकारकत्वं प्रतिपादयति—

अत्र हतकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्यस्यार्थस्य पतितोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया, यतः शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्, पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिसुलभत्वे स्वभावेन कृतेऽपि, तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः श्रुतिर्दूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम्, तस्याश्च श्रुत्येत्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्कुरुते।

'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवती'ति सिद्धान्तेन मयेति कथनान्न तु विधिनेत्यस्य प्रतीतिः। शूद्रोपमया 'वृषलस्येव' इति पाठकल्पनलभ्यया। जात्यैव शूद्रत्वेनैव जन्मनैव वा 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयीयाताम्' इत्यादिश्रवणात्। स्वभावेन निसर्गेण जात्या जन्मना वा। तेन ब्राह्मणादिना। तथाविधं पातित्यप्रयोजकम्। तस्य रामस्य। तस्याः सीतायाः। यथा पतितो द्विजो जन्मना सुलभामपि श्रुतिं पातकाचरणात् स्वयं दूरीकरोति, तथैव जात्या सुलभामपि सीतामहं स्वाविवेकाद् दूरीकृतवानितिवादिनि रामे पतितद्विजसादृश्यमेवोचितम्, न तु शूद्रसादृश्यम्, शूद्रस्य जात्या श्रुतिसुलभताया असम्भवात्। तथा च रामे पतितसादृश्यं सीतायां च श्रुतिसादृश्यमेवोपमालङ्कारोऽत्र वाच्यो व्यङ्ग्यं स्वापकर्षभावणजनकं दैन्यमुपस्करोति न तूपमास्मृतिर्वा प्रधानीभवतीति न गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वसन्देह इति सारम्।

यहां हतभाग्य मैं ने सीता को निकाल दिया है—'न कि विधाता ने'—इस अर्थ की पुष्टि 'पतित' की उपमा से ही होता है, शूद्रादिक की उपमा से नहीं, क्योंकि शूद्रादिक के लिये तो विधाता ने शूद्र-जाति में जन्म देकर ही श्रुति (वेद) दुर्लभ कर दी है ('न स्त्री-शूद्रौ वेदमधीयीयाताम्' अर्थात् स्त्री और शूद्र वेद न पढ़ें, यह शास्त्रीयवचन उक्त कथन का मूल है) परन्तु ब्राह्मणादिक जो पतित हो जाते हैं, उनके लिये तो विधाता ने स्वभावतः श्रुति सुलभ कर दी थी—अर्थात् ब्राह्मणादि उच्च कुल में जन्म देकर वेद पढ़ने का अधिकार दे दिया था पर उन्होंने वैसा पाप करके स्वयं श्रुति को दूर कर दिया अर्थात वे स्वयं पतित बनकर वेद पढ़ने के अधिकार से वञ्चित हो गये। इसलिये रामचन्द्र की पतित से समानता और सीता की श्रुति से समानता, यह जो वाच्य उपमा अलङ्कार है, वह दैन्य-भाव को ही अलंकृत करता है अर्थात् उपमा अलङ्कार यह दैन्य का पोषक है—अङ्ग है। अतः यहां 'उपमा अलंकार ही प्रधान है' इस तरह की शङ्का का अवसर नहीं है।

दैन्योपकारकद्वयं दर्शयति—

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्यां कृतघ्नत्वकृतज्ञत्व-निर्दयत्व-दयावतीत्वाद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेति स्मृत्या च लेशतः प्रतीयमानया।

अत्र मयेत्यस्मच्छब्दस्य कृतघ्नत्व-निर्दयत्वादिधर्मविशिष्टस्वार्थे, सेतितच्छब्दस्य च कृतज्ञत्व-दयावतीत्वादिधर्मविशिष्टस्वार्थे च, तत्तदतिशयबोधनरूपप्रयोजनवत्याः स्वार्थस्याप्युपादानादुपादानलक्षणायाः सत्त्वात् प्रतीयमानोऽर्थोऽपि दैन्यमुपस्करोति, तथा पूर्वानुभूतार्थकेन सेतितच्छब्देन परिपोषकसामग्रीविरहात् सूक्ष्मतया प्रतीयमाना स्मृतिरपि दैन्यमेवोपस्करोतीति सारम्।

'हतकेन......' इत्यादि श्लोक में 'मया' और 'सा' इन दोनों पदों में प्रयोजनमूला उपादान लक्षणा है, जिससे 'मया' का 'जिसे उसने अत्यन्त कष्टावस्था में भी नहीं छोड़ा, उस मैंने' यह और 'सा' का 'वन-वास की सहचरी उसे' यह वाच्यार्थ-मिश्रित लक्ष्यार्थ

होता है, जिससे राम की कृतघ्नता तथा निर्दयता एवं सीता की कृतज्ञता तथा दया-लुता आदि अनेक धर्म ध्वनित होकर दैन्य-भाव को ही पुष्ट करते हैं। इसी तरह अनुभू-तार्थक 'सा' इस तत्पद से जो स्मृति की थोड़ी सी (प्रचुर सामग्री के अभाव से पुष्ट नहीं) प्रतीति होती है, उससे भी दैन्य-भाव की ही पुष्टि होती है। अतः यहां दैन्यभाव ही प्रधान व्यङ्ग्य रहा। कृतघ्नता आदि गुणीभूत रहे। इसलिये यह पद्य दैन्य-भाव-ध्वनि का उदाहरण हुआ।

चिन्तां निरूपयति—

इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानापरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेखना-धोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता।

इष्टस्याप्राप्तिरनिष्टस्य च प्राप्तिश्चिन्तायाः कारणम्। ध्यानमपरपर्यायो यस्य सः। भूलेखनमधोमुखत्वं च चिन्तयाः कार्यम्। अस्याः कम्पाद्यजनकतया शङ्कातो भेदः। चित्त-वृत्तिविशेषस्य विशेष्यतया विशेषणपदानां पुंस्त्वमेवोचितमिति पाठः परिवर्तितः।

अब 'चिन्ता-भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा' इत्यादि। अभिलषित वस्तु का प्राप्त न होना और अनभिलषित वस्तु का प्राप्त हो जाना आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली तथा विवर्णता, भूमिका लिखना और मुख का नीचा हो जाना आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली एक तरह की चित्तवृत्ति को 'चिन्ता-भाव' कहते हैं। इसी चिन्तात्मक चित्तवृत्ति को 'ध्यान' भी कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा।
इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥
सन्तापः स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।
अधृतिश्चानुभावाः स्युः, सा चिन्ता परिकीर्त्तिता ॥ इति।
वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्त्ये वोपजायते।' इति।
'ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता।' इति च।

दारिद्र्यैश्वर्यभ्रंशनयोः पृथगुपादानाद्दारिद्र्यं जन्मसिद्धमैश्वर्यभ्रंशनं च पश्चाद् भूतमव-सेयम्। स्मरणं नष्टाद्यर्थानाम्। वितर्को भावो वक्ष्यमाणलक्षणः। अस्याश्चिन्तायाः। पूर्वे क्षणे पाश्चात्त्ये परस्मिन् क्षणे वा।

प्राचीनों ने भी 'चिन्ता' की परिभाषा इसी तरह की-की है। जैसे—'विभावा' इत्यादि—अर्थात् जिस चित्त-वृत्ति में दरिद्रता, ऐश्वर्य (राज्य आदि) से च्युत हो जाना और इष्ट वस्तु का अपहरण विभाव (उत्पादक कारण) हों, और बार-बार श्वास तथा उच्छ्वास, नीचा मुख, सन्ताप, स्मरण, कृशता देह को परिष्कृत न करना और धैर्य का अभाव ये अनुभाव (उत्पाद्य कार्य) हों, उसे 'चिन्ता' कहते हैं। इसके पहिले अथवा पिछले क्षण में वितर्क (जिसकी परिभाषा आगे की जायगी) उत्पन्न हुआ करता है। कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'हितवस्तु की अप्राप्ति से जो ध्यान (विचार-परम्परा) होता है, उसका नाम 'चिन्ता' है, वह सन्ताप अदिका उत्पादक होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायिकामवलोक्य नायकः चिन्तयति—

'अधरद्युतिरस्तपल्लवा, मुखशोभा शशिकान्तिलङ्घिनी।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ॥'

मृगदृशो नायिकायाः, अस्तः कान्त्या निर्जितः पल्लवः किसलयं यया तादृशी, अधरस्य द्युतिः, शशिनश्चन्द्रस्य कान्तेः सुषमाया लङ्घिनी विजयिनी मुखस्य शोभा श्रीः, अकृताऽविहिता प्रतिमा तुल्याकृतिर्यस्यास्तादृशी तनुश्च, कस्य धन्यस्य यूनः कृते प्रयोजनाय, विधिना विधात्रा कृता रचिताऽभूदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये। किसी सुन्दरी को देख कर कोई नायक अपने मन में सोचता है कि—विधाता ने किस (धन्य युवक) के लिये इस मृगनयनी नायिका के, अधर-कान्ति को, पल्लवों को जीतनेवाली, मुख-शोभा को चन्द्र-कला को मात देने वाली और शरीर को अकृत-प्रतिम-सदृश-द्वितीय रहित-अर्थात् अनुपम, बनाया।

विभावादि प्रतिपादयति—

अत्र तदप्राप्तिर्विभावः, अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः ।

तस्याः पूर्ववर्णितनायिकाया अप्राप्तिश्चिन्तायाः कारणतया विभावः, अनुतापशश्वच्छ्वासोच्छ्वासप्रभृतयश्च शब्दानुक्तत्वेऽपि कार्यतया गम्यमाना अनुभावा अत्र सन्तीत्यर्थः ।

यहां नायिका की अप्राप्ति विभाव है और आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले अनुताप आदि अनुभाव हैं।

औत्सुक्यध्वनिमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति वाच्यम्, 'कस्य कृते' इत्यनिर्धारितधर्म्यालम्बनायाश्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनाबोधनात् ।

इह नायिकाया अप्राप्तत्वात्तत्प्राप्तिविषयकोत्कटेच्छारूपस्यैवौत्सुक्यस्य प्राधान्येन व्यञ्जनात्तद्ध्वनित्वमेवेति पूर्वपक्षस्य—'कस्य कृते' इत्यनेन 'कः खलु युवा धन्यः' इत्यादिवत्, अनिर्धारितमनिश्चितं भोक्तारं धर्मिणं विषयतयाऽऽलम्बमानायाश्चिन्ताया एवात्र प्रथमं प्राधान्येन प्रतीतेः, औत्सुक्यस्य तु पश्चाद्गौणतया च प्रतीतेर्न तद्ध्वनित्वमिति समाधानम् ।

नायिका की अप्राप्ति से उसकी प्राप्ति के विषय में होने वाली उत्कट इच्छारूप 'औत्सुक्य-भाव' ही यहां प्रधानतया ध्वनित होता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कस्य कृते-अर्थात् किसके लिये' इस वाक्य-खण्ड से किसी अनिश्चित पुरुष के विषय में होने वाली चिन्ता ही ध्वनि होती है, अतः यद्यपि वक्ता में उस नायिका के लिये उत्सुकता है अवश्य, तथापि वह इस वाक्य से प्रधानतया नहीं बोधित होती। तात्पर्य यह है कि यदि उक्त पद्य में 'कस्य कृते......'इत्यादि अंशको हटा कर उसकी जगह 'धन्यजनस्य हेतवे' इस तरह से रचना की गई होती, तब उत्सुकता ही प्रधानतया ध्वनित होती, परन्तु उस पदके रहने पर तो चिन्ता ही प्रधानरूप से व्यक्त होती है, पीछे यदि उत्सुकता भी गौणरूप से व्यक्त होगी, तो होती रहे, वह ध्वनि काव्य-व्यवहार का कारण नहीं हो सकती। फलतः यहां 'चिन्ता-भाव-ध्वनि का ही व्यवहार होना उचित है।

मदं निरूपयति—

मद्याद्युपयोगजन्मा, उल्लासाख्यः, शयनहसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः ।

उपयोगः सेवनम् । उल्लासाख्य उल्लासापरपर्यायः ।

अब 'मद-भाव' का निरूपण करते हैं—'मद्याद्यु' इत्यादि। मद्य आदिके सेवन से उत्पन्न होने वाली और शयन-रोदन आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली उल्लास नामक जो एक चित्त-वृत्ति है, उसको 'मद' कहते हैं।

लक्षणे प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'सम्मोहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजः। इति।

व्यामोहात्मनः सम्मोहस्यानन्दस्य सन्दोहः समवायः सम्भेदो वा मदस्तत्रोभयोरनुभवात्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सम्मोहा······' इत्यादि, अर्थात् मद्य के सेवन से उत्पन्न होने वाले, सम्मोह और आनन्द के मिश्रण का नाम मद है।

प्रकृतिभेदेनानुभावभेदं प्रतिपादयति—

तत्रोत्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः। मध्यमे हसितगाने। नीचे तु रोदन-परुषोक्त्यादि।

एतत्—'अमुना चोत्तमः शेते, मध्यो हसति गायति। अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति।' इति दर्पणानुकूलमपि, 'उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः। परुषवचनाभिधायी शेते रोदित्यधमसत्त्वः।' इति प्रदीपस्य तु प्रतिकूलमेवेति ज्ञेयम्।

मद के उत्पन्न होने पर उसका अनुभाव (कार्य) उत्तम पुरुष में स्वाप होता है—अर्थात् मद (नशा) से उत्तम पुरुष सो जाता है, मध्यम कोटि का पुरुष हँसता और गाता है और नीच पुरुष रोता तथा गाली गलौज बकता है। यद्यपि यह कथन 'काव्य-प्रदीप' के उत्तमसत्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः। परुष-वचनाभिधायी शेते रोदित्य-धमसत्वः॥ अर्थात् मद के कारण उत्तम-स्वभाव वाला पुरुष हंसता है, मध्यम-स्वभाव वाला पुरुष गाता है और अधम-स्वभाव वाला पुरुष गालियाँ देता है, सोता है और रोता है। इस वचन से विरुद्ध है, तथापि अनुभव 'रसगङ्गाधरकार' के ही मत में साक्षी होता है, और 'दर्पणकार' भी इन्हीं के मत में सम्मति दिये हैं, क्योंकि उन्हों ने लिखा है—'अमुना चोत्तमः शेते मध्या हसति गायति। अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति॥ अर्थ इसका वही है, जो रसगंगाधरकार के कथन का है।

मदं त्रिधाविभज्य तत्तत्स्वरूपं दर्शयति—

अयं च मदस्त्रिविधः—तरुणमध्यमाधमभेदात्। अव्यक्तासङ्गतवाक्यैः सुकुमारस्खलद्गत्या च योऽभिनीयते, स आद्यः। भुजाक्षेप-स्खलित-घूर्णितादिभिर्मध्यमः। गतिभङ्ग-स्मृतिनाश-हिक्का-च्छर्द्यादिभिरधमः।

अव्यक्तैरस्फुटाक्षरैरसङ्गतैरसम्बद्धार्थकैश्च वाक्यैः। सुकुमाराऽनुद्धता स्खलन्ती मध्ये-मध्ये त्रुट्यन्ती चासौ गतिः सुकुमारस्खलद्गतिः, तया। योऽभिनीयत इत्यस्याग्रिमवाक्य-द्वयेऽपि सम्बन्धः। हिक्का 'हिचकी' इति भाषायां प्रसिद्धा। छर्दिर्वमनम्।

इस मद के तीन भेद हैं—तरुण, मध्यम और अधम। उनमें से जिसका अभिनय (प्रदर्शन) अस्फुट अक्षर वाले और असम्बद्ध अर्थ वाले वाक्यों, तथा अत्यन्त मृदुल एवं फिसलती हुई चाल से किया जाता है, वह तरुण-मद कहलाता है। जिसका अभिनय बाहुओं के इधर-उधर फेकने, फिसल पड़ने और घूमने आदि से किया जाता है, वह मध्यम-मद कहलाता है। इसी तरह जिसका अभिनय गति के रुक जने, स्मृति के नष्ट हो जाने और हिचकी तथा वमन आदि से किया जाता है, वह अधम मद होता है।

मध्यमपुरुषगतं तरुणमदमुदाहरति—

उदाहरणम्—

मत्तवृत्तं वर्णयति—

'मधुरतरं स्मयमानः, स्वस्मिन्नेवालपञ्शनैः किमपि।
कोकनदयंस्त्रिलाकी-मालम्बनशून्यमीक्षते क्षीबः॥'

क्षीबोमत्तः, मधुरतरमतिसुन्दरं स्मयमान ईषद्धसन्, स्वस्मिन्नेवात्मगतमेव, किमप्यसम्बद्धम्, शनैर्मन्दमव्यक्तम्, आलपन् प्रलपन्, तथा परितो विलोकनेन मदारुणलोचनरुचा त्रिलोकीं लोकत्रयं, कोकनदयन् रक्ताम्बुजवदरुणीकुर्वन्, आलम्बदशून्यं निर्लक्ष्यं यथास्यात् तथेक्षते पश्यतीत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। किसी नशे बाज का वर्णन है कि—मदमत्त मनुष्य अत्यन्त सुन्दर तरीके से मन्द-मन्द हँसता हुआ और अपने आप से धीरे-धीरे कुछ बातें सा करता हुआ, तथा मद के कारण अरुण नयन-कान्ति से त्रिलोकी को रक्त कमल सी बनाता हुआ शून्य की ओर देख रहा है-अर्थात् उसके देखने का कोई लक्ष्य नहीं है।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र मादकद्रव्यसेवनं विभावः, अव्यक्तालापाद्यनुभावः।

मादकद्रव्याणां मैथ्यविजयादीनां सेवनं पानम्।

यहां मादक पदार्थ का सेवन विभाव है और अस्फुट बोलना आदि अनुभाव हैं।

इह स्वभावोक्त्यलङ्कार प्राधान्यमाशङ्क्य निरस्यति—

अत्र मत्तस्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमदव्यञ्जनार्थत्वान्मदभाव एव प्रधानमिति न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्ध्वन्युपस्कारकत्वमेव।

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रिया-रूपवर्णनम्' इत्युक्तलक्षणस्य स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, क्षीबमात्रवृत्तिव्यापारवर्णनादिह प्राधान्यमिति शङ्कायाः—मत्तस्वभाववर्णनमत्र मत्तनिष्ठमदभावस्य व्यञ्जनार्थमेव कृतमिति स्वभाववर्णनस्य मदभावध्वनेरुपकारकत्वमेव, न तु प्राधान्यमित्युत्तरम् बोध्यम्।

यहां मत्त-पुरुष के स्वभाव-वर्णन होने के कारण 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार की प्रधानता है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मत्त-स्वभाव का वर्णन यहां केवल उसके मद को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है, अतः ध्वनित होने वाला 'मदभाव' ही प्रधान और वाच्यस्वभावोक्ति अलङ्कार उसका पोषक है।

ननु तथापि नेह मदध्वनिः सम्भवति, प्राधान्येन व्यज्यमानस्यापि मदस्य मदास्कन्दितमत्यर्थकेन क्षीबपदेनाभिधयाऽपि बोधनात्, 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वम्' इति प्राक् प्रतिपादनात्, अतः स्वभावोक्त्यलङ्कार एव चमत्कारितया प्रधानं, न तु मदभाव इत्यरुचेरुदाहरणान्तरं दर्शयति—

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

मत्तः प्रियां ब्रूते—

'मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं, तरुणि! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुज, पपपतामि हहा! भभभूतले॥'

हे तरुणि! यतस्तव अधरो मधुरसादपि मधुरोऽस्ति, अतस्तं मद्वदने विनिवेशय, किञ्च यतः—हहा हा! हन्त! भभभूतले भूतले, पपपतामि पतामि, अतः करेण मम कराम्बुजं गृहाण समालम्बस्वेत्यर्थः।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यज्यमान मद स्वभावोक्ति अलङ्कार से प्रधान है, तथापि मद-ध्वनि नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'क्षीब' शब्द का अर्थ 'मत्त' है, अतः उसमें विशेषण रूप से मद भी आ जाता है, और पहले यह सिद्धान्त सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो चुका है कि 'किसी भी प्रकार से जिसमें वाच्य-वृत्ति का स्पर्श न हो, वही व्यङ्ग्य चमत्कारी होता है', फिर तो अगत्या वाच्य स्वभावोक्ति अलङ्कार के चमत्कार से

ही उक्त पद्य को काव्य मानना पड़ेगा, अर्थात् यह पद्य 'मद-भाव-ध्वनि' का उदाहरण नहीं होगा, इसी अभिप्राय से दूसरा उदाहरण दिखलाते हैं—'इदं वा उदाहरणम्—' अथवा, यह उदाहरण लीजिये । मत्त नायक अपनी प्रेयसी से कहता कि—हे तरुणि ! मधु के रस से भी अधिक मधुर अपने अधर को मेरे मुख में रख दे और मेरे कर-कमल को अपने हाथ से पकड़ ले, देख तो, ज-ज-जमीन पर गि-गि-गिरता जा रहा हूँ ।

उपपादयति—

अत्रापि स एव विभावः, अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः । पूर्वार्धगता ग्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये, स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च, मदमेव पोषयतः ।

स एव मादकद्रव्यसेवनरूप एव । अधिकवर्णोच्चारणं चतुर्थचरणे । आदिपदेन प्रथमतृतीयचरणरसङ्गतार्थकालापग्रहणम् । ग्राम्योक्तिर्द्वितीयचरणे—'अधरं मद्वदने विनिवेशय' इति ग्राम्यजनवदुक्तिः, तृतीयचरणे तरुणीकरस्य समुचितं कमलोपमेयत्वेन प्रतिपादनं विहाय स्वकरस्यैव तथा कथनमित्यसङ्गतिश्चोभे सम्भूय मदस्यैवोपकारिके इति मदध्वनिरिह ज्ञेयः ।

यहाँ भी वही (मादक-द्रव्य-सेवन ही) विभाव है और अधिक वर्णों का उच्चारण आदि अनुभाव हैं । पूर्वार्ध का ग्राम्य (मेरे मुख में अपने अधर को धर दे, यह) वचन और उत्तरार्ध में स्त्री के हाथों को कमल की उपमा देने की जगह अपने हाथ को उसकी उपमा देना भी 'मद-ध्वनि' को ही पुष्ट करते हैं ।

श्रमं निरूपयति—

बहुतरशारीरव्यापारजन्मा निश्श्वासा-ङ्गसम्मर्द-निद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः ।

शारीरव्यापारो दूरगमन-बहुभारवहनादिः श्रमस्य कारणतया विभावः, निश्श्वासादयश्च कार्यतयाऽनुभावाः । खेदो दुःखाभिन्नश्चित्तवृत्तिविशेष एव ।

अब 'श्रम-भाव' का निरूपण करते हैं—'बहुतर' इत्यादि । खेद नामक उस चित्त-वृत्ति विशेष को 'श्रम' कहते हैं, जो अत्यधिक शारीरिक कार्य करने से उत्पन्न होता है और निःश्वास, अङ्गड़ाई तथा निद्रा आदि अनुभावों की उत्पत्ति में कारण होता है ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अध्व-व्यायाम-सेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्रसंवाहनै-रास्यसङ्कोचै-रङ्गमोटनैः ।
निश्श्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ।' इति ।
'श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ।' इति च ।

अध्वा च व्यायामश्च सेवा चाद्या येषां तैर्विभावैः, गात्रसंवादनादिभिरनुभावैश्च श्रमो ज्ञेयः । अध्वपदं तत्र गमनपरम् । संवाहनं श्रमापनयनाय पीडनमर्दनादि । अङ्गानां मोटनं तदर्थं नमनम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'अध्व-व्यायाम·····' इत्यादि-अर्थात् मार्ग-गमन, व्यायाम-करण और सेवन आदि विभावों से तथा शरीर दबवाना, मुख का सिकुड़ जाना, अँगड़ाई लेना, निश्वास खींचना, जृम्भा का आना-इन सब अनुभावों से श्रम का ज्ञान होता है । कुछ लोगों ने ऐसा भी कहा है कि—'श्रमः खेदो······' इत्यादि-अर्थात्

मार्ग-गमन आदि से उत्पन्न होने वाले और निद्रा तथा निश्वास आदि को उत्पन्न करने वाले खेद को श्रम कहते हैं।

श्रमग्लान्योर्भेदमाचष्टे—

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते न तु ग्लानिः, अतो ग्लानेः श्रमस्य च भेदः।

ग्लानेराधिव्याधिजन्यबलहानिजन्यत्वात्, श्रमस्य च बलसद्भावेऽपि शारीरविपुलव्यापारजन्यत्वान्मिथो वैलक्षण्यमिति सारम्।

श्रम और ग्लानि में परस्पर यह भेद है कि श्रम बल के रहने पर भी अत्यधिक शारीरिक व्यापार करने से उत्पन्न होता है और ग्लानि-आधि व्याधि आदि से बल की हानि होने पर ही उत्पन्न होती है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको विपरीतसुरतवृत्तं सखायं कथयति—

'विधाय सा मद्वदनानुकूलं, कपोलमूलं हृदये शयाना।
चिराय चित्ते लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमाऽऽसीत्॥'

सा तन्वी, कपोलस्य मूलं मद्वदनानुकूलं तदीयमुखसंयोगयोग्यं विधाय, हृदये ममोरसि शयाना सती (श्रमेण) चित्रे लिखिता इव, मन्दमीषदपि स्पन्दितुं चलितुं क्षमा समर्था नासीदित्यर्थः।

अब 'श्रम-भाव' का उदाहरण देखिये:—नायक अपने मित्र को विपरीत-रति के बाद की स्थिति कह रहा है कि—वह कृशाङ्गी अपने कपोल-मूल भाग को मेरे मुख के सामने करके मेरे वक्षःस्थल पर सो गई और चित्रलिखित की तरह, बहुत देर तक, थोड़ी भी नहीं हिल सकी।

विभावादिदर्शयति—

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः, स्पन्दराहित्य-शयनादयोऽनुभावाः।

स्फुटम्।

यहाँ विपरीत-रति-रूप शारीरिक कार्य विभाव है और हिल न सकना, तथा सो जाना आदि अनुभाव हैं।

इह निद्राध्वनित्वमाशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र निद्राभावध्वननेन गतार्थतेति शङ्क्यम्, सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमाऽऽसीदित्यस्यानतिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीङाऽभिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च। श्रमे त्वानुगुण्यमुचितम्।

चित्रलिखितत्वोपमया, व्यज्यमाना निद्रैवात्र प्रधानमिति निद्राध्वनिरेवात्र न तु श्रमध्वनिरिति पूर्वपक्षः—चित्रलिखितत्वदृष्टान्तेन सुषुप्तिरूपनिद्राया एव व्यञ्जनात्, सुषुप्तेश्च ज्ञानसामान्यशून्यत्वादात्मातिरिक्तविषयकज्ञानशून्यत्वाद्वा यत्नरहितत्वे सुखमवगन्तुं योग्ये, यत्नराहित्यप्रतीत्यर्थं चतुर्थचरणोपादानस्य वैयर्थ्यं स्यात्, तस्य स्पष्टावगमार्थकत्वाङ्गीकारेऽपि, शयानेतिशीङ्धातुना निद्रायाः प्रकारतयाऽभिधाबोध्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावाद् ध्वनित्वं न स्यादिति नैव निद्राध्वनिरत्रेत्युत्तरपक्षश्च बोध्यः। श्रमे प्राधान्येन व्यङ्ग्ये तु तदर्थस्य श्रमव्यञ्जनोपकारकत्वमेवेति न दोष इत्याशयः।

यदि 'श्रम-भाव' के लक्ष्य उक्त (विधाय···इत्यादि) श्लोक और अन्य भी इसी तरह के श्लोक ही हों, तब 'श्रम-भाव-ध्वनि' मानना व्यर्थ है, क्योंकि वह 'निद्रा भाव-ध्वनि' में ही गतार्थ हो जायगा, जैसे 'विधाय···' इत्यादि पद्य में 'चित्र-लिखित की तरह' इस उपमा से निद्रा-भाव ध्वनित होता है, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यदि यहाँ निद्राभाव को प्रधान व्यङ्ग्य मानेंगे, तब, 'थोड़ी भी नहीं हिल सकी' यह कथन निष्प्रयोजन हो जायगा, कारण यह कि निद्रावस्था में ज्ञान के नियमतः न होने से यत्न का न होना निश्चित ही है । यदि आप कहें कि निद्रा की बात से विदित होने वाले यत्न-राहित्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिये यदि किसी शब्द से कह भी दिया गया, तथापि निद्रा को व्यङ्ग्य मानने में कोई बाधा थोड़े ही होती है ? इस पर मैं कहता हूँ कि हाँ, भाइ ! उससे बाधा नहीं होती, ठीक है, पर शिङ् धातु से जो निद्रा को वाच्य बना दिया गया, उससे तो उसके व्यङ्ग्य होने में बाधा जरूर होगी, क्योंकि वाच्य-वृत्ति से अस्पृष्ट अर्थ को ही व्यङ्ग्य माना जाता है । अतः यहाँ 'श्रम-भाव-ध्वनि' का स्वीकार ही उचित है और जब यहाँ 'श्रम-भाव' को प्रधान व्यङ्ग्य मान लेते हैं, तब उसके अनुभाव होने के नाते निद्रा आदि का वाच्य रूप में वर्णन अनुकूल ही होता है ।

गर्वं निरूपयति—

रूप-धन-विद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।

रूपादिप्रयोज्यो य आत्मन उत्कर्षस्तज्ज्ञानजन्यं यत्परेषामवहेलनं तिरस्कारात्मिकाचित्तवृत्तिः सैव गर्वः । अवहेलनस्य भावत्वसम्पत्तये चित्तवृत्तिपर्यन्तानुधावनम् । तदुक्तम्—

'गर्वो मदः प्रभाव-श्री-विद्या-सत्कुल-जन्मभिः ।
अवज्ञा-सविलासाङ्गदर्शना-विनयादिकृत् ॥' इति ।

अब 'गर्व-भाव' का निरूपण करते हैं— रूपधन' इत्यादि । रूप, धन और विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष का ज्ञान होने से जो दूसरों की अवहेलना (तिरस्कार) करने का मनोभाव पैदा होता है, उसी मनोभाव (अवहेलनात्मक चित्तवृत्ति) को 'गर्व' कहते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विद्यागर्वितो ब्रवीति—

'आमूलाद् रत्नसानोर्मलयवलयितादा च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु ।
मृद्वीकामध्य-निर्यन्मसृणरसझरीमाधुरीभाग्यभाजां,
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ॥'

रत्नसानोः सुमेरोः 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इत्यभिधानाद् आमूलान्मूलमभिव्याप्य, मलयेन चन्दनगिरिणा वलयिताद्वेष्टितात् पयोधेर्दक्षिणसमुद्रस्य, आकूलाच्च तटमभिव्याप्य च, यावन्तः काव्यस्य प्रणयने निर्माणे पटवो निपुणाः सन्ति, ते विशङ्कं निस्सन्देहं यथास्यात्तथा, मृद्वीकानां परिपक्वद्राक्षाणां मध्यात्, निर्यती निस्सरन्ती मसृणा घना च या रसस्य झरी निर्झरः (प्रवाहः) तस्या माधुरी मधुरतैव सौभाग्यं भजन्तीति तद्भाजः, तादृशीनां वाचामाचार्यतायाः पदं प्रतिष्ठाम्, अनुभवितुमधिगन्तुं मदन्यः, धन्यः पुण्यवान् कोऽस्तीति वदन्त्वित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । पण्डितराज की ही उक्ति है कि—सुमेरु पर्वत की तरहटी से लेकर मलयाचल से घिरे हुये समुद्र के तट तक, जितने काव्य-निर्माण में निपुण जन हैं, वे

निरशङ्क होकर कहें कि—दाखों के अन्दर से निकलती हुई चिकनी रस-धारा की मधुरता का भाग्य जिन्हें प्राप्त है—जो उसके समान मधुर हैं, उन वचनों के आचार्य-पद का अनुभव करने के लिये मुझसे भिन्न कौन पुरुष धन्य है, यह सौभाग्य और किसी को प्राप्त हो सकता है? तात्पर्य यह कि मुझ जैसा मधुर वचन बोलने वाला, सरस कविता करने वाला मैं ही हूं, दूसरा नहीं।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभावः, पराधिक्षेपपरैतादृशवाक्यप्रयोगोऽनुभावः।

अनन्यसाधारणताऽतुल्यता सर्वोत्कृष्टतेति यावत्। पराधिक्षेपपरस्यान्यतिरस्कारतात्पर्यकस्य, एतादृशस्य 'आमूला'दित्यादिरूपस्य।

यहां अपनी कविताओं में सर्वोष्टता का ज्ञान विभाव है और अन्य कवियों का तिरस्कार करने के लिये इस तरह के वाक्य का प्रयोग करना अनुभाव है।

इह प्रतीयमानासूयाया गर्वपोषकत्वमाह—

इमं चासूयाऽपि लेशतः पुष्णाति।

अत्र वक्ष्यमाणलक्षणाऽसूया पराधिक्षेपेण किञ्चित् प्रतीयमानाऽपि गर्वस्योपकारितयाऽङ्गमेवेत्यर्थः।

'आमूलात्......' इत्यादि पद्य में अभिव्यक्त होने वाले 'गर्व' को परतिरस्कार के द्वारा किञ्चित् प्रतीयमान असूया भी पुष्ट ही करती है अर्थात् असूयागर्व का अङ्ग ही हो सकती है, अङ्गी नहीं।

वीररसध्वनि-गर्वध्वन्योर्भेदं दर्शयति—

उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयन्तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः।

वीररसध्वनावुत्साहस्य स्थायित्वेन प्राधान्यम्, गर्वस्य तु व्यभिचारितया काचाचित्कत्वम्, गर्वध्वनौ तूत्साहस्याप्रत्ययात् प्रत्ययेवाऽङ्गत्वाद्गर्वस्यैव प्राधान्यमित्युभयोर्भेद इत्यर्थः।

वीर-रस की ध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है, अत एव प्रकट भी, और गर्व गुप्त रहता है, अत एव अप्रधान भी, और गर्व-भाव-ध्वनि में गर्व ही प्रधान तथा प्रकट होता है, उत्साह की प्रतीति इसमें होती ही नहीं, यदि होती भी है तो गौणरूप से। यही वीर-रस-ध्वनि से गर्व-भाव-ध्वनि में विशेष भेद है।

तदेवोपपादयति—

तथाहि—

वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते 'अपि वक्ति' इत्यादिपद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेवतयाऽपि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्योत्साहस्य परिपोषकतया स्थितः सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः।

पूर्वपाठानुरोधात् 'यदि वक्ति' इत्यत्र 'अपि वक्ति' इति पठितम्।

'अपि वक्ति' इत्यादि प्रागुक्तपाण्डित्यवीरोदाहरणपद्ये गीष्पत्यादिनाऽपि सह कथां करिष्यामीत्युक्त्या प्राधान्येनोत्साहो व्यङ्ग्यः, ततश्च सर्वापेक्षयाऽहमुत्कृष्ट इति गर्वस्तदुपकारकत्वेनैव व्यज्यत इति वीररसध्वनिः। 'आमूलात्' इत्यादिपद्ये तु 'मदन्यः कोऽस्ति' इति सोत्प्रासोक्त्या प्राधान्येन गर्वस्यैव व्यञ्जनाद् गर्वध्वनिरेव न वीररसध्वनिरित्याशयः।

ऊपर जो वीररस और गर्वभाव की ध्वनियों में विशेष बतलाया गया है, उसी का अब उपपादन करते हैं—'तथाहि' इत्यादि से—अर्थात् वीर-रस के प्रसङ्ग में जो 'अपि वक्तिगिरां पतिःस्वयम्……' यह उदाहरण दिया गया है, उसमें 'बृहस्पति और वाग्देवी सरस्वती के साथ भी मैं वाद करूँगा' इस कथन से जो उत्साह ध्वनित होता है, उसको 'सब पण्डितों से मैं अधिक हूं' इस रूप में ध्वनित होने वाला गर्व पुष्ट करता है, न कि 'आमूलात्……' इत्यादि पद्य की तरह 'भूलोक में मुझ से भिन्न नहीं ही है' इस प्रकार स्पष्ट वर्णित चिढ़ाने वाले वचन रूप अनुभाव से प्रधानतया प्रतीत होता है।

निद्रां निरूपयति—

श्रमादिप्रयोज्यं चेतस्सम्मीलनं निद्रा ।

चेतस्सम्मीलनं पुरीतन्नाडीप्रवेशाद्बहिरिन्द्रियप्रदेशावस्थानम् । तदुक्तम्—

'चेतस्सम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा ।
जृम्भाऽक्षिमीलनोच्छ्वास-गात्रभङ्गादिकारणम् ।' इति ।

श्रमस्य तल्लक्षणे निद्राजनकत्वेनोपादानात् प्रयोज्यत्वमिह जन्यत्वमेवावसेयम् । अत एवानुपदं श्रमं निद्राया विभावं वक्ष्यति ।

अब 'निद्रा-भाव' का निरूपण करते हैं—'श्रमादि' इत्यादि । श्रम-आदि के कारण होने वाले चित्त-सम्मीलन अर्थात् पुरीतत् नामक नाड़ी से चित्त के प्रवश को 'निद्रा' कहते हैं।

श्रमादिविभावस्योक्तत्वादनुक्ताननुभावानेवाह—

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्या अनुभावाः ।

अस्या निद्रायाः ।

आंखों का मुद्रित हो जाना, अङ्गों का निश्चेष्ट हो जाना आदि इसके अनुभाव हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायको ब्रवीति—

'सा मदागमनबृंहिततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा ।
बोधिताऽपि बुबुधे मधुपैर्न, प्रातराननजसौरभलुब्धैः ॥'

मदागमनेन प्रवासान्ममागमनेन बृंहितो वर्द्धितस्तोष आह्लादो यस्यास्तादृशी, तथा जागरेण विपुलालापविलासप्रयुक्तनिद्राऽभावेन गमितं यापितमखिलं समस्तं दोषा रात्रिर्यया, तादृशी, प्रातः प्रभाते, आननजे मुखजन्ये सौरभे सुगन्धौ लुब्धैर्लोलुपैः, मधुपैर्भ्रमरैः, बोधिता जागरिताऽपि, सा, न बुबुधे नाचिचेतदित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । नायक किसी से कहता है कि—मेरे आगमन से उसकी प्रसन्नता बहुत बढ़ गई और उसने जग कर सम्पूर्ण रात बिता दी, प्रातःकाल में (जब वह निद्रित हो गई थी) मुख के सुवास के लोभी भ्रमरों से जगाने पर भी वह नहीं जग सकी।

विभावानुभावौ ब्रूते—

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः, मधुपैर्बोधाभावोऽनुभावः ।

यहां रात्रि-जागरण-जन्य श्रम विभाव है और भ्रमरों के जगाने पर भी न जगना अनुभाव है।

मतिं निरूपयति—

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्द्धारणं मतिः ।

शास्त्राणां लोकवृत्तादीनां च विचारेणोत्पन्नमर्थस्य वस्तुनो निर्धारणं निर्णयरूपचित्तवृत्ति-र्मतिरित्यर्थः। तदुक्तम्—

'नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः।
स्मेरताधृतिसन्तोषौ बहुमानश्च तद्भवाः॥' इति।

अब 'मति-भाव' का लक्षण करते हैं—'शास्त्रादि' इत्यादि। शास्त्र तथा लौकिक वृत्तान्तों के विचार से जो किसी वस्तु के विषय में निर्णयात्मक चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसे 'मति कहते हैं।

विभावस्य लक्षण एवोक्तत्वात् केवलाननुभावान् वक्ति—

अत्र निश्शङ्कतदर्थानुष्ठान-संशयोच्छेदादयोऽनुभावाः।

अत्र मतौ। तदर्थस्य निर्णीतार्थस्यानुष्ठानं विधानम्।

निश्शङ्क होकर निर्णीत काम को करना और सन्देह का विनाश आदि इसमें (मति में) अनुभाव होते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

उद्भूतमतिः कश्चिद्विभावयति—

'निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त! मया परिश्रमः॥'

यदा, निखिलं समस्तं, जगद् विश्वमेव नश्वरं नाशशीलमस्ति, अस्मिन् जगति, कलेवरं शरीरं पुनर्नितरां नश्वरमस्ति, अथ तदा, तस्यातिनश्वरकलेवरस्य कृते पोषणनिमित्ताय, हन्त! मया, अयं कियान् परिश्रमः क्रियत इत्यर्थः। मूढवन्मम विनश्वरतमवस्तुपोषणाय परिश्रमस्य करणमिति निर्णयान्मतिरिहावसेया।

उदाहरण देखिये। कोई विरक्त व्यक्ति कहता है कि—जब यह समस्त संसार ही नाशवान् है—अर्थात् इसमें किसी वस्तु की स्थिरता नहीं और फिर इस संसार में भी यह शरीर अत्यन्त ही नाशवान् है—'क्षणादूर्ध्वं न जानामि विधाता किं विधास्यति'—के अनुसार एक क्षण के बाद इस शरीर की क्या गति होगी, कुछ भी पता नहीं, हाय! तब भी मैं इस क्षणभङ्गुर शरीर के लिये कितना परिश्रम करता हूं।

विभावानुभावौ वक्ति—

'शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्' इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः, हन्तपदगम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्वितृष्णता चानुभावः।

विरतिर्निवृत्तिः।

यहां 'शरीरमेतद् जलबुद्बुदोपमम्' (अर्थात् यह शरीर जल के बुलबुले के समान है) इत्यादि शास्त्र का पर्यालोचन विभाव (पुनः पुनः विचार) है और 'हन्त' पद से प्रतीत होने वाली अपनी निन्दा राज-सेवा आदि से निवृत्ति तथा तृष्णारहित होना आदि अनुभाव हैं।

नन्वत्र शान्तरसध्वनिरेव न कथमित्यत आह—

झगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन प्रतीतेः।

यतोऽत्र झटिति प्रतीयमाना मतिरेव नितरां चमत्कारिणी, शान्तरसस्तु विलम्बेनास्वाद्यमानोऽल्पचमत्कारकृत्, ततो मतिध्वनिरेवात्र न शान्तरसध्वनिरित्याशयः।

जिसलिये यहां शीघ्र प्रतीयमान मति-भाव का चमत्कार अधिक है और शान्त-रस का आस्वाद विलम्ब से होता है, अत एव अपेक्षाकृत उसका चमत्कार भी न्यून है, इसलिये

मति-भाव-ध्वनि ही उक्त पद्य को काव्य-कोटि में लाती है, शान्त-रस-ध्वनि नहीं अर्थात् शान्त-रस-ध्वनि यहां नहीं होती, मति-भाव-ध्वनि ही होती है।

व्याधिं निरूपयति—

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः।

व्याधिरोगयोरभेदेऽन्यत्र प्रसिद्धे चित्तवृत्तिरूपत्वासम्भवात् तज्जन्यमनस्तापोल्लेखः।

अब 'व्याधि-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोग' इत्यादि। रोग और वियोग आदि से उत्पन्न होने वाले मन के ताप को 'व्याधि' कहते हैं। रोग और व्याधि अपर पर्याय हैं, यह बात प्रसिद्ध है, फिर रोग को व्याधि न कहकर रोगजन्य मानसिक ताप को व्याधि-भाव कहने का तात्पर्य यह है कि—'सभी भाव चित्त-वृत्ति-स्वरूप है, इस सिद्धान्त के अनुरोध से चित्त-वृत्त्यात्मक मनस्ताप को ही व्याधि-भाव माना जा सकता है, वाह्य रोग का नहीं, यह विशेष यहां समझना चाहिये।

लक्षण एव विभावोक्तेरनुभावान् वक्ति—

गात्रशैथिल्य-श्वासादयस्त्रानुभावाः।

अङ्गों की शिथिलता और श्वास आदि व्याधि-भाव में अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं प्रतिपादयति—

यदाहुः—

'एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः॥
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते।'

लोके वात-पित्त-कफानां मध्ये प्रत्येकं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां त्रयाणां वा दोषाणां प्रकोपाद् ये ज्वरादयो भवन्ति, इह साहित्ये तत्प्रभवस्तदुत्पन्नो मनस्तापश्चित्तवृत्तिविशेषो व्याधिर्भाव उच्यत इत्यर्थः।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'एकैकशो······' इत्यादि। अर्थात् वात, पित्त और कफ नामक दोषों में से एक-एक, दो-दो अथवा तीनों के प्रकोप से ज़ो ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं, उनसे उत्पन्न हुई चित्त-वृत्ति को साहित्य शास्त्र में 'व्याधि कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वियोगव्यथितां नायिकां वर्णयति—

'हृदये कृतशैवलानुषङ्गा, मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती।
तदुदन्तपरे मुखे सखीना-मतिदीनामियमादधाति दृष्टिम्॥'

इयं वियोगिनी, हृदये वक्षसि कृतः शैवलस्यानुषङ्गः सम्बन्धो यस्या यया वा, तादृशी, तथा मुहुर्वारं वारं यतस्तत इतस्ततः, अङ्गानि क्षिपन्ती, तदुदन्तपरे नायकवृत्तान्तवर्णन-परायणे सखीनां मुखे, अतिदीनां दृष्टिमादधाति निक्षिपतीत्यर्थः।

मुख इत्येकवचनेन सर्वासामेकस्यैव वृत्तस्य कथनं सूच्यते।

विरह-पीडित नायिका का वर्णन है कि—विरहिणी नायिका सेज पर पड़ी है, सखियों ने विरह-ताप को शान्त करने के उद्देश्य से उसके वक्ष पर सेवालों को रख छोड़ा है, फिर भी वह नायिका बार-बार अङ्गों को इधर उधर पटक रही है, अब बेचारी सखियां क्या करें, कुछ उपाय नहीं सूझता, आखिर सब सखियां मिल कर उसके प्रिय के सम्बन्ध की बातें करने लगीं, तब नायिका ने प्रिय-कथापरायण सखियों के मुख पर कातर दृष्टि डालने लगी।

अत्र पद्ये व्याधे विभावानुभावौ दर्शयति—

विरहोऽत्र विभावः, अङ्गक्षेपादिरनुभावः।

यहां विरह विभाव है और अङ्गों का पटकना आदि अनुभाव हैं।

त्रासं निरूपयति—

भीरोर्घोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जथुश्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः।

घोरसत्त्वानां भयानकप्राणिनां दर्शनात्, स्फूर्जथोर्वज्रनिर्घोषस्य श्रवणाच्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, तादृशो भीरोः कातरस्य चित्तवृत्तिविशेषस्त्रास इत्यर्थः।

अब 'त्रास' का निरूपण करते हैं—'भीरोः' इत्यादि। भीरु (डरपोक) व्यक्ति के हृदय में व्याघ्र आदि भयानक प्राणियों के दर्शन और बिजली की कड़क के श्रवण आदि से जो एक तरह की चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम 'त्रास' है।

अनुभावानाह—

अनुभावाश्चास्य रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः।

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातः। विभावद्वयं तु लक्षण एवोक्तम्।

रोमाञ्च, कम्प, निश्चेष्टता और भ्रम आदि त्रास-भाव के अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः।'

उत्पातसूचकैरौत्पातिकैर्घोरसत्त्वदर्शनादिभिर्जन्यो मनसः क्षेपश्चपलात्मकवृत्तिविशेषः।

प्राचीनों ने भी कहा है कि—उत्पातकारक वस्तुओं से होने वाले मन के विक्षेप को 'त्रास' कहते हैं और वह कम्प आदि का जनक होता है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

नायकः सखायं वक्ति—

'आलीषु केलीरभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां सौदामनीयां सुषमामयासीत् ॥'

आलीषु सखीनां मध्ये, केलीरभसेन क्रीडाकौतुकेन, मम सम्बन्धिनमालापं मुहुः उपालपन्ती विदधती, बाला मुग्धा, आराद् दूरे मदीयां गिरम् वाचमुपाकर्ण्य निशम्य, सौदामनीयां त्रासोदयादचिरप्रभतया चपलासम्बन्धिनीं, सुषमाम् अयासीद् विद्युदिव सद्यस्तिरोऽभूदित्यर्थः। 'आलापमुपालपन्ती' इत्यत्र 'वाचमुवाच कौत्सः' इत्यत्रेवाधिकपदत्वम्।

उदाहरण देखिये। नायक अपने मित्र से कहता है कि—मुग्धा नायिका खेल के वेग से सखियों के बीच में मेरे सम्बन्ध की बातें कह रही थी, परन्तु दूर से ज्यों ही मेरी आवाज सुनी, त्यों ही बिजली की शोभा को प्राप्त कर गई—अर्थात् देखते ही भाग गई।

विभावानुभावौ दर्शयति—

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः, पलायनमनुभावः।

'शब्दानामनुशासनमाचार्येण' इत्यत्रेव पत्येति कर्तरि तृतीया। इह स्वशब्देन नायिकापरामर्शोऽभिप्रेतः, किन्तु 'निजस्वात्मादिशब्दानां प्रधानीभूतक्रियाकर्तृपरामर्शित्वम्' इति व्युत्पत्तिविरोधान्नोचितः।

यहां पति के द्वारा स्वकीय वचन का श्रवण करना विभाव और भाग जाना अनुभाव है।

लज्जाध्वनिमत्राशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शैशवेनैव तस्या निरासात्।

यतो बालापदोपस्थापितेन बाल्येनैव नायिकाया लज्जाया असम्भवः, त्रासस्य च सम्भवः सूचितः, तस्मात्तिरोधानेन नात्र लज्जा व्यज्यते, अपितु त्रास एवेति भावः।

'आलीषु.....' इत्यादि पद्य में 'लज्जा व्यङ्ग्य है' यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'बाला' पद से नायिका का बचपन बोधित हुआ है, जिससे लज्जा की निवृत्ति हो जाती है—अर्थात् बचपन में लज्जा नहीं होती, त्रास होता है।

ननु 'प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा। कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा॥' इत्यन्यत्र लक्षिता मुग्धैवात्र बालापदबोध्या, न तु शिशुः। तथा च लज्जायास्तस्यामाधिक्याद् व्यङ्ग्यत्वमक्षतमेवेत्यरुचेरुदाहरणान्तरमाह—

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

विविक्तं लज्जाऽसङ्कीर्णत्रासव्यञ्जकम्।

यदि यह बात कही जाय कि यहां 'बाला' पद से बच्ची नहीं विवक्षित है, अपितु 'मुग्धा' जिसके लक्षण में 'समाधिक लज्जावती' अर्थात् 'अधिक लज्जावाली', कहा गया है, अतः लज्जा ही प्रधान व्यङ्ग्य होगी, तो मैं कहूंगा कि यह कथन आप का ठीक है, इसी अरुचि को हृदय में रखकर ग्रन्थकार दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'इदं वा विविक्त-मुदाहरणम्'—अर्थात् अथवा यह विशुद्ध उदाहरण त्रास का लीजिये—

विलम्ब्य गृहमागतः क्रुद्धाया मातुस्ताडनोद्यमं दृष्ट्वा त्रस्तो बालकृष्णो मातरं ब्रवीति—

'मा कुरु कशां कराब्जे, करुणावति! कम्पते मम स्वान्तम्।
खेलन् न जातु गोपै-रम्ब! विलम्बं करिष्यामि॥'

हे करुणावति! अम्ब! कराब्जे निजकरकमले, कशां ताडनरज्जुं, मा कुरु मा ग्रहीः, मे मम स्वान्तं हृदयं कम्पते, पुनरतः परं जातु कदाचित्, गोपैः पशुपालबालैः सह खेलन् अहं विलम्बं न करिष्यामीत्यर्थः।

अयि! दयावति! तू अपने कर-कमल में (मुझे मारने के लिये) कोड़ा मत ले, मेरा मन काँप रहा है। मां! गोपालों के साथ खेलते हुये अब कभी बिलम्ब नहीं करूंगा।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा [भगवतो] लीलागोपकिशोरस्योक्तिः।

लीलया लीलायै वा गोपकिशोरस्य वस्तुतः परमेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य मातरं प्रत्युक्तिरेषा। इह त्रासस्य कशोत्तोलनं विभावः, कम्पश्चानुभावः। भावान्तरेणासङ्कीर्णस्त्रासोऽत्र ध्वन्यते।

यह लीला से गोप-किशोर बने हुये श्रीकृष्ण भगवान की उक्ति है। यहां मां का कोड़ा हाथ में लेना त्रास का विभाव और कम्प अनुभाव है।

स्वप्नरूपं सुप्तं निरूपयति—

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम्।

निद्राया विभावेभ्यः श्रमादिभ्य उत्थमुत्पन्नं ज्ञानं विषयावभासः, स्वप्न एव सुप्तं भाव इत्यर्थः। तदाह—

स्वप्न इति यावत्।

अब 'सुप्त' का निरूपण करते हैं—'निद्रा' इत्यादि। निद्रा-रूप बिभाव (कारण) से उत्पन्न हुये ज्ञान का नाम 'सुप्त' है। जिसे स्वप्न कहते हैं।

श्रमादेर्विभावस्य निद्राविभावत्वेनैवोक्तत्वादनुभावमात्रं वक्ति—

अस्यानुभावः प्रलापादिः ।

अस्य स्वप्नभावस्य। प्रलापोऽनर्थकभाषणम्। आदिना रोदनहसनादिस्वाप्नव्यापारसङ्ग्रहः।

बड़बड़ाना आदि इसके अनुभाव हैं।

ननु श्रमादयोविभावा इव, नेत्रनिमीलनादयोऽनुभावा अपि निद्राया एवास्य कथं नोच्यन्त इत्याशङ्कां व्यपोहते—

नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया [एव] अनुभावाः, न त्वस्य, अनिदञ्जन्यत्वात् ।

नेत्रनिमीलनादीनां हि निद्राजन्यत्वं, न तु स्वप्नजन्यत्वमिति नेत्रनिमीलनादयो न स्वप्नस्यानुभावाः। इत्थं स्वप्नस्य निद्रायाश्च कारणैक्येऽपि कार्यभेदाद् भेदो विभावनीयः।

आंखों का मींचना आदि तो निद्रा के ही अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि वे स्वप्न से उत्पन्न नहीं होते ।

प्राचीनोक्तिं खण्डयति—

यत्तु प्राचीनैः—'अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम्' इत्याद्युक्तम्, तदन्यथा सिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

अन्यथा-सिद्धानि कारणान्तरादेवोत्पन्नानि। नेत्रनिमीलनादयो हि निद्रयैव (न तु स्वप्नेन) जनितानि स्वप्नं यावत् तिष्ठन्तीति स्वप्नसमयेऽपि तदुपलम्भाद्भ्रमेण स्वप्नजन्यत्वं तेषां प्रतिपादितमित्याकूतम्। उक्तञ्चान्यत्र—'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः। कोपावेगभयग्लानि-सुखदुःखादिकारकः।' इति।

प्राचीनों ने 'सुप्त के अनुभाव अङ्गों की निश्चेष्टता और आंखों का मींचना है' ऐसा जो लिखा है, उसका आशय यह है कि यद्यपि इन अनुभावों के प्रति स्वप्न कारण नहीं है, स्वप्न के लिये ये सब अन्यथासिद्ध हैं—अर्थात् स्वप्न के अभाव में भी ये अनुभाव निद्रा से उत्पन्न होने वाले हैं, तथापि ये अनुभाव स्वप्न के व्यापक अवश्य हैं—अर्थात् स्वप्नावस्था में भी इनका रहना निश्चित है। सारांश यह हुआ कि स्वप्न की अवस्था में भी इन (नेत्र-निमीलनादि) अनुभावों को नियमतः रहते देखकर प्राचीनों को भ्रम हो गया कि ये स्वप्न के ही कार्य हैं, अतः उन्होंने वैसा लिख दिया। वस्तुतः उनका लिखना ठीक नहीं है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

स्वप्नाभूतप्रियासमागमो नायको निद्रां वदति—

> **'अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलं,**
> **तव परिचितः स्नेहः सम्यङ् मयेत्यनुभाषिणीम् ।**
> **अविरलगलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां,**
> **क इह भवतीं भद्रे ! निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥'**

हे भद्रे कल्याणकारिणि ! निद्रे स्वप्नदशे ! भवतीं विना क इह—'हे अकरुण निर्दय ! मृषाभाषासिन्धो सर्वदा मिथ्याभाषिन् ! मम अञ्चलं वसनाग्रं मुञ्च त्यज, तव स्नेहः प्रणयः परिचितः मया तव कपटप्रेमा सुविदितः' इति वाक्यानि, अनुभाषिणीं वदन्तीम्, अविरलगलद्बाष्पां निरन्तरच्यवमानाश्रुधाराम्, निरस्तविभूषणां निष्कासितालङ्काराम्, तन्वीं प्रेयसीं, विनिवेदयेत् समर्पयेद्दर्शयेदित्यर्थः।

निद्रे ! तवैवैतन्माहात्म्यं यदविद्यमानामपि प्रियतमां तथा दर्शयसीत्याशयः। इह शब्दचारिमच्छन्दसोऽनुरोधाद् 'भवती'मित्यस्य 'विने'त्यनेन महान् विप्रकर्षः सुषमामपकर्षति।

अब 'सुप्त-भाव' का उदाहरण लीजिये। 'हे निर्दय! हे मिथ्याभाषणों के समुद्र! मेरे अञ्चल को छोड़ दे, मुझे तेरे प्रेम का अच्छा परिचय प्राप्त हो चुका।' इस तरह कहती हुई और लगातार आंसू बहाती हुई आभूषणविहीन कृशाङ्गी को, हे कल्याणकारिणि! निद्रे!! तेरे बिना कौन लाकर उपस्थित कर सकता? हे देवि! इस तरह प्रिया-समागम करा देने का सौभाग्य केवल तुझे ही प्राप्त है।

प्रकरणमाह—

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवं भाषिणीं दृष्टवतो निद्रां प्रति कस्यचिदुक्तिः।

अपिरत्राप्रयोजनः प्रतिभाति।

यह उक्त रीति से कहती हुई प्रियतमा को स्वप्न में भी देखने वाले किसी प्रवासी नायक की उक्ति है।

ननु वस्तुनो रसस्य चापि व्यङ्ग्यत्वादिह कथं भावध्वनिरेव व्यपदिश्यत इत्यत आह—

'यद्यप्येवम्भूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन निद्रे! मम भवत्या महानुपकारः कृतः' इति वस्तु, विप्रलम्भश्रृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुरःस्फूर्त्तिकतया स्वप्नध्वननमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे।

अत्रोदाहरणे निद्राकर्तृकप्रियतमानिवेदनरूपमहोपकारविधानात्मकवस्तुनः श्रृङ्गाररसस्य च व्यञ्जनाद् वस्तुध्वनि-रसध्वन्योरपि यद्यपि सद्भावः, किन्तु तयोः पश्चात् प्रतीतिरिति ताभ्यामङ्गभूताभ्यां सह पूर्वप्रतीतिकत्वात् प्रधानस्य स्वप्नभावध्वनेः साङ्कर्यमिति तद्ध्वनिव्यपदेश एवेति सारम्।

यद्यपि 'हे निद्रे! तू ने प्रिया की एतादृश दशा (परुष भाषण, रोदन और आभूषण-त्याग आदि) का ज्ञान कराकर मेरा महान् उपकार किया है' इस वस्तु तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार दोनों की प्रतीति यहां होती है, तथापि पहले स्वप्न की ही स्फूर्ति (प्रतीति) होती है, अतः इस पद्य को स्वप्न-भाव-ध्वनि का ही उदाहरण कहा गया है, परन्तु अन्त में उक्त वस्तु और रस भी ध्वनित होंगे, स्वप्न-भाव-ध्वनि, उन्हें रोक नहीं सकती।

जागरणलक्षणं विबोधं निरूपयति—

निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः।

निद्रानाशस्य भावत्वाभावाद् बोध इति, बोधस्य चान्यदाऽपि सम्भवान्निद्रेत्यादि च लक्षणे निवेशितम्। तदुक्तम्—'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः। जृम्भाऽङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत्।' इति।

अब 'विबोध-भाव' का निरूपण करते हैं—'निद्रानाश' इत्यादि। निद्रा के नष्ट होने के बाद जो बोध होता है, उसको 'विबोध' कहते हैं।

विभावाननुभावांश्च दर्शयति—

निद्रानाशश्च तत्पूर्त्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्दस्पर्शादिभिर्जायत इति त एवात्र विभावाः। अक्षिमर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावाः।

तत्पूर्त्तिः निद्रापूर्त्तिः। स्वप्नान्तः स्वप्नदशाऽवसानम्। स्पर्शः परकृतः। निद्रानाशस्य यानि कारणानि, तान्येव विबोधस्यापीति निद्रानाशकारणान्येवंविबोधे विभावा अक्षिमर्दनादयश्चानुभावा भवन्तीत्यर्थः।

निद्रा का नाश निद्रा के पूर्ण हो जाने से स्वप्न के अन्त हो जाने से और प्रबल शब्दों के श्रवण से तथा किसी के स्पर्श से होता है, इसलिये वे विबोध के विभाव हैं और आंखें मलना, शरीर मलना आदि अनुभाव है।

उदाहरणबाहुल्यसम्भवादाह—

तत्र सङ्क्षेपेणोदाहरणम्—

यद्यपि इस भाव के उदाहरण बहुत हो सकते हैं, तथापि संक्षेप से ही वे दिखलाये जाते हैं।

स्वप्नोपलभ्यमानप्रेयसीसान्निध्यो मेघगर्जितापगतनिद्रः खिद्यमानः कश्चित् प्रवासी सखायमाख्याति—

'नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे, बत यामे चरमे निवेदितायाः।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्मयि तावत् प्रचुकोप वारिवाहः॥'

अद्य, चरमे यामे चतुर्थे प्रहरे, मे मम, नितरां हितया परमोपकारिकया, निद्रया स्वप्नदशया, निवेदितायाः प्रापितायाः, सुदृशः प्रेयस्या आलपितुमुद्यतायाः, वचनं, यावदहं शृणोमि, तावद्बत, मयि, वारिवाहो जलधरः प्रचुकोप प्रकुपित इव जगर्जेत्यर्थः।

नायक अपने मित्र से कहता है कि—मेरा अत्यन्त हित चाहने वाली निद्रा से (स्वप्नावस्था से) रात के अन्तिम प्रहर में उपस्थित की गई सुनयना प्रेयसी का वचन जब तक सुनूं-सुनूं तभी मेरे ऊपर जलधर प्रकुप्त हो उठा—उसने अपने भीषण गर्जन से मेरे सुखद स्वप्न को भग्न कर दिया।

विभावमनुभावं चाह—

अत्र गर्जितश्रवणं विभावः, प्रियावचनश्रवणोल्लासनाशोऽनुभावस्तून्नेयः।

उन्नेयः साक्षाच्छब्दानुक्तोऽपि बतशब्देनावगमनीयः।

यहां मेघ-गर्जन का श्रवण विभाव और प्रिया के वचन सुनने के लिये जो उल्लास स्वप्नावस्था में उत्पन्न हुआ था, उसका विनाश अनुभाव है, परन्तु उस अनुभाव का वर्णन स्पष्ट शब्दों में यहां नहीं किया गया, अतः 'बत' पद से उसका तर्क कर लेना चाहिये।

मतान्तरेण विबोधं निरूपयति—

केचिदविद्याध्वंसजन्यमप्यमुमामनन्ति। तेषां मते—

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव॥'

इति गीतापद्यमुदाहार्यम्।

अविद्यायाः संसारनिदानभूताज्ञानस्य ध्वंसेन विनाशेन जन्यं ज्ञानमपि केचिद् विबोधभावं मन्यन्ते, तेषां मते—'हे अच्युत गोविन्द ! त्वत्प्रसादात् तत्त्वोपदेशनात्मकत्वदनुग्रहात्, मम मोहो देहात्मभ्रमो नष्टः, मया स्मृतिरात्मस्मरणं च लब्धा पुनरवाप्ता, साम्प्रतं गतसन्देहः कर्तव्याकर्तव्यसंशयरहितः, स्थितोऽस्मि। तेन तव वचनं करिष्ये त्वदादेशं पालयिष्यामी'—त्यर्थकं 'नष्टो मोहः' इत्यादिभगवद्गीतापद्यमत्रोदाहरणीयम्, तत्राविद्याध्वंसजन्यविबोधस्य सत्त्वादित्यर्थः।

कुछ लोग 'विबोध' को अविद्या के नाश से उत्पन्न होने वाला भी मानते हैं, उनके मत के अनुसार 'नष्टो मोहः······' इत्यादि गीता के श्लोक को 'विबोध-भाव-ध्वनि' का उदाहरण समझना चाहिये। उस गीता-श्लोक का अर्थ यह है कि—हे भगवन्! आपकी अनुकम्पा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् जिन सत्यों को मैं भूल रहा था, वे मुझे पुनः समझ में आ गये। अब मैं सन्देहरहित होकर स्थित हूं, आपके कथन का अक्षरशः पालन करूंगा। यह महाभारत युद्ध में मोह-ग्रस्त अर्जुन का उपदेश सुन लेने के बाद भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति उक्ति है।

सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वोदाहरणेऽसूयाध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोधप्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्ननौचित्यावगमे सत्यनुचितविबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽसूयाया विलम्बेन प्रतीतेः; परमुखनिरीक्षकत्वात् ।

वाक्यार्थता वाक्यार्थबोधप्राधान्यम् । तस्मिन् विबोधे । परमुखनिरीक्षकत्वमसूयायाः पराधीनप्रतीतिकत्वम् ।

'नितरा'मित्याद्युदाहरणे परमोपकारकनिद्राभञ्जक—मेघविषयकासूयाया एव प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वादसूयाध्वनिरेवेति तु न शङ्कनीयम्, इहासूयाप्रतीतेः परसापेक्षत्वेन प्रथममुत्पत्तुमशक्तत्वात् । तथाहि—प्रथममिह विबोधस्यैव प्रतीतिर्जायते, तदनु स्वप्नस्य सुखकरत्वेन विबोधानौचित्यस्य प्रतीतिः, तदनन्तरमनुचितविबोधकारणगर्जितविधायकत्वेन मेघविषयकासूयायाः प्रतीतिरिति विलम्बेन भवन्ती परसापेक्षाऽसूया न प्राधान्यमर्हतीति सारम् ।

'नितरां हितया·····' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का प्रधान वाक्यार्थ मेघ के विषय में होने वाली असूया है, यह शङ्का करना समुचित नहीं, क्योंकि जब पहले विबोध-भाव की प्रतीति हो जायगी, तब उस विबोध में अनौचित्य का—अनवसर में होने का—ज्ञान होगा और उसके बाद अनुचित विबोध को उत्पन्न करने वाले मेघ में असूया होगी । अतः वह असूया परमुखापेक्षिणी—अर्थात् स्वोपपादक विबोध का मुँह जोहने वाली है, इसीलिये उसकी प्रतीति भी विलम्ब से ही होगी, फिर वह प्रधान वाक्यार्थ कैसे हो सकती है ?

उक्तार्थं समर्थयितुमसूयाया विषयं विशदीकरोति—

स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिबोधकं किञ्चिदपि स्यात् ।

तस्या—असूयायाः ।

यदीह पद्येऽपि 'भ्रातः ! तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः' इत्यादौ विधेः शठत्वमिव, मेघस्य निर्दयत्वादि किमप्यसूयाव्यञ्जकं विशेषणमुपात्तं स्यात्, तदैवासूयायाः प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं स्यात्, न च तथा, तस्मान्नासूयाध्वनिरिति भावः ।

उक्त पद्य में असूया की भी प्रधानता हो सकती थी, यदि 'भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रा-दरिद्रीकृतः—अर्थात् हे भाई ! तब तक शठ विधाता ने मेरी निद्रा को भग्न कर दिया' यहाँ जैसे विधाता को शठ कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी मेघ के विषय में निर्दयता आदि का बोध कराने वाली कुछ बातें वर्णित रहतीं । परन्तु उस तरह की एक भी बात यहाँ वर्णित नहीं है, अतः यहाँ असूया-ध्वनि नहीं हो सकती ।

स्वप्नध्वनिशङ्कामपि निराकरोति—

नापि स्वप्नध्वनिः, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः ।

यतो मेघस्य गर्जितेन स्वप्ननाशस्यैव प्रतीतिरत्र भवति, अतः स्वप्नध्वनिरपि न सम्भवतीत्यर्थः । नष्टत्वेन प्रतीयमानस्य स्वप्नस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वासम्भवादित्याशयः ।

उक्त पद्य में स्वप्न-भाव की ध्वनि है, यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि मेघ के गर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है, फिर विनष्ट रूप से ज्ञात होने वाला वह स्वप्न प्रधान व्यङ्ग्य कैसे हो सकता ?

अथ जीवनाहरणकर्तृत्वावगमकस्य वारिवाहपदस्य, कोपनप्रकृतिकत्वावगमकस्य क्रियापदस्य वा सत्त्वादसूयाध्वनिं, स्वप्नभावस्य प्रशमेन भावशान्तिध्वनिं च पर्यवेद्य, ताभ्यां सहासूयाध्वनेः साङ्कर्यमभ्युपगच्छति—

अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूयया च सहास्य सङ्करः ।

साङ्कर्येऽप्यक्षिता विबोधध्वनेरेवेत्याकूतम् ।

यदि कहें कि 'नितरां हितया······' इस पद्य में मेघ के लिये 'वारिवाह' पद का प्रयोग किया गया है और वारिवाह पद का जल ढोने वाला (पनभरा) भी एक अर्थ होता है, अतः इस प्रकार के हीन शब्द के प्रयोग से मेघ के प्रति असूया व्यक्त हो सकती है और मेघ-गर्जन से स्वप्न-नाश की बात तो आप स्वयम् ऊपर कह आए हैं, अतः स्वप्न-भाव-प्रशम की ध्वनि आप के विचार से भी होती ही है, तो इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि—ठीक है, इस तरह यहाँ इन दोनों ध्वनियों के साथ विबोध-भाव-ध्वनि का सङ्कर ही रहे। अभिप्राय यह है कि—इस तरह सङ्कर मान लेने पर भी अङ्गी विबोध-ध्वनि ही होगी और उक्त दोनों ध्वनियाँ उसके अङ्ग होकर रहेगीं।

व्युत्पत्तिदार्ढ्याय प्रत्युदाहरति—

इदन्तु नोदाहार्यम्—

'गाढमालिङ्ग्य सकलां, यामिनीं सहतस्थुषीम्।
निद्रां विहाय स प्रात-रालिलिङ्गाथ चेतनाम्॥'

स प्रक्रान्तः पुमान्, गाढं दृढमालिङ्ग्य समाश्लिष्य सकलां सम्पूर्णां यामिनीमभिव्याप्य, सहतस्थुषीं साकं स्थितवतीं, निद्रामेकां नायिकामिव, प्रातः प्रभाते, विहाय, अथ चेतनां सञ्ज्ञामपरां नायिकामिव, आलिलिङ्गेत्यर्थः।

अब पाठकों के ज्ञान को दृढ करने के उद्देश्य से विबोध-भाव का प्रत्युदाहरण-भी दिखलाते हैं—'इदन्तु नोदाहार्यम्'—अर्थात् यह उदाहरण नहीं देना चाहिये। जो पुरुष रात भर साथ रहने वाली (एक नायिका के समान) निद्रा का प्रगाढ आलिङ्गन करके रहा, वही प्रातः काल में उस (निद्रा) को छोड़कर (दूसरी नायिका के समान) चेतना-संज्ञा-का आलिङ्गन कर लिया।

कुतो नेदमुदाहरणीयमित्याह—

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात्।

चेतना-विबोधयोरभेदादिह चेतनापदेनाभिधीयमानस्य विबोधस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि प्रागुक्तरीत्या न चमत्कारिता।

यहाँ विबोध चेतना पद से वाच्य ही हो गया है, अतः यह पद्य विबोध-भाव-ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

अपि तु समासोक्त्यलङ्कार एवात्र चमत्कारक इति प्रतिपादयति—

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा, यथोचिते काल एकामुपभुज्य, कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते, तथैवायं रात्रौ निद्रां, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात्।

इह प्रस्तुतेन विबुद्धपुरुषेणाप्रस्तुतस्य द्विपत्नीकसत्यप्रतिज्ञपुरुषस्य व्यञ्जनात्समासोक्त्यलङ्कारस्येदमुदाहरणं, न तु विबोधध्वनेरित्यभिप्रायः।

'गाढमालिङ्ग्य······' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में वर्णित, रात में निद्रा का और प्रातःकाल में चेतना का आलिङ्गन करने वाले प्रस्तुत पुरुष में उस अप्रस्तुत तथा सत्य-प्रतिज्ञ पुरुष का व्यवहार आरोपित है, जो दो नायिकाओं को उपभोग के लिये दो पृथक्-पृथक् समय देकर, यथोचित समय पर एक नायिका को भोगने के बाद, दूसरे समय में, उसे छोड़कर, दूसरी नायिका को भोगता है। अतः यहां समासोक्ति अलङ्कार प्रधान—चमत्कारी—है। भाव-ध्वनि तो यहां है ही नहीं।

अमर्षं निरूपयति—

परकृतावज्ञादि-नानापराधजन्यो मौनवाक्पारुष्यादिकारणीभूत-श्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः।

शत्रुकृतास्तिरस्कारप्रभृतयो ये नानापराधास्तज्जन्यः, मूकीभाव-कठोरभाषणादिजनकश्चाभिनिविष्टत्वरूपश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्ष इत्यर्थः। तदुक्तम्—'निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता। नेत्रराग-शिरःकम्प-भ्रूभङ्गो-तर्जनादिकृत्।' इति।

अब 'अमर्ष-भाव' का निरूपण करते हैं—'परकृता' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'अमर्ष' है, जो दूसरे के किये हुये अपमान आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न होती और मौन (चुप्पी) तथा कठोर-भाषण आदि को उत्पन्न करती है।

विभावाननुभावांश्च दर्शयति—

प्राग्वत् कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावानुभावत्वम्।

अमर्षस्य परकृतावज्ञादीनि कारणानि विभावाः, मौनादीनि कार्याणि चानुभावा ज्ञेया इति सारम्।

पहले ही की तरह यहां भी कारणों (परकृत अपमान आदि अनेक अपराधों) को विभाव और कार्यों (मौन आदि) को अनुभाव समझ लेना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिनीवृत्तं वर्णयति—

> 'वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे, यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य।
> शोणाग्राभ्यां भामिनी, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे॥'

वक्षोजाग्रं कुचतटं, सहसा, पाणिना करेण, आमृश्य संस्पृश्य, (सन्निधौ ताडनादि-सम्भवात्) द्राग् झटिति, दूरे यातस्य गतस्य, प्रियस्य कृतागसो वल्लभस्य, आननाब्जं मुखकमलम्, भामिनी कोपना नायिका, शोणाग्राभ्यां रक्तकोणाभ्यां, लोचनाभ्यां, जोषं जोषं निर्निमेषं दृष्ट्वा दृष्ट्वा, जोषं तूष्णीमेव, अवतस्थेऽस्थादित्यर्थः। इहाग्रशब्दो द्विरुपात्तः।

उदाहरण देखिये। कुचों के अग्रभाग को हाथ से मलकर दूर भागे हुये प्रियतम के मुख-कमल को, क्रोध-युक्त नायिका लाल-लाल आंखों से देख-देखकर ही चुप रह गई।

विभावादि प्रकाशयति—

इह त्वाकस्मिकस्तनाग्रस्पर्शो विभावः, नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणे अनुभावौ।

लक्षणघटकादिपदग्राह्यविभावानुभावसद्भावसूचकस्तुशब्दः। निर्निमेषनिरीक्षणमिह सेवन-वीप्सार्थकाभ्यां जुषतिणमुल्भ्यां प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां सूच्यते। निर्निमेषनिरीक्षणं मौनस्याप्युपलक्षणम्।

यहां अकस्मात् स्तनों के अग्रभागों को छूना विभाव है और नेत्रों की रक्तता तथा टकटकी लगाकर देखना अनुभाव है।

ननु क्रोधामर्षयोः स्थायिव्यभिचारिणो कार्य्यकारणैक्ये मिथः कथं भेद इत्यत आह—

ननु क्रोधामर्षयोः स्थायि-सञ्चारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेत्, विषयता-वैलक्षण्यमेवेति गृहाण।

विषयताया वस्तुनोरुभयोरवस्थाया वैलक्षण्यमेव भेदकं जानीहीत्यर्थः।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी-भाव क्रोध और व्यभिचारी भाव अमर्ष में क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि वैसे भेद कुछ नहीं है, फिर भी दोनों (क्रोध और अमर्ष) की विषयता अर्थात् अवस्था में जो वैलक्षण्य-भेद है, वही क्रोध अमर्ष में परस्पर का भेदक होता है।

ननूभयोर्विषयताभेदः कथमवधार्यत इत्यतोऽभिधत्ते—

तत्र तु गमकं झटिति परविनाशादौ प्रवृत्तिर्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्य-वैलक्षण्यम्।

तत्र विषयतावैलक्षण्ये तु। यतस्तस्यैव भावस्योत्कटावस्थायां क्रोधरूपतया परविनाशादौ प्रवृत्तिः कार्यं भवति, अनुत्कटावस्थायान्त्वमर्षरूपतया वचनवैमुख्यादिकं कार्यं भवतीति क्रोधामर्षयोः कार्यवैलक्षण्यमेव विषयतावैलक्षण्यज्ञापकमित्यर्थः।

क्रोध और अमर्ष की अवस्था में जो वैलक्षण्य (भेद) है, उसका ज्ञान दोनों के कार्य-वैलक्षण्य अर्थात् भिन्न-भिन्न तरह के कार्यों से करना चाहिये। तात्पर्य यह कि क्रोध का कार्य शीघ्र दूसरों के विनाश में प्रवृत्ति होती है और अमर्ष का कार्य केवल चुप रह जाना आदि होता है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि एक ही भाव जब कोमलावस्था में रहता है, तब अमर्ष कहलाता है और जब उत्कटावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब क्रोध कहलाता है।

अवहित्थं निरूपयति—

व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषोऽवहित्थम्।

हर्षाद्यनुभावानां 'हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः' इत्युक्तेरश्रुप्रभृतीनां हर्षादिकार्याणां, गोपनायापह्नवाय, व्रीडादिभिः 'व्रीडा-भय-धार्ष्ट्य-कौटिल्य-गौरवैः, निमित्तैर्हेतुभिः जनित उत्पादितः, भावविशेषश्चित्तवृत्तिविशेषोऽवहित्थमित्यर्थः।

अब 'अवहित्थ नामक भाव' का निरूपण करते हैं—'व्रीडा' इत्यादि। हर्ष आदि भावों के जो अश्रुपात आदि अनुभाव (कार्य) होते हैं, उनको छिपाने के लिये लज्जा आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति को 'अवहित्थ' कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

तदुक्तम्—

'अनुभावपिधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते।
तद्विभाव्यं भय-व्रीडा-धार्ष्ट्य-कौटिल्य-गौरवैः॥'

पिधानं गोपनम्। विभाव्यमुत्पादनीयं तदवहित्थम्। धार्ष्ट्यं प्रगल्भता गौरवं महत्त्वम्।

इस बात को प्राचीनों ने भी कहा है, जैसे—'अनुभावपिधानार्थे......' इत्यादि। अर्थात् अनुभावों को छिपाने के लिये जो भाव उत्पन्न होता है, उसे 'अवहित्थ' कहते हैं। वह भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव इन सब कारणों से उत्पन्न किया जाता है।

उदाहरति—

यथा—

कुलाङ्गनावहित्थं वर्णयति—

'प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः,
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम्॥'

गुरुषु गुरुजनसमीपे, गोपानां प्रसङ्गे कालियदमनादिकथाप्रस्तावे, यदुपतेः श्रीकृष्णस्य, महिमानमुत्कर्षम्, उपाकर्ण्य श्रुत्वा, स्विद्यन्तौ घर्मभाजौ पुलकितौ जातरोमाञ्चौ च कपोलौ यस्यास्तादृशी, कुलवधूः कुलीनाऽकुलटा वधूर्गोपाङ्गना, प्रणयजस्वेदरोमाञ्चापह्नवाय, विष-ज्वालानां जालं समुदायं, झगिति सत्वरं वमतो मुखशतान्निष्कासयतः, पन्नगपतेः कालिय-नागस्य, फणायां, (तस्य) ताण्डवविधिमुद्धतनृत्यविधानं, साश्चर्यमाश्चर्येण सहितं, कथय-तितरां मुहुर्वदतीत्यर्थः । इह व्रीडया प्रणयजस्वेदरोमाञ्चयोर्गोपनम् ।

जैसे—गोपजनों ने प्रसङ्ग-वश, गुरुजनों के मध्य में, कृष्ण की महत्ता का वर्णन किया जिसको निकट में रहने वाली किसी कुलाङ्गना ने भी सुन लिया, जिससे उसके कपोलों पर प्रेम के कारण सात्विक भाव के चिह्न पसीना और रोमाञ्च उत्पन्न हो गये। कुलवधू ने देखा कि अब तो मेरा कृष्ण के प्रति प्रेम लोगों पर प्रकट होना चाहता है, बस, उसने झट से विष-ज्वाला के समूह को लगातार उगलते हुये अहिराज कालिय के फणों पर कृष्ण के नृत्य का आश्चर्य-सहित वर्णन करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे लोग समझ लें कि यह स्वेद और रोमाञ्च कृष्ण से प्रेम के कारण नहीं, अपि तु उनके पराक्रम के वर्णन के कारण हुये हैं।

विभावानुभावावभिधत्ते—

अत्र व्रीडा विभावः, तादृशकालियकथाप्रसङ्गोऽनुभावः ।

तादृशस्य विषज्वालाजालवमनकारिणः । प्रणयजन्यौ स्वेदरोमाञ्चौ लज्जयाऽऽश्चर्य-जन्यत्वेनापह्नुतौ ।

यहां लज्जा विभाव है और भयङ्कर कालिय नाग के फणों पर ताण्डव करने की कथा का प्रसङ्ग अनुभाव है।

इत्थं व्रीडाप्रयोज्यमवहित्थमुदाहृत्य भयादिप्रयोज्यस्य तस्योदाहरणानामूह्यत्वमाचष्टे—

एवं भयादिप्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

अवहित्थमिति शेषः ।

इसी प्रकार भय आदि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अविहत्थ-भाव का भी उदाहरण समझ लेना चाहिये।

उग्रतां निरूपयति—

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्तिरुग्रता ।

अधिक्षेपो निन्दा, अपमानस्तिरस्कारः, आदिपदेन राजापराधस्य, अविद्यमानदोषोद्घो-षस्य, चौरग्रहणस्य च परामर्शः । निन्दादिजन्यो बन्धुवधादिजनकः क्रूरतारूपश्चित्तवृत्ति-विशेष उग्रतेत्यर्थः ।

अब 'उग्रता-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधिक्षेप' इत्यादि। निन्दा और अपमान आदि से उत्पन्न होने वाली 'इसका क्या कर डालूँ' इस तरह की चित्त-वृत्ति को 'उग्रता' कहते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—'नृपापराधोऽसद्दोषकीर्त्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्यु-रथो बन्धो वधस्ताडनभर्त्सने ॥
एते यत्रानुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ।' इति ।

उग्रताया नृपापराधादयो हेतवो विभावाः, बन्धादीनि कार्याणि चानुभावाः । अस्य किं करोमीत्याकारा चित्तवृत्तिः क्रूरत्वं निर्दयत्वमित्यनर्थान्तरम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी लिखा है—'नृपापराध.........' इत्यादि। अर्थात् राजा का अपराध, झूठे दोषों का कथन और अपने चोरों को रख लेना ये जिसमें विभाव हों और बांधना, मारना, पीटना और धमकाना ये अनुभाव हों, उसे 'उग्रता' कहनी चाहिये, निर्दयता जिसका दूसरा रूप है।

उदाहरति—

यथा—

गाण्डीवनिन्दयोग्रतामापन्नोऽर्जुनो युधिष्ठिरं तर्जयति—

'अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम्।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनु-र्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते॥'

हे युधिष्ठिर! सङ्गराङ्गणे युद्धस्थले, अङ्गाधिपतेरङ्गदेशस्वामिनः कर्णात्, नितान्तमत्यन्तम्, अमङ्गलं वीराणां कृतेऽशुभम्, भङ्गं (पराक्रमहीनत्वरूपस्वदोषात्) पराजयम्, अवाप्य लब्ध्वा, ममानिर्वचनीयविक्रमस्यार्जुनस्य, परप्रभावमुत्कृष्टानुभावं, गाण्डिवं तदाख्यं, धनुश्चापं विशेषेण निन्दतोऽधिक्षिपतः, ते तव, हृदयं न कम्पते? इत्यर्थः।

जैसे—समर-भूमि में अङ्गराज कर्ण से अत्यन्त अमङ्गल (वीरों के लिये अशोभन) पराजय को प्राप्त करके, आज तू मेरे परम प्रभावशाली गाण्डीव धनुष की निन्दा करता है! तेरा हृदय कम्पित नहीं होता!!

प्रकरणमाचष्टे—

एषा कर्णेन पराभूतं, गाण्डिवं निन्दन्तं, युधिष्ठिरं प्रति धनञ्जयस्योक्तिः।

विशेषणयुगं युधिष्ठिरस्य। गाण्डीवशब्दो ह्रस्वमध्योऽपि द्विरूपकोशेऽनुशिष्टः। धनञ्जयोऽर्जुनः।

यह कर्ण से पराजित और गाण्डीव की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की उक्ति है।

विभावानुभावौ प्रकाशयति—

युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दाऽत्र विभावः, वधेच्छाऽनुभावः।

निर्दोषस्य गाण्डिवस्य निन्दा विभावः, युधिष्ठिरकर्मकवधेच्छा चानुभावोऽत्र बोध्यः।

यहां युधिष्ठिर के द्वारा की गई गाण्डीव की निन्दा विभाव है और मारने की इच्छा अनुभाव है।

अमर्षादुग्रताया अभेदमाशङ्क्य निरस्यति—

न चामर्षोग्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्रागुदाहृतेऽमर्षध्वनावुग्रताया अप्रतीतेः।

पूर्वोक्ते 'वक्षोजाग्रम्' इत्याद्यमर्षध्वन्युदाहरणे वधेच्छारूपानुभावप्रतीतेरभावादुग्रताया अप्रतीतिः, इह तु वधेच्छाप्रत्ययासत्प्रतीतिरपीति वधेच्छारूपानुभावभेद एवामर्षादुग्रताया भेदको ज्ञेय इति सारम्।

'अमर्ष और उग्रता में कुछ भेद नहीं है' ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, क्योंकि पूर्व में जो अमर्ष-ध्वनि का उदाहरण (वक्षोजाग्रम्...... इत्यादि पद्य) दिया गया है, उसमें उग्रता की प्रतीति नहीं होती और यहां होती है, इस बात का परिचय आपको दोनों उदाहरणों को मिलाकर देखने पर मिल सकता है। तात्पर्य यह कि अमर्ष निर्दयतारूप नहीं और उग्रता तद्रूप होती है।

तर्हि क्रोधोग्रतयोरेवैक्यमास्तामित्याशङ्कायामाह—

नाप्यसौ क्रोधः, तस्य स्थायित्वेन, अस्याः सञ्चारिणीत्वेन भेदात्।

क्रोधो हि गुरुबन्धुवधादुत्पन्न उत्कटावस्थो रौद्ररसस्य स्थायीभावः, असावुग्रता तु वागपराधजन्यत्वात् क्रोधापेक्षयाऽल्पमात्रव्यभिचारिभाव इत्युभयोर्विभावभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः।

उग्रता को क्रोधरूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है और उग्रता सञ्चारीभाव, अतः दोनों में भेद स्पष्ट है। स्पष्ट बात यह है कि एक ही चित्त-वृत्ति जब गुरु-बन्धु-वधादि महान् अपराधों से उत्पन्न होती है, तब क्रोध कहलाकर रौद्ररस का स्थायीभाव बनती है और जब निन्दा आदि साधारण वाचिक अपराधों से वही चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है, तब उग्रता नामक सञ्चारीभाव कहलाती है।

उन्मादं निरूपयति—

विप्रलम्भ-महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः।

विप्रलम्भात् प्रियजवियोगात्, महापत्तेर्महत्या विपत्तेः, परमानन्दादेरुत्कृष्टाह्लादप्रभृतेश्च जन्मोत्पत्तिर्यस्य, सः, अन्यस्मिन् वस्तुनि, अन्यस्य वस्तुनोऽवभासस्तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानं भ्रमात्मकश्चित्तवृत्तिविशेष उन्मादो भाव इत्यर्थः।

अब 'उन्माद-भाव' का निरूपण करते हैं—'विप्रलम्भ' इत्यादि। प्रिय-वियोग गुरुतर-विपत्ति और परम आनन्द आदि कारणों से जो अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भ्रम उत्पन्न होता है, उसी भ्रमात्मक चित्त-वृत्ति को 'उन्माद' कहते हैं।

उन्मादलक्षणस्य भ्रान्तिमात्रेऽतिव्याप्तिं वारयितुं विशेषणं जन्मान्तमुपात्तम्, सर्वेषां भ्रमाणां साधारणधर्मवद्धर्मिज्ञानादिप्रतिनियतहेतुजन्यत्वेन विप्रलम्भाद्यजन्यत्वादित्याह—

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम्।

विशेषणमुपात्तमिति शेषः।

शुक्तिधर्मिकरजतत्वप्रकारकभ्रमात्मकज्ञानस्य विप्रलम्भाद्यजन्यत्वेन नोन्मादत्वमित्याशयः।

सभी भ्रमों में उन्माद का लक्षण न चला जाय, इसलिये अवभास (भ्रम) में 'जन्मान्त' विशेषण लगाकर विप्रलम्भ आदि कारणों का निर्देश किया गया है, जिससे शुक्ति आदि में जो रजत आदि का भ्रम दूरत्व-चाकचिक्यादि दोषों से होता है, उसमें उन्माद लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह भ्रम वियोग आदि कारणों से उत्पन्न नहीं होता।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विप्रयोगोन्मत्तावृत्तं दूती निवेदयति—

> **'अकरुणहृदय! प्रियतम! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम्।**
> **इत्यालपति कराम्बुज-मादायालीजनस्य विकला सा॥'**

'हे अकरुणहृदय प्रियतम! त्वामितः परं न मुञ्चामि' इति (वाक्यं) विकला विप्रलम्भेनोद्विग्नहृदया सा नायिका, आलीजनस्य सखीसमुदायस्य, कराम्बुजं हस्तकमलं प्रियतमभ्रमाद् आदाय गृहीत्वा, आलपति व्याहरतीत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। वह, सखी के कर-कमल को पकड़ कर 'हे दयाहीन-हृदय वाले प्रियतम! मैं (जो छोड़ चुकी सो छोड़ चुकी) अब इसके बाद तुझे छोड़ती ही नहीं।' इस तरह विकल होकर बातें करती रहती है।

प्रकरण-विभावानुभावान् प्रतिपादयति—

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं पृच्छन्तं [नायकं प्रति कस्याश्चित् सन्देशहारिण्या उक्तिः। प्रियविरहोऽत्र विभावः, असम्बद्धोक्तिरनुभावः।

सन्देशहारिण्या दूत्याः। प्रियभ्रमेण सखीं प्रत्युपादानादुक्तेरसम्बद्धता।

यह अपनी नायिका के समाचार पूछते हुये किसी प्रवासी के प्रति संदेश लेकर जाने वाली दूती की उक्ति है। प्रिय का विरह यहां विभाव और असम्बद्ध वार्तालाप अनुभाव है।

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावेऽपि पृथगुपादानस्य प्रयोजनं प्रकाशयति—

उन्मादस्य व्याध्यन्तर्भावे सम्भवत्यपि, पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय।

स्फोरणं प्रकाशनम्।

उन्मादोऽपि व्याधिरेव, किन्त्वस्य व्याध्यन्तरापेक्षयाऽधिकं चमत्कारकत्वमिति सूचयितुं पृथक्कथनमित्याशयः।

यद्यपि व्याधि-भाव में ही उन्माद का भी अन्तर्भाव हो सकता था, तथापि अन्य व्याधियों की अपेक्षा इस उन्माद-व्याधि में कुछ विलक्षण विचित्रता है यह दिखलाने के लिये इसका पृथक् ग्रहण किया गया है।

मरणं निरूपयति—

रोगादिजन्या मूर्च्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम्।

आदिपदेन विप्रलम्भप्रभृतिपरामर्शः। मरणाज्जीवोद्गमनात् प्रागवस्था पूर्वकालिकस्थितिः।

तदुक्तं प्रदीपे—

'जीवस्योद्गमनारम्भो मरणं परिकीर्त्तितम्।
सम्मोहेन्द्रियसङ्ग्लानि-गात्रविक्षेपणादिकृत् ॥' इति।

इन्द्रियाणां सम्यग्ग्लानिर्विषयग्रहणाक्षमता।

अब 'मरण-भाव' का निरूपण करते हैं—'रोगादि' इत्यादि। रोग आदि से उत्पन्न होने वाली जो मरण के पहिले की मूर्च्छारूप अवस्था है, उसको मरण कहते हैं।

ननु प्राणनिष्क्रमणरूपं मरणं कुतो न गृह्यत इत्याशङ्कां निरस्यति—

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्या प्रसक्तेः।

मुख्यमरणस्य शरीरप्राणसम्बन्धध्वंसरूपत्वाच्चित्तवृत्त्यनात्मकत्वाद्भावत्वाभावान्न ग्रहणम्।

'मरण-भाव' में प्राण-वियोगात्मक (प्राणों का छूट जाना रूप) मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं, क्योंकि भावों को जब चित्तवृत्ति रूप मानते हैं, तब उन में मुख्य मरण का प्रसङ्ग नहीं आता, कारण यह है कि वह चित्त-वृत्ति रूप नहीं है।

मुख्यमरणे भावत्वाभावस्य हेतुमाह—

भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।

सर्वेषु हर्षादिभावेषु कार्यसहवर्तितया तत्तच्चित्तवृत्तिरूपव्यापारानुकूलत्वेन, यतः शरीर-प्राणसंयोगो हेतुः, अतो मुख्यं मरणं न भाव इत्यर्थः। प्राणवियोगोत्तरं चित्तवृत्तेरभावान्न तस्य तत्त्वमित्याशयः।

मुख्य मरण का भावों में ग्रहण नहीं करने का दूसरा कारण यह भी है कि हर्ष आदि सभी भावों के प्रति शरीर-प्राण-संयोग कारण है और कारण भी ऐसा नहीं कि कार्योत्पत्ति के पूर्व क्षण में ही रहे, अपितु ऐसा कि जो कार्य के साथ-साथ भी वर्तमान रहे। इस स्थिति में मुख्य मरण को भाव कैसे कहा जा सकता? क्योंकि उसके साथ शरीर-प्राण संयोग का रहना असम्भव है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मुमूर्षुनायिकावस्थां वर्णयति—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती, शयने सम्प्रति या विलोकिताऽऽसीत् ।
अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी, गिरमङ्गीकुरुते न भाषिताऽपि ॥'

या कृशाङ्गी वियोगव्यथादुर्बलावयवा सम्प्रति इतः किञ्चित्क्षणमेव पूर्वं, दयितस्य प्रियतमस्य, गुणान्, अनुस्मरन्ती ध्यायन्ती, शयने तल्पे, विलोकिता दृष्टाऽसीदभूत्। हन्त ! अधुनाऽस्मिन् क्षणे, सा, भाषिता सखीभिः किञ्चिदुक्ताऽपि, गिरं नाङ्गीकुरुते सञ्ज्ञाशून्यतया न प्रतिवक्तीत्यर्थः ।

अब 'मरण-भाव' का उदाहरण देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि— जिसको, अभी प्रियतम के गुणों का स्मरण करते हुये, शय्या पर देखा था, हाय ! वह कृशाङ्गी, इस समय, बुलाने पर भी नहीं बोलती, उसकी वाक्शक्ति नष्ट हो गई है ।

विभावानुभावावभिदधाति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, वचनविरामोऽनुभावः ।

वचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः ।

प्रियतम का वियोग यहां विभाव और वाक्शक्ति का नष्ट हो जाना अनुभाव है ।

इह मरणध्वनेः पदप्रकाश्यतां दर्शयति—

हन्तपदस्यात्रात्यन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्ययं भावः, पदव्यङ्ग्यतामावहति ।

अत्र पद्ये, यद्यपि सम्पूर्णेन वाक्येन मरणभावो व्यज्यते तथापि हन्तपदस्य दुःखातिरेकबोधकतया पदान्तरापेक्षयाऽत्यन्तं तत्रोपकारकत्वात् पदव्यङ्ग्य एवात्र स भाव उच्यते, प्राधान्येन व्यपदेशादित्यर्थः ।

इस पद्य में यद्यपि सम्पूर्ण वाक्य से मरण-भाव व्यक्त हुआ है, तथापि वह (मरणभाव) पद-व्यङ्ग्य ही कहलाता है, क्योंकि 'हन्त' पद ही दुःखाधिक्य के बोधक होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति में अधिक उपकारक है ।

परकीयमतं निरस्यति—

एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्तम् ।

एतेन पदव्यङ्ग्यस्यापि मरणभावस्यात्रातिचमत्कारकताया अनुभूयमानत्वेन ।

इससे (ऊपर के पद्य में मरण-भाव को हन्त-पद-व्यङ्ग्य सिद्ध कर देने से) 'भाव यदि पद से व्यङ्ग्य हो, तो उसमें अधिक विचित्रता नहीं रहती' यह कथन परास्त हो जाता है ।

विप्रलम्भध्वनेः करुणध्वनेर्वाऽत्र कुतो न व्यपदेश इत्याशङ्कां निवारयति—

'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती'त्यनेन व्यज्यमान 'चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुणविस्मरणं नाभू'दिति वस्तु, विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

व्यज्यमानमिति वस्तुविशेषणम् । प्रकृते झटिति प्रत्युज्जीवनासम्भवाद् विप्रलम्भासम्भव इति करुणस्थायिशोकोपादानम् ।

इह व्यङ्ग्येन वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य, वस्तुतः शोकस्थायिककरुणस्य पार्यन्ति-

कप्रतीतिविषयत्वेन न प्राधान्यम्, मरणभावस्य तु प्राथमिकचमत्कारिप्रतीतिविषयतया तत्त्वमिति तद्ध्वनिव्यपदेश एव, न तु रसध्वनेः, न वा वस्तुध्वनेर्व्यपदेश इत्याशयः।

उक्त पद्य में 'दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती—अर्थात् प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई' इस कथन से यह वस्तु अभिव्यक्त होती है कि 'उस नायिका को अन्तिम अवस्था में भी प्रियतम के गुणों का विस्मरण नहीं हुआ' और इस व्यज्यमान वस्तु से उक्त पद्य के द्वारा सब से अन्त में अभिव्यक्त होने वाले विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो प्रायः भाव-ध्वनि-स्थल में सर्वत्र अन्त में किसी न किसी रस की भी ध्वनि होती ही है, परन्तु खासकर मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में विप्रलम्भ-शृङ्गार अथवा करुण-रस की ध्वनि अन्त में नियमतः होती है, अतः यहां भी अन्त में उक्त दोनों रसों में से किसी एक की अभिव्यक्ति होगी और साथ-साथ यहां उक्त वस्तु भी ध्वनित हुई है, फिर भी व्यवहार यहां भाव-ध्वनि का ही होगा, क्योंकि पहले उसी का चमत्कार सहृदयों को आकृष्ट करता है।

मरणभावस्य विप्रलम्भ-करुणयोरपि पोषकत्वं विषयभेदेन दर्शयति—

अयं च भावः स्वव्यञ्जकवाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः।

अयं मरणरूपो भावः। चस्त्वर्थे। स्वं मरणम्। सन्दर्भः प्रबन्धो महावाक्यमिति यावत्। प्रत्युज्जीवनं पुनर्जीवनम्। अन्यथा प्रत्युज्जीवनाभावे।

अयं मरणभाव एकस्मिन् प्रबन्धे स्वव्यञ्जकं यद्वाक्यं, तदुत्तरवर्तिना वाक्यशेषरूपेण यदि केनापि वाक्यान्तरेण नायिकाद्यालम्बनस्य पुनरुज्जीवनं प्रतिपादितं भवति, तदा इत्यविच्छेदाद् विप्रलम्भशृङ्गारस्य पोषको भवति, पुनरुज्जीवनस्य वर्णनाभावे तु रतिविच्छेदात् करुणस्य पोषक इति विषयभेदादस्य तदुभयपोषकत्वमिति सारम्।

ऊपर जो यह कहा गया है कि मरण-भाव-ध्वनि-स्थल में शृङ्गार अथवा करुण अन्त में अवश्य ध्वनित होता है, उससे क्या यह समझा जाय कि दोनों रस ध्वनित होते हैं? या एक? इसका उत्तर यद्यपि यह अनायास दिया जा सकता है कि—'एक', क्योंकि दोनों का एक जगह ध्वनित होना असम्भव है, परन्तु 'एक' के निर्णय हो जाने पर भी यह सन्देह बना ही रहता कि वह एक कौन? शृङ्गार अथवा करुण? यदि परिस्थितिभेद से दोनों ही उस 'एक' में आ सकते हैं, यह ग्रन्थ का तात्पर्य समझा जाय, तब यह जिज्ञासा स्वभावतः उत्पन्न होती है कि 'यह परिस्थिति-भेद' क्या है? अर्थात् किस परिस्थिति में विप्रलम्भ ध्वनित होगा और किस परिस्थिति में करुण? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये यह विवेक करना चाहिये कि—मरण-भाव, सन्दर्भ में, इस वाक्य (मरण-भाव-व्यञ्जक वाक्य) के अनन्तर आने वाले दूसरे वाक्य से यदि नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन किया गया हो, तब विप्रलम्भ का अन्यथा करुण का पोषक होता है—अर्थात् मरण-भाव-व्यञ्जक वाक्य की अपेक्षा सन्दर्भगत अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन के वर्णन होने पर विप्रलम्भ-शृङ्गार अन्त में ध्वनित होता है और यदि अग्रिम वाक्य से नायिका आदि के पुनर्जीवन का वर्णन हो, तब करुण-रस ध्वनित होता है।

मुख्यमरणानुदाहरणकारणं भणति—

कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात्।

पुनरशब्दस्त्वर्थकः। न वर्णयन्ति शृङ्गार इति शेषः। तदुक्तम्—'रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते।' इति। करुणे तु तद्वर्णनमपीष्टमेव, यथा-रघुवंशेऽष्टमसर्गे।

कवि लोग इस मरण-भाव का प्रधानतया वर्णन नहीं करते, क्योंकि यह भाव एक

तरह से अमङ्गल सा है। यह निषेध शृङ्गार रस के विषय में ही समझना चाहिये, करुण में नहीं अत एव 'रघुवंश' के अष्टम सर्ग में कालिदास ने करुण की पुष्टि के लिये इस भाव का वर्णन किया है, शृङ्गार में ही यह निषेध समुचित भी जान पड़ता है, क्योंकि 'रस-विच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते—अर्थात् रस-विच्छेद का हेतु हो जाने के कारण मरण का वर्णन नहीं किया जाता है' के द्वारा जो मरण-वर्णन-निषेध का बीज (रस-विच्छेद) दिखलाया गया है, वह शृङ्गार में ही सङ्घटित होता है करुण में नहीं—अर्थात् मरण-वर्णन से शृङ्गार रस का ही विच्छेद सम्भव है, करुण का नहीं।

वितर्कं निरूपयति—

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः।

सन्देहात् संशयात्, आदिपदेन विपर्ययाच्चानन्तरं जायमान ऊहोऽध्याहारश्चित्तवृत्ति-विशेषो वितर्क इत्यर्थः। तदुक्तम्—'तर्को विचारः सन्देहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः।' इति।

अब 'वितर्कभाव' का लक्षण करते हैं—'सन्देहा' इत्यादि। सन्देह आदि के अनन्तर उत्पन्न होने वाला जो ऊह (एक प्रकार का विचार) है, उसे 'वितर्क' कहते हैं।

चिन्तादिव्यावृत्तये वदति—

स च निश्चयानुकूलः।

प्राक् सन्देहो विपर्ययो वा, मध्ये सम्भावनारूपो वितर्कः, अन्ते च निश्चय इति क्रमे वितर्कस्यैव निश्चयजनकत्वं, न तु चिन्तादेरिति स्फुटम्।

वितर्क निश्चय का जनक होता है—अर्थात् वितर्क के बाद निश्चयात्मकज्ञान उत्पन्न होता है।

उदाहरति—

'यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी, नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं, न विनाऽऽलम्बनमाश्रितस्थितिः॥'

सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी जानकी, यदि नितरामेव भुवि न विद्यते सर्वथा परलोकमेवागात्, अथ तदा, मम रामस्य, जीवितं जीवनं, कथं केन प्रकारेणास्ति, यतः—आलम्बनमाधारं विना, आश्रितस्याधेयस्य, स्थितिः क्वापि न भवतीत्यर्थः।

जानकीजीवनं विना मज्जीवनासम्भवान्मज्जीवनेनैव जानकीजीवनं सम्भावनीयमिति सारम्।

अब इस 'वितर्क-भाव' का उदाहरण लीजिये। यदि जनकनन्दिनी (सीता) पृथिवी पर सर्वथा है ही नहीं—अर्थात् परलोक चली गई, तब फिर मेरा जीवन किस तरह वर्तमान है, क्योंकि आधार के विना आधेय (आधार में रहने वाला पदार्थ) की स्थिति कहीं नहीं रहती। अभिप्राय यह कि जानकी ही मेरे जीवन का आधार है, उसके नहीं रहने पर मेरे जीवन का नहीं रहना भी निश्चित है। एतावता यह सिद्ध हो गया कि जब मेरा जीवन है, तो जानकी भी कहीं अवश्य जीवित है।

प्रसङ्ग-विभावानुभावानाह—

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैषोक्तिः। भुवि सीताऽस्ति न वेति सन्देहोऽत्र विभावः। भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्तनमाक्षिप्तमनुभावः।

स्वात्मनि स्वगतं वितर्कणम्। शिरोनर्तनमङ्गुलिनर्तनं वितर्काज्जायते। आक्षिप्तत्वं शब्दानुक्तत्वात्।

यह भगवान् रामचन्द्र की अपने मन में उक्ति है। यहां 'सीता पृथ्वीपर है अथवा नहीं' यह सन्देह विभाव है और पद्य में वर्णित न होने पर भी आक्षेप के द्वारा ज्ञात होने वाले भ्रू-चालन और मस्तक तथा अङ्गुलियों का नर्तन अनुभाव है।

चिन्तैव कुतो न वितर्क इत्याशङ्कां निरस्यति—

न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रत्यप्रयोजकत्वात् ।

यतश्चिन्तायां कदाचिदेव निश्चयो जायते, वितर्के तु सर्वदा नियमेन निश्चयो भवतीति चिन्ताया नियतपूर्ववर्तित्वविरहान्निश्चयाजनकत्वाद्वितर्काद् भेदो बोध्य इत्यभिप्रायः ।

'उक्त पद्य में चिन्ता-भाव ही ध्वनित होता है' यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चिन्ता नियमतः निश्चय का जनक नहीं होती—अर्थात् चिन्ता से कदाचित् कहीं निश्चयात्मक ज्ञान की उत्पत्ति भले ही हो जाय, परन्तु यह नियम नहीं है कि चिन्ता से सदा सर्वत्र निश्चयात्मक ज्ञान का उदय होगा ही और वितर्क से नियमतः निश्चय की उत्पत्ति होती ही है, यही चिन्ता तथा वितर्क में भेद है, अतः प्रकृत पद्य में वितर्क ही ध्वनित होता है, इस बात को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।

वितर्कलक्षणे नियमेनेत्यस्यानुल्लेखात्तदनिवेशे प्रसक्तं पुनस्तयोरैक्यं निवारयति—

'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति' इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः 'इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः' इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्याच्च ।

किं भविष्यतीत्याद्याकारकध्यानरूपचिन्ताया अनिर्धारितो विषयः इदमित्थं भविष्यति प्रायश इत्याकारकस्योत्कटैककोटिकशङ्कात्मकसम्भावनारूपस्य वितर्कस्य तु किञ्चिन्निर्धारितो विषय इत्युभयोर्विषयभेदाद् भेद इत्यभिसन्धिः ।

यदि आप कहें कि उक्त वितर्क-लक्षण में 'नियमतः' पद का निवेश तो नहीं किया गया, फिर जो भेद उन दोनों में ऊपर दिखलाया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा ? इसका उत्तर यह है कि जाने दीजिये, यदि उस प्रकार भेद सिद्ध नहीं हो सकता, तो न हो, उन दोनों में विषय के भेद से भेद सिद्ध है । विषय-भेद इस प्रकार है कि चिन्ता का आकार होता है 'किं भविष्यति' 'कथं भविष्यति'—अर्थात् 'क्या होगा' 'कैसे होगा' इत्यादि, अतः चिन्ता का विषय अनिर्णीत रहता है और वितर्क का आकार होता है 'इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः'—अर्थात् 'प्रायः यह ऐसा हो सकता है' यह सम्भावनात्मक, अतः वितर्क का विषय कुछ निर्णीत सा रहता है ।

नन्वत्र चरमचरणेऽर्थान्तरन्यासालङ्कारप्रतीतौ कथं भावध्वनित्वमित्यत आह—

'न विने'त्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः ।

सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारोऽपि प्रतीयमानोऽस्मिन् वितर्कभाव एवोपकारकत्वादनुकूलो न तु चिन्तायां, तेन नालङ्कारस्य न वा चिन्तायाः प्राधान्यं सम्भवतीत्याशयः ।

उक्त पद्य में 'न विनालम्बनमाश्रित-स्थितिः'—अर्थात् 'विना आधार के आधेय की स्थिति नहीं रहती' इस कथन के द्वारा जो अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य होता है, वह भी वितर्क में ही अनुकूल पड़ता है, चिन्ता में नहीं। तात्पर्य यह है कि सामान्य (आधार के विना आधेय की स्थिति का असम्भव-कथन) से विशेष (जानकी के जीवन के विना राम के जीवन का असम्भव-वर्णन) का समर्थन करना ही तो यहां अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है, जिससे प्रतिपाद्य वस्तुका निर्णय होता है, तो वितर्क का विषय है, चिन्ता का विषय तो अनिर्णीत ही रहता है, फिर उसके समर्थन की आवश्यता ही नहीं होती।

विषादं निरूपयति—

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः ।

महता प्रयासेनाप्यभीष्टस्य सिद्धे राज्ञो गुरूणामन्येषां महीयसामपराधाच्चोत्पन्नः किमिदं कृतमिति पश्चात्तापरूपश्चित्तवृत्तिविशेषो भाव इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसङ्क्षयः ।

निश्वासोच्छ्वासहृत्ताप-सहायान्वेषणादिकृत् ॥' इति ।

अब 'विषाद-भाव' का निरूपण करते हैं—'इष्टा-सिद्धि' इत्यादि। बहुत प्रयास करने पर भी अभीष्ट अर्थ के सिद्ध न होने से तथा राजा और गुरु आदि पूज्य जनों के अपराध आदि के करने से उत्पन्न होने वाली 'यह क्या हुआ' अथवा 'मैंने यह क्या किया' इत्याकारक पश्चात्तापस्वरूप चित्त-वृत्ति को 'विषाद' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

कर्णे मृते युद्धविजयान्निराशो दुर्योधनः स्वजीवितं व्याहरति—

'भास्करसूनावस्तं, याते जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।

दुर्योधनस्य जीवित ! कथमिव नाद्यापि निर्यासि ? ॥'

हे दुर्योधनस्य कर्णैकप्राणस्य दशाधिकाक्षौहिणीपतिवन्दितस्य प्रबलप्रतापपराभूतपाण्डवस्य वा मम जीवित ! भास्करसूनौ सूर्यसुते कर्णे, अस्तं यातेऽन्तं प्राप्ते सति, पाण्डवानां युद्ध उत्कर्ष आधिक्ये च जाते सति, अद्यापीदानीमपि, कथमिव कुतो हेतोः, न निर्यासि त्वं नैव निर्गच्छसीत्यर्थः ।

इह भास्करसूनुत्वेनास्तङ्गतमनौचित्यं सूच्यते। स्वोच्चारितस्य दुर्योधनपदस्य कर्णैकप्राणत्वादिलक्ष्यताऽवच्छेदकविशिष्टे स्ववाच्ये लक्षणया दुःखातिशयव्यञ्जकत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिः । इवशब्दः खल्वादिवद् वाक्यालङ्कारे ज्ञेयः ।

उदाहरण देखिये। कर्ण के मर जाने के बाद विजय से निराश बने हुये दुर्योधन का अपने जीवन के प्रति यह कथन है कि—सूर्य-पुत्र कर्ण के अस्त हो जाने पर (यहां सूर्य-पुत्र पद से कर्ण का बोध कराने से उसके अस्तगमन का औचित्य सूचित होता है) और पाण्डवों के उत्कर्ष (विजय) की भी सिद्धि हो जाने पर, हे कर्ण को ही अपना प्राण समझने वाले, अथवा ग्यारह अक्षौहिणियों के नायकों से वन्दित होने वाले, किं वा अपने प्रबल-पराक्रमों से अनेक बार पाण्डवों के छक्के छुड़ानेवाले दुर्योधन के जीवन ! आज भी तू क्यों नहीं निकल रहा है ? क्या अब भी कोई दुःख देखना शेष है ?

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

अत्र स्वापकर्ष-परोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः, जीवितनिर्याणाशंसा, तदाक्षिप्तं वदननमनादि चानुभावः ।

आशंसा कामना । तयाऽऽक्षिप्तं सहचरत्वेनागूरितम् । आदिना निष्प्रभत्वादि ।

यहां अपने अपकर्ष और शत्रुओं के उत्कर्ष का देखना विभाव है और प्राण के निकलने की कामना करना तथा उसके द्वारा आक्षिप्त होने वाला मुख का नम्र होना आदि अनुभाव है।

विषादध्वनिं प्रकृते द्रढयितुमर्थान्तरध्वनेरङ्गत्वमाचष्टे—

अस्मिन्नेव च विषादध्वनौ दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिरनुग्राहकः ।

च हेतौ । अनुग्राहको दुःखातिशयावगमकत्वादुपस्कारको न तु प्रधानम् ।

इस पद्य में यद्यपि 'दुर्योधनस्य' इस लाक्षणिक पद से (लक्ष्यार्थ का स्वरूप ऊपर में श्लोकार्थ लिखते समय लिखा जा चुका है) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' नामकी दुःखातिशय-ध्वनि भी होती है, तथापि वह प्रधान नहीं है, अपि तु उक्त विषाद—ध्वनि का पोषक मात्र है।

त्रासध्वनिमाशङ्क्य निरस्यति—

न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शङ्क्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात्।

परवीरस्योत्कृष्टवीरस्य।

इस पद्य में त्रास-भाव की ध्वनि है, यह शङ्का तो किसी भी तरह नहीं की जा सकती, क्योंकि उत्कृष्ट वीर नायक दुर्योधन में लेशतोऽपि त्रास का होना असम्भव है।

चिन्ताध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि चिन्ताध्वनित्वम्, युद्ध्वा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात्।

युद्ध्वा न त्वस्त्रादि त्यक्त्वा। व्यवसायान्निर्धारणात्। चिन्तायां न निश्चयः।

चिन्ता-भाव की ध्वनि भी यहां नहीं कही जा सकती, क्योंकि दुर्योधन का यह दृढ़ निश्चय है कि 'युद्ध करके ही मरूँगा, अस्त्र-त्याग करके नहीं।' तात्पर्य है कि यदि यहां चिन्ता होती, तो उक्त निश्चय नहीं हो सकता, कारण यह कि चिन्ता से किसी प्रकार का निश्चय नहीं होता यह बात पहले भी प्रसङ्गवश लिखी जा चुकी है।

दैन्यध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात्।

यतो दुर्योधनेन विपदो न गणितास्तस्माद्दुःखादिदैन्यविभावाभावान्न दैन्यध्वनिरपीति भावः।

दैन्य-भाव की ध्वनि मानना भी यहां ठीक नहीं, क्योंकि दुर्योधन उस कोटि का मनुष्य ही नहीं था, कि कभी दैन्य का अनुभव करे, जब उसके समग्र सैनिकों का विनाश हो चुका, तब भी उसने विपत्ति को नहीं गिना।

वीररसध्वनित्वमप्याशङ्क्य निरस्यति—

न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात्।

परस्य परिपन्थिनोऽपकर्षो जीवितं प्रधानं यस्य, तादृशोत्साहस्य सर्वथा स्वापकर्षनिर्णये मरणमेव शरणमिदानीमिति निर्धारणदशायामसम्भवान्नात्र वीररसध्वनिरिति सारम्।

वीर-रस की ध्वनि भी यहाँ मानने योग्य नहीं, क्योंकि वीर-रस का स्थायीभाव जो उत्साह है, उसका प्राण है, शत्रुओं का अपकर्ष—अर्थात् जब तक शत्रुओं में अपने से अपकृष्टता का ज्ञान रहता है, तभी तक उत्साह भी रहता है और यहाँ तो दुर्योधन ने मृत्यु की शरण ले ली है, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि उसने अब शत्रुओं को अपने से उत्कृष्ट समझ लिया है, फिर उसमें उत्साह का रहना असम्भव है और उत्साह (स्थायीभाव) के अभाव में वीर-रस-ध्वनि सर्वथा असम्भव है।

दार्ढ्याय प्रत्युदाहरति—

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

त्रस्त उत्तरः सारथिमर्जुनं कथयति—

'अयि पवनरयाणां निर्दयानां हयानां,
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्यद्-
भुजगनिभभुजानां बाहुजानां निनादाः॥'

अयि सारथे! पवनरयाणां वायुतुल्यवेगानां निर्दयानां क्रूराणां हयानामश्वानां गतिं श्लथय मन्दीकुरु, अहं सङ्गरं युद्धं द्रष्टुं नेहे नेच्छामि, यतः प्रकुप्यन्तोऽतिकुध्यन्तो ये

भुजगाः सर्पास्तन्निभास्तत्सदृशा भुजा बाहवो येषां तथाभूतानां बाहुजानां क्षत्रियाणाम्, अमी श्रूयमाणा निनादा वीरगर्जितशब्दाः, मे मम श्रुतिविवरं कर्णबिलं दारयन्ति पाटयन्तीत्यर्थः। अत्र 'ममी मे' इति स्वासकृदावृत्तिर्न शोभते।

'अयि पवनरयाणाम्......' इत्यादि पद्य को विषाद-ध्वनि के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये, जिसका अर्थ यों है—अयि सारथे! तू पवन के समान वेगवाले इन अश्वों की गति को मन्द कर दे, मैं युद्ध देखना नहीं चाहता। क्रुद्ध सर्पों के समान बाहु वाले इन क्षत्रियों के नाद मेरे कानों के छिद्रों को विदीर्ण कर रहे हैं—उन्हें सुन-सुन कर मेरे कानों के परदे फटे जा रहे हैं। यह कायर विराट-पुत्र 'उत्तर' की अपने सारथि बृहन्नला-वेषधारी अर्जुन के प्रति उक्ति है।

उपपादयति—

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विषादस्याप्रतीतेः।

उत्तरस्य भीरुत्वप्रकाशेन त्रास एवात्र प्राधान्येन प्रतीयते, न तु विषाद इति न विषादध्वनिरियम्।

यहाँ त्रास-भाव ही प्रधानतया प्रतीत हो रहा है, अतः विषाद-भाव की प्रतीति नहीं हो सकती।

ननूत्तरीययुद्धोद्यमापराधजानुतापरूपस्य विषादस्यापि प्रतीतिरत्र दुरपलपेत्याशङ्कायामाह—

लेशतया प्रतीतौ वा त्रास एवानुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोग्यत्वात्।

सूक्ष्मतया प्रतीयमानस्याप्यत्र विषादस्य प्रधानव्यङ्ग्यत्रासोपस्कारकत्वमेव, न तु ध्वनिव्यवहारस्य योग्यता।

यदि कहें कि उत्तर ने जो युद्धोद्योगरूप अपराध किया, तज्जन्य अनुताप (विषाद) का उसमें उदय होना स्वाभाविक है, अतः विषाद की प्रतीति यहाँ अवश्य होती है, तो मैं कहूँगा कि—हाँ! लघुमात्रा में विषाद की प्रतीति यहाँ होती है, यह बात ठीक है, परन्तु प्रधानतया अभिव्यक्त होने वाले त्रास का पोषक होना ही उसके लिये उचित है, अतः वह (विषाद) इस योग्य नहीं है कि उसको लेकर इस पद्य में ध्वनि का व्यवहार किया जा सके।

औत्सुक्यं निरूपयति—

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा, औत्सुक्यम्।

'अधुनैव न तु विलम्बेन, अस्य वस्तुनो लाभो ममास्तु' इत्याकारिकोत्कटेच्छैव, औत्सुक्यमित्यर्थः। तदुक्तम्—

'इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपा सहिष्णुता।
चित्ततापत्वरास्वेद-दीर्घनिश्वसितादिकृत्॥' इति।

अब 'औत्सुक्य-भाव' का निरूपण करते हैं—'अधुना' इत्यादि। किसी वस्तु के विषय में जो इस तरह की इच्छा होती है कि 'अमुक वस्तु मुझे अभी प्राप्त हो जाय' उस (इच्छा) को 'औत्सुक्य' कहते हैं।

विभावमनुभावांश्चाह—

इष्टविरहादिरत्र विभावः, त्वराचिन्तादयोऽनुभावाः।

अभीष्ट वस्तु का अभाव आदि यहाँ विभाव और शीघ्रता एवम् चिन्ता आदि अनुभाव होते हैं।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ।' इति ।

प्रियसंस्मरणरूपोद्दीपनविभावदर्शनमिह नवीनम् । अनुभावितमनुभावनव्यापारकर्मीकृतम् ।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है—'सञ्जात' इत्यादि-अर्थात्—अभीष्ट वस्तु के अभाव से उत्पन्न, प्रिय के स्मरण से उद्दीप्त और निद्रा, तन्द्रा, अङ्गों का भारीपन, एवम् चिन्ता से अनुभावित भाव को भाव-विशेषज्ञों ने 'औत्सुक्य' कहा है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रवासान्निवर्तमानो नायकः कामयते—

'निपतद्बाष्पसंरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥'

निपततो निर्गलतो बाष्पस्याश्रुणः संरोधेन संस्तम्भेन मुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यं याभ्यां तादृश्यौ तारके कनीनिके यस्य तथाभूतम्, मृगीदृशो नयननीलाब्जं नेत्रेन्दीवरम्, कदा कस्मिन् क्षणे, आलोकेय पश्येयमित्यर्थः ।

अत्र प्रियानयनदर्शनोत्कटेच्छारूपौत्सुक्यस्य प्राधान्येन प्रतीयमानतया ध्वनिव्यपदेश-हेतुत्वम् ।

उदाहरण देखिये। प्रवास से लौटनेवाला नायक अपने मन में कामना करता है कि—(प्रवास के लिये मेरी यात्रा के समय अपशकुन के भय से) जिसकी पुतली ने गिरते हुए आँसुओं के रोकने से चञ्चलता छोड़ दी थी—स्थिर हो रही थी, क्योंकि यदि वह थोड़ी भी हिलती तो सम्भव था कि आँसू गिर पड़ते, मृगाक्षी के उस नयनरूप नीलकमल को कब देखूँगा।

आवेगं निरूपयति—

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

अतर्कितात्यनिष्टघटनात्मकेनानर्थातिशयेनोत्पादिता सम्भ्रमाख्या त्वरणरूपा चित्तवृत्ति-रुद्वेगापरपर्याय आवेग इत्यर्थः । दर्पणे तु हर्षजोऽप्यावेग उक्तस्तथाहि—'आवेगः सम्भ्रम-स्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पातजे स्रस्तताऽङ्गे, धूमाद्याकुलताऽग्निजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलताऽनिलात् ॥' इति ।

अब 'आवेग' का निरूपण करते हैं—'अनर्था' इत्यादि । अत्यधिक अनर्थों के कारण उत्पन्न होने वाली चित्त की संभ्रम नामक वृत्ति को 'आवेग' कहते हैं, जिसका उद्वेग भी अपर पर्याय है। दर्पणकार ने तो आवेग को हर्ष-जन्य भी माना है, जैसे—उन्होंने कहा है—'आवेगः सम्भ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता। उत्पातजे स्रस्तताङ्गे······' इत्यादि—अर्थात् आवेग सम्भ्रम को कहते हैं, वह दो प्रकार का होता है, एक हर्षज, दूसरा उत्पातज। हर्षज आवेग में अङ्गों की सिकुड़न होती है और उत्पातज में अङ्गों की शिथिलता।···इत्यादि।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रामे युद्धार्थमागते रावणभार्योद्विग्ना स्वगतं वक्ति—

'लीलया विहितसिन्धुबन्धनः, सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः, कुत्र यामि ? निकटे कुलक्षयः ॥'

लीलया न त्वायासेन विहितं सिन्धोर्बन्धनं येन, तादृशः, स बालिवधादिपराक्रमप्रसिद्धः, अयं पुरो लक्ष्यमाणः, रघुवंशनन्दनः श्रीराघवः, एत्यागच्छति, न त्वागमिष्यति, दशाननो रावणो मत्पतिश्च दर्पदुर्विलसितः स्ववीर्यगर्वाचरितदुर्व्यवहार उत्कटाभिमानो वाऽस्तीति कुत्र यामि विपत्प्रतीकारार्थं क्व गच्छामि ? कुलस्य वंशस्य न त्वेकस्य क्षयो नाशो निकटे सन्निधावस्तीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये—लीला से समुद्र में सेतु तैयार कर देने वाले वे-बालि आदि का वध करने से प्रसिद्ध—रघुकुलभूषण रामचन्द्र जी आ रहे हैं, न कि आवेंगे और रावण-मेरा पति-है, दर्पान्ध-कर्तव्याकर्तव्य का विचार नहीं करने वाला-किसी भी परिस्थिति में नम्र नहीं पड़ने वाला-अब मैं कहाँ जाऊँ, कुल का विनाश निकट आ गया-रक्षा का कोई भी उपाय दिखाई नहीं पड़ता ?

प्रकरणविभावानुभावानाह—

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्तिः, रघुनन्दनागमनमत्र विभावः, कुत्र यामीत्येतद्व्यङ्ग्यः स्थैर्याभावोऽनुभावः ।

स्थैर्याभावश्चाञ्चल्यम् ।

यह मन्दोदरी की आत्मगत उक्ति है । रामचन्द्र का आगमन यहाँ विभाव है और 'कुत्र यामि—अर्थात् कहाँ जाऊँ' इस उक्ति से व्यक्त होने वाला स्थिरता का अभाव (चञ्चलता) अनुभाव है ।

चिन्ताध्वनित्वमत्राशङ्क्य निराकरोति—

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्थैर्याभावेनोद्वेगस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेगचर्वणायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्ताऽपि विषयीभवति ।

गुणत्वेनाङ्गत्वेन । विषयीभवति प्रतीतिगोचरीभवति । यतोऽत्र कुत्र यामीत्युक्त्या स्पष्टं बोध्यमानश्चाञ्चल्यरूपोऽनुभाव आवेगस्यैव न तु चिन्तायाः प्राधान्येन व्यञ्जकः, तस्मान्न चिन्ताध्वनिः, किन्तु प्रधानीभूता वेगप्रत्ययोपकारकत्वाच्चिन्ताऽपि तत्रैव भासत इति सारम् ।

'लीलया······' इत्यादि पद्य में चिन्ता ही प्रधान व्यङ्ग्य है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'कुत्र यामि-कहाँ जाऊँ' इस कथन के द्वारा प्रतीत होने वाली चञ्चलता से जिस तरह उद्वेग झलकता है, उस तरह चिन्ता नहीं । हाँ, इतनी बात अवश्य है कि 'आवेग-भाव' के आस्वाद में उसके पोषक होने के नाते गौणरूप से चिन्ता भी विषय होती है ।

जडतां निरूपयति—

चिन्तो-त्कण्ठा-भय-विरहे-ष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्यावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

'चिन्तोत्कर्ष-' इति पाठान्तरम् । इष्टानिष्टयोः प्रियाप्रिययोर्दर्शनं श्रवणं च । प्रतिसन्धानमनुस्मृतिर्निर्धारणं वा । चिन्तादिजन्याऽवश्यकर्तव्यार्थानुसन्धानशून्या चित्तवृत्तिर्जडतेत्यर्थः ।

अब 'जड़ता' का निरूपण करते हैं—'चिन्ता' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं, जिसका जन्म चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह और प्रिय-जन के अनिष्ट देखने-सुनने आदि से हुआ हो, एवम् जिस (चित्तवृत्ति) में अवश्य करने योग्य कार्यों का स्मरण अथवा निर्णय न होने पावे।

जडताया मोहात् प्राक् पश्चाचोत्पत्तिमाह—

इयं च मोहात् पूर्वतः परतश्च जायते।

इयं जडता मोहात् पूर्वा परा च चित्तस्य वृत्तिरित्यर्थः।

यह जड़ता मोह से पहले तथा पीछे भी हुआ करती है।

तत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'कार्याविवेको जडता पश्यतः शृण्वतोऽपि वा।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भाव-विस्मरणादयः।
सा पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम्॥'

वाः शब्दः समुच्चयार्थकः। विदां रसाद्यास्वादकुशलानाम्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'कार्याविवेको……' इत्यादि-अर्थात् देखते तथा सुनते हुये भी कर्तव्य का विवेक न होना जड़ता कहलाती है। प्रिय अथवा प्रिया के अनिष्टों का देखना-सुनना, तथा किसी प्रकार की दुस्सह पीडा ये उसके विभाव हैं, और चुप हो जाना भूल जाना आदि अनुभाव हैं। वह मोह से पहले पीछे भी उत्पन्न हुआ करती है। यह विज्ञों का मत है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

विरहिणी सहचरीं व्याहरति—

'यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां, सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत्।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयै-रथकरणैः प्रणयो निजक्रियासु॥'

हे सहचरि ! दैववशेन भाग्यविपर्ययेण, दयितः प्रियः, विलोचनाभ्यां दूरतोऽभूत् परोक्षमगात्, तदवधि मदीयैः करणैश्श्रवणादिभिः, निजक्रियासु स्वजन्यप्रमोत्पादकव्यापारेषु, प्रणय आसक्तिः, शिथिलीकृता न्यूनीकृतेत्यर्थः। इहाथशब्दोऽनुप्रासमात्रप्रयोजनकः। 'प्रणयो निज' इत्यत्र सन्धावश्लीलत्वम्।

उदाहरण लीजिये। कोई विरहिणी सखी से कहती है कि—हे सदा साथ रहने वाली सखि ! दुर्भाग्य-वश जब से प्रियतम आंखों से ओझल हुये, तब से मेरी इन्द्रियों ने अपने व्यापारों से प्रेम करना छोड़ दिया-अर्थात् तब से न मुझे आँखों से सूझता, न कानों से सुनाई पड़ता, न त्वचा से स्पर्श का बोध होता, न नाक से किसी चीज की गन्ध का पता चलता और न जिह्वा से किसी रस का स्वाद ही परख में आता है। तात्पर्य यह कि सभी इन्द्रियाँ बेकार हो गई हैं।

विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

प्रियविरहोऽत्र विभावः, करणैश्चक्षुश्श्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः।

तत्तत्प्रमितिषु चाक्षुषादि-प्रत्यक्षरूपासु।

यहां प्रिय का विरह विभाव है और आँख-कान आदि इन्द्रियों का अपने-अपने व्या-

पारों-अर्थात् ज्ञानों में प्रेम शिथिल कर देना-आँख आदि से रूप आदि का जैसा चाहिये वैसा ज्ञान न होना अनुभाव है।

मोहाज्जडताया वैलक्षण्यं दर्शयति—

मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन बाहुल्ये-नाजननमिति तस्मादस्य विशेषः।

प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन समुचिततत्तत्प्रकारकत्वेन। बाहुल्येन भूम्ना, तेन क्वचिदुचित-प्रकारकप्रतीतिजननमनुमन्यते। मोहे चक्षुरादीनां सर्वथा व्यापारविरामाच्चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणा-मनुत्पत्तिरेव, जडतायां तु चक्षुरादीनां व्यापारस्य शैथिल्यान्न तु विरामात्, चाक्षुषादिप्रत्यक्षाणां समुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिर्न त्वनुचितैः प्रकारैरनुत्पत्तिः, क्वचित्तूचितेनापि प्रकारेणोत्पत्तिरिति मोहजडतयोः कार्यभेदाद्भेद इत्याशयः।

मोह और जड़ता में यह भेद है कि-मोह में चक्षुरादि इन्द्रियाँ सर्वथा व्यापार हीन हो जाती हैं, जिससे चाक्षुष आदि ज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं होती, परन्तु जड़ता में ऐसी बात नहीं होती-अर्थात् उसमें चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होता, वरन शिथिल मात्र पड़ जाता है, जिससे चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु समु-चित प्रकार से नहीं होती। तात्पर्य यह कि मोह में आँखों से सूझता ही नहीं और जड़ता में सूझता तो है, पर विशेषरूप से परिचय नहीं हो पाता। इसी तरह अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। यहां मूल में 'बाहुल्येन' पद आया है, जिसका अभि-प्राय है कि जड़ता में कभी कभी इन्द्रियों से समुचित ज्ञान भी हो जाता है, पर मोह में कभी भी वैसा नहीं होता।

उक्तं समर्थयति—

अत एवोदाहरणे-'शिथिलीकृतः' इत्युक्तं, न तु 'त्यक्तः' इति।

अत एव जडतायां चक्षुरादिभिः स्वव्यापारात्यागादेव।

जिस लिये जड़ता में इन्द्रियों के व्यापार सर्वथा नष्ट नहीं होते, किन्तु शिथिल मात्र पड़ते हैं, अत एव 'यदवधि······' इत्यादि उदाहरण में 'शिथिलीकृतः' अर्थात् 'शिथिल कर दिया' ऐसा ही कहा गया है, 'त्यक्तः' अर्थात् 'छोड़ दिया' ऐसा नहीं कहा गया।

आलस्यं निरूपयति—

अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽ-लस्यम्।

अत्र क्रियानुन्मुखता यदि व्यापारविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावः, तदाऽभावरूपतयाऽऽ-लस्यं भावो न भवेत्, तस्माज्जाड्यविशेषात्मकं क्रियामान्थर्यमेवालस्यम्। तदुक्तम्— 'आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भाऽऽसितादिकृत्' इति। न चैवं जडतया सहाभेदापत्तिः, जडतया प्रकारव्यत्यासेन चाक्षुषादिज्ञानजनकत्वम्, अस्य तु समुचितेनैव प्रकारेणेति कार्य-भेदेनोभयोर्भेदस्य जागरूकत्वादिति विभावनीयम्।

अब आलस्य का निरूपण करते हैं—'अतितृप्ति' इत्यादि। अत्यन्त तृप्ति, गर्भ, रोग और परिश्रम आदि के कारण चित्त का कर्तव्य-क्रियाओं के प्रति उन्मुख न होना ही 'आलस्य' है।

पुनर्जडता-ग्लानिभ्यामालस्यं व्यतिरेचयति—

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम्। तेन कार्याकरणरूप-स्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि, ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः।

ग्लानौ जडतायामालस्ये च कार्याकरणरूपोऽनुभाव एक एवेति तेषामभेदो न शङ्कनीयः,

ग्लानावसामर्थ्यं नालस्य इति ग्लानिनो भेदस्य, जडतायां कार्याकार्यविवेकशून्यत्वं नालस्य इति जडतायाश्च भेदस्य स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् ।

ग्लानि, जड़ता और आलस्य इन तीनों ही भावों में 'कार्यों का न करना' रूप अनुभाव समान है अर्थात् उक्त तीनों भावों की स्थिति में मनुष्य व्यापारहीन हो जाता है, अतः इन तीनों भावों में अभेद की–अर्थात् ये तीनों भाव एक ही हैं, भिन्न नहीं, इस तरह की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ग्लानि में कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती और आलस्य में वह रहती है, अतः ग्लानि से एवं जड़ता में कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नष्ट हो जाता है और आलस्य में वह नष्ट नहीं होता, अतः जड़ता से भी 'आलस्य' भिन्न ही है ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

रजनीवृत्तं मुहुः पृच्छन्तीं सखीमलसा वदति—

'निखिलां रजनीं प्रियेण दूरा-दुपयातेन विबोधिता कथाभिः ।
अधिकं न हि पारयामि वक्तुं, सखि ! मा जल्प तवायसी रसज्ञा ॥'

हे सखि ! दूराद्विप्रकृष्टदेशाद् उपयातेनोपागतेन, प्रियेण, कथाभिर्विविधवार्तालापैः, (हेतुभिः) लीलाभिर्वा, निखिलां समस्तां रजनीमभिव्याप्य, विबोधिता जागरिताऽस्मीत्यहं सम्प्रत्यधिकं बहु वक्तुं न पारयामि न शक्नोमि, त्वं मा जल्प मुहुर्मा प्राक्षीः, तव रसज्ञा जिह्वा, आयसी लौहनिर्मिताऽस्ति, यदेवं जल्पनेऽपि न श्राम्यतीत्यर्थः ।

त्वद्वन्ममापि यद्यायसी रसज्ञा स्यात्, तदैव सकलप्रश्नानामुत्तरं वक्तुं शक्नुयादिति भावः ।

उदाहरण लीजिये—पतिदेव दूर से आये थे, (यहां 'दूर' पद यद्यपि देशकृत दूरी का ही वाचक है, परन्तु व्यञ्जनया वह कालकृत दूरी का भी बोधक होता है—अर्थात् 'दूर से आये थे' इस कथन से यह व्यङ्ग्य होता है कि 'विलम्ब से आये थे') वे, मुझे कथाओं से–विविध वार्तालापों से–रात भर जगाये रहे । अतः मैं अधिक बोल नहीं सकती, तू बात न कर, मालुम पड़ता है तेरी रसज्ञा (रसना–जिह्वा) लोहे की बनी है, यह बात सही है कि वह रस का ज्ञान करने के लिये ही बार–बार प्रयास कर रही है, फिर भी उस निगोड़ी को बार–बार व्यापार करने में कुछ भी तो थकना चाहिये, पर वह तो थकती ही नहीं ।

प्रसङ्गं प्रतिपादयति—

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छन्तीं सखीं प्रति रजनिजागरणजनितालस्यायाः कस्याश्चिदुक्तिः ।

यस्मिन् दिने प्रिय आगतस्तस्माद् द्वितीयस्मिन् दिने ।

यह, पति के आगमन के द्वितीय दिन में, पुनः पुनः रात का समाचार पूछती हुई सखी के प्रति, रात्रि–जागरण से अलसाई हुई किसी नायिका का कथन है ।

विभावानुभावौ प्रकाशयति—

अत्र रजनिजागरणं विभावः, अधिकसम्भाषणाभावोऽनुभावः ।

यहां रात्रि का जागरण विभाव और अधिक वार्तालाप का अभाव अनुभाव है ।

जडताया आलस्ये वैलक्षण्यान्तरं दर्शयति—

जडतायां मोहात् पूर्ववर्तित्वमुत्तरवर्तित्वं वा नियतम्, न त्वत्रेत्यपरो विशेषः ।

जडतानियमेन मोहात् पूर्वं परं वोत्पद्यते, न त्वालस्यमित्युभयोर्भेदोऽयमपि बोध्य इत्याशयः ।

'जड़ता–भाव' के विषय में यह नियम है कि वह मोह से पहले अथवा पीछे हुआ करती है पर आलस्य में ऐसा नियम नहीं है अर्थात् 'आलस्य भाव' के पूर्व अथवा पश्चात्

मोह का होना आवश्यक नहीं है' यह भी एक जड़ता से आलस्य में भेद है। इस भेद का भान पाठकों को ऊपर के उदाहरण में अवश्य होना चाहिये, अत एव उदाहरण दिखलाने के बाद इस विषय की चर्चा की गई है।

ननु सुरतलीलानामतिगोप्यत्वात् तत्रैव कथाशब्दस्य जहत्स्वार्थलक्षणायां व्यङ्ग्यः श्रमातिशय एव प्रधानमिह स्यादित्याशङ्कामंशतोऽभ्युपगमेन निरस्यति—

गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यम्, तदा श्रमोऽस्तु परिपोषकः, श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य पोषकताया अवार्यत्वात्।

इह कथाभिरित्यत्र लक्षणामूलव्यञ्जनया श्रमस्य बोध्यत्वमभ्युपगम्यते, किन्तु श्रमस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि, जनकत्वेनालस्यपोषकतयाऽङ्गत्वमेव, न प्राधान्यमतो न श्रमध्वनिरित्यभिसन्धिः।

यहाँ एक और भी बहुत ही मार्मिक अत एव समझ लेने योग्य विचार यह है कि—क्या 'निखिलां रजनीम्…' इत्यादि पूर्वोक्त पद्य में 'कथाभिः' यह पद वाच्य वार्तालापरूप अर्थ का बोध करा कर कृतार्थ हो जाता है? कभी नहीं, यद्यपि आगे की जागरणोक्ति उस अर्थ से भी उपपन्न सी लगती है तथापि जागरण की वार्तालापहेतुक उपपत्ति भावुकों के हृदय में रमती नहीं, रमना तो दूर रहे, उस उपपत्ति के मूल में तथ्य का बल है ही नहीं, अत एव वह उपपत्ति बाधित है—चिरकाल पर मिले हुये दम्पत्ति बातों में ही रात बिता देंगे, क्या यह सम्भव है? नहीं, निधुवन-विनोद के बिना उनमें प्रमोद असम्भव है। बोलने वाली नायिका का भी 'कथाभिः' पद से सुरत-सम्भोग का बोध करना ही उद्देश्य है, हाँ, वाच्य-वृत्त्या उस गोपनीय अर्थ का बोध कराकर वह निर्लज्ज नहीं बनना चाहती, अत एव 'लीलाभिः' न कह कर उसने 'कथाभिः' कहा, जिसका वाच्य (वार्तालाप) अर्थ अविवक्षित है—अर्थात् वह पद सुरतरूप अर्थ में लाक्षणिक है, इस तरह वाच्यार्थ-ज्ञान की शक्ति से कुछ अधिक शक्ति अर्जित करने वाले सहृदय भले ही उस पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग) को समझ लें, पर वक्त्री नायिका, सकल साधारण जनों से दी जाने वाली 'निर्लज्जा' उपाधि से तो बच ही गई। एक बात और, वह यह कि उक्त प्रकार से 'कथाभिः' पद को सम्भोगरूप अर्थ में लाक्षणिक मान लेने पर इस पद्य का इङ्गित निम्नलिखित अर्थ की ओर भी मुझे प्रतीत होता है। सरस समवयस्का सखी, चिरमिलित प्रियतम के साथ, रात बिता कर प्रातःकाल मिली हुई सखी से, रात्रिकृत-सम्भोग-सुख की बात, खोद खोद कर, पूछ रही है। परन्तु सलज्जा नायिका साफ साफ वह बात कहना न हीं चाहती और इधर उधर की बातें बता कर उस बात का आभास करा देने पर भी सखी मानती नहीं, आखिर आजिज आकर नायिका उससे कहती है कि—कह तो दिया, दूर से आये हुये प्रिय के साथ कथा करने में रात भर जगी रही, अधिक बोल बुलवा कर तङ्ग मत करो, मैं समझती तो हूँ कि—तू मुझसे साफ शब्दों में कुछ कहलाना चाहती है, पर मैं इससे अधिक कुछ न कहूँगी, कह भी नहीं सकती, बोलने में 'आलस्य' हो रहा है और साफ साफ कहने में रस भी नहीं आता, तू जो अपनी बात साफ साफ लोगों से कहती फिरती है, वह तो इसलिये कि तेरी जिह्वा नाममात्र की रसज्ञा है, वस्तुतः वह लौह निर्मित पट्टिका है, अतः संक्षिप्त कथन में रस का अनुभव नहीं कर पाती। इस तरह जीभ को लौहमय कह कर उस जीभ वाली पर भी यह आक्षेप किया गया कि तू लोहे की बनी है, तेरा हृदय लोहे का बना है, नहीं तो, इस तरह क्यों पूछती? मेरे 'कथा' पद का लक्ष्यार्थ को क्यों नहीं समझती?

यद्यपि इस तरह की व्याख्या किसी ने अभी तक कहीं लिखी नहीं, पर मेरे मन में लगा कि यह व्याख्या भी हो सकती है, बस, लेखनी ने उसको कागज पर उतार दिया, अब इसका निर्णय सदसद् विवेक पाठक ही करेंगे। अस्तु, प्रकृत में ग्रन्थकार का कथन है कि यदि उक्त रीति से 'कथाभिः' पद को अविवक्षितवाच्य (लाक्षणिक) मानना युक्ति सङ्गत है, तब तो उस लाक्षणिक पद के लक्ष्यार्थ (सम्भोग)

से 'श्रम-भाव' मजे में व्यङ्ग्य होगा, फिर भी उसी की ध्वनि यहाँ क्यों नहीं मानते? इसका उत्तर यह है कि—जब आलस्य की उत्पत्ति में श्रम को एक पृथक् कारण कहा गया है, तब तो श्रमज-आलस्य-स्थल में उसकी प्रतीति होगी ही, पर, पितृस्थानीय होने के नाते पुत्रस्थानीय आलस्य के पोषकरूप में ही। अतः श्रम से परिपोषित आलस्यभाव को प्रधानतया ध्वनित होने में कोई बाधा नहीं, क्योंकि पोषक श्रम गौण पड़ जाता है।

ननु श्रमालस्ययोः सर्वत्र सङ्कीर्णविषयत्वे विभावभेदोक्तिरफला स्यादित्याशङ्कामपनयति—

अतितृप्त्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम्।

आदिना गर्भादिग्रहणम्। श्रमजन्य एवालस्ये श्रमसङ्कीर्णविषयता, गर्भादिजन्ये तु विविक्तविषयताया एव सत्वान्न विभावभेदोक्तेर्नैष्फल्यमिति भावः।

यदि श्रमभाव से अमिश्रित आलस्यभाव का उदाहरण कहाँ होगा, यह समझना चाहें, तो—अतितृप्ति आदि कारणों से उत्पन्न 'आलस्य' में समझिये।

असूयां निरूपयति—

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया।

असूयायाः परोत्कर्षदर्शनादयो विभावाः, परनिन्दादयश्चानुभावाः। तदुक्तम्—

'असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषोद्घोष-भ्रूविभेदावज्ञा-क्रोधेङ्गितादिकृत्॥' इति।
क्रोधेङ्गितानि निजाधरदंशनादीनि।

अब 'असूया-भाव' का निरूपण करते हैं—'परोत्कर्ष' इत्यादि। उस चित्त-वृत्ति का नाम 'असूया' है, जिसके, विभाव (कारण) दूसरे का उत्कर्ष देखना आदि हैं और अनुभाव (कार्य) दूसरे की निन्दा आदि हैं।

असूयायाः सञ्ज्ञान्तरमाह—

इमामेवासहनादिशब्दैर्व्यवहरन्ति।

इमामसूयाम्। असहनमसहिष्णुता।

इसी असूया को 'असहन' अथवा 'असहिष्णुता' आदि शब्दों से भी कहते हैं।

उदाहरति—

यथा—

रामोत्कर्षमसहमाना राजानो वदन्ति—

'कुत्र शैवं धनुरिदं, क चायं प्राकृतः शिशुः।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा, कालेनैव विनिर्मितः॥'

इदं शैवं शिवसम्बन्धि धनुः कुत्र?, अयं प्राकृतो मानवः शिशुर्बालो रामश्च क्वास्ति, तदुभयोर्घटनाया असम्भवात्, धनुषोभङ्गस्तु, सर्वेषां स्थावरजङ्गमानां संहर्त्रा विनाशकेन कालेनैव नतु रामेण विनिर्मितः कृतोऽभूदित्यर्थः। विनिर्माति रचनायामेव प्रयोगः कवि-सम्प्रदायसिद्धोऽपीहान्यथाकृत इत्यालोचनीयम्।

जैसे—कहां यह शिव का धनुष और कहां यह साधारण मानव-बालक, इसका भङ्ग तो संसार के समस्त पदार्थों का संहार करनेवाला काल ने ही कर दिया। तात्पर्य यह है कि चिरकालतक पड़े रहने के कारण, यह धनुष अपने आप ही शीर्ण हो गया था अन्यथा इसका भङ्ग करना इस साधारण क्षत्रियकुमार-रामचन्द्र-के वश का नहीं है।

प्रकरण-विभावानुभावान् दर्शयति—

एषा भग्नहरकार्मुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः।

अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः, प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दाऽनुभावः।

तत्रत्यानां सीतापरिणयनार्थमुपस्थितानाम्।

यह, शिव-धनुष को तोड़ने वाले रामचन्द्र के पराक्रम को न सहते हुए-उस सभा में उपस्थित राजाओं का कथन है। यहां श्रीमान् दशरथतनय रामचन्द्रजी के बलमें सर्वोत्कृष्टता का ज्ञान विभाव है और 'प्राकृतशिशु-साधारण बालक' इस पद से व्यक्त होने वाली राम की निन्दा अनुभाव है।

शुद्धामसूयामुदाहृत्यामर्षसङ्कीर्णामुदाहरति—

'तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे,
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवती जनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना,
धातः! किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥'

उद्यन्तमेव चन्द्रमम्बुदैराच्छन्नमुदीक्ष्य सकलघटनासम्पादकं विधातारं कश्चिदाक्रोशति हेधातर्विधे! अधुना रजनीमुखे चन्द्रोदयावसरे, तृष्णया चन्द्रिकापिपासया लोले विलोचने यस्य तादृशे, चकोरव्रजे जीवञ्जीवसमूहे, प्राचीं दिशं कलयति पश्यति सति, किञ्च कैरवकुले कुमुदसमुदये, मौनं दैनिकमुद्रणं मुञ्चति त्यजति सति, तथा कामे मन्मथे सहायसम्पत्त्या विजयाय धनुर्धुन्वति बाणमारोपयितुमधिज्यं कुर्वति कम्पयति वा सति, अपि च मानवतीजनस्य भामिनीनिकरस्य माने प्रणयकोपे, स्वावस्थानासम्भावनामालोच्य सपदि शीघ्रं, प्रस्थातुकामे प्रयियासति सति, विधौ चन्द्रे, धाराधराडम्बरो मेघाच्छादनं, किं नु त्वया विधातुमुचितो युक्तः? कथमपि नोचित इत्यर्थः।

अब असूयाभाव का एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करते हैं, जिसमें अमर्षभाव का मिश्रण हुआ है—उदीयमान चन्द्र को अकस्मात् घन-घटा से आच्छन्न होते हुए देखकर कोई सहृदय पुरुष विधाता को कोसता है कि—हे विधे! अभी-जब कि चन्द्र-ज्योत्स्ना-पान-लोलुप चकोर-चय, पूरब दिशा की ओर आशा-भरी अत एव चञ्चल नजरों से देख रहा है, कुमुद-कुल-दिवस-कृत मुद्रण को छोड़ रहा है—विकसित हो रहा है, कामदेव अपने धनुष को धुन रहा है—कपा-कपा कर टङ्कार शब्द कर रहा है, और मानिनियों का मान शीघ्र भागने ही वाला है—अकस्मात् इस तरह 'चन्द्रमा पर मेघ का आवरण डाल देना क्या तेरा समुचित है? कभी नहीं, यह आपने बहुत बुरा काम किया।

उपपादयति—

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलतादि[दर्शन]जन्या, अनुचितकारित्वरूपनिन्दाप्रकाशानुभाविता, कविगता, विधात्रालम्बनाऽसूया व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शबलितैवासौ न विविक्ततया प्रतीयते।

तदीया विधातृसम्बन्धिनी, उच्छृङ्खलता स्वच्छन्दाचारिता। प्रकाशः प्रत्ययः। विधात्रालम्बना विधातृविषयिका। कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादसूयाऽमर्षयोरनुभावविभावयोस्तुल्यकालोपस्थितत्वात्।

'तृष्णे'त्याद्युदाहरणे यद्यप्यसूया प्रतीयते, किन्तु साऽमर्षेण सङ्कीर्णतया न शुद्धा, तस्मान्नेदं शुद्धासूयोदाहरणमिति तात्पर्यम्।

यहां भी विधाता के विषय में कवि की असूया अभिव्यक्त होती है जिसका विभाव यहां पद्य में वर्णित विधाता की उच्छृङ्खलता है और अनुभाव है, प्रतीति-पथ में आनेवाली

अनुचितकारितारूप विधाता की निन्दा, यह बात यद्यपि कही जा सकती है, तथापि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यहां शुद्ध असूया की पृथक् प्रतीति नहीं होती, वरन, असूया के जो अनुभाव-विभाव (कार्य कारण) हैं, उन्हीं से अभिव्यक्त होने वाले अमर्ष-भाव से मिश्रित असूया की ही प्रतीति होती है। सारांश यह हुआ कि यहां उक्त (असूया और अमर्ष) भाव-द्वय-ध्वनियों का संकर है, यही कहना समुचित है।

ननु 'कुत्र शैवम्' इत्यादावप्यमर्षेण सङ्कीर्णैवासूया प्रतीयत इत्युदाहरणद्वयस्य तुल्यतैवेत्यत आह—

नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणामप्यमर्षोऽभिव्यज्येत।

यथाऽत्र विधातुरपराधात् तस्मिन् कवेरमर्षः, न तथा तत्र रामस्यापराधोऽस्ति, येन वीराणां राज्ञाममर्षः प्रतीयेत, तस्मात्तत्रामर्षाप्रतीतेः शुद्धोदाहरणमेव तदित्याशयः।

'तृष्णालोल......' इत्यादि पद्य में जैसे विधाता के अपराधी होने के कारण उनमें कवि का अमर्ष व्यक्त होता है, वैसे 'कुत्र शैवम्......' इत्यादि प्रथम असूया-भाव के उदाहरण में वीरों का राम के प्रति अमर्ष व्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि राम अपराधी नहीं हैं, अतः यह शङ्का की जा सकती है कि, वह उदाहरण भी अमर्ष-मिश्रित असूया का है। तात्पर्य यह कि उस उदाहरण को शुद्ध असूया-भाव का समझना चाहिये।

ननु तत्रापि रामस्य शैवधनुर्भञ्जनमेवापराध इत्यतोऽभिधत्ते—

स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम्।

यतोऽत्युत्कृष्टकार्यकरणं वीराणां स्वभाव एव तेन शैवधनुर्भञ्जनं रामस्य स्वभाव एव नत्वपराध इत्यर्थः।

यदि कहें कि शिवजी के धनुष को तोड़ डालना क्या राम का अपराध नहीं है? तो, इसका उत्तर यह होगा कि नहीं, क्योंकि अत्यन्त उन्नत (जिसको दूसरे न कर सके, ऐसे) कार्यों का करना वीर-पुरुषों का स्वभाव है-वे किसी को दुःखी बनाने की भावना से वैसा नहीं करते, अतः शिव-धनुर्भङ्ग करना रामचन्द्रजी के स्वभाव में आ जाता है, इसको उनके अपराधों में नहीं गिन सकते।

नन्वत्र वस्तुनो ध्वननान्नासूयाध्वनिरित्याशङ्कां समादधाति—

अत्राप्रस्तुतचन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुतराजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननान्नास्त्यसूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेर्ध्वन्यन्तराविरोधित्वात्।

चन्द्रोदयातिरिक्तदिनादिकाले तादृशचन्द्रवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वम्, कस्मिंश्चिद्राजकुमारेऽत्युत्कर्षमवलम्बमान एवाकस्मिकविपदापातनरूपवृत्तान्तस्य च विवक्षितत्वात् प्रस्तुतत्वम्। इहाप्रस्तुताभिधानेन प्रस्तुतव्यञ्जनाद् वाच्योऽप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारस्तत्पोषितस्तु वस्तुध्वनिः। आस्तामिह वस्तुध्वनिरपि, न तेनासूयाध्वनेर्हानिः, यतो नैकस्य ध्वनेरपरेण ध्वनिना सह विरोधः, अपि तु मिथः सापेक्षत्वादिषु साङ्कर्यम्, नैरपेक्ष्ये तु संसृष्टिरित्याशयः।

इदन्तु चिन्तनीयम्—

अप्रस्तुतप्रशंसायां व्यज्यमानस्य वस्तुनो वाच्योपस्कारकत्वेन गुणीभावेऽपि कथं वस्तुध्वनिरिति।

यदि आप कहे कि यहां वस्तुतः चन्द्रमा का वृत्तान्त प्रसङ्गप्राप्त नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा कि उसके द्वारा प्रसङ्ग-प्राप्त राजकुमारादिकों का वृत्तान्त ध्वनित होता है, तात्पर्य यह है कि 'तृष्णालो......' इत्यादि श्लोक चन्द्रोदय से भिन्न काल में उस राजकुमार को लक्ष्य करके कहा गया है, जो सब तरह से उन्नति कर ही रहा था, तब तक

अकस्मात् उसके ऊपर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। इस स्थिति में उक्त राजकुमार के वृत्तान्त को ध्वनित करने के लिये ही चन्द्र-वृत्तान्त का वर्णन किया गया है, यह बात अवश्य माननी पड़ेगी और इस तरह से 'अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान' रूप अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार ही वाच्य होकर भी प्रधान है, अर्थात् असूया-ध्वनि यहाँ है ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि यदि यहाँ उक्तरीति से प्रस्तुत राजकुमारादिका-वृत्तान्त ध्वनित होता है, तो, हो, उससे असूया-भाव की ध्वनि होने में बाधा नहीं होगी, क्योंकि एक ध्वनि का दूसरी ध्वनि का विरोधी होना कोई निश्चित नियम नहीं है।

विरोधाङ्गीकारे दोषं दर्शयति—

अन्यथा महावाक्यध्वनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं कुत्रापि न स्यात्।

महावाक्यध्वनिः समस्तप्रबन्धप्रधानव्यङ्ग्यः। अवान्तरध्वनयस्तदन्तर्गतवाक्यप्रधान-व्यङ्ग्याः। तेषामवान्तरवाक्यध्वनीनाम्। ध्वनिद्वयस्य विरोधाभ्युपगमे सामानाधिकरण्या-सम्भवात् सङ्करसंसृष्टिव्यवहारविलोपः प्रसज्येतेति भावः।

यदि एक ध्वनि दूसरी ध्वनि का विरोध करे—अर्थात् एक ध्वनि दूसरी ध्वनि के साथ एक स्थान पर नहीं रह सकती यह सिद्धान्त यदि माना जाय, तब, कहीं भी, महावाक्य की ध्वनियों का अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों के साथ रहना और अवान्तर वाक्यों की ध्वनियों का पदों की ध्वनियों के साथ रहना सङ्गत ही न हो। सारांश यह कि ध्वनियों का सङ्कर आलङ्कारिकों की अभिमत वस्तु है। अतः उक्त पद्य में भी दो ध्वनियों का समावेश अनुचित नहीं है।

अपस्मारं निरूपयति—

वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः।

मनस्तापरूपाणां व्याधीनामन्तर्गतस्यापस्मारस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपतया भावत्वम्। तदुक्तम्—'मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः। भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि-कारकः॥' इति। मनसो नाडीविशेषनिवेशेन घूर्णनं मनःक्षेपः। ग्रहाः पूतनादयः।

अब 'अपस्मार-भाव' का निरूपण करते हैं 'वियोग' इत्यादि। वियोग, शोक, भय तथा घृणा आदि की अधिकता एवं भूत-प्रेत के लग जाने आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक व्याधि-विशेष-को 'अपस्मार' कहते हैं।

व्याधिसामान्योपादानेनैव गतार्थत्वेऽपस्मारस्य पृथगुपादाने प्रयोजनं प्रतिपादयति—

व्याधित्वेनास्य कथनेऽपि, विशेषाकारेण पुनः कथनं बीभत्स-भयानकयो-रस्यैव व्याधेरङ्गत्वं, नान्यस्येति स्फोरणाय।

विशेषाकारेणापस्मारत्वेन विशेषधर्मेण। स्फोरणाय प्रकाशनाय। बीभत्सभयानकर-सयोरङ्गत्वमपस्मारस्यैव न तु व्याध्यन्तरस्येति वैलक्षण्यं बोधयितुं पृथगुपादानमित्याशयः।

यद्यपि पूर्व में जो सामान्यतः 'व्याधि-भाव' का निरूपण किया जा चुका है, उसी से इस अपस्मार नामक व्याधिका भी कथन हो जाता है, तथापि विशेष रूप से इस (अपस्मार) का कथन इस लिये हुआ है कि 'बीभत्स' और 'भयानक' रस में यही (अपस्मार) व्याधि अङ्ग हो सकती है, अन्य नहीं, यह बात स्पष्ट हो जाय।

विप्रलम्भे विशेषमाह—

विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च।

अङ्गत्वमिति शेषः। विप्रलम्भेऽन्येषां व्याधीनामपस्मारस्य चाङ्गत्वमित्यर्थः।

विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस में तो क्या अपस्मार, क्या अन्य, सभी व्याधियाँ अङ्ग हो सकती हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

श्रीकृष्णागमनश्रवणाक्षिप्तचित्तस्य कंसस्य वृत्तं वर्णयति—

'हरिमागतमाकर्ण्य, मथुरामन्तकान्तकम्।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले॥'

कंसो भोजपतिः, अन्तकस्य सर्वसंहारकस्याप्यन्तकं संहारकं, हरिं श्रीकृष्णं, मथुरां स्ववधार्थमागतम्, आकर्ण्य, भयेन, कम्पमानः श्वसंश्च महीतले निपपातेत्यर्थः।

उदाहरण देखिये। कवि, कृष्ण के आगमन को सुनकर विक्षिप्त हुये कंस के वृत्तान्त का वर्णन करता है कि—अन्तक (यमराज) का भी अन्त करने वाले भगवान् कृष्णचन्द्र को मथुरा में अपने वध के लिये आगत सुनकर, कंस काँपता हुआ तथा श्वास खींचता हुआ पृथ्वी पर गिर पड़ा।

विभावमनुभावांश्चाह—

अत्र भयं विभावः, कम्प-श्वास-पतनादयोऽनुभावाः।

यहाँ भय विभाव है और काँपना, श्वास खींचना तथा गिरना आदि अनुभाव हैं।

चपलतां निरूपयति—

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता।

अत्रामर्षादिजन्यवागित्यादि पाठस्तु विशेषणद्वयस्य 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्' इति मीमांसकसिद्धान्तेनान्वयासम्भवात् समासस्य दुर्घटतयोपेक्षितः। अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिजनिका च चित्तवृत्तिश्चपलतेत्यर्थः।

अब 'चपलता' का निरूपण करते हैं—'अमर्षा' **इत्यादि। अमर्ष आदि विभावों से उत्पन्न होने वाली और कटुभाषण आदि अनुभावों को उत्पन्न करने वाली चित्त-वृत्ति 'चपलता' कहलाती है।**

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—

यदाहुः—

'अमर्ष-प्रातिकुल्येर्ष्या-राग-द्वेषाश्च मत्सरः।
इति यत्र विभावाः स्यु रनुभावस्तु भर्त्सनम्॥
वाक्पारुष्यं प्रहारश्च, ताडनं वध-बन्धने।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमुच्यते॥' इति।

प्रातिकूल्यं विरुद्धाचरणम्। चकारो भिन्नक्रमः। प्रहारोऽस्त्रादिभिः। ताडनं हस्तपादादिभिः। अनालोच्य युक्तायुक्तविचारमकृत्वा कार्यकारित्वम्।

जैसा कि प्राचीनों ने भी कहा है 'अमर्ष-प्रतिकूल्येर्ष्या……' **इत्यादि। अर्थात जिस चित्त-वृत्ति में अमर्ष, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, प्रेम, द्वेष और असहिष्णुता ये विभाव हों और धमकाना, वचन की कठोरता, चोट पहुँचाना, पीटना, वध करना और बन्धन में डाल देना ये अनुभाव हों, उस को 'चपलता' कहते हैं, जिसको आप 'बिना सोचे समझे कार्य कर बैठना' समझिये।**

उदाहरति—

उदाहरणम्—

हिरण्यकशिपुः प्रह्लादं वदति—

'अहितव्रत ! पापात्मन् ! मैवं मे दर्शयाननम् ।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावितः ॥'

अहितं मदपकारकं भगवद्दास्यमेव व्रतं नियतविधेयं यस्य, तत्सम्बुद्धौ हे अहितव्रत ! पित्रपकाराचरणादेव हे पापात्मन् ! प्रह्लाद ! त्वं मे मह्यम्, एवं धृष्टवत् सस्मितम्, आननं मुखं, मा दर्शय, दूरं गच्छ, येन मदीयेनात्मना शरीरेण, त्वं भावित उत्पादितोऽसि, तं दुष्टोत्पादकमात्मानं स्वं, हन्तुमिच्छामीत्यर्थः ।

उदाहरण देखिये-रे अहितव्रत ! (भगवान् की दासतारूप मेरे अनिष्टकर नियम का पालन करने वाला) पापात्मन् ! (पितृविरोध रूप पाप का आचरण करने वाला) प्रह्लाद ! तू धृष्ट के जैसे अपना हँसता चेहरा मत दिखा । तुझे तो मैं लाख उपाय करके भी न सुधार सका और न मार ही सका। अब मैं आत्म-हत्या ही करना चाहता हूं, क्योंकि तुझ को पैदा करने का अपराध तो मैंने ही किया है ।

प्रसङ्गविभावानुभावानाह—

एषा भगवदनुरक्तिविघटनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति, हिरण्यकशिपोरुक्तिः। भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा परुषवचनं चानुभावः।

पुत्रे स्वतो द्वेषासम्भवाद्द्वेषाधीनद्वेषोपादानम् ।

यह प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु की उस समय में उक्ति है, जब उसकी भगवद्भक्ति को विघटित करने का कोई उपाय उसे नहीं सूझ रहा था । भगवान् में द्वेष रहने के कारण भगवत्पक्षपाती पुत्र में भी होने वाला द्वेष यहाँ-विभाव है और आत्म-हत्या करने की इच्छा और कठोर वचन अनुभाव हैं ।

अमर्षध्वनित्वमाशङ्क्य खण्डयति—

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भृतत्वेनात्मवधेच्छाया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणाया एव चपलताख्यचित्तवृत्तेः सिद्धेः ।

अत्र हिरण्यकशिपुवृत्तेरमर्षस्यैव प्रधानव्यङ्ग्यत्वं न सम्भवति, यतः प्रह्लादस्य भगवदनुरागो नाद्यतन एव, किन्तु चिरकालिक इति तज्जन्योऽमर्षोऽपि चिरसञ्चित एव भवेत्, ततस्तज्जन्याया हिरण्यकशिपोरात्मवधेच्छाया इयं प्रथमा यस्यां सेदम्प्रथमा, तस्या भावस्तत्ता प्रथमोत्पत्तिरेषा न युज्यते । किञ्च यद्यात्मवधेच्छारूपस्य पूर्वतो विलक्षणस्य कार्यस्य कारणं पूर्वतो विलक्षणा चित्तवृत्तिः काचिन्मन्यते, तदा सैवापूर्वा चित्तवृत्तिश्चपलता सिद्ध्यति, तस्मान्नात्रामर्षध्वनिः, अपि तु चपलताध्वनिरेवेत्यभिप्रायः ।

यहां हिरण्यकशिपुवृती अमर्ष-भाव ही प्रधान रूप से व्यक्त होता है यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सदा से ही भगवान् के साथ प्रेम करने वाले प्रह्लाद के प्रति हिरण्यकशिपु का अमर्ष भी नवीन नहीं अपि तु पुराना था, फिर यदि इस अमर्ष को ही उसकी आत्म-वधेच्छा का कारण माना जाय, तब तो इस आत्म-वधेच्छा का प्रथम-प्रथम होना नहीं सिद्ध होता कारण यह कि अमर्षरूप कारण के पहले भी रहने से उक्त वधेच्छारूप कार्य का भी पहले होना सम्भावित है, और यह आत्मवधेच्छारूप कार्य हो रहा है आज पहले पहल, अतः उसका कारण भी कोई नवीन-आज ही होने वाला अवश्य होना चाहिये। अतः उक्त वधेच्छा के कारणरूप में प्राचीन अमर्षात्मकचित्तवृत्ति से विलक्षण चपलता नामक चित्तवृत्ति की सिद्धि हो जाती है ।

पुनरपरथाऽऽशङ्क्य निराकरोति—

नचामर्षप्रकर्ष एवात्मवधेच्छादिकारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्वाभाविकविलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात् ।

स्वाभाविकाद् विलक्षणं लक्षणं यस्याः सा स्वाभाविकविलक्षणलक्षणा, तस्या भावस्तत्ता । प्रकृष्टस्यामर्षस्यैवात्मवधेच्छारूपकार्यस्य कारणत्वेन व्यञ्जनमिहास्तामित्यपि वक्तुं न शक्यम्, यतः साधारणामर्षापेक्षया प्रकृष्टस्यामर्षस्य विलक्षणताऽवश्यं स्वीकार्या, अन्यथाऽऽत्मवधेच्छारूपविलक्षणकार्यस्यासम्भवः, तथा च स कारणनिष्ठो विलक्षणारूपः प्रकर्ष एव चपलताऽस्तीति सर्वथा चपलतायाः सिद्धिरिति भावः ।

यदि आप कहें कि 'हिरण्यकशिपुके मन में आत्म-वध की इच्छा जब आज पहले पहल उत्पन्न हो रही है, तब उसका कारण भी कोई नवीन ही आज आ जुटा है, यह अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि यदि प्राचीन अमर्ष से आत्मवध की इच्छा हो सकती, तो पहले भी होती' ये सब तर्क ठीक हैं, तथापि इस नवीन आत्मवधेच्छा रूप कार्य को जन्म देने के लिये एक अभिनव चपलताख्यचित्तवृत्ति की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि उसी पुरानी अमर्षात्मक-वृत्ति में केवल एक नवीन प्रकर्ष की कल्पना कर लेनेसे काम बन जाता है अर्थात् हम यह कहेगें कि अमर्ष जब तक साधारण था, तब तक आत्म-वध की इच्छा नहीं हुई, पर जब वही अमर्ष चिरकालानुवृत्त होने से आज प्रकृष्ट (उत्कट) हो गया, तब उक्त इच्छा हुई । परन्तु इस जोड़ तोड़ से भी आप का मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि चपलता नहीं माननी पड़े, यही तो आप का मनोरथ है, जिसकी पूर्ति उस तरह से बात बनाने पर भी सम्भव नहीं, कारण यह कि स्वाभाविक अमर्ष से तद्गत प्रकर्ष का कुछ विलक्षण ही लक्षण करना पड़ेगा, अन्यथा फिर विलक्षण कार्य असम्भव ही रह जायगा और जब अमर्ष में विलक्षण प्रकर्ष मान लेगें तब तो चपलता सिद्ध हो ही जायगी अर्थात् हम उसी विलक्षण प्रकर्ष को चपलता मान लेगें ।

निर्वेदं निरूपयति—

नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरहपरसम्पद्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या, रोदनदीर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः ।

आक्रोशनाधिक्षेपयोः सामान्यविशेषभावाद् ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन पृथगुपादानम् । उत्तमेषु पुरुषेष्विति शेषः ।

अधमपुरुषेष्वाक्रोशनादिजन्या, उत्तमपुरुषेष्ववज्ञादिजन्या, रोदनादिजनिका च विषयद्वेषरूपा चित्तवृत्तिरेव निर्वेद इत्यर्थः । अस्य स्थायिनिर्वेदाद्भेदमनुपदं वक्ष्यति ।

अब 'निर्वेद' का निरूपण करते हैं—'नीच-पुरुषेषु' इत्यादि । आलम्बन-भेद से निर्वेद दो प्रकार का होता है, एक नीच पुरुष में होने वाला और दूसरा उत्तम-पुरुष में होने वाला । जिनमें नीच पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्तवृत्ति को कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति, गाली गलौज, तिरस्कार, रोग, मार खाना, दरिद्र होना, अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति और दूसरे की सम्पत्ति का दर्शन आदि से होती है और उत्तम-पुरुष-गत-'निर्वेद' उस चित्त-वृत्ति का नाम है, जिसकी उत्पत्ति अवज्ञा आदि से होती है, अनुभाव दोनों 'निर्वेदों' के एक से-रोदन, जोर-जोर से श्वास ग्रहण, मुख पर दैन्य-ये सब होते हैं । इस निर्वेदात्मक चित्त-वृत्ति का दूसरा नाम विषयों से द्वेष भी है । स्पष्ट मतलब यह समझिये कि नीच पुरुष को गाली आदि देने से जैसे कष्ट होता है और तत्प्रयुक्त जो विकार उसमें उत्पन्न होते हैं, ठीक वैसे ही कष्ट और तज्जन्य विकार उत्तम पुरुष में साधारण अवज्ञा आदि से होते हैं ।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वैदेहीविरही श्रीरामो लक्ष्मणं भणति—

'यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा, न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।
अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥'

हे लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा सीता, यदि मदीक्षासरणिं मद्दृष्टिपथं, न समेष्यति नागमिष्यति, तदा, अमुना विफलेन विपरीतफलजनकेन, जडजीवितेन हतजीवनेन जगता विश्वेन वा, मे मम किं फलं स्यान्न किमपि फलमित्यर्थः ।

तद्दर्शन एव मे जीवनं जगच्च सफलमिति भावः । इह प्रियाविरहो विभावः, जीवनजगन्निष्फलत्वाभिधानञ्चानुभावः । 'किं फलमित्यनेन पौनरुक्त्यवारणाय विफलेनेत्यस्य विपरीतफलजनकेनेति व्याख्यानेऽपि फलपदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वं दुष्परिहरमेव । उत्तरवाक्ये तच्छब्दानुपादानमविमृष्टविधेयतामावहति ।

अब उदाहरण देखिये । वैदेही-विरह-कातर रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कह रहे हैं कि- हे लक्ष्मण ! यदि वह मृगाक्षी (सीता) मेरे नयन-पथ में न आवेगी-अर्थात् यदि मुझे उसके दर्शन नहीं होगें तब इस जड़-अर्थात् गति-हीन-जीवन से अथवा विपरीत फलजनक जगत् से क्या फल है । मेरे लिये न यह जीवन काम का है, न यह जगत्-अर्थात् सीता के दर्शन प्राप्त होते रहने पर ही मेरा जीवन सार्थक हो सकता है और मेरे लिये यह संसार भी तभी सार्थक है । यहां प्रिया-विरह को विभाव और जीवन तथा जगत् के निष्फलत्वकथन को अनुभाव समझना चाहिये ।

निर्वेदसद्भावेन शान्तरसध्वनिरेव न कुत इत्यत आह—

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावान्नासौ रसपदव्यपदेशहेतुः ।

यतोऽसौ निर्वेदः शान्तरसस्थायिनो निर्वेदाद्भिन्नकारणजन्यत्वाद् भिन्नः, तस्मान्नात्र शान्तरसध्वनिव्यवहारः । कारणभेदस्तु तस्य निर्वेदस्य नित्यानित्ययोर्वस्तुनोर्विवेकेन जन्यत्वात्, अस्य चाक्रोशनादिना जन्यत्वात् स्फुट एव वेद्यः ।

'निर्वेद' शान्त-रस का स्थायिभाव है, अतः 'यदि लक्ष्मण······' इत्यादि पद्य में शान्त रस की ध्वनि है, 'निर्वेद-भाव' की नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि नित्य और अनित्य वस्तुओं के विवेक से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही 'निर्वेद' शान्त-रस का स्थायीभाव होता है, और जो 'निर्वेद' भाव रूप होता है, उसकी उत्पत्ति तो नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से नहीं होती, वरन आक्रोशन आदि कारणों से होती है, जो पहले कहा जा चुका है, अतः यहां का 'निर्वेद' शान्त-रस-पद से व्यवहार करने योग्य नहीं है ।

इत्थमपरानुद्देशक्रमेण भावान् निरुप्य देवादिविषयकरतिभावमुदाहरति—

देवादिविषया रतिर्यथा—

भक्तो भगवन्तं भाषते—

'भवद्द्वारिक्रुध्यज्जय-विजय-दण्डाहतिदलत् ,
किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः ।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया,
वराकाः के तत्र क्षपितमुर ! नाकाधिपतयः ॥'

हे क्षपितमुर ! मुरारे ! यत्र भवद्द्वारि, क्रुध्यतोरनवसरेऽननुमतप्रवेशात् कुप्यतोः, जयविजययोस्तदाख्यद्वारपालयोः, (वारणाय मुहुर्विधीयमानाभिः) दण्डाहतिभिर्वेत्राघातैः,

दलन्ति विशीर्णीभवन्ति किरीटानि शिरोमण्डनानि येषां तादृशाः, विधिमहेन्द्रप्रभृतयो ब्रह्मेन्द्रादयः, कीटा इव निवार्यमाणा अपि निरुद्वेगाः, युष्माकं नयनयोः परिपातस्य सम्यङ्-निक्षेपस्य उत्कलियोत्कण्ठया, वितिष्ठन्ते, तत्र, वराका दयनीयाः, नाकाधिपतयः स्वर्गैकदेश-स्वामिनः कुबेरप्रभृतयः, के ? न केऽपीत्यर्थः ।

उक्त रीति से अन्य तैतिस भावों का निरूपण कर चुकने के बाद, अब देवादि विषयक रतिभाव का (इसका लक्षण करना यहां आवश्यक नहीं था, अतः) उदाहरण दिखलाते हैं—'देवादि विषयक रतिर्यथा' अर्थात् देवादिविषयक रतिभाव का उदाहरण, जैसे—कोई भक्त भगवान् से कहता है कि–हे मुर–रिपो ! क्रोधयुक्त जय–विजय नामधारी द्वारपालों के दण्ड–प्रहारों से जिनके किरीट टूटे जा रहे हैं, वे ब्रह्मा और महेन्द्र आदि देवता, आपके दृष्टि–पातकी–एक बार अच्छी तरह देखलेने भर की–उत्कण्ठा से आप के द्वार पर खड़े रहते हैं, फिर बेचारे स्वर्ग के स्वामी यम, कुबेर आदि वहां कौन होते हैं ! अर्थात् जहां ब्रह्मा और इन्द्र आदि की वह दशा है, वहां यम–कुबेर आदि को कौन पूछता है ।

इह वस्तुध्वनिशङ्कामभ्युपेत्य भावध्वनिं स्थापयति—

अत्रापमानसहन–भगवद्द्वारनिषेवण–भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मा-दिगता भगवदालम्बना रतिर्नाभिव्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया कविगतभगवदालम्बन-रत्या ध्वनित्वमक्षतमेव ।

अत्र पद्येऽपमानसहनादिभिर्व्यञ्जकैर्ब्रह्मादिनिष्ठा भगवद्विषया रतिरभिव्यज्यत इति भावध्वनिरिति वक्तुं न शक्यते, यतो विपुलधनादिलाभाशयाऽपि तथा सम्भवः, किन्तु भगवद्द्वारि स्वयम्प्रभूणामपि ब्रह्मादीनां तथा स्थित्या भगवदैश्वर्यस्यावर्णनीयत्वमचिन्त्यत्वं च वस्तुप्राधान्येन व्यज्यत इति वस्तुध्वनिरेवेति पूर्वपक्षाभिप्रायः, व्यज्यतां प्राग् वस्तु प्राधान्येन, तथापि पर्यन्ते भगवतस्तथाविधैश्वर्यस्य वर्णनेनानुभावेन कविनिष्ठाया भगवद्विष-याया रतेर्व्यञ्जने बाधाभावाद् रतिभावध्वनिरस्त्येवेत्युत्तरपक्षाभिप्रायः ।

उक्त पद्य में जो ब्रह्मादिकों कि—अपमान सहना, भगवान् के द्वार का सेवन करना, और उनके कटाक्षपात की इच्छा रखना इत्यादि बातें वर्णित हुई हैं, उनसे भगवान् के विषय में उनका (ब्रह्मादिकों का) प्रेम नहीं अभिव्यक्त होता, क्योंकि प्रेम के अभाव में भी अत्यधिक धनादि लाभ की आशा से ब्रह्मादिकों का वैसा आचरण हो सकता है, अतः यह कहना चाहिये कि यहां सर्व–साधन–सम्पन्न ब्रह्मा आदि के उस तरह द्वार पर खड़े रहने से–'भगवान् का ऐश्वर्य अवर्णनीय तथा अचिन्तनीय है' यह वस्तु व्यक्त होती है इस पूर्वपक्ष के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है कि–आरम्भ में उक्त वस्तु ही प्रधानतया ध्वनित होती है, तो, होवे, मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु अन्त में कवि का भगवद्विषयक प्रेम तो अवश्य ध्वनित होता है, क्योंकि उस प्रकार के भगवदैश्वर्य का वर्णन करना उक्त प्रेम का ही फल (अनुभाव) है, सारांश यह कि उक्त पद्य को देव–विषयक–रति–भाव–ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है ।

अत्र रतिप्रतीतेः पश्चाद्भवत्वेनाप्राधान्याद्भावध्वनित्वव्यपदेशो दुर्घट इत्यरुचेरुदाहर-णान्तमाचष्टे—

इदं वोदाहरणम्—

भक्तो भगवन्तं वदति—

'न धनं न च राज्यसम्पदं, नहि विद्यामिदमेकमर्थये ।
मयि धेहि मनागपि प्रभो ! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ।।'

हे प्रभो ! अहं धनं नार्थये न याचे, राज्यसम्पदं च नार्थये, विद्यामपि नार्थये, किन्तु 'करुणाभङ्गितरङ्गितां दयोद्रेकोच्छलितां, दृशं, त्वं मयि, धेहि निक्षिप' इतीदं केवलमेकमेव, अर्थये इत्यर्थः । अत्र धनाद्युपेक्ष्य भगवद्दयार्द्रदृक्पातमात्रार्थनया रतिः प्राधान्येन व्यज्यते इति रतिभावध्वनेरुदाहरणमिदमवसेयम् ।

पूर्वपक्षी यदि कहे कि यहां उक्त वस्तु की प्रतीति पहले होती है और कविगत रति की पश्चात्, अतः प्रधान, वस्तु कहलायगी और रति तदपेक्षया गौण, फिर गौण रति को लेकर भाव-ध्वनि का व्यवहार करना उचित नहीं, तो छोड़िये उस पद्य को, यह दूसरा उदाहरण लीजिये। भक्त भगवान् से कहता है कि—हे प्रभो ! मैं धन नहीं चाहता, राज्य की सम्पदा नहीं चाहता और न विद्या ही चाहता हूँ। मैं तो एक ही चीज चाहता हूँ, और वह यह कि तू मेरे ऊपर करुणा की शैली से शोभित अपनी दृष्टि थोड़ी भी डाल दे।

तदाह—

अत्र धनाद्यपेक्षाशून्यस्य भगवद्दयादृगन्तपाताभिलाषो हि भगवत्यन्तानुरक्तिं व्यनक्ति ।

अतो रतिभावध्वनिरिति शेषः ।

यहां धन आदि की अपेक्षा से रहित भक्त की भगवान् के करुणामयकटाक्ष-पात की अभिलाषा उनके विषय में उसके अनुराग को व्यक्त करती है। अतः इस पद्य को रतिभाव-ध्वनि का उदाहरण मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

उपसंहरति—

एवं सङ्क्षेपेण निरूपिता भावाः ।

एवमुक्तप्रकारेण, संक्षेपेण भेदप्रभेदानिरूपणात् समासेन, भावाश्चतुस्त्रिंशत् निरूपिता इत्यर्थः ।

अब संक्षेपतः भावों का निरूपण समाप्त हुआ।

ननूक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादिभावानां लक्ष्येषु निरीक्षणाद् भावानां चतुस्त्रिंशत्त्वसंख्यानमसङ्गतमित्याशङ्क्य समादधाति—

अथ कथमस्य सङ्ख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्या-विवेक-निर्णय-क्लैब्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशयधाष्टर्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, न, उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेण सङ्ख्यान्तरानुपपत्तेः ।

अस्येति सामान्याभिप्रायेणैकवचनम् ।

उक्तातिरिक्तानामपि मात्सर्यादीनां लक्ष्येषूपलम्भात् सङ्ख्यानियमोऽसङ्गत इति शङ्कायाः-मात्सर्यादीनामुक्तेष्वेव भावेषु यथायथमन्तर्भावात् सङ्ख्यानियमो नासङ्गत इति समाधानम् ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भावों की संख्या ३४ ही हैं, यह नियम कैसे किया जा सकता? जब कि काव्य आदि में अनेक स्थलों पर मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ (कपट), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य (कायरपन), क्षमा, कौतूहल, उत्कण्ठा, विनय, संशय और धृष्टता आदि भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं। इसका उत्तर यह है कि ऊपर गिनाये गये मात्सर्य आदि भावों का भी पूर्वोक्त ३४ भावों में ही समावेश हो जाता है, अतः पृथक् उनकी गणना करना अयुक्त है।

कुत्र कस्यान्तर्भावः सम्भवतीति प्रतिपादयति—

असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद्भावाद्दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्विवेक-निर्णययोः, दैन्यात् क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात्

कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद्धार्ष्ट्यस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि, नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात्।

यद्यप्यसूयादितो मात्सर्यादीनामीषद्भेदोऽस्त्येव, किन्त्वसूयादीनां मात्सर्यादीनां च मिथो नियतसम्बन्धरूपाविनाभावादभेदारोपः, तथा च मात्सर्यादीनामसूयादिरूपतयाऽवधारणान्न भावानां सङ्ख्याधिक्यस्य सम्भव इत्यभिप्रायः।

अब किसका अन्तर्भाव कहां होगा इस बात का प्रतिपादन करते हैं—'असूयातो' इत्यादि। अर्थात् मात्सर्य असूया में, उद्वेग त्रास में, दम्भ अवहित्था में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक और निर्णय मति में, क्लैब्य दैन्य में, क्षमा धृति में, कौतूहल और उत्कण्ठा औत्सुक्य में, विनय लज्जा में, संशय तर्क में और धृष्टता चपलता में समाविष्ट हो जाते हैं। यद्यपि यहां जिस भाव का समावेश जिस भाव में किया गया है, दोनों में अर्थात् मात्सर्य आदि और असूया आदि में परस्पर सूक्ष्म भेद है, तथापि वे भाव एक दूसरे के विना नहीं रहते, अतः उन्हें उनसे पृथक् नहीं माना गया। तात्पर्य यह है कि जहां असूया रहती है, वहां मात्सर्य अवश्य रहता है, फिर उन दोनों को दो भाव मानना व्यर्थ है, इसी तरह अन्य अन्तर्भूत होनेवाले और अन्तर्भूत करने वाले भावों के विषय में भी समझना चाहिये।

ननु सूक्ष्मभेदे सत्यपि कथमभेदारोप इत्याशङ्कायामाह—

मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्यात्।

यदि सूक्ष्मभेदमपि भावानां गणयित्वा, सङ्ख्याधिक्यमूरीक्रियेत, तर्हि 'एकपञ्चाशद् भावाः' इति भरतमुनिकृता व्यवस्था भज्येत, तद्व्यवस्थोल्लङ्घनस्यानुचितत्वात् सूक्ष्मभेदो न गणनीय इत्याशयः।

सूक्ष्म भेद रहने पर भी उक्त भावों को एक मान लेने का कारण यह है कि उस तरह से उन-उन भावों को एक मान लेने से जब कोई क्षति नहीं होती और साथ-साथ भरत मुनि के वचन की रक्षा भी हो जाती है, तब उच्छृङ्खलता करना अनुचित है अर्थात् भरत ने भावों की संख्या ३४ ही मानी है, अतः हम को भी उनकी संख्या उतनी ही माननी चाहिये।

व्यभिचरिभावत्वेन प्रसिद्धानामप्येषां कुत्रचिद्भावान्तरे विभावता, क्वचिच्चानुभावता च भवतीत्युक्तोपपादयति—

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन कोषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति। तथाहि—ईर्ष्याया निर्वेदम्प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम्। चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वयमूह्यम्।

इर्ष्याया निर्वेदजनकत्वात्तद्विभावत्वमसूयाजन्यत्वाच्च तदनुभावत्वम्, चिन्ताया निद्राजनकत्वात्तद्विभावता, औत्सुक्यजन्यत्वाच्च तदनुभावता, यथा भवति, तथैवान्यत्र विभावानुभावभावो भावानां स्वयमूहनीय इत्यर्थः।

पूर्वोक्त सञ्चारीभावों में से कुछ भाव कहीं-कहीं दूसरे भावों के विभाव और अनुभाव भी हो जाते हैं। जैसे—ईर्ष्याभाव निर्वेदभाव का विभाव और असूयाभाव का अनुभाव होता है, इसी तरह चिन्ताभाव निद्राभाव के प्रति विभाव और औत्सुक्यभाव के प्रति अनुभाव होता है। इसी प्रकार अन्यभावों के विषय में स्वयं ऊह कर लेना चाहिये। यहां चिन्ता को निन्द्रा का विभाव मानना अनुभव-विरुद्ध प्रतीत होता है।

अथ क्रमप्राप्तं रसाभासं निरूपयति—

अथ रसाभासः तत्र—

तत्र रसाभासे निरूपणीये लक्षणमाह—

अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।

अनुचितं विभावमालम्बत इत्यनुचितविभावालम्बनस्तस्य भावस्तत्त्वमनुचितविभावकत्वं रसाभासत्वमित्यर्थः।

अब 'रसाभास' का निरूपण करते हैं—'अथ रसाभासः' इति–अर्थात् अब रसाभास का निरूपण आरब्ध होता है। जहां रस का आलम्बन-विभाव अनुचित हो, वहां उसे रसाभास कहते हैं।

अनौचित्यनिर्वचन एकदेशिमतमुपन्यस्यति—

विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्, यत्र तेषाम् 'अनुचितम्' इतिधीरिति केचित्।

यद्विभावविशेष्यकमनुचितत्वप्रकारकं ज्ञानं सभ्यानां जायेत, तद्विभावनिष्ठं सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेवानौचित्यमस्तीति केचिद्वदन्तीति सारम्।

आलम्बन-विभाव का अनौचित्य लौकिक-व्यवहार से समझना चाहिये—अर्थात् जिसके विषय में लोगों की 'यह अनुचित है' इस तरह की बुद्धि हो, उसी विभाव को अनुचित जानना चाहिये। यह कुछ विद्वानों का मत है।

तन्मतमपास्य मतान्तरमुपन्यस्यति—

तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसङ्ग्रहात्। तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च सङ्ग्रह इति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव।

इतिर्मतसमाप्तिसूचकः। इदमुच्यते—

अनुचितविभावकत्वमेव यदि रसाभासस्य लक्षणं स्यात्, तर्हि मुनिगुरुपत्नीप्रभृतिविषयकरतेरनुचितविभावकत्वेन तत्राव्याप्तेर्वारणेऽपि, बहुनायकविषयाया अन्यतरमात्रनिष्ठायाश्च रतौ विभावस्य सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावादनौचित्यविरहात् तत्राव्याप्तिः स्यादेव। न च तत्र तत्त्वे प्रमाणाभावः, 'उपनायकसंस्थायाम्' इत्यादिवक्ष्यमाणशब्दस्य सभ्यानुभवस्य च जागरूकत्वात्। तस्मादनुचितविभावकत्वमिवानुचितरत्यादिकत्वमपि रसाभासत्वम्। तथा च बहुनायकविषयकानुभयनिष्ठरत्योरप्यनौचित्यान्नाव्याप्तिरिति न कोऽपि दोषः। अनौचित्यं तु पूर्वमतवत् सभ्यसमवेतानौचित्यप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव। रत्यादीत्यादिपदोपादानात् सर्वस्थायिसङ्ग्रहात् करुणाभासादौ न दोषः।

परन्तु रसाभास के उक्त लक्षण को दूसरे लोग नहीं मानते। वे कहते हैं—उस लक्षण से यद्यपि मुनि-पत्नी, गुरु-पत्नी आदि के विषय में होनेवाली रति का संग्रह हो जाता है, क्योंकि मुनिपत्नी आदि इतर मनुष्य की रति के लिये अनुचित (अयोग्य) हैं, यह बात लोगों की बुद्धि कबूल करती है, तथापि किसी नायिका की अनेक नायकों के विषय में जो रति होती है, और नायक-नायिका दोनों में से केवल एक में जो रति होती है, उनका संग्रह नहीं होगा, क्योंकि वहां विभाव अनुचित नहीं है अतः रसाभास के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण विभाव में न लगा कर रति आदि स्थायिभावों में लगाना चाहिये—अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिये कि—'जिसके रति आदि स्थायिभाव अनुचित रूप से प्रवृत्त हुये हों, वे रसाभास कहलाते हैं'। इस तरह से लक्षण करने पर उन सब रतियों का संग्रह हो जाता है, जो मुनिपत्नी आदि के विषय में होती है, अथवा अनेक नायक के विषय में होती है, किंवा एकनिष्ठ है, क्योंकि इन तीनों लक्षणों में रति की प्रवृत्ति अनुचित रूप से होती है। अनौचित्य की परिभाषा इस मत में भी वही है—अर्थात् जिस रति को लोग अनुचित समझते हैं, वही अनुचित-प्रवृत्त रति है। इसी तरह अन्य स्थायीभावों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

रसाभासस्य रसत्वेन, भावाभासस्य च भावत्वेन विरुद्धत्वमविरुद्धत्वं च मतभेदेनाचष्टे—

तत्र 'रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्, निर्मलस्यैव रसादित्वात्, हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके। 'नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवत्' इत्यपरे।

प्रथमेनादिपदेन भावस्य, चरमेण च मनुष्याभासादीनां ग्रहणम्। निर्मलस्य दोषरहितस्य। आत्महानिः स्वरूपहानिरन्यत्त्वमिति यावत्। एकेऽपरे कथयन्तीति शेषः।

दुष्टो हेतुर्हेत्वाभासस्तत्त्वस्य हेतुत्वस्य च यथैकाधिकरणावृत्तित्वं विरोधस्तथैव दुष्टो रसो भावोऽपि, रसाभासो भावाभासश्च, तत्त्वस्य रसत्वस्य भावत्वस्य च नैकत्र स्थितिः, दोषरहितस्यैव रसत्वस्य भावत्वस्य स्वीकारादिति प्रथमं मतम्। यथाऽश्वस्य पङ्गुत्वादिदोषान्नाश्वत्वस्य हानिः, किन्त्वश्वाभासव्यवहारमात्रम्, तथैव रस-भावयोरपि दुष्टत्वे न रसत्व-भावत्वयोरभावः, किन्तु रसाभास-भावाभासव्यवहारमात्रमिति द्वितीयं मतम्। तत्र प्रथममते, धूमानुमितिनिरूपितहेत्वाभासत्वस्य, दाहानुमितिनिरूपितहेतुत्वस्य चैकत्रैव वह्नौ दर्शनाद्दृष्टान्तासिद्धिररुचिबीजम्।

अब रसाभास और भावाभास, रस और भाव ही हैं अथवा उनसे भिन्न इस प्रश्न का उत्तर मतभेद से देते हैं–'तत्र' इत्यादि। कुछ विद्वानों का कथन है कि रसाभासत्व और रसत्व इसी तरह भावाभासत्व और भावत्व समानाधिकरण (एक जगह रहने वाले) धर्म नहीं हैं–अर्थात् रसाभास, रस और भावाभास, भाव नहीं कहला सकते–क्योंकि रस अथवा भाव उसी को कहना चाहिये, जो निर्मल हो, जिसमें किसी तरह का अनौचित्य नहीं हो, और जब उसमें अनौचित्य आजाय, तब उसे रस या भाव नहीं कहना चाहिये, भले ही रसाभास (रस–सा भासित होने वाला) और भावाभास (भाव–सा आभासित होने वाला) कहलें। इसमें दृष्टान्त की आवश्यकता हो तो, नैयायिकों के हेत्वाभास को ले सकते हैं, अर्थात् वे हेत्वाभासत्व और हेतुत्व को समानाधिकरण नहीं मानते–हेत्वाभास को हेतु नहीं कहते। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि–'रस में (रति में) दोष आ जाने से आत्म–हानि (स्वरूपनाश) नहीं होती अर्थात् जैसे निर्दुष्ट स्थायीभाव रस होते हैं, उसी तरह सदोष भी रस ही हैं, केवल दोष की सूचना देने के लिये उन्हें आभास कहते हैं, जैसे दोषयुक्त अश्व को लोग अश्वाभास कहते हैं, पर रहता है वह अश्व ही।'

रतेरनुचितविभावकत्वात् प्रथमः, बहुविषयकत्वाद् द्वितीयः, अनुभयनिष्ठत्वाच्च तृतीयः प्रकारो रसाभासस्य। तत्र प्रथमं प्रकारमुदाहरति—

उदाहरणम्—

राजरमणीकामुकवृत्तं वर्णयति—

> **शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं,**
> **सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।**
> **विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां,**
> **सनिश्वासं श्लिष्यत्यहह सुकृती राजरमणीम्॥'**

उपायानां शतेन बहुभिरुपायैः, कथमपि केनापि प्रकारेण, सौधशिखरं शुक्तिचूर्णधवलितप्रासादशृङ्गं, गतः प्राप्तः, सुधाफेनस्वच्छेऽमृतफेनश्वेते, पुष्पशयने कुसुमतल्पे, रहस्येकान्ते शयितां सुप्तां, राजरमणीं नृपवल्लभां, विबोध्य स्पर्शादिना जागरयित्वा, क्षामाङ्गीं कृशाङ्गीं, च चकितनयनां कोऽयं जागरयीत्याशङ्कया चकिताक्षीं, स्मेरवदनामयं मे प्रिय इति

परिचये प्रमोदे न विहसन्मुखीं, (ताम्) सुकृती धन्यः, (सः) अहह आश्चर्यं निश्श्वासेन-सहितं सनिश्श्वासं यथास्यात् तथा श्लिष्यत्यालिङ्गतीत्यर्थः ।

उदाहरण लीजिये । कवि कहता है कि–वह पुण्यशाली पुरुष धन्य है, जो सैकड़ों उपायों के द्वारा, किसी प्रकार महलों की चोटी पर पहुंचकर, एकान्त में अमृत-फेन के समान धवल पुष्पशय्या पर सोई हुई कृशाङ्गी राजाङ्गना को जगाता है और जगने पर जब उसकी आँखें एक बार चमक उठती हैं, तथा मुख-कमल खिल उठता है, तब निःश्वास के साथ उसका आलिङ्गन करता है । यहाँ एक बात यह समझ लेने योग्य है कि 'रसाभास' के उक्त लक्षण से तीन भेद रसाभास के सिद्ध होते हैं–विभाव के अनौचित्य से रति में अनौचित्य आ जाने से एक, अनेक नायकों के विषय में होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से द्वितीय और एकनिष्ठ होने के कारण रति के अनुचित हो जाने से तृतीय भेद होता है । जिनमें यह प्रथम भेद का उदाहरण है ।

विभावाद्याह—

अत्रालम्बनमनुचितप्रणया राजमणी । रहो रजन्याद्युद्दीपनम् । साहसेन राजान्तःपुरे गमनम् , प्राणेषूपेक्षा, निश्श्वासाश्लेषादयश्चानुभावाः । शङ्कादयश्च सञ्चारिणः ।

अनुचितः परपुरुषविषयकत्वादयुक्तः प्रणयो यस्याः सा ।

यहाँ जिसके साथ प्रेम करना अनुचित है, वह राजाङ्गना आलम्बन-विभाव है । एकान्त और रात्रि का समय आदि उद्दीपन-विभाव हैं । साहस करके राजा के अन्तःपुर में जाना, प्राणों की परवाह न करना, साँस का जोर-जोर से चलना और आलिङ्गन करना आदि अनुभाव हैं, तथा शङ्का आदि सञ्चारीभाव हैं ।

रसाभासत्वमुपपादयति—

निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेराभासत्वं रसस्य ।

अस्या अत्र प्रतीयमानाया रतेः, निषिद्धं परपुरुषत्वाद्गर्हितमालम्बनं यस्यास्तत्वाद् रसाभासत्वमित्यर्थः । अनुचितविभावकत्वप्रयुक्तो रसाभासस्य प्रथमः प्रकारोऽयमित्याशयः ।

यहाँ रति का आलम्बन–राजाङ्गना–लोक तथा शास्त्र से निषिद्ध है, अतः रस आभास-रूप हो गया है ।

अत्र तृतीयप्रकारोदाहरणत्वमाशङ्कते—

न चात्र 'चकितनयनाम्' इत्यनेन परपुरुषस्पर्शत्रासाभिव्यक्त्या रतेरनुभय-निष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः ।

अत्र 'चकितनयनाम्' इति नायिकाविशेषणेन परपुरुषस्पर्शजन्यस्य तस्यास्त्रासस्यैव व्यज्यमानतया रते राजरमण्यवृत्तित्वप्रतीतेरनुभयनिष्ठतया रसाभासत्वं, न तु रतेरनुचित-विभावकत्वेनेति पूर्वपक्षाभिप्रायः ।

यहां राजाङ्गना का जो 'चकितनयना' विशेषण है, उससे यह प्रतीत होता है कि राजाङ्गना को पर-पुरुष-स्पर्श से त्रास हुआ है, और तब यह सिद्ध हो जाता है कि नायिका को उस नायक से प्रेम नहीं है, अतः रति के एकनिष्ठ (एकाङ्गी) होने से जो रसाभास का तृतीय भेद कहा गया है, उसका यह उदाहरण है, विभाव के अनौचित्य प्रयुक्त रति के अनुचित हो जाने से होनेवाले प्रथम भेद का नहीं, यह किसी की शङ्का है ।

उत्तरयति—

अस्याश्च चिराय तस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तमसम्भा-वनया, क एष मां बोधयतीत्युचित एव त्रासः । अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या,

सोऽयं मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणीकृत्यागत इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्यञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं रतिं तदीयामपि व्यनक्ति, परन्तु प्राधान्यं नायकनिष्ठाया एव रतेः सकलवाक्यार्थत्वात् ।

तदीयां नायिकानिष्ठामपि । सकलवाक्यार्थत्वात् सम्पूर्णवाक्यव्यङ्ग्यत्वात् । आदौ परिचयाभावे नायिकायाः सहसा निद्रातो जागरणात् समुचिता चकितेत्यादिविशेषणेन त्रासप्रतीतिरेव, पश्चात् परिचये सति प्रणयमूलकतदीयसाहसानुष्ठानज्ञानजन्यहर्षव्यञ्जकेन 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणेन नायिकानिष्ठाऽपि रतिरभिव्यज्यत एवेति रतेर्नानुभयनिष्ठताऽत्राभासत्वप्रयोजिका, किन्त्वनुचितविभावतैवेतिसारम् । यदीह नायिकायाः सर्वथा त्रास एव स्यात्, तर्हि हर्षव्यञ्जकं वदनस्मेरत्वं कथं स्यात्, अतः स्मेरत्वव्यङ्ग्यहर्षेण व्यज्यमानाया नायिकानिष्ठरतेर्न प्राधान्यम्, एकदेशव्यङ्ग्यत्वात्, अपि सकलवाक्येन व्यज्यमानाया नायकनिष्ठरतेरेव प्राधान्यमिति च विभावनीयम् ।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि नायिका चिरकाल से उस नायक में यद्यपि आसक्त थी, तथापि इस सुरक्षित अन्तःपुर में पर-पुरुष का आगमन अत्यन्त ही असम्भव है, फिर यह कौन मुझे जगा रहा है इस तरह की भावना से नायिका में त्रास का उदय हुआ है, न कि पर-पुरुष-स्पर्श के ख्याल से । अत एव, बाद में परिचय प्राप्त होने पर 'यह तो मेरा वही प्रेमी है, प्राण के मोह को भी छोड़ कर यहां तक मेरे लिये आ पहुंचा है' इस प्रकार के ज्ञान से नायिका को अत्यन्त हर्ष हुआ, इस बात को व्यक्त करने वाला 'स्मेरवदनां' यह विशेषण 'चकितनयनां' के अव्यवहित आगे नायिका में लगाया गया है, फिर तो उसी विशेषण से 'नायिका का भी प्रेम नायक में है' यह बात भी स्पष्ट व्यक्त हो जाती है, हां इतनी बात अवश्य है कि प्रधानता यहां नायकनिष्ठ रति को ही है, क्योंकि सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्यार्थ वही है । तात्पर्य यह कि जब इस तरह से नायिका का भी प्रेम नायक में सिद्ध हो जाता है, तब यह एकनिष्ठ रति का उदाहरण नहीं हो सकता, फलतः यह प्रथम भेद का ही उदाहरण है यह निर्विवाद-सिद्ध है ।

द्वितीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

पुंश्चली चरितं वर्णयति—

'भवनं करुणावती विशन्ती, गमनाज्ञालवलाभलालसेषु ।
तरुणेषु विलोचनाब्जमाला-मथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥'

कुतश्चिदागच्छन्ती बाला, पथि मार्गे, (स्वकीययौवनसौन्दर्याकृष्टहृदयैस्तरुणैरनुगम्यमाना) भवनं निजगृहं, विशन्ती प्रविशन्ती, गमनस्य प्रतिनिवर्तनस्य, आज्ञात्मवस्यदेशलेशस्यापि लाभायाधिगमाय, लालसेषु लोलुपेषु, सकलेषु सर्वेष्वनुयायिषु तरुणेषु करुणावती दूरानुसरणोदितदयाविलोचनाब्जमालां कृतज्ञतासूचककोमलकटाक्षपरम्पराम्, अथ पातयाम्बभूव निचिक्षेपेत्यर्थः ।

इह तादृग्दृष्टिनिक्षेपणव्यज्यमानाया रतेस्तरुणेष्विति बहुवचनेन बहुविषयत्वावगमाद् रसाभासद्वितीयप्रकारोदाहरणमिदम् ।

अब रसाभास के द्वितीय भेद का उदाहरण देखिये । कवि कहता है कि—गृह में प्रवेश करती हुई बाला ने जब देखा कि मुझ से जाने की किञ्चिन्मात्र-आज्ञा-प्राप्तिरूप लाभ के लोभी युवक-मण्डल रास्ते पर खड़ा है, तब करुणावती उस बाला ने उन युवकों पर एक साथ नयन-कमलों की माला गिरा दी—स्नेहभरी चितवन से उनकी ओर देखकर जाने की अनुमति दे दी ।

तदाह—

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्यमानायाः कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये, निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय, गमनाज्ञापनरूपलाभलालसेषु तेषु, परमपरिश्रमस्मरणसञ्जातकरुणाया गमनाज्ञादाननिवेदकस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रतिर्बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः।

स्फुटम्।

कोई नवयौवना नायिका कहीं से आ रही थी, रास्ते में मनचले तरुणों का एक पूरा दल उसके पीछे हो लिया, होता भी क्यों नहीं, जब कि उस सुन्दरी ने अपने रूप और यौवन से उस (दल) का हृदय-हरण कर लिया था। पर उन युवकों को नयनसुख के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगा, एक वाणी सुनने के लिये भी वे बेचारे तरसते ही रहे, आखिर उस सुन्दरी का घर भी आ गया, वह अपने घर में घुसने लगी, अब वे युवक क्या करते, रास्ते पर खड़े हो गये, उनके मन में यह लालसा उठ रही थी कि 'यदि अब भी यह सुन्दरी और न कुछ तो न सही—कम से कम अपने श्रीमुख से जाने की आज्ञा भी दे दे, तो हम अपनी सेवा को सार्थक समझ लें'। भगवान् ने समझा, उस सुन्दरी के हृदय में उनके अथक परिश्रमों को याद कर दया उमड़ आई, अतः उसने 'मैं आप सबों को जाने की आज्ञा देती हूँ' इस अर्थ के सूचक-वचन-प्रयोग तो नहीं—मधुर-दृष्टि निक्षेप उनके ऊपर जरूर किया, (फिर क्या था, वे युवक अपने को कृतार्थ समझते हुये इधर-उधर बिखर गये)। यहां दृष्टि-निक्षेपरूप अनुभाव के वर्णन से नायिका की रति अभिव्यक्त होती है और वह भी 'तरुणेषु' इस बहुवचन-प्रयोग के द्वारा अनेक नायकों में प्रतीत होती है, अतः यह पद्य भी रसाभास (अनेक नायक विषयक रतिरूप द्वितीय भेद) का उदाहरण होता है।

तृतीयप्रकारमुदाहरति—

यथा वा—

नवोढावृत्तं वर्णयति—

'भुजपञ्जरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥'

नवपरिणीता नवोढा (अनुत्पन्नप्रणया) वधूः, वरेण परिणेत्रा (न तु प्रियेण) भुजरूपे पञ्जरे गृहीता बलाद्धृता (गाढमालिङ्गिता) तत्कालं सद्यः, जाले पतिता, बाला, कुरङ्गी हरिणीव, मुक्त्युपायानुपलम्भात्, रतेरनुद्भवेन त्रासाच्च, नितरामत्यन्तं वेपते कम्पत इत्यर्थः।

अच्छा अब तृतीय भेद का भी उदाहरण देख लीजिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती है—नवविवाहित दुलहीन को पति ने बाहुरूप पिंजड़े में पकड़ लिया, अतः वह बेचारी तत्काल जाल में फँसी हुई बच्ची हरिणी की तरह कांप रही है।

उपपादयति—

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्।

नायकमात्रे तिष्ठन्ती रतिरिह नायिकायामीषदपि न तिष्ठतीत्यनुभयनिष्ठा रसाभासरूपैव।

उक्त पद्य से यह प्रतीत होता है कि अभी केवल नायक में ही प्रेम का प्रादुर्भाव हुआ है, नायिका में प्रेम का स्पर्श भी नहीं हुआ है, इस स्थिति में यह प्रेम (रति) अनुभयनिष्ठ (एक तरफा) है, अतः यह पद्य रसाभास (अनुभयनिष्ठ रतिरूप तृतीय भेद) का उदाहरण होता है।

उक्तप्रकारत्रये प्रामाणिकतां दर्शयति—

तथा चोक्तम्—

> 'उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
> बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्।।' इति।

रसाभास के उक्त तीनों भेदों में प्राचीनोंने भी साक्षिता की है। उन्होंने कहा है कि यदि नायिका की रति उपनायक (जार) में हो, अथवा नायक की रति मुनि किंवा गुरु की पत्नी के विषय में हो, अथवा एक नायिका की रति अनेक नायकों के विषय में हो, अथवा नायक–नायिका में एक ही तरफ से रति हो, तब वह रति रस नहीं रसाभास कहलाती है। यहां एक बात विचारने योग्य यह प्रतीत होती है कि—इस प्रचीनोक्त कारिका में 'उपनायकनिष्ठायां' और 'मुनिगुरुपत्नीगतायां' ये दोनों ही पद क्यों कहे गये हैं? दोनों पदों की आवश्यकता तो नहीं मालूम पड़ती, क्योंकि उपनायकनिष्ठ रति से मुनिपत्न्यादिगत रति भी संगृहीत हो जाती है, कारण यह कि मुनिपत्नी आदि में जिसकी रति होगी, वह मुनिपत्नी का उपनायक ही होगा, फिर उन दोनों की रति उपनायक निष्ठ कहलायगी, यदि कहें कि वहां मुनिपत्नी आदि की रति नायक में नहीं रहती, तब मैं कहूंगा कि अनुभयनिष्ठ रति से संग्रह हो जायगा। एक बात और वह यह कि उक्त कारिका से रसाभास के चार भेद प्रतीत होते हैं, पर ग्रन्थकार ने तो तीन ही भेद दिखलाये हैं, जो ठीक भी हैं, अतः इस प्राचीन कारिका में कुछ असंगति अवश्य है।

उक्ताद्योदाहरणसङ्ग्रहार्थमभिधत्ते—

अत्र 'मुनिगुरु' शब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम्

आदिपदेनागम्यपत्नीकानां शिष्यादीनां परिग्रहो बोध्यः।

उक्त प्राचीन कारिका में मुनि और गुरु पद उपलक्षण हैं, अतः उन पदों से राजा शिष्य आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। अतः 'शतेनोपायानाम्…' इत्यादि प्रथम उदाहरण का संग्रह हो जाता है।

रस–तदाभासयोरेकत्र संशयात् पृच्छति—

अथात्र किं व्यङ्ग्यम्?—

> 'व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिताः परमाकुलाः।
> पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः, पतन्ति प्रथमा दृशः।।'

पाञ्चाल्या द्रौपद्याः, प्रथमाः परिचयानन्तरमाद्याः, दृशो दृष्टयः, पाण्डोः पुत्रेषु युधिष्ठिरादिषु क्रमेण युधिष्ठिरे गौरवाद्व्यानम्रा विनताः, भीमसेने त्रासाच्चलिताश्चञ्चलाः, अर्जुने प्रभावोत्कर्षात् स्फारिता विकासिताः, नकुलसहदेवयोश्च सौन्दर्यातिशयात् परमाकुला अत्युत्सुकाश्च, पतन्तीत्यर्थः।

अत्र पद्ये रसो रसाभासो वा व्यङ्ग्य इति प्रष्टुराकूतम्।

अच्छा, अब यह विचार कीजिये कि 'पाण्डवों के ऊपर, द्रौपदी की प्रथम दृष्टियां अतिनम्र चञ्चल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिरती हैं' एतदर्थक 'व्यानम्रा……' इत्यादि पद्य में क्या व्यङ्ग्य है? रस? अथवा रसाभास?

विशेषणव्यङ्ग्यप्रदर्शनपुरस्सरं नवीनमते रसाभासत्वं व्यवस्थापयति—

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततयाऽलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेवयोरौत्सुक्यं

च व्यञ्जयन्तीभिर्दृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः।

अत्र द्रौपदीदृष्टिविशेषणचतुष्टयेन युधिष्ठिरादिनिष्ठ-धर्मात्मताऽऽदिप्रयोज्यानि भक्ति-त्रास-हर्षौत्सुक्यानि व्यज्यमानानि, द्रौपदीनिष्ठां युधिष्ठिराद्यनेकनायकविषयकत्वादनुचितां रतिं प्राधान्येन व्यञ्जन्तीति शृङ्गाररसाभासध्वनित्वं नवीना मन्यन्त इति सारम्।

इह शौर्यस्यादृश्यतया यथा श्रवणपदोपन्यासः, तथा धर्मात्मताया अपीति तत्रापि तदुपन्यास उचितः।

उक्त विचार के प्रसङ्ग में नवीन विद्वानों का कथन है कि यहां रसाभास ही व्यङ्ग्य है, रस नहीं, क्योंकि 'अतिनम्र' इस विशेषण से धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर के विषय में भक्ति को, 'चञ्चल' इस विशेषण से स्थूल काय होने के कारण भीमसेन के विषय में त्रास को, 'विकसित' इस विशेषण से अलौकिक शूरता की बात श्रुत होने के कारण अर्जुन के विषय में हर्ष को और 'परम व्याकुल' इस विशेषण से अति सुन्दर होने के कारण नकुल तथा सहदेव के विषय में उत्सुकता को अभिव्यक्त करनेवाली दृष्टियों के वर्णन से द्रौपदी की अनेक नायक विषयक रति ध्वनित होती है।

प्राचीनमते तत्र रसत्वमेव व्यवस्थापयति—

प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे, रतेराभासतेत्याहुः।

अपरिणेतारः परिणयकर्तृभिन्ना बहवोऽनेके नायका विषया यस्याः सैव रतीरसाभासः। प्रकृते द्रौपदीनिष्ठरतेर्बहुनायकविषयकत्वेऽपि, नायकानां परिणेतृत्वाद् विशेषणाभावप्रयोज्य-विशिष्टाभावान्न रसाभासत्वम्, अपित्वनौचित्याप्रतीत्या रसत्वमेवेति प्राचीनानां मतम्। इह प्राचीनमतस्य गरीयस्त्वं पश्चान्निर्देशः सूचयति। यत्त्वत्र टीकायां तुना सूचितमरुचिबीजं लक्षणे परिणेतृभेदानिवेशादपरिणेतृबहुनायकविषयकत्व इवात्रापि रतेरनौचित्यस्य भान-मुक्तम्, तन्न युक्तम्, रतेरनौचित्यावभासे लोकशास्त्रगर्हितत्वस्यैव हेतुतया, महाभारतप्र-कृतप्रकरणपर्यालोचनया तदसम्भवात्, विशेषपञ्चेन्द्रोपाख्यानदर्शनेन नायकबहुत्वादिति विभावनीयम्।

प्राचीन विद्वानों के मत से उक्त श्लोक में रस ही व्यङ्ग्य है, रसाभास नहीं, क्योंकि वे विधिवत् पाणिग्रहण न करने वाले अनेक नायक के विषय में होनेवाली रति को ही रसा-भास मानते हैं, यहां तो पांचों पाण्डव द्रौपदी के विधिवत् पाणि-ग्रहण करनेवाले ही हैं, अतः उन पाँचों के विषय में होनेवाली द्रौपदी की रति रसाभास नहीं कहला सकती, वरन शुद्ध रस ही कहलायगी। यहां 'प्राञ्चस्तु' इस 'तु' शब्द से अरुचि सूचित होती है, और उसका कारण यह है कि एक नायिका का अनेक नायकों से प्रेम करना हरहालत में अनु-चित ही है, चाहे वे नायक विधिवत् पाणिग्रहण कारक हों अथवा उदासीन। और लक्षण में भी इस तरह का कोई निवेश नहीं किया गया है, जिससे पाणिग्रहण करनेवाले अनेक नायकों के विषय में होनेवाली रति रसाभास-संज्ञा से मुक्त की जा सके। यह है नागेश का अभिप्राय। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि नागेश का यह अरुचिप्रदर्शन समुचित नहीं है कारण यह कि लोक और शास्त्र से निन्दित होने से ही तो रति का अनौचित्य सिद्ध होता है, और महाभारत (जो धर्मग्रन्थ तथा अपने युग का इतिहास ग्रन्थ भी है) के पर्यालोचन से द्रौपदी का पांच पाण्डवों के साथ प्रेम करना निन्दित नहीं समझा जाता, अतः प्राचीनों का मत ठीक ही है।

रसाभासं विभजते—

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसाभासोऽपि द्विविधः-संयोगविप्रलम्भभेदात्।

तत्र रसाभासेषु, यथा शृङ्गाररसो द्विविधः, तथा संयोगशृङ्गाररसाभासो विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासश्चेति तदाभासोऽपि द्विविधस्तुल्यन्यायात् । एवं वीररसाभासभेदा अप्यूहनीया इत्यभिप्रायः ।

जैसे सम्भोग और विप्रलम्भ भेद से शृङ्गार रस दो प्रकार के होते हैं, उसी तरह शृङ्गार रसाभास भी दो प्रकार के होते हैं।

तत्र विप्रलम्भाभासोदाहरणमात्रस्य वक्ष्यमाणत्वेन न्यूनतां परिहरति—

संयोगाभासस्त्वनुपदमेवोदाहृतः ।

नव्यमते—'व्यानम्राः' इत्यादिना, प्राचीनमते तु 'भुजपञ्जरे' इत्यादिना, तेन न्यूनता न शङ्कनीयेत्याशयः ।

सम्भोगशृङ्गार रसाभास का उदाहरण 'भुजपञ्जरे...' इत्यादि अभी ही ऊपर कह आये हैं।

विप्रलम्भाभासमुदाहरति—

विप्रलम्भाभासो यथा—

वैदेहीविरहव्याकुलस्य दशाननस्य दशां वर्णयति—

'व्यत्यस्तं लपति क्षणं, क्षणमथो मौनं समालम्बते,
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति, न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं,
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त ! लङ्केश्वरः ॥'

हा हन्त ! वैदेह्या जानक्याः, कमनीयतया स्पृहणीयसौन्दर्येण, कवलितो वशीकृतचेताः, लङ्केश्वरो रावणः, क्षणं व्यत्यस्तमसङ्गतं लपति भाषते (प्रलपति) अथो क्षणं मौनं समालम्बते मूकीभवति, किञ्च सर्वस्मिन् प्रियेऽप्रिये च विषये, निरालम्बनां शून्यां, दृष्टिं विदधाति करोति, तथा दीर्घमायतं, श्वासम्, उरीकरोति वहति, एवम्, अङ्गेषु स्वावयवेषु, मनागीषदपि, धृतिं स्थिरतां न धत्ते न धारयतीत्यर्थः ।

विदधातीत्यत्र निक्षेपार्थको विदधातीति पाठोऽधिकं शोभते ।

अब विप्रलम्भाभास का उदाहरण देखिये—सीता के सौन्दर्य से वशीकृत रावण की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वह क्षणभर अंट-संट कुछ बकता है, तो क्षणभर चुप्पी साध लेता है। सभी वस्तुओं पर दृष्टि डालता है, पर एक भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। वह जोर-जोर से सांस खींचता है और उसके अङ्गों में तनिक भी स्थिरता नहीं रहती—कभी हाथ और कभी पैर पटकता है, उससे थोड़ी देर भी शान्त नहीं रहा जाता।

उपपादयति—

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया जगद्गुरुपत्नीविषयकतया चाभासतां गता, व्यत्यस्तं लपतीत्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्माद-श्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिभिस्तथैवाभासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

इह सीताविषयिकाया विप्रलम्भशृङ्गारस्थायिन्या रते रावणमात्रनिष्ठतया जगद्गुरुरामचन्द्रपत्नीविषयकतया च द्विविधानौचित्याद् विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासत्वम् । सा हि—'क्षणं व्यत्यस्त'मित्यादिना व्यज्यमानेनोत्साहेन, 'क्षणमथो' इत्यादिना व्यज्यमानेन श्रमेण, 'सर्वस्मिन्' इत्यादिना व्यज्यमानेन मोहेन, 'श्वास'मित्यादिना व्यज्यमानया चिन्तया, 'न मना'गित्यादिना व्यज्यमानेन व्याधिना च भावेनानौचित्यप्रवृत्ततया भावाभासेन परिपोष्यत इति प्रधानीभूता विप्रलम्भशृङ्गाररसाभासध्वनिव्यपदेशस्य हेतुर्भवतीति सारम् ।

यहां सीता के विषय में जो रावण का विरहकालिक प्रेम है, वह अनुभयनिष्ठ है—अर्थात् रावणमात्र में है, सीता में नहीं और वह जगद्गुरु रामचन्द्र की पत्नी के विषय में है, अतः उस प्रेम में द्विविध अनौचित्य आ गया, जिससे वह 'आभास' रूप है। उस (प्रेम) को पुष्ट करनेवाले उन्माद, श्रम, मोह, चिन्ता और व्याधि ये सञ्चारीभाव भी जगद्गुरु—पत्नी विषयक होने के कारण 'आभास' रूप ही हैं, इन सञ्चारीभावों के व्यञ्जक क्रमशः अंट-संट बोलना, चुप्पी साधलेना, आलम्बनरहित देखना, जोर-जोर से सांस खींचना और अङ्गों में स्थिरता का न होना ये अनुभाव हैं। सारांश यह कि यहां रसाभास भी व्यङ्ग्य होता है और भावाभास भी, परन्तु भावाभास पोषक है—अङ्ग है और रसाभास पोष्य है—अङ्गी है, अतः रसाभास ही इस पद्यको ध्वनि कहे जाने का कारण है, भावाभास नहीं।

शृङ्गारवद् रसान्तराणामप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वे रसाभासतां व्यवस्थापयति—

एवं कलहशीलकुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठतया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसाऽसृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः।

यथा रतेर्मुन्यादिपत्नीविषयत्वेनानौचित्याच्छृङ्गाराभासता, तथैव कलहशीलो यः कुपुत्रस्तद्विषयस्य वीतरागपुरुषनिष्ठस्य च शोकस्यानौचित्यात् करुणाभासता, ब्रह्मविद्याया विज्ञानस्यानधिकारिणो ये चाण्डालादयस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य निर्वेदस्यानौचित्याच्छान्ताभासता, कदर्यो नीचः कातरो भीरुस्तन्निष्ठत्वेन वर्ण्यमानस्य क्रोधस्य रौद्राभासता, उत्साहस्य च वीराभासता, इन्द्रजालोपजीवक ऐन्द्रजालिकस्तद्विषयकत्वेन विस्मयस्याद्भुताभासता, गुरुजनादिविषयकत्वेन हासस्य हास्याभासता, महावीरनिष्ठत्वेन भयस्य भयानकाभासता, यज्ञीया वध्यतया यज्ञसम्बन्धिनो ये पशवस्तेषां यानि वसासृङ्मांसादीनि मज्जारुधिरमांसप्रभृतीनि तद्विषयत्वेन वर्ण्यमानाया जुगुप्सायाश्च बीभत्साभासता च ज्ञेयेत्याशयः।

अब शृङ्गार की तरह अन्य रस भी अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर रसाभास हो जाते हैं इस बात की व्यवस्था करते हैं—'एवं कलह' इत्यादि। जैसे शृङ्गार रस का स्थायीभाव (रति) उक्त रीति से अनुचित होने पर शृङ्गार रसाभास होता है, उसी तरह अन्य रसों के स्थायीभाव भी अनुचित होने पर तत्तद्रस के आभास रूप होते हैं। जैसे—करुण रस का स्थायीभाव (शोक) यदि कलहकारी कुपुत्र आदि के विषय में अथवा विरक्त पुरुष आदि आश्रय में वर्णित हो, शान्त रस का स्थायीभाव (निर्वेद) यदि ब्रह्म-विद्याध्ययन के अधिकार से वञ्चित चाण्डाल आदि आश्रय में वर्णित हो, रौद्र और वीर रस के स्थायीभाव (क्रोध और उत्साह) यदि दीन अथवा कायर आश्रय में किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित हों, अद्भुत रस का स्थायीभाव (विस्मय) यदि ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित हो, हास्य रस का स्थायीभाव (हास) यदि गुरु आदि पूज्यों के विषय में वर्णित हो, भयानक रस का स्थायीभाव (भय) यदि किसी महावीर रूप आश्रय में वर्णित हो और बीभत्स रस का स्थायीभाव (जुगुप्सा) यदि यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित, तथा मांस आदि के विषय में वर्णित हो, तो, क्रमशः करुणरसाभास, शान्तरसाभास, रौद्ररसाभास, वीररसाभास, अद्भुतरसाभास, हास्यरसाभास, भयानकरसाभास, और बीभत्सरसाभास होते हैं।

तदुदाहरणाप्रदर्शनकारणमाह—

विस्तृतिभयान्नामी नेहोदाहृताः सुधीभिरुन्नेयाः।

प्रत्येकमेषामुदाहरणप्रदर्शने ग्रन्थविस्तरः स्यादिति शृङ्गाराभासोदाहरणेनैव सुधीभिस्तदूहः स्थालीपुलाकन्यायेन विधेय इत्यर्थः ।

इन सब रसाभासों के अलग-अलग उदाहरण दिखलाने में ग्रन्थ के अतिविस्तृत हो जाने का भय था, अतः वे नहीं दिखलाये गये, विद्वानों को स्वयं उनका ऊह करना चाहिये।

विशेषवक्तव्यविरहात् समासेनैव भावाभासान् निरूपयति—

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

एवमेव रसाभासवदेव, अनुचितविषया अनुचितालम्बनका अनुचिताश्रयनिष्ठा वा वर्ण्यमाना हर्षादयः पूर्वोक्ता भावा भावाभासा भवन्ति 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः' इति प्राचीनाभिधानादित्यर्थः ।

इसी तरह हर्ष आदि पूर्वोक्त भाव भी यदि अनुचित आलम्बन के विषय में अथवा अनुचित आश्रय में वर्णित हों, तो भावाभास कहलाते हैं।

समासेनैव भावाभासमुदाहरति—

यथा—

अनुचितरतिः प्रवासी प्रियां स्मरन् वदति—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्याऽपि खेदकलिता विमुखीबभूव ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे,
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥'

(सम्प्रति प्रियाविरहे) सर्वेऽपि, विषयास्तत्तदिन्द्रियैरनुभवनीयाः पदार्थाः, विस्मृतिपथं प्रयाता मुहुरनुसन्धीयमाना अपि विस्मृता एवाभूवन्, (चिरसेविता) विद्याऽपि, खेदकलिता पराङ्गनाप्रणयावधारणेर्ष्याकषायिताशयेव, विमुखीबभूव साम्मुख्यं विहाय दूरं जगाम केवलमेका, सा दृष्टपूर्वा, हरिणशावकलोचना कुरङ्गशिशुनयना, अधिदेवतेव हृदयाधिष्ठातृदेवतेव, मे मम हृदयात्, नैवापयाति नैव निस्सरतीत्यर्थः ।

जैसे—सभी विषय विस्मृति के मार्ग पर पहुँच गये-भूल से गये और विद्या भी जिसकी सेवा मैंने चिरकाल तक की थी—खिन्न होकर मुझे पराङ्गना-प्रणयी समझ कर ईर्ष्या से कलुषितहृदया होकर-विमुख हो गई, परन्तु केवल वह बाल हरिण के समान नयन वाली बाला अधिष्ठात्री देवी के समान बनी बैठी है, हृदय से कभी निकलती ही नहीं।

प्रकरणं प्रदर्शयति—

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अन्यस्य वा कस्यचिद(ति)प्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः ।

गुरुकुलं गुरोर्गृहम् । 'अप्रतिषिद्धगमनाम्' इति पाठे तु निषिद्धालम्बनकत्वाभावाद्भावाभासतैव दुर्घटा स्यादिति प्रकोष्ठघटकशब्दः कल्पितः । इह गुरुकन्या तदन्या वा काचिदगम्याऽऽलम्बनम् विषयो यस्याः सा स्मृतिरनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् भावाभासरूपा, व्यङ्ग्याभ्यां व्यतिरेकोपमालङ्काराभ्यामुपस्क्रियमाणा स्मृतिभावाभासध्वनिव्यपदेशस्य बीजमवसेयम् ।

विद्याभ्यास करते समय, गुरु-पुत्री के लावण्य से मोहित मनवाले पुरुष की अथवा जिसका सम्भोग अत्यन्त ही निषिद्ध समझा जाता है, ऐसी किसी कामिनी का स्मरण करते हुए किसी अन्य की उस समय में यह उक्ति है, जब वह उससे दूर हो गया था।

व्यङ्ग्यस्य व्यतिरेकस्य स्मृत्यङ्गत्वं प्रतिपादयति—

अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां स्रक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां

विद्यायां च कृतघ्नत्वम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकवपुः स्मृतिमेव पुष्णातीति सैव प्रधानम्।

चिरं सेवितैरपि स्रक्चन्दनादिविषयैः, चिरं सेवितया विद्यया च सेवकस्य स्वात्मनस्त्यागः कृत इति तयोरकृतज्ञत्वम्, अस्यां नायिकायान्त्वल्पकालानुध्यातायामपि सततस्मृतिसंसक्ततया त्यागमकृतवत्यामपूर्वं कृतज्ञत्वं च व्यज्यमानं व्यतिरेकालङ्कारस्वरूपं स्मृतिभावस्यैवोपकारकमितीह भावाभासध्वनिरेव, नत्वलङ्कारध्वनिरित्याशयः।

यहां चिरसेवित स्रक्, चन्दन आदि विषय और चिर-सेवित विद्या—जो इस पद्य में उपमान रूप से आये हैं—में, अपने को छोड़ देने के कारण, कृतघ्नता तथा अल्पपरिचित उस मृगाक्षी—जो यहां उपमेय रूप से आई है—में अपने को अभी तक न छोड़ने के कारण, अलौकिक कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है, अतः उपमान से उपमेय में आधिक्य-वर्णन रूप 'व्यतिरेक' अलङ्कार यहां व्यङ्ग्य है अवश्य, तथापि इस पद्य को अलङ्कार-ध्वनि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह व्यङ्ग्य 'व्यतिरेक' यहां उस प्रधान 'स्मृति-भाव' का ही पोषक है, जो अनुचित प्रवृत्त होने के कारण आभास रूप है। फलतः इस पद्य को 'भावाभास-ध्वनि' ही मानना चाहिये।

वस्तुव्यङ्ग्योपमाया अपि भावाभासाङ्गत्वं दर्शयति—

एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्वं व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमाऽपि।

यथाऽधिष्ठात्री देवता स्वाधिष्ठानं न जातु त्यजति, तथेयमङ्गनाऽपि ममहृदयं न त्यजतीतिवाच्योपमाऽपि, परित्यागाभावस्य सार्वकालिकत्वं व्यङ्ग्यं वस्तु बोधयन्ती, चमत्कृतिमत्यपि स्मृतेरङ्गमेव, न प्रधानमिति भावः।

इसी तरह 'अधिदेवतेव' इस पद से वाच्य होनेवाली उपमा चमत्कारजनक होकर भी 'स्मृति-भाव' का अङ्ग ही है, प्रधान नहीं, क्योंकि इस उपमा से यह वस्तुध्वनित होती है कि जैसे अधिष्ठात्री देवी अपने अधिष्ठान को कभी नहीं छोड़ती, वैसे यह मृगाक्षी भी मेरे हृदय को कभी नहीं छोड़ती, अतः यह समझना चाहिए कि यह उपमा त्यागाभाव (न छोड़ने) में सार्वदिकता-चिरस्थायिता को व्यक्त करने के लिये ही केवल गढ़ी गई है।

भावाभासत्वमुपपादयति—

एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः।

एषा स्मृतिः। अनुचितविषयकत्वमालम्बनस्य निषिद्धत्वात्, अनुभयनिष्ठत्वं च नायकमात्रवृत्तित्वात्।

यह स्मृतिभाव नहीं, भावाभास है—इसलिये कि इसका विषय गुरुकन्या अथवा अन्य कोई अगम्या नायिका अनुचित है, और यह स्मृति अनुभयनिष्ठ भी है-अर्थात् नायिका तो स्मरण करती नहीं, अतः एक तरफा है।

विषयभेदादिहैव भावध्वनित्वमप्याह—

यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरेव।

नायिकायाः पत्युरेवोक्तिरेषा यदि प्रकरणे नावधार्येत, तदा निषिद्धालम्बनकत्वानुभयनिष्ठत्वयोरभावान्नस्मृतिभावाभासध्वनिः, किन्तु स्मृतिभावध्वनिरेवेति भावः।

यदि माने कि 'सर्वेऽपि......' इत्यादि पद्य वर्णनीय नायिका के परिणेता (पति) की ही उक्ति है, तब इस पद्य को 'भावध्वनि' का ही उदाहरण समझना चाहिये।

भावशान्तिं निरूपयति—

अथ भावशान्तिः—

निरूप्यत इति शेषः।

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः ।

प्रागुक्तं विभावानुभावव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं स्वरूपं यस्येति बहुव्रीहिः । विभावादिव्यङ्ग्यहर्षाद्यन्यतमनाश एव भावशान्तिरित्यर्थः ।

अब 'भावशान्ति' का निरूपण करते हैं। अच्छा, पहले उसका लक्षण देखिये—जिनके स्वरूप पूर्व में वर्णित हो चुके हैं, उन हर्ष आदि भावों में से किसी भाव के नाश को 'भाव-शान्ति' कहते हैं।

विशेषमाचष्टे—

सचोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्।

यतः स भावनाश उत्पद्यमान एव (न तु स्थित्यवच्छिन्नः) सहृदयाह्लादकः, तस्मात् स एवात्र ग्राह्य इत्यर्थः ।

वह भाव-नाश उत्पत्त्यवच्छिन्न (उत्पत्ति-कालिक) ही लेना चाहिये—अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके काम कर चुकने के बाद का नहीं क्योंकि उत्पत्तिकालीन भावनाश ही सहृदयों को चमत्कृत करता है।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

मानिन्याः सद्योऽमर्षध्वंसं वर्णयति—

'मुञ्चसि नाद्यापि रुषं, भामिनि ! मुदिरालिरुदियाय ।
इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः ॥'

'हे भामिनि ! कोपने ! अद्यापीदानीमपि, रुषं कोपं मानं न मुञ्चसि न त्यजसि, (पश्य) मुदिरालिर्मेघमाला, उदियायोदिताऽभूत्' इति पतिवचनैः, तन्व्याः कृशाङ्ग्याः (मानिन्याः) नयनाब्जकोणयोर्लोचनकमलप्रान्तयोः, शोणरुचिर्मानोपहिता रक्तच्छविः, अपायि व्यनाशीत्यर्थः । मानिनी परमोद्दीपनकादम्बिनीसन्नाहश्रवणात् सद्यः प्रससादेति भावः ।

उदाहरण लीजिये—'अयि ! कोपमयि !! अब भी तू रोष का त्याग नहीं करती, देख तो, घन-घटा घिर आई' इस तरह पति के वचनों ने, कृशाङ्गी के नयन-कमल के कोने में जो रक्त छवि थी, उसे पी गया-वह उत्पन्न होने के साथ ही समाप्त हो गई।

विभावानुभावौ दर्शयति—

इह तादृशप्रियवचनश्रवणं विभावः, नयनकोणगत-शोणरुचेर्नाशः, तदभिव्यक्तः प्रसादो वाऽनुभावः ।

तादृशं मुदिराल्युदयबोधकम् । प्रियवचनश्रवणस्यामर्षभावशान्तिजनकत्वेन विभावत्वम् । नयनकोणशोणरुचिनाशस्य साक्षादमर्षनाशाजन्यत्वाद्विकल्पः ।

यहां प्रियतम की घन-घटा वाली बातों का सुनना विभाव है और नेत्र-कोण की रक्त-छवि का नाश अनुभाव है। यदि कहे कि नेत्र की लाली का नाश तो रोष-नाश का साक्षात् कार्य नहीं हो सकता—अर्थात् रोष-नाश से प्रसन्नता होगी और प्रसन्नता से कोपमूलक नेत्र-रक्तता का नाश होगा, तो मैं कहूंगा कि ठीक है, तब नेत्ररक्तता के विनाश के अभिव्यञ्जक प्रसन्नता को ही अनुभाव समझिये।

उपपादयति—

उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोषनाशो व्यङ्ग्यः ।

रोषोऽमर्षस्तेनात्रामर्षभावशान्तिध्वनिरिति सारम् ।

उक्त विभाव और अनुभावों से उत्पत्ति के समय में ही रोष का नष्ट हो जाना व्यङ्ग्य है।

भावोदयं निरूपयति—

तथा—

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः।

पूर्वोक्तलक्षणस्य कस्यचिद्भावस्योदय उत्पत्तिरास्वादपदवीं गतो भावोदयो भवतीत्यर्थः।

अब 'भावोदय' का निरूपण करते हैं। पहले उसका लक्षण देखिये—पूर्वोक्त हर्ष आदि में से किसी भी भाव की उत्पत्ति को 'भावोदय' कहते हैं।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

प्रियापराधबोधात् सद्यो मानिन्या वृत्तं वर्णयति—

'वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी।

अंसदेशवलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहुवल्लरीम्॥

(आलिङ्गन्तीं काचित्) दयितस्य वल्लभस्य, वक्षसि हृदये, विपक्षकामिन्याः प्रागुपभुक्त-प्रतिनायिकायाः, हारलक्ष्म गाढालिङ्गनोद्गतमुक्तामालाचिह्नं, वीक्ष्य विशेषेण दृष्ट्वा, (अपराधनिश्चयात्) भामिनी रोषवती सती, अंसदेशयोर्दयितस्कन्धप्रान्तयोः, वलयीकृतां मण्डलाकारेण संयोजितां, निजबाहुवल्लरीं स्वभुजलताम्, क्षणात् सद्यः आचकर्ष—अमर्षोदयादाकृक्षदित्यर्थः।

उदाहरण देखिये—कोई कामिनी एकान्तस्थित प्रियतम के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर गले मिल रही थी, तब तक अकस्मात् उसकी दृष्टि प्रियतम के वक्षःस्थल में उगे हुए सौत के हार-चिह्न पर पड़ी, फिर क्या था, तुरत वह कामिनी से भामिनी (कोपना) बन उठी और कन्धे पर से अपनी बाहु-लता को खींच लिया।

विभावमनुभावं व्यङ्ग्यं च प्रतिपादयति—

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनीहारलक्ष्मदर्शनं विभावः, प्रियांसदेश-वलयीकृतनिजबाहुलताऽऽकर्षणमनुभावः, रोषोदयो व्यङ्ग्यः।

इहापि रोषपदममर्षबोधकम्, तेनामर्षभावोदयध्वनिर्बोध्यः।

यहां भी प्रियतम के वक्षःस्थल पर सौत के हार का चिन्ह देखना विभाव और उसके कन्धे पर से लिपटी हुई भुजलता का खींच लेना अनुभाव है, जिनसे रोष-भाव का उदय व्यङ्ग्य होता है।

भावशान्ति-भावोदययोर्विषयैकमाशङ्क्य विषयविभागं दर्शयति—

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्य-कत्वान्नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभागः।

यत्रैकभावस्य शान्तिः, तत्रापरभावस्योदय आवश्यकः, यत्र पुनरेकभावस्योदयः, तत्र पूर्वमपरभावस्य शान्तिरवश्यमपेक्ष्यत इति भावशान्ति-भावोदययोः सर्वत्र सङ्कीर्णत्वात् स्वतन्त्रो व्यवहारस्य विषयो न सम्भवतीति शङ्कायाः—नह्येकत्रैव तत्रभावस्य शान्तेरुदयस्य च चमत्कारिता, नवा चमत्कारितां विना व्यवहारप्रवृत्तिरिति निर्णये, यत्र भावशान्तिचमत्कारः, तत्र भावशान्तिव्यवहारः, यत्र तु भावोदयचमत्कारः, तत्र भावोदयव्यवहारो भवतीति तयो-र्व्यवहारस्य विषयः परसाङ्कर्ये सत्यपि स्वतन्त्र एवेति समाधानम्।

यद्यपि यह निश्चित है कि जहां किसी भाव की शान्ति होती है, वहां किसी दूसरे भाव का उदय भी होता ही है, इसी तरह जहां किसी भाव का उदय होता है, वहां उसके पहले

किसी अतिरिक्त भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है, फिर तो भावशान्ति और भावोदय के एक दूसरे से अमिश्रित लक्ष्यों का मिलना असम्भव है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अलग-अलग व्यवहार करने योग्य लक्ष्य नहीं हैं, क्योंकि एक जगह दोनों चमत्कारी नहीं होते अर्थात् भावशान्ति की जगह में भावान्तर का उदय निश्चित रह कर भी चमत्कारी नहीं रहता, इसी तरह भावोदय की जगह में प्राक्तनभाव की शान्ति नियमतः रहने पर भी चमत्कार जनक नहीं होती और व्यवहार चमत्कार के अधीन है—अर्थात् जिसमें चमत्कार रहता है, उसी का व्यवहार होता है, अतः इन दोनों के पृथक् पृथक् व्यवहार हो सकते हैं।

भावसन्धि निरूपयति—

एवम्—

भावसन्धि-रन्योन्यानभिभूतयो-रन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्।

अन्योन्यं परस्परमनभिभूतयोरबाधितप्रतीतिचमत्कारयोः, अन्योन्याभिभवनयोग्ययोर्मिथःप्रतीतिचमत्कारबाधनसमर्थयोः (अविरुद्धयोस्तुल्यबलयोः) द्वयोर्भावयोः, सामानाधिकरण्यमेकदेशैककालावच्छिन्नचमत्कारिप्रतीतिविषयत्वं भावसन्धिरित्यर्थः।

सुन्दोपसुन्दन्यायेन मिथोबाधने प्रतीतिचमत्काराभावात्, ताटस्थ्ये परस्परबाधनाक्षमयोस्तु सन्धिप्रयोज्यविजातीयचमत्कारसमशिररुकचमत्कारविरहाच्च क्रमेण विशेषणद्वयसार्थक्यम्। तदुक्तम्—'भावयोः सन्धिरुभयसामग्रीयोगेन परस्परविमर्दः' इति। 'सन्धिरेककालमेव तुल्यकक्षयोरास्वादः' इति च।

अब 'भाव-सन्धि' का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम उसका लक्षण देखिये—एक दूसरे से दबे हुये न हों, पर एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण्य (एक जगह रहने) को 'भाव-सन्धि' कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि जिन दो भावों में से कोई एक दूसरे की प्रतीति और चमत्कार को बाधित करने की क्षमता रखता हो, परन्तु बाधित करे नहीं, ऐसे—अर्थात् अविरुद्ध और तुल्यबल दो भावों की सहस्थिति को भावसन्धि कहते हैं। यहां यदि लक्षण में 'एक दूसरे से दबे हुये न हों' यह पूर्व अंश नहीं कहा जाय, तब उन दो भावों की सहस्थिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, जो, परस्पर बाधक होने के कारण अप्रतीयमान अत एव चमत्कारहीन होकर तटस्थ बने पड़े रहते हैं। इसी तरह यदि 'एक दूसरे को दबाने की योग्यता रखते हो' यह द्वितीय अंश लक्षण में न रखा जाय, तब उन अङ्गाङ्गिभावापन्न दो भावों की सह-स्थिति में अतिव्याप्ति हो जायगी, जिनकी सह-स्थिति से कोई खास चमत्कार नहीं उत्पन्न होता, अतः दोनों अंशों का निवेश सार्थक है ऐसा समझना चाहिये।

उदाहरति—

उदाहरणम्—

वयस्सन्धिमारूढाया अनूढायाः सीताया रामचन्द्रे प्रथमं दृक्पातं वर्णयति—

'यौवनोद्गमनितान्तशङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
सङ्कुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयननीरजश्रियः॥'

यौवनस्योद्गमेनारम्भेण नितान्तं शङ्किता युवदर्शने नवाङ्कुरितयौवनस्त्रीजातिस्वभावादुत्पन्नशङ्काः, (राघवस्य) शीलेन सद्वृत्तेन, शौर्येण विक्रमेण, बलेन शारीरिकसामर्थ्येन, कान्त्या लावण्यप्रभया च (प्रत्यक्षविषयेण) लोभिता उत्पादितलोभाश्च, जानक्याः सीतायाः नयने एव नीरजे कमले, तयोश्श्रियः शोभाः, राघवे रामचन्द्रे (पतन्त्यः) सङ्कुचन्ति

लज्जया निमीलन्ति, विकसन्ति—औत्सुक्येनोन्मीलन्ति चेत्यर्थः। इह यौवनोद्गमस्योभयत्रान्वयः, उन्मीलननिमीलनयोश्च कालातिलाघवेन यौगपद्यव्यवहारः।

उदाहरण देखिये। एक सखी दूसरी सखी से कहती है—दोनों में (सीता तथा राम में) यौवन अंकुरित हो जाने के कारण अत्यन्त शङ्कायुक्त और राम की सच्चरित्रता, शूरता, शारीरिक बल और कान्ति के कारण लोभयुक्त कुमारी सीता के नेत्र-कमलों की शोभायें, रघुनन्दन रामचन्द्र के विषय में, संकुचित और विकसित हो रही हैं। भावार्थ यह है कि नवांकुरित सीताजी ने जब प्रथम प्रथम यौवनोन्मुख, सच्चरित्र, वीर, बलिष्ठ और सुन्दर रामचन्द्रजी को देखा, तब उनकी आंखें उन्हें देखने में कुछ संकुचित हो रही थीं क्योंकि उनके हृदय में उस समय एक तरह की शङ्का भी उपस्थित थी, जो किसी नव युवक को देखते समय किसी भी अंकुरयौवना के लिये स्वाभाविक है। और कुछ विकसित भी हो रही थीं, क्योंकि उस विलक्षण यौवनोन्मुख रामजी के प्रति उनके मन में लोभ भी था। इसी बात का वर्णन एक सखी दूसरी सखी से कर रही है।

विभावाद्याह—

अत्र भगवद्दाशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शीलशौर्यादेश्च दर्शनं विभावः, नयनगत-सङ्कोचविकासावनुभावः, व्रीडौत्सुक्ययोः सन्धिर्व्यङ्ग्यः।

तादृशस्य लोकोत्तरस्य। नयनद्युतेः सङ्कोचेन व्रीडा, विकासेन चौत्सुक्यमिह समकक्षतयाऽऽस्वाद्येते इति भावसन्धिध्वनिः।

यहां भगवान् रामचन्द्रजी में लोकोत्तर यौवन की उत्पत्ति का तथा उसीतरह के लोकोत्तर चरित्र-वीरता आदि का दर्शन विभाव है और आंखों का संकुचित होना तथा विकसित होना अनुभाव है। जिनसे लज्जा और औत्सुक्य इन दो भावों की सन्धि व्यङ्ग्य होती है—अर्थात् नेत्र-संकोच से लज्जा और नेत्र-विकास से औत्सुक्य समानरूप से ध्वनित होते हैं, अतः यह पद्य 'भाव-सन्धि-ध्वनि' का उदाहरण होता है।

भावशबलत्वं निरूपयति—

तथा—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम्।

विरुद्धत्वान्मिथोबाध्यबाधकभावं प्राप्तानाम्, अथवाऽविरुद्धत्वात् तटस्थानां भावानां, व्यामिश्रणं स्वस्वव्यञ्जकपृथग्-वाक्यजप्रतीतिविषयत्वपूर्वकैकमहावाक्यजन्यचमत्कारकवैयञ्जनिक-प्रतीतिविषयत्वं शबलत्वमित्यर्थः।

जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक दूसरे का बाधक हों, अथवा जो उदासीन—अर्थात् न परस्पर बाधक न परस्पर सहायक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं।

तथा शबलत्वं विवृणोति—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत्।

एकं महावाक्यजन्यं चमत्कृतिजनकं यद्वैयञ्जनिकज्ञानं, तद्विषयत्वमित्यर्थः।

मिश्रण शब्द का अर्थ यहां यह है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्य से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हों, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महावाक्य बने, उससे जो एक व्यञ्जना वृत्ति के सहारे चमत्कारी ज्ञान हो, उसमें उन सब

उदाहरति—

उदाहरणम्—

सीतां विवास्यानुशयानः श्रीरामश्चिन्तयति—

'पापं हन्त मया हतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना बत वने किं जीवितं धास्यति ? ।
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते वदिष्यन्ति मां,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥'

(यज्ञभूमिसमुत्पन्ना वह्निपरीक्षितशीला) सीताऽपि (क्षुद्रापवादभिया) यत्, यापिता राजधान्या निष्कास्य वनं गमिता, हन्त ! हतेन दुष्टेन दुर्दैवोपहतबुद्धिना वा मया, तत् सीतानिर्वासनं पापं कृतमविधेयं विहितम् । सा शतशः सुपरीक्षितप्रणया, इन्दुमुखी सीता, मां विना (एकाकिनी) वने, बत ! जीवितं किं धास्यति ? नैव धारयिष्यति । कृतैतादृश-पापकर्माऽहं कृतिनां प्राज्ञजनानां मुखानि, कथम्, आलोकेय लज्जया पश्येयम् ? । ते कृतिनः (पापिनं) मां, किं वदिष्यन्ति किं कथयिष्यन्ति ? । यदर्थं मयैतदनुष्ठितं तदिदं राज्यं, पुनः, रसातलं यातु विनश्यतु । अहं प्राणितुमतःपरं जीवितुं, न कामये नेच्छामि दुःख-दुर्यशो दग्धाज्जीवनान्मरणस्यैव श्रेयस्त्वादित्यर्थः ।

उदाहरण देखिये । सीता जी को वन में निर्वासित कर देने के बाद राम का कथन है कि मैं बड़ा दुर्बुद्धि हूं, तभी तो सीता को भी (जिसका शील अग्नि में परीक्षित हो चुका था) निकाल दिया, यह मुझसे बहुत बड़ा पाप किया गया, हाय ! क्या वह (जिसका मुझ में असीम प्रेम है) मेरे बिना वन में जी सकती है ? मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूंगा ? वे मुझे क्या कहेंगे ? यह राज्य (जिसके लिये मैंने यह पाप किया है) रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता ।

उपपादयति—

अत्र मत्य-सूया-विषाद-स्मृति-वितर्क-व्रीडा-शङ्का-निर्वेदानां प्रागुक्तस्वस्ववि-भावजन्मनां शबलता ।

इह 'पाप'मित्यादिना व्यज्यमानाया मतेः, 'हतेने'त्यादिना व्यज्यमानायाः स्वविषय-कासूयायाः, 'सीताऽपी'त्यादिना व्यज्यमानस्य विषादस्य, 'से'त्यनेन व्यज्यमानायाः स्मृतेः, 'मामिन्दुमुखी'त्यादिना व्यज्यमानस्य वितर्कस्य, 'आलोकेये'त्यादिना व्यज्यमानाया व्रीडायाः, 'किंत'इत्यादिना व्यज्यमानायाः शङ्कायाः, 'राज्य'मित्यादिना व्यज्यमानस्य निर्वेदस्य च भावस्य शबलत्वमेकमहावाक्यजवैयञ्जनिकचमत्कारजनकप्रतीतिविषयत्वमस्तीत्यर्थः ।

यहां अपने अपने विभाव से अभिव्यक्त होने वाले मति, असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीड़ा, शङ्का और निर्वेद इन भावों का मिश्रण (शबलता) है—अर्थात् 'मैंने पाप किया' इससे मति, 'दुर्बुद्धि' इस आत्मविशेषण से स्वविषयक असूया, 'सीता को भी' इससे विषाद, 'वह चन्द्रमुखी' इससे स्मृति, 'मेरे बिना जी सकती है' इससे वितर्क, 'मैं भले आदमियों का मुख कैसे देखूँगा' इससे व्रीड़ा, 'वे मुझे क्या कहेंगे' इससे शङ्का और 'यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता' इससे निर्वेद, ये भाव व्यक्त होते हैं और इन सब भावों का समग्र श्लोकजन्यबोध में भान होता है, अतः यह 'भाव-शब-लता-ध्वनि' हुई ।

काव्यप्रकाशव्याख्यातृकृतं भावशबलत्वलक्षणमुपन्यस्य निरस्यति—

यत्तु काव्यप्रकाशटीकाकारैः—'उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता' इत्यभ्यधीयत, तन्न, 'पश्येत् कश्चिच्चल चपल रे ! का त्वराऽहं कुमारी, हस्तालम्बं

वितर, हहहा ! व्युत्क्रमः क्वासि यासि।' इत्यत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-मत्यौ-त्सुक्यानामुपमर्दलेशशून्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन पञ्चमोल्लासे मूलकृतैव निरूपणात्।

'इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः, कन्या कश्चित् फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥' इति काव्यप्रकाशोद्धृतपद्यस्यान्तिमं चरणद्वयम् । तत्र 'पश्येत् कश्चि'दित्यनेन शङ्कायाः, 'चल चपल रे' इत्यनेनासूयायाः, 'का त्वरा' इत्यनेन धृतेः, 'अहं कुमारी' इत्यनेन स्मृतेः, 'हस्तालम्बं वितर' इत्यनेन श्रमस्य, 'हहहा' इत्यनेन दैन्यस्य, 'व्युत्क्रमः' इत्यनेन मतेः, 'क्वासि यासि' इत्यनेनौत्सुक्यस्य च भावस्य व्यज्यमानतया व्यामिश्रणाद् भावशबलताया वर्णनीयराजविषयकरतिभावेऽङ्गतया भावशबलतालङ्कारः ।

तत्र काव्यप्रकाशव्याख्याकारेण भावशबलतां लक्षयता-'उत्तरोत्तरेण-उत्तरोत्तरमभिव्यक्तिविषयेण भावेन, पूर्वपूर्वमभिव्यक्तस्य भावस्य, उपमर्दोऽभिभवः शबलत्वम्' इति यदुक्तम्, तदसङ्गतम्, यतस्तन्मते बाध्यबाधकभावापन्नानामेव भावानामुपमर्दस्य सम्भवे शबलतायाः स्वीकारे, 'पश्येत् कश्चि'दित्यादावुदासीनानामेव शङ्कादिभावानां व्यामिश्रणाच्छबलताया वर्ण्यराजरतिभावाङ्गतया भावशबलतालङ्कारोदाहरणत्वेन काव्यप्रकाशपञ्चमोल्लासे गुणीभूतव्यङ्ग्योदाहरणप्रसङ्गे नैतत्पद्यं यदुल्लिखितं, तद्विरुद्धं स्यात्, शङ्कादिभावानां मिथो बाध्यबाधकत्वाभावात् । तटस्थानामपि भावानां व्यामिश्रणं शबलत्वमिति मन्मते तु न कोऽपि तद्विरोध इति मूलप्रतिकूला टीकाकृदुक्तिर्हेयैवेत्याकूतम् ।

काव्य-प्रकाश के टीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'अग्रिम-अग्रिम भाव से पूर्व पूर्व भाव के उपमर्द (दबा दिये जाने) का नाम 'शबलता' है', वह ठीक नहीं, क्योंकि 'पश्येत्कश्चित्......' इत्यादि पद्य में यद्यपि 'पश्येत् कश्चित्', 'चल चपलरे', 'का त्वरा', 'अहं कुमारी', 'हस्तालंबं वितर', 'हहहा', 'व्युत्क्रमः', और 'क्वासि यासि', इन वाक्यांशों से क्रमशः अभिव्यक्त होने वाले शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य, इन भावों के मिश्रणरूप शबलता है, तथापि वह राजविषयक स्तुति-अर्थात् कविनिष्ठ राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है, प्रधान नहीं, अतः भावशबलता ध्वनि यहां नहीं कहला सकती—अर्थात् ध्वनि यहां कविनिष्ठ भाव की ही है भावशबलता तो अलङ्कार है, यह कथा मूलकार-मम्मट ने ही पञ्चम उल्लास में गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपण के प्रसङ्ग पर कही है। तात्पर्य यह कि यदि टीकाकारों के अनुसार उत्तरोत्तर भाव से पूर्व-पूर्व भाव के उपमर्द को शबलता मानी जाय, तब पूर्वोक्त रीति से 'भावशबलता यहां राजस्तुति का अङ्ग है' यह मूलकार का कथन असंगत हो जाय, क्योंकि उक्त भाव एक दूसरे का लेश मात्र भी उपमर्द नहीं करते, अतः उनके हिसाब से यहां शबलता हुई ही नहीं, फिर उसका अङ्ग होना कैसे संभव हो सकता ? फलतः मूलकार के कथन से ही विरुद्ध होने के कारण टीकाकार का उक्त कथन सर्वथा अमान्य है।

नन्वात्मविशेषगुणानां स्वोत्तरविशेषगुणनाश्यत्वस्य तार्किकैरङ्गीकरणाच्चित्तवृत्तिविशेषाणां भावानामिच्छादिवदात्मविशेषगुणत्वादुत्तरोत्तरभावस्य पूर्वपूर्वभावाभिभावकत्वेन 'पश्ये' दित्यादावपि शङ्कादीनां मिथस्ताटस्थ्यस्याभावादेककालिकाभिव्यक्त्यसम्भवाच्च कथं शबलत्वं स्यादिति मूलविरोधस्तुल्य एवेति शङ्कां निराकरोति—

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, नवोपमर्दपदवाच्यः, नापि चमत्कारी।

न तुल्यः, शङ्कादीनामात्मविशेषगुणत्वेन स्वोत्तरविशेषगुणजन्यनाशस्य व्यञ्जनावृत्त्य-

बोध्यत्वाद् विलक्षणसंयोगार्थकोपमर्दपदवाच्यत्वाभावाच्चमत्कारजनकत्वविरहाच्च भावशबलत्व-रूपताऽसम्भवात्, तथा च त्वन्मत एव मूलविरोध इत्याशयः।

यदि आप कहें कि चित्त-वृत्ति रूप भावों का नैयायिकों के सिद्धान्तके अनुसार इच्छा आदि विशेष गुणों में समावेश होता है और 'आत्मवृत्ती विशेष गुणों का स्वोत्तरभाव विशेष गुणों से नाश हो जाया करता है' यह नियम है, अतः पूर्व भाव का नाश हुये विना उत्तर भाव की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, तो मैं कहूंगा कि उक्त सिद्धान्त अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु यहां उससे काम नहीं लिया जा सकता, क्योंकि अग्रिम विशेष गुण से होनेवाला पूर्व गुण का नाश व्यङ्ग्य नहीं हो सकता अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति से उसका बोध होना सम्भव नहीं, यदि उस नाश को व्यङ्ग्य मान भी लिया जाय, तो टीकाकार के 'उप-मर्द' पद का वह वाच्य नहीं होता, क्योंकि उपमर्द पद का वाच्य विलक्षण संयोग है, यदि कथंचित् उक्त नाश को उपमर्द पद का वाच्य भी मान लें, तो उस नाश में कोई चमत्कार नहीं है, अतः वह भावशबलता रूप नहीं हो सकता।

निर्गलितमाह—

तस्मात्—

'नारिकेलजल-क्षीर-सिता-कदलमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽऽस्वादो-भावानां संहतौ तथा॥'

नारिकेलजलस्य, क्षीरस्य दुग्धस्य, सितायाः श्वेतशर्करायाः, कदलस्य रम्भाफलस्य च मिश्रणे मिथः संयोजने, यथैकेन वस्तुना वस्त्वन्तरास्वादस्योपमर्दो न क्रियते, किन्त्वास्वा-दवैलक्षण्यमेव विधीयते, तथैव भावानां शबलत्वरूपसंहतावपि नोपमर्दः किन्त्वास्वादवैलक्षण्य-मेवेत्यर्थः।

अतः यह मानना चाहिये कि जैसे नारियल के जल, दूध, चीनी और केलों के मिश्रण में विलक्षण स्वाद उत्पन्न हो जाता है, उसी तरह भावों के मिश्रण में भी होता है। सारांश यह कि—पूर्वोक्त नारियल के जल, दूध आदि मिलने पर एक दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता, किन्तु सब मिलकर, अपना अपना स्वाद रखते हुये, एक नया स्वाद भी उत्पन्न कर देते हैं, उसी तरह भाव भी अपना अपना आस्वादन करवाते हुये एक नया आस्वादन भी उत्पन्न कर देते हैं।

भावशान्त्यादिध्वनिचतुष्टयस्य भावध्वनितां व्यवस्थापयति—

अत्रेदं बोध्यम्—

य एते भावशान्त्युदयसन्धिशबलताध्वनय उदाहृताः, तेऽपि भावध्वनय एव, विद्यमानतया चर्व्यमाणेष्विव, उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धीयमान-त्वपरस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः।

एते भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलताध्वनयो येऽत्रोदाहृताः, ते सर्वेऽपि भावध्वनय एव बोद्धव्याः, यतो विद्यमानावस्थापन्नत्वेनास्वाद्यमानेषु भावेषु यथा भावानामेव धर्मितया प्राधान्यं न तु धर्मस्य विद्यमानावस्थापन्नत्वस्य, तथैव भावोदयध्वनावुत्पत्त्यवस्था-पन्नत्वेन, भावशान्तिध्वनौ विनश्यदवस्थापन्नत्वेन, भावसन्धिध्वनौ सन्धीयमानावस्थापन्न-त्वेन, भावशबलताध्वनौ परस्परसमानाधिकरणावस्थापन्नत्वेन च विशेषणीभूतधर्मैः प्रकारै-रास्वाद्यमानेषु भावेषु, धर्मिणां भावानामेव प्राधान्यं, नतूत्पत्त्याद्यवस्थापन्नत्वादिधर्माणाम् प्राधान्यमुचितम्, यतश्चमत्कारमूलकमेव प्राधान्यं निर्णीतमिति भावानामेव प्राधान्यमित्याशयः।

अब भाव-शान्ति आदि ध्वनियाँ भी भाव-ध्वनियाँ ही हैं, अतिरिक्त नहीं, इस स्वकीय सिद्धान्त की व्यवस्था करते हैं-'अत्रेदं बोध्यम्' इत्यादि। ये जो ऊपर भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-शबलता की ध्वनियाँ उदाहरणों के द्वारा दिखलाई गई हैं, वे भी भाव-ध्वनियां ही हैं। कारण यह-कि जहां आप, हम-सभी भावध्वनियाँ मानते हैं अर्थात् भावों का आस्वादन करते हैं, वहां भी तो भावों की एक अवस्था-विद्यमानता रहती है, फिर भी जिस तरह वहां भावों का ही प्राधान्य माना जाता है, उस विद्यमानता अवस्था का नहीं, उसी तरह जहां आप भावशान्ति आदि की ध्वनियां मानते हैं, वहां भी यही मानना चाहिये कि विनष्ट होते हुये, उत्पन्न होते हुये, एक दूसरे से सटते हुये और एक साथ रहते हुये भावों का ही आस्वादन होता है, अतः वहां भी भावों का ही प्राधान्य है, उन विनाश, उत्पत्ति, सन्धि, शबलता (मिश्रण) रूप अवस्थाओं का नहीं, क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव की चर्वणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है केवल अवस्था मात्र में नहीं, और साहित्य में प्राधान्य को चमत्कार-मूलक माना गया है।

धर्मधर्मिप्राधान्ये विनिगमनाविरहमाशङ्क्य समादधाति—

यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलतानां तत्सम्बन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणाविषयतायां, न प्राधान्यं विनिगन्तुं शक्यते, तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायाः क्लृप्तत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभिर्व्यज्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात्।

विनिगन्तुं निर्धारयितुम्। इह भावशान्त्युदयोपादानक्रमविपर्यासमूलं चिन्त्यम्। स्थितौ विद्यमानावस्थापन्नत्वविशिष्टभावध्वनौ। तेषु भावेषु। शान्तेः प्रतियोगिता सम्बन्धिता वैशिष्ट्यमिति यावत्। उत्पत्त्याद्यवस्थाविशिष्टानां भावानामेकास्वादे भावानामेव प्राधान्यं, नतूत्पत्त्याद्यवस्थानामिति निर्धारणं यद्यपि दुष्करम्, तथापि 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि सञ्चरति' इति रीत्या भावध्वनौ विद्यमानावस्थाया भावस्य चैकास्वादविषयत्वेऽपि चमत्कारानुभवाद्भावस्यैव प्राधान्यं यथाऽवधार्यते, तथैवोदयावस्था-प्रशाम्यदवस्था-सन्धीयमानावस्था-समानाधिकरणावस्थाभिः सहाप्येकास्वादविषयत्वे भावानामेव प्राधान्यमुचितत्वादवधारणीयमित्यभिप्रायः।

यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता का तथा इन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखनेवाले भावों का-दोनों का-आस्वादन समान रूप में होता है-अर्थात् भाव और उनकी वे अवस्थायें समान रूप से आस्वाद (चर्वणा) के विषय होते हैं, अतः कौन प्रधान है और कौन अप्रधान-अर्थात् भावप्रधान हैं या उनकी उक्त अवस्थायें यह निर्णय होना असम्भव है, तथापि जब स्थिति (विद्यमानता) की अवस्था में भावों की ही-न कि अवस्था की-प्रधानता स्वीकृत हो चुकी है, तब भाव-शान्ति आदि में भी शान्तिप्रतियोगित्व आदि रूप से अर्थात् शान्तिविशिष्टत्वेन, उत्पत्तिविशिष्टत्वेन, सन्धिविशिष्टत्वेन, और शबलताविशिष्टत्वेन रूपेण अभिव्यक्त होने वाले तत्तद्भावों की ही प्रधानता मानना उचित है, क्योंकि 'एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो बाधकाभावेऽपरत्रापि सञ्चरति' अर्थात् 'एक जगह निर्णय किया गया विषय, किसी खास बाधक के न रहने पर, दूसरी जगह भी माना जाता है' यह सिद्धान्त है।

अन्यथाऽनुपपत्त्यापि तत्र भावप्राधान्यं निर्धारयति—

किञ्च यदि भावशान्त्यादौ भावो न प्रधानम्, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्यादिरेवेत्यभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेष्वभिहिततत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रशमादिध्वनित्वं न स्यात्।

स भाव उपसर्जनमप्रधानं यत्र, स तदुपसर्जनकः । यदिति भावशान्त्यादिध्वनौ शान्त्यादेरेव, नतु भावस्य प्राधान्यं स्वीक्रियते, तर्हि यत्र काव्येषु भावस्य व्यङ्ग्यता, शान्त्यादेस्तु वाच्यता, तत्र भावशान्त्यादिध्वनित्वव्यवहारो भवति भावप्राधान्यात्, सम्प्रति शान्त्यादेरेव प्राधान्याभ्युपगमे स नैव स्यात्, शान्त्यादेर्वाच्यत्वात्, तस्माद्भावप्राधान्यमेवाभ्युपेयमित्याशयः ।

यदि आप यह मानेगें कि भावशान्ति आदि में भाव प्रधान नहीं है, अपि तु गौण हैं—अर्थात् वे शान्ति आदि अवस्थायें ही प्रधान हैं, जिनके विशेषण रूप से वहां भाव रहते हैं, तब जहां भावव्यङ्ग्य रहते हैं और उनकी शान्ति आदि अवस्थायें वाच्य रहती हैं, वहां आप के हिसाब से भावशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं हो सकेगीं ।

तदेवोपपादयन्नादौ तादृशं भावध्वनिमुदाहरति—

तथा हि—

खण्डितावृत्तं वर्णयति—

'उषसि प्रतिपक्षनायिका-सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये ।
सुदृशो नयनाब्जकोणयो-रुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः ॥'

उषसि प्रभाते, प्रिये वल्लभे, प्रतिपक्षनायिकासदनात् सपत्नीगृहात्, अन्तिकं समीपम्, अञ्चत्यागच्छति सति, सुदृशो नायिकायाः, नयनाब्जकोणयोर्नेत्रकमलप्रान्तभागयोः, अरुणद्युतिरमर्षजन्या रक्तकान्तिः, त्वरया झटिति, उदियायोत्पेद इत्यर्थः ।

देखिये । एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि-जब प्रियतम प्रातः काल में विरोधिनी नायिका (सपत्नी) के घर से अपने घर आये, तब सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्रकमल के कोनें में झट अरुणकान्ति उदित हो गई ।

अत्र काव्येऽमर्षभावस्योदयो यद्यप्युत्पूर्वकेणेण्धातुनाऽभिहितः, किन्त्वमर्षभावो व्यङ्ग्य एवेति भवत्येवामर्षभावोदयध्वनिव्यपदेशः, भवन्मते तूदयस्यैव प्रधानस्य वाच्यत्वात् स न स्यादित्याह—

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात् ।

यहां 'उदियाय' इस क्रियापदवटक उत्पूर्वक इण् धातु से उदय की प्रतीति वाच्य रूप से ही कराई जा रही है, अतः आपके हिसाब से यहां भावोदय की ध्वनि नहीं हो सकती ।

अप्रधानप्रयुक्तामेव व्यवहारोपपत्तिमाशङ्क्य निराकरोति—

(ननु) उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद्ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तेः ।

औपयिकत्वं प्रयोजकत्वम् ।

ननूदयोऽत्र यद्यपि वाच्यः, किन्त्वमर्षो भावस्तु व्यङ्ग्य एवास्तीति तमादायैव भावध्वनिव्यवहार उपपद्येतेति शङ्कायाम्, 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इति सिद्धान्तेन प्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेन ध्वनित्वाप्रयोजकत्वेऽप्रधानस्यामर्षभावस्य व्यङ्ग्यस्यापि प्राधान्याभावाद्ध्वनित्वप्रयोजकत्वासम्भवादिति समाधानम् ।

यदि आप कहें कि उदय के वाच्य हो जाने पर भी अमर्षभाव तो वाच्य नहीं होता, अतः यहां अमर्षभावोदय की ध्वनि मानने में कोई बाधा नहीं, तो यह भी संगत नहीं, क्योंकि आपके हिसाब से तो भावोदय आदि ध्वनिस्थल में उदय आदि ही प्रधान होते हैं, अतः जब प्रधान (उदय) ही वाच्य हो जाने के कारण ध्वनि शब्द से व्यवहृत होने योग्य नहीं रहा, तब अप्रधान (अमर्षभाव) प्रयुक्त ध्वनि का व्यवहार करना समुचित नहीं ।

स्वमतेऽनुपपत्त्यभावं दर्शयति—

अस्मन्मते तूत्पत्तेर्वाच्यत्वेऽप्युत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदयध्वनिव्यपदेशः ।

भावस्यैव तत्र प्राधान्यमभ्युपगच्छतामस्माकं मते त्ववच्छेदकतयाऽप्रधानस्योदयस्य वाच्यत्वेऽपि, प्रधानस्य भावस्य व्यङ्ग्यत्वेन ध्वनित्वमुपपन्नमेवेत्याकूतम् ।

हाँ ! हमारे मत के अनुसार यहां अमर्ष-भाव-ध्वनि का व्यवहार अवश्य हो सकता है, क्योंकि हम भावोदय आदि में भी भाव को ही प्रधान मानते हैं, उदय आदि को नहीं, अतः अप्रधान उदय के वाच्य हो जाने पर भी प्रधान भाव (अमर्ष) के वाच्य नहीं—व्यङ्ग्य होने के कारण भावोदय-ध्वनि मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है ।

भावप्राधान्यानभ्युपगमे भावशान्तिध्वनित्वानुपपत्तिमपि दर्शयति—

एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रशमस्य वाच्यत्वे भावशान्तिध्वनित्वं न स्यात् ।

एवं भावोदयवत् व्यज्यमानो भावः प्रतियोगी यस्य तादृशस्य प्रशमस्य भावशान्तेः ।

यत्र काव्ये भावो व्यङ्ग्यस्तच्छान्तिस्तु वाच्याऽस्ति, तत्र भावशान्तिध्वनिव्यवहारो भवति, स इदानीं न स्यात्, त्वन्मते प्रधानीभूतायाः शान्तेर्वाच्यत्वादिति सारम् ।

इसी तरह आपके मत में जहां शान्ति (नाश) का प्रतियोगी-अर्थात् जिसकी शान्ति वर्णनीय हो, वह भावव्यङ्ग्य है और शान्ति वाच्य है, वहां भावशान्ति की ध्वनि नहीं होगी।

तदुदाहरति—

यथा—

मानिन्या अमर्षभावशान्तिं वर्णयति—

'क्षमापणैकपदयोः, पदयोः पतति प्रिये ।
शेमुः सरोजनयना-नयनारुणकान्तयः ॥'

प्रिये दयिते, क्षमापणस्य स्वकृतापराधमर्षणस्य, एकपदयोरसाधारणस्थानयोः, पदयोश्चरणयोः, पतति सति, सरोजनयनायाः पद्माक्ष्याः, नयनयोरमर्षजनिताः, अरुणकान्तयो रक्तद्युतयः, शेमुर्विनेशुरित्यर्थः । अत्र नेत्रारुणकान्तिशान्त्याऽमर्षभावो व्यङ्ग्यः, तच्छान्तिस्तु वाच्येति भावशान्तिध्वनित्वं सिद्धम्, इदानीं भावप्राधान्यानभ्युपगमे शान्तेर्वाच्यत्वात् तन्न सिध्येत्, तस्माद्भावस्यैव प्राधान्यमभ्युपेयमित्याशयः । इह क्षमतेरादन्तत्वाभावात् पुको दौर्लभ्येन क्षमापणपदसाधनं नामधातुप्रक्रियया कथञ्चन विधेयम् ।

जैसे—एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि-क्षमा करवाने के एक (सर्व प्रधान) स्थान चरणों पर पति के गिरते ही सरसिज के समान नयनवाली नायिका के नयनों की अरुण कान्तियाँ शान्त हो गईं । यहां शान्ति के वाच्य होने पर भी उस शान्ति का प्रतियोगी अमर्षभाव नेत्रगत अरुणकान्ति के कारण रूप में व्यङ्ग्य है, अतः यहां भावशान्ति ध्वनि होती है, आप के हिसाब से वह नहीं होगी ।

शान्त्यादिप्राधान्यवादी पुनरशङ्कते—

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयादरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितम्, न तु तादृशप्रशमादिव्यङ्ग्यस्य रोषप्रशमादेः, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात् ।

नन्वत्र 'शेमु'-रिति पदेन वाच्याऽपि शान्तिर्यतोऽरुणकान्त्यैवान्वेति, तस्मादरुणकान्तिशान्तिरेवात्र वाच्या, नत्वरुणकान्तिशान्तिव्यङ्ग्या रोषरूपामर्षशान्तिरपि, व्यङ्ग्यस्य

व्यञ्जक (वाच्य) स्य च पृथक्तया आवश्यकत्वाद्भावशान्तिध्वनित्वेऽत्र किमपि न बाधकमिति पूर्वपक्षाशयः ।

यदि आप कहें कि भावशान्त्यादि स्थल में शान्ति आदि की ही प्रधानता मानने पर भी 'उषसि प्रतिपन्न……' इत्यादि तथा 'समापणैक……' इत्यादि पद्यों में भावोदयादि-ध्वनि मानी जा सकती है, क्योंकि—उक्त दोनों पद्यों में जो उदय और शान्ति वाच्य हैं, उनका अन्वय अरुणद्युति और अरुणकान्ति के साथ है, अतः अरुणद्युति का उदय तथा अरुणकान्ति की शान्ति भले ही वाच्य हो जाय, परन्तु प्रथम पद्य में अरुणद्युति के उदय से व्यक्त होने वाला अमर्षभाव का उदय तथा द्वितीय में अरुणकान्ति की शान्ति से अभिव्यक्त होने वाली अमर्षभाव की शान्ति वाच्य नहीं होते। कारण, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक (वाच्य) पृथक्-पृथक् होते हैं—यह मानना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि अरुणद्युति के उदय और अरुण कान्ति की शान्ति के वाच्य होने पर भी अमर्ष का उदय और रोष (अमर्ष) की शान्ति व्यङ्ग्य ही रहे, क्योंकि अरुणद्युति का उदय और अरुण-कान्ति की शान्ति व्यञ्जक हैं और अमर्षोदय तथा अमर्षशान्ति हैं व्यङ्ग्य।

स्वपूर्वपक्षदार्ढ्यार्थमवान्तरशङ्कां विधाय निरस्यति—

न चारुण्यव्यङ्ग्यरोषस्यैव वाच्यीभूतप्रशमाद्यन्वय इति वाच्यम्, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योरानुपूर्व्येण सिद्धतया, वाच्यान्वयबोधवेलायां वाच्यैः सह व्यङ्ग्यान्वयानुपपत्तेः।

आनुपूर्व्यं क्रमः ।

ननु 'शेमु' रित्येतत्पदाभिहितायाः शान्तेः, वाच्यया नयनारुणकान्त्या, व्यज्यमानेन रोषेण (अमर्षेण) सहैवान्वय इति भावशान्तेर्वाच्यत्वात् पुनरपि ध्वनित्वमिह दुर्घटमेवेत्याक्षेपस्य, वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योः कार्यकारणभावात् क्रमिकत्वस्यावश्यकतया यौगपद्यासम्भवाद् व्यङ्ग्यस्य रोषस्यात्र वाच्यया शान्त्या सह वाच्यार्थबोधावसरे व्यङ्ग्यार्थानुपस्थितेरन्वयासम्भवाद् व्यङ्ग्यरोषस्य वाच्यशान्त्याऽन्वयाभावाद् भावशान्तिध्वनित्वं स्यादेवेति समाधानम्।

यदि हम कहें कि—वाच्य नयनारुणकान्ति से व्यङ्ग्य होने वाले अमर्ष का ही वाच्य उदय तथा शान्ति के साथ अन्वय है—अर्थात् हम व्यङ्ग्य का ही वाच्य के साथ अन्वय मान लेते हैं, तात्पर्य यह कि इस तरह मान लेने पर भावोदय तथा भावशान्ति में वाच्यता हो जायगी, तो आप कहेंगे, यह अयुक्त है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि पहले वाच्य की प्रतीति (जो कारण है) होती है, फिर व्यङ्ग्य की (जो कार्य है), अतः यह मानना पड़ेगा कि—जिस समय वाच्यों का अन्वय होता है, उस समय व्यङ्ग्य उपस्थित ही नहीं हो सकता, फिर बताइये वाच्यों के साथ व्यङ्ग्यों का अन्वय कैसा ?

उक्तं समर्थयति—

अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयोः' इत्यस्यान्वयो न स्यात्।

अन्यथा वाच्यव्यङ्ग्ययोरपि मिथोऽन्वयाङ्गीकारे, 'सुदृशः' इत्यादौ वाच्यस्य नायिकायाः सुदृक्त्वस्य नयनारुणकान्त्युदयव्यङ्ग्येन रोषोदयेन सहान्वयो बाधितत्वान्न स्यात्, तस्माननुशब्दारब्धाभावप्राधान्यनिरसनशङ्का सुस्थैवेत्याशयः ।

यदि वाच्य और व्यङ्ग्य का अन्वय मान लिया जाय, तब 'उषसि……' इत्यादि प्रथम पद्य में 'सुन्दर नयनवाली नायिका के नेत्र कमलों के कोने में' यह जो अधिकरण कारक है, उसका अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि अधिकरण कारक का कर्ता अथवा कर्म के द्वारा ही क्रिया में अन्वय होता है और यहां उक्त रीति से 'उदियाय' इस क्रिया का कर्ता मान लिया गया व्यङ्ग्य अमर्ष, वाच्य अरुणद्युति नहीं, फिर कहिये, कैसे उस अमर्ष रूप कर्ता में तथा उसके द्वारा उदय क्रिया में उक्त अधिकरण का अन्वय होगा—अर्थात्

अमर्ष-चित्त की वृत्ति है, नयन में वह आवेगा कहां से ? फलतः उक्त पद्य में अनन्विता-र्थक-असंगत-हो जायगा, अतः वाच्यशान्ति आदि का अरुणकान्ति आदि के साथ ही अन्वय मानना ठीक है, सारांश यह कि इन पद्यों में भावशान्ति आदि वाच्य नहीं हो सकती। और जब वह वाच्य नहीं होगी, तब भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की ही प्रधानता मान लेने पर भी कोई दोष नहीं होगा।

उत्तरयति—

मैवम्।

एवं 'क्षमे'-त्याद्युदाहरणे वाच्यव्यङ्ग्ययोरन्वयाभावादनुपपत्तिविरहाद् भावस्य भाव-शान्त्यादावप्राधान्यं, मा नैवेत्यर्थः।

पर ऐसा नहीं कह सकते-अर्थात् भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भावों की अप्रधानता और शान्ति आदि की प्रधानता नहीं मान सकते।

भावप्राधान्यसमर्थनायापत्तिप्रकाशकं स्थलान्तरमाचष्टे—

एवमपि—

उक्तोदाहरणयोरनुपपत्त्यभावेऽपि।

क्योंकि उक्त दोनों श्लोकों में उक्त रीति से किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं होने पर भीः—

अननुनयेऽपि मानापगमं वर्णयति—

'निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां, शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि, रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥'

अङ्गनानां गोपनितम्बिनीनां, धृतिं धैर्यं, निर्वासयन्तीं दूरे गमयन्तीं, हरेर्गोविन्दस्य, शोभां श्रियं, धयन्त्या नयनाभ्यां पिबन्त्याः, एणदृशो मृगाक्ष्या मानिन्याः, चिरापराधस्मृत्या दीर्घकालकृतापराधस्मरणेन, मांसलः पुष्टोऽपि रोषोऽमर्षः क्षणप्राघुणिकोऽचिरस्थाय्यतिथि-र्बभूवेत्यर्थः।

अनुनयाभावेऽपि हरिशोभेक्षणाक्षिप्तचित्ता सा सद्यः प्रससादेति सारम्।

एक सखी दूसरी सखी से कहती है कि—स्त्रियों के धैर्य को निर्वासित करती हुई अर्थात् निकाल फेंकती हुई भगवान् कृष्णचन्द्र की शोभा को जभी मानिनी मृगाक्षी ने पिया—सादर देखा, तभी बहुत दिनों तक लगातार किये गये अपराधों के स्मरण से परिपुष्ट बना हुआ भी रोष (अमर्ष) एक क्षण भर का मेहमान हो गया—नहीं ठहर सका।

आपत्तिं प्रतिपादयति—

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रश-मस्य व्यङ्ग्यत्वात्।

'निर्वासयन्ती'मित्यादिपद्येऽपि भावाप्रधान्यवादिमते भावशान्तिध्वनित्वमापद्येत, रोषभावस्याप्रधानस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानीभूतायास्तच्छान्तेः क्षणप्राघुणिकीभवनव्यङ्ग्यतायाः सद्भावात्। भावप्राधान्यवादिमते तु रोषस्य वाच्यत्वान्नात्र तत्त्वापत्तिरिति भावः।

उक्त श्लोक में आप के मत से भावशान्ति की ध्वनि हो जायगी, कारण यह कि आप के हिसाब से अप्रधानभाव (रोष-अमर्ष) के वाच्य होने पर भी प्रधान शान्ति वाच्य नहीं, अपितु 'क्षणप्राघुणिक'-अर्थात् 'क्षणभर के मेहमान' पद से व्यङ्ग्य ही है।

तत्रैव पुनराशङ्क्य समाधत्ते—

उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वये शमत्वोदयत्वाभ्यां शमोदययोर्वाच्यत्वादनुदाहरणत्वापत्तेः।

भावस्य तच्छान्त्यादेश्च वाच्यत्वाभाव एव भावशान्त्यादिध्वनित्वमिति स्वीकारे तु 'निर्वासयन्ती'मित्यादौ भावस्य वाच्यत्वादापत्तिवारणं स्यादिति न वाच्यम्, यतस्तथा स्वीकारे 'उषसी'त्यादौ 'क्षमे'त्यादौ च क्रमेणोदयस्य शान्तेश्च वाच्यत्वाद् ध्वनित्वमिष्टमपि नोपपद्यत इति तात्पर्यम्।

यदि आप कहें कि प्रधान और अप्रधान दोनों की अवाच्यता-अर्थात व्यङ्ग्यता अपेक्षित है, तात्पर्य यह कि जहां भाव और उसके शान्ति आदि दोनों ही व्यङ्ग्य रहे, वहीं भावशान्ति आदि की ध्वनि मानेंगे, अतः उक्त पद्य में शान्ति के व्यङ्ग्य रहने पर भी भाव (रोष) के वाच्य हो जाने से भावशन्ति-ध्वनि की आपत्ति नहीं हो सकती, तब मैं कहता हूं कि इस तरह मानने पर यहां तो आपत्ति का वारण हो जायगा, परन्तु पूर्वोक्त दोनों पद्यों (उषसि······इत्यादि और क्षमापणैक······इत्यादि) में उदयरूप से उदय (फिर वह अमर्ष का हो चाहे अरुणद्युति का) और इसी तरह शान्तिरूप से शान्ति (फिर वह रोष की हो चाहे अरुणकान्ति की) वाच्य हो गये हैं, अतः वे पद्य उन दोनों ध्वनियों के उदाहरण नहीं हो सकेंगे।

ननु मा भूत् तदुदाहरणद्वये ध्वनित्वमित्यत आह—

इष्टापत्तिस्तु सहृदयानामनुचितैव।

साहित्ये सहृदयानुभवस्यैव प्रधानप्रामाण्याङ्गीकारात् सहृदयैः स दोषोऽनुभवविरोधात् सोढुं न शक्यत इत्यभिसन्धिः।

उक्त आपत्ति को स्वीकार कर लेना-कह देना—कि हम तो इन्हें भावोदय और भावशान्ति की ध्वनियां मानते ही नहीं, सहृदयों के लिये अनुचित है—अर्थात् साहित्य जगत में अनुभवसिद्ध वस्तु का अपलाप कम से कम सहृदयों को नहीं करना चाहिये।

निगमयति—

तस्माद्भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादेस्तूपसर्जनत्वम्, अतो न तस्य वाच्यतादोषः।

अपिशब्दो भावस्थितिसमुच्चायकः।

तस्माद् यथा भावस्थितौ भावानामेव प्राधान्यं स्थितेस्त्वप्राधान्यं, तथैव भावशान्त्यादिष्वपि भावानामेव प्राधान्यं, शान्त्यादेस्त्वप्राधान्यं स्वीकार्यम्। तथाचाप्रधानानां शान्त्यादीनां वाच्यत्वं न ध्वनित्वस्य विघटकमिति सारम्।

भावध्वनेर्भावस्थितिध्वनेश्चैकरूपतया पृथगुपादानस्याभावो बोध्यः।

अतः यह सिद्ध होता है कि भावशान्ति आदि की ध्वनियों में भी भाव ही प्रधान रहते हैं और चमत्कारी भी, शान्ति आदि तो उपसर्जन अर्थात् गौण ही रहते हैं, अत एव शान्ति आदि का वाच्य हो जाना भी कोई दोष नहीं, सारांश यह कि शान्ति आदि के वाच्य हो जाने पर भी यदि भाववाच्य नहीं होंगे—व्यङ्ग्य होते रहेंगे, तब भावशान्त्यादि की ध्वनियां मानी जा सकती हैं।

नन्वेवं वैलक्षण्याभावाख्याने भावध्वनेर्भावशान्त्यादिभ्यः पृथगुपादानस्य निष्प्रयोजनकत्वापत्तिरतो वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वदिरपीति।

निदानं मूलम्। एकत्र शुद्धभावध्वनिषु। स्थित्यवच्छिन्नत्वं स्थितिविशिष्टत्वम्। अमर्षस्यैवात्र प्रकृतत्वादुल्लेखः। विशेषणस्याव्यावर्तकतया विशेष्यमात्रस्य चमत्कारकत्वाद्

'अमर्षादित्वमेव चा' इति द्वितीयकल्पापादानम्। अन्यत्र भावशान्त्यादिध्वनिषु। इतिर्निदान-समाप्तिसूचकः।

भावध्वनिषु स्थित्यवस्थापन्नत्वविशिष्टस्यामर्षादित्वस्य, वस्तुतः केवलामर्षादित्वस्य प्रकारतयाऽमर्षादित्वप्रकारकचर्वणैव चमत्कारिणी, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्था-पन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वस्य प्रकारतया प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षादित्वप्रकारक-चर्वणायाश्चमत्कारित्वमिति चमत्कारकचर्वणायां भावध्वनिष्वमर्षत्वादिनाऽमर्षादीनामेव भानम्, भावशान्त्यादिध्वनिषु तु प्रशाम्यदवस्थापन्नत्वादिविशिष्टामर्षत्वादिनाऽमर्षादीनां भानमित्येषविशेष इत्यभिप्रायः।

अब यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि यदि उक्तरीति से भावध्वनि और भावशा-न्त्यादि ध्वनि में समानता सिद्ध कर देते हैं—अर्थात् उन दोनों में कोई वैलक्षण्य नहीं मानते, तब भावध्वनि से पृथक् भावशान्त्यादि ध्वनि का उल्लेख व्यर्थ है, इस शङ्का के उत्तर में ग्रन्थकार उक्त समानता के रहने पर भी उन दोनों में भिन्न तरह के वैलक्षण्य का प्रतिपादन करते हैं—'इदं पुनः' इत्यादि। भावध्वनियों की अपेक्षा भावशान्त्यादिध्वनियों के चमत्कार (आह्लाद) में विलक्षणता है और उस विलक्षणता का कारण यह है कि भावध्वनियों में भावों की चर्वणा (आस्वादन) स्थितिरूप एक अवस्थाविशिष्ट अमर्ष आदि के रूप में होती है और भावशान्त्यादि ध्वनियों में स्थलभेद से शान्ति, उदय आदि अनेक अवस्थाविशिष्ट अमर्ष आदि भावों की चर्वणा होती है, वस्तुतः तो भावध्वनियों में केवल अमर्ष आदि के रूप में ही भावों की चर्वणा होती है यही कहना चाहिये, क्योंकि वहां स्थितिरूप अवस्था को जोड़ना व्यर्थ है, कारण यह कि विशेषण किसी सजातीय के वारणके लिये लगाया जाता है—जैसे 'श्वेत अश्व' यहां श्वेत-विशेषण श्याम अश्व के वारण के लिये आता है—यहां तो 'स्थित्यवस्थापन्न' इस विशेषण से किसी का वारण नहीं होता, क्योंकि भावध्वनियों में सभी भाव स्थित्यवस्थापन्न रहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि भावध्वनियों में होने वाली चर्वणा में केवल भावों (अमर्षादिकों) का ही भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शुद्ध भावास्वादजन्य आह्लादरूप पर्यवसित हुआ, और भावशान्त्यादिध्वनियों में होनेवाली चर्वणा में शान्ति-उदय आदि अवस्था सहित अमर्षादि भावों का भान होता है, अतः तज्जन्य चमत्कार शान्ति-उदय आदि सहित भावास्वादजन्य आह्लाद रूप फलित होता है। स्पष्ट शब्द में यों कह सकते हैं कि कच्चे आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले और पके आम के आस्वाद से उत्पन्न होने वाले आनन्दों में वस्तु के एक होने पर भी जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही अन्तर शुद्ध भावास्वादजन्य और शान्त्याद्यवस्था सहित भावास्वादजन्य चमत्कार में है।

ननु भावशान्त्यादिवद् रसशान्त्यादीनां निरूपणं कुतो न कृतमित्यत आह—

रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति स न विचार्यते।

रसानां स्रक्सूत्रन्यायेनाधारतया मूलभूतेषु स्थायिभावेषु प्रशाम्यदवस्थादिसम्बन्धसत्त्वे तेषां स्थायित्वस्यैव विलोपप्रसङ्गान्न तदवस्थासम्बन्धः सम्भवति, यदित्वभिव्यक्तेरस्थिरत्वात्त-न्निष्ठप्रशाम्यदाद्यवस्थामेव रसेष्वारोप्य गौणो रसशान्त्यादिव्यवहारः सम्भवतीत्युच्यते, तदा ततश्चमत्कारो न स्याद्, आरोपस्य चमत्काराजनकत्वात्, तस्माद्रसशान्त्यादयो न निरूप्यन्त इत्यर्थः।

अब भाव के जैसे रसों के भी उदय शान्ति आदि की ध्वनियां क्यों नहीं होती इसका विचार करते हैं—'रसस्य तु' इत्यादि। अभिप्राय यह है कि रसों की उदय-शान्ति आदि अवस्थायें नहीं हो सकती, क्योंकि उनका मूल है स्थायीभाव, और यदि उसकी भी उत्पत्ति तथा-शान्ति आदि अवस्थायें होने लगीं, तब तो उसका स्थायित्व ही नष्ट हो

जाय, आदि से अन्ततक 'स्रकूसूत्र' न्याय से उसका बना रहना ही तो उसमें स्थायित्व है, यदि वही न रहे, तब उसमें और साधारण भावों में भेद ही क्या रहेगा? यदि कहें कि स्थायीभाव के स्थिर रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति तो स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है, अतः उसके उत्पत्ति-विनाश तो हो सकते हैं, फिर उन्हीं उत्पत्ति-विनाशों को इसमें आरोप करके गौण रस शान्त्यादि का व्यवहार हो सकता है, तब उसका उत्तर यह है कि आरोप चमत्कारजनक नहीं होता, अचमत्कारी होने के कारण ही रसशान्ति आदि की ध्वनियां नहीं मानी जाती हैं।

अथ 'उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' इति प्राक् प्रतिज्ञातां रसादीनां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतामपि व्यवस्थापयति—

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटे प्रकरणे, झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु, सहृदयतमेन प्रमात्रा, सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति।

हेतुहेतुमतोः कारणकार्ययोर्वाच्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसादिप्रतीत्योः। पौर्वापर्यं पूर्वापरीभावः। अलक्षणमज्ञानम्। मान्थर्यं विलम्बः। निगदितो रसनिरूपणादेतत्पर्यन्तं निरूपितः सर्वोऽप्ययं रत्यादिलक्षणो रसादिस्वरूपो व्यङ्ग्यप्रपञ्चो व्यङ्ग्यसमुदायः, प्रकरणे प्रसङ्गे, स्फुटे स्पष्टवेद्ये सति, अत एव विभावानुभावव्यभिचारिभावेषु झगित्यविलम्बेन प्रतीतेषु ज्ञातेषु सत्सु, सहृदयतमेनातिभावकेन, प्रमात्राऽऽस्वादकपुरुषेण, सूक्ष्मेणाल्पिष्ठेनैव समयेन, प्रतीयत आस्वाद्यत इति वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीतिक्रमस्य शैघ्र्येण सम्यगलक्षणादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इति व्यवहारः। यत्र पुनः प्रकरणमस्फुटतया विचारेण वेद्यम्, क्वचित् प्रकरणस्य स्फुटत्वेऽपि विभावादय उन्नेया अनुक्तत्वादूहनीया एव सन्ति, तत्र कारणस्य प्रकरणविभावादिप्रत्ययस्य विलम्बेन, कार्यस्य रसादिप्रत्ययस्य विलम्ब औपपत्तिक एवेति क्वचित्तादृशस्थले रसादिप्रतीतेः संलक्ष्यक्रमत्वस्यापि व्यवहार इत्याशयः।

'उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्' अर्थात् 'स्थायीभाव आदि-रस भाव आदि-भी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते हैं, इस बात का उपपादन आगे करूंगा' इस तरह की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार से पहले की जा चुकी है, तदनुसार रसादिकों की संलक्ष्यक्रमता की व्यवस्था करते हैं—'सोऽयम्' इत्यादि, यह जो पूर्वोक्त रस-भाव आदि व्यङ्ग्यों का समुदाय है, वह जहां प्रकरणस्पष्ट हो, वहां विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव की प्रतीति शीघ्र हो जाने से अतिसहृदय पुरुषों को बहुत ही थोड़े समय में प्रतीत हो जाता है, अतः अनुभवकर्ता सहृदय को कारण और कार्य की पूर्वापरता का क्रम लक्षित नहीं होता, इसलिये यह (रसभावादि) अलक्ष्यक्रम कहा जाता है। परन्तु जहां प्रकरण विचार करने के बाद समझने योग्य हो और जहां प्रकरण के स्पष्ट रहने पर भी विभाव आदि का वर्णित न होने के कारण ऊह करना पड़े, वहां सामग्रीसमवधान के विलम्ब प्रयुक्त चमत्कार में भी कुछ मन्थरता आ जाती है—अतः वैसी जगह में रसभाव आदि उक्त व्यङ्ग्यो का समूह संलक्ष्यक्रम भी होता है।

तदेव स्थलं दर्शयति—

यथा—

'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इति प्रागुदाहृते (४१ पृष्ठे) पद्ये 'सम्प्रति' इत्येतदर्थावगतिर्विलम्बेन।

एतत्पद्यघटकस्य सम्प्रतीति पदस्य 'प्राङ्नवोढात्वेन तस्याः सङ्कोचोऽन्यविध आसीत्, अधुना प्रियप्रवासपूर्वरजन्यां तु सङ्कोचोऽपि सङ्कुचित इवाभू'-दित्यादेरर्थस्यावगमः पूर्वापरसन्दर्भार्थानुसन्धानादेव लभ्य इति व्यङ्ग्यस्य रतिभावस्य संलक्ष्यक्रमतैवेति भावः ।

जैसे—'तल्पगतापि च सुतनुः...' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में 'सम्प्रति' पद का अर्थ विलम्ब से ज्ञात होता है—अर्थात् 'पहले नवोढ़ा होने के नाते नायिका में संकोच की मात्रा अधिक थी, परन्तु अब प्रियगमन की पूर्वरात्रि में भावी विरह के ज्ञान के कारण वह सङ्कोच कुछ शिथिल पड़ गया, इत्यादि अर्थ की प्रतीति प्रकरण के विचार कर लेने के बाद ही होती है, अतः यहां शृङ्गार रस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही है ।

ननु रसादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायाः सार्वत्रिकी प्रसिद्धिरेतावता विरुध्यतीत्यत आह—

न खलु धर्मिग्राहकमानसिद्धं रत्यादिध्वनेरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम् ।

येन प्रमाणेन धर्मिणः सिद्धिर्भवति, तद्धर्मिग्राहकं मानमुच्यते, तच्चात्र रसादौ सहृदयहृदयानुभव एव ।

रसादिध्वनेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमात्रत्वस्य ज्ञापकं धर्मिग्राहकं यदि किमपि मानमुपलभ्येत, तर्हि तदवश्यमनिच्छताऽप्यभ्युपेयं स्यात्, तस्यानुपलम्भे तु संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वस्यापि स्वीकारे न किमपि बाधकमित्याशयः ।

रति आदि की ध्वनि की अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता धर्मिग्राहक मान से सिद्ध नहीं है—अर्थात् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतारूप धर्म का धर्मी (आश्रय) जो रस आदि है, उसका ग्राहक (उसको सिद्ध करनेवाला) मान (प्रमाण) सहृदयों का अनुभव है, उससे उनकी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यता सिद्ध नहीं होती, तात्पर्य यह है कि सहृदयों का अनुभव यह नहीं कहता कि रसादि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही हों, कहीं कहीं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप में भी रसादिकों का अनुभव सहृदयजन करते हैं ।

उक्तं समर्थयति—

अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

अत एव रसादिध्वनेरलक्ष्यक्रममात्रत्वाभावादेव ।

विवाहवार्ताश्रवणसलज्जपार्वतीवृत्तं वर्णयति—

> **'एवंवादिनि देवर्षौ, पार्श्वे पितुरधोमुखी ।**
> **लीलाकमलपत्राणि, गणयामास पार्वती ॥' इति ।**

कुमारसम्भवषष्ठसर्गघटकं पद्यमिदम्, पार्वतीविवाहनिर्णयाय हिमवदन्तिकं शिवेन प्रहितोऽङ्गिरा हिमवन्तं यदा तद्वृत्तमशिश्रवत् तात्कालिकस्थितिवर्णनपरम् ।

देवर्षावङ्गिरसि, एवंवादिनि प्राङ्निर्दिष्टशिवसन्देशं वदति सति, पितुर्हिमाचलस्य, पार्श्वे पार्श्वसमीपे स्थिता पार्वती, अधोमुखी कुमारीजनसुलभस्वविवाहवृत्तश्रवणजलज्जया नतानना, लीलाकमलस्य स्वहस्तस्थितपद्मस्य, पत्राणि दलानि, गणयामासेत्यर्थः ।

जिसलिये रसभाव आदि की ध्वनियां भी संलक्ष्यक्रम होती हैं, अत एव लक्ष्यक्रमों के प्रसङ्ग में 'एवंवादिनि देवर्षौ...' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उदाहरण रूप से उद्धृत किया है । यह पद्य 'कुमारसम्भव' का है । इसका पूर्व प्रसङ्ग तथा अर्थ यह है—पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वचन दिया । तदन्तर लोकरीति के निर्वाहार्थ शिवजी ने अङ्गिरा ऋषि को पार्वती की मंगनी के लिये हिमालय के पास भेजा । जब देवर्षि जी हिमालय से पार्वती के विवाह सम्बन्धी बातें कर रहे थे, तब की बात कवि कह रहा है कि—देवर्षि जब इस

तरह बातें करने लगे, तब पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुख करके खेलने के लिये रखे हुये कमलों के पत्ते को गिनने लगी।

उपपादयति—

'अत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्त्रगणनस्योपपत्त्या मनाग्विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं व्रीडायाश्चमत्करणाल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः' इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः। 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः।' इति चाभिनवगुप्तपादाचार्याः।

देवर्षिरिहाङ्गिरा न तु नारदः, 'अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु। ऋषयो नोदयामासुः, प्रत्युवाच स भूधरम्।' इत्यनेन तत्रत्येन ततः पूर्वेण पद्येन, 'देवर्षाविङ्गिरसि' इति मल्लिनाथकृतैतद्विवरणेन च तथैवावधारणात्, विवाहवार्तायै शिवप्रहितेष्वृषिषु नारदस्यानुल्लेखाच्च। अत्र हि पार्वत्या वदननमनं लीलाकमलगणनं च कुमारीस्वभावादपि सम्भवतीति न झटित्येव तद्व्यापारद्वयं लज्जाया भावगोपनरूपावहित्थाया वा व्यञ्जने क्षमम्, किन्तु 'इदं व्यापारद्वयमस्याः स्वाभाविकम्, उत भावान्तरप्रयुक्तम्' इति जिज्ञासायां विवाहवृत्तान्तवर्णनात्मकप्रकरणपर्यालोचनया किञ्चिद्विलम्बेनेति लज्जाऽवहित्था वा व्यभिचारिभावोऽत्र संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एव, क्रमस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वादित्यानन्दवर्धनाचार्योक्तिरपि रसादीनां क्वचित् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतायां प्रमाणम्। तथा 'रसभावादिरर्थो रसादिरूपः पदार्थः (यद्यपि) ध्वन्यमानो व्यज्यमान एवास्ति, न तु वाच्यः, तथापि (व्यज्यमानत्वेऽपि) स सर्वोऽसंलक्ष्यक्रमस्यैव न विषयः, (किन्त्वस्फुटे प्रकरणादौ) क्वचित् संलक्ष्यक्रमस्यापि विषयः' इति लोचनेऽभिनवगुप्ताचार्योक्तिरपीह प्रमाणमिति सारम्।

उक्त पद्य को उद्धृत करने के बाद आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है कि–यहां जो पार्वती की अधोमुख होकर लीला–कमल–पत्र–गिनने की बात वर्णित है, वह तो बालिकाजन–सुलभ–स्वभाव के कारण भी हो सकती है, अतः शुरू शुरू में लज्जा की प्रतीति नहीं होती, किन्तु जब 'अङ्गिराऋषि की हिमालय से पार्वती के विवाह की बात हो रही थी' इस प्रसङ्ग का ज्ञान कुछ विलम्ब से होता है, तब लज्जा झलकती है अतः लज्जारूप सञ्चारीभाव यहां संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है। यद्यपि मूल में 'देवर्षि' पद का अर्थ नारद मान कर व्याख्या की गई है, परन्तु उक्त पद्य के पूर्व आये हुये कुमारसम्भव के पद्य और मल्लिनाथ की टीका के देखने से अङ्गिरा ही देवर्षि पद का अर्थ संगत प्रतीत होता है। अभिनवगुप्ताचार्य (ध्वन्यालोक की टीका लोचन के निर्माता) का भी यह कथन है कि 'रसभाव आदि पदार्थ व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी रस भाव आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के लक्ष्य नहीं होते अर्थात् वे संलक्ष्यक्रम भी होते हैं।'

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वाङ्गीकारे दोषमाशङ्कते—

स्यादेतत्—

यद्ययं रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्,—अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः' इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, 'तेनायं द्वादशात्मकः' इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत, वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतस्सम्भवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व–कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनादष्टादशत्वप्रसङ्गात्।

रसादीनां संलक्ष्यक्रमत्वं यदि स्वीक्रियते, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य वस्तुरूपस्यालङ्कार-रूपस्य च व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जको यो वाच्यार्थो वस्तुरूपोऽलङ्काररूपश्चेति द्विविधः, तस्य स्वतस्सम्भवित्वेन कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वेन च प्रकारेण प्रत्येकं त्रैविध्यात् षट्प्रकारा वस्तुध्वनयः षट्प्रकाराश्चालङ्कारध्वनय इति मिलिता द्वादश-प्रकाराः संलक्ष्यक्रमा अर्थशक्त्युद्भवध्वनयो यथा भवन्ति, तथैवेदानीं रसादिध्वनयोऽपि षड्विधवाच्यव्यङ्ग्यतया षड्विधास्ततोऽधिकाः स्युः, तथाच सङ्कलनादष्टादशविधत्वे संलक्ष्यक्रमध्वनेरर्थशक्त्युद्भवस्य, अभिनवगुप्ताचार्यैर्मम्मटभट्टैश्चोक्तम् द्वादशविधत्वं प्रकारा-धिक्याद् विरुद्धं स्यात्, तस्माद्रसादीनां संलक्ष्यक्रमता नाङ्गीकरणीयेति भावः।

अब यहां एक बहुत बड़ी शङ्का यह होती है कि यदि रसभाव आदि को भी संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य मानते हैं, तो संलक्ष्यक्रमध्वनियों की गणना करते समय जो 'अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह भेद हैं' यह अभिनवगुप्त की और 'इस तरह अर्थशक्त्युद्भवध्वनि बारह प्रकारके हैं' यह मम्मट की उक्ति कैसे संगत होगी, क्योंकि, व्यञ्जक अर्थ के दो भेद हैं—एक वस्तुरूप और दूसरा अलङ्काररूप और उन दोनों भेदों में से प्रत्येक के स्वतः-सम्भवी (अर्थात् संसार में मिल सकने वाला) कविप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविकल्पित कथनमात्र से सिद्ध) और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध (अर्थात् कविके द्वारा वर्णित वक्ता की प्रौढ़ोक्ति मात्रसे सिद्ध) इन तीन तीन, उपाधियों से तीन तीन भेद होते हैं, इस तरह से व्यञ्जकवाच्य अर्थ ६ प्रकार के हो जाते हैं, उनसे व्यङ्ग्य भी वस्तु अलङ्कार दोनों होते हैं, अतः पहले बारह भेद होते थे, अब तो वस्तु अलङ्कार के जैसे रस आदि भी छवो व्यञ्जकों से व्यङ्ग्य होंगे, फिर अर्थशक्तिमूलक ध्वनियों के भेद बारह की जगह अठारह हो जायगें।

समादधाति—

अत्रोच्यते—

प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया। रसीभावो हि नाम झगिति जाय-मानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम्। संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतैव न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तीनां विरोधः।

व्यवच्छेदार्थकेनैव कारणे न संलक्ष्यक्रमतयेति लभ्यते। रसीभवत्यरसो रसः सम्पद्यते। झगिति जायमानस्यालौकिकचमत्कारस्य विषयः कारणत्वेन गोचरः स्थायी स्थायिभावो यस्य स तादृशस्तस्य भावस्तत्त्वम्। तेषामभिनवगुप्तादीनामाशयस्य वर्णनेन व्याख्यानेन। प्रकटैः स्फुटप्रतीयमानैर्विभावादिभिः, अलक्ष्यक्रमतयैव (नतु संलक्ष्यक्रमत्वेन) व्यज्य-मानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवत्यरसोऽपि लोकोत्तरचमत्कारजनकत्वेन रसः सम्पद्यते, यतो झगितिजायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वमेव रसीभावोऽस्ति, विभावादीनाम-स्फुटत्वेन संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्तु रत्यादिर्न रसस्तादृशचमत्कारजनकत्वाभावात्, किन्तु वस्तुमात्रं केवलं व्यङ्ग्यवस्तु भवतीत्ययमेवार्थोऽभिनवगुप्तादीनां तात्पर्यविषयो वर्ण्येत चेत्, तर्हि संलक्ष्यक्रमस्य रत्यादे रसत्वाभावाद् वस्त्वन्तर्भावाच्च वस्तुध्वनिप्रकारैरेवैतत्प्रका-राणामपि गतार्थतया न प्रकाराधिक्यप्रयुक्तः पूर्वाचार्यमतविरोध इत्याशयः।

रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसादित्वस्यैवाभावान्न रसादिप्रकाराधिक्यप्रयुक्तःप्राचीनोक्ति-विरोधः इति सारम्।

उक्त शङ्का का उत्तर यह है कि 'जो रति आदि स्थायीभाव स्पष्ट प्रतीत होने वाले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों के द्वारा असंलक्ष्यक्रम के रूप में व्यक्त होता है, वही रस रूप होता है और जो रत्यादि संलक्ष्यक्रम के रूप में अभिव्यक्त होता है, वह रस-रूप नहीं होता। क्योंकि रसरूप होने का अर्थ ही यह है कि कार्यरूप से होने वाले अलौकिक चमत्कार का शीघ्र कारणरूप से स्थायीभाव विषय बन जाय—अर्थात् स्थायीभाव के अनुभव से होने वाले आह्लाद का शीघ्र होना ही स्थायीभाव का रस होना कहलाता है। इस तरह से यह सिद्ध हुआ कि संलक्ष्यक्रम के रूप में ध्वनित होने वाला स्थायी-भाव (रति आदि) रस किंवा भाव नहीं होता, किन्तु वस्तुमात्र रहता है' यदि इस तरह से अभिनवगुप्त आदि के अभिप्राय का वर्णन कर दिया जाय, तब उक्त आपत्ति नहीं होती, तात्पर्य यह कि इस तरह से उनके अभिभाय का वर्णन कर देने पर 'अर्थशक्तिमूल ध्वनियों के बारह भेद हैं' इत्यादि उक्तियों का विरोध नहीं होता, क्योंकि संलक्ष्यक्रम के रूप में ध्वनित होनेवाले रति आदि को वस्तुमात्र मान लेने पर वस्तुव्यङ्ग्य के जो ६ भेद होते हैं, उन्ही में वे भी आजाते हैं, फिर तत्प्रयुक्त ६ संख्या और बढ़ जाने से उक्त ध्वनियों की संख्या अठारह तक पहुंच जाने की कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती।

सर्वत्रासंलक्ष्यक्रमत्वेन प्रसिद्धस्य रत्यादेरिहोक्तमलक्ष्यक्रमत्वं कथमुपपद्यत इत्याशङ्कायामाह—

उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया।

अत्र रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमत्वस्य स्वीकारेऽर्थे, उपपत्तिः सङ्गतिस्तु विचारणीया सहृदयै-श्चिन्तनीयेत्यर्थः।

तथाचाहुर्नागेशभट्टाः—'विभावादिप्रतीते रसप्रतीतेश्च सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सहृदयेनाकलनेन, तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वानापत्त्या रसत्वभङ्गापत्तिः। विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकलसहृदयानुभवसाक्षिकमिति तवापि सम्मतमिति तदुपपत्तिर्बोध्या। नव्यास्तु—वक्तृवैशिष्ट्यप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात् तत्सहितविभावादिज्ञानोत्तरं जायमानरस-प्रतीतेर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानक्रमालक्षणेन चालक्ष्यक्रमत्वम्। तच्च प्रकरणादिज्ञान-विलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणेऽक्षतमेव, नहि विभावादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च क्रममादायालक्ष्यक्रमत्वम्, अपितु तज्जन्यस्य, एतदेवाभिप्रेत्य 'अर्थशक्तिमूलस्य द्वादश भेदाः' इत्यभिनवगुप्तोक्तिर्यत्किञ्चिद्वाच्यार्थापेक्षया क्रमोऽपि गृह्यत इत्यभिप्रेत्य लक्ष्यक्रमत्वो-क्तिर्यथाकथञ्चिन्नेया, नहि विभावादिप्रतीतिरहितयत्किञ्चिद्वाच्यार्थमात्रप्रतीतौ विगलितवेद्या-न्तरता सहृदयानुभवसाक्षिका, येन तत्क्रमग्रहणेऽपि रसत्वहानिः स्यादित्याहुः।

अलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर ही रत्यादि रस तथा भाव हैं, अन्यथा वस्तुमात्र इस अर्थ में युक्ति क्या हो सकती है यह विचारने की बात है। नागेशभट्ट यहां अपनी टीका में यह युक्ति बतलाते हैं कि रस आदि की (जिनको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य माना जाता है) सभी आलंकारिक 'विगलितवेद्यान्तर'—अर्थात् 'स्व (रसादि) ज्ञान के समय किसी भी अन्य ज्ञातव्य पदार्थों का सम्पर्क न रखने वाला' मानते हैं, अतः पण्डितराज को भी वह मान्य होगा। सहृदयों का अनुभव भी उसको मानने में साक्षी है। फिर विभाव आदि की प्रतीति और रति आदि की प्रतीति में जो सूक्ष्म काल का अन्तर होता है, जिसे क्रम कहा जाता है, उसकी प्रतीति जहां सहृदयों को हो जाती है, वहां विभावादिकों के और रति आदि के पृथक् पृथक् प्रतीत होने के कारण, रति आदि की प्रतीति के समय में भी विभावादिकों की प्रतीति पृथक् बनी रहेगी और जब वह बनी रहेगी तब विगलितवेद्या-न्तरता नहीं रहेगी यह बात स्पष्ट है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उस हालत में वह रत्यादि रसादि रूप नहीं हो सकता, अतः संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रत्यादि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, यह कथन युक्तिसंगत सिद्ध हो जाता है।

ननु रत्यादीनां संलक्ष्यक्रमतायां रसत्वाभावो यद्यभिनवगुप्तादीनामभिमतः स्यात्, तर्हि तेन 'रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव' इत्यत्र संलक्ष्यक्रमरत्यादितात्पर्येण रसपदस्योपादानं न स्यादित्याशङ्कायामभिधत्ते—

'रसभावादिरर्थः' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः।

अभिनवगुप्तोक्तवाक्यघटको रसादिशब्दो लक्षणया रत्यादिबोधक एव, तन्मतेऽसंलक्ष्यक्रमतायामेव रसत्वस्याङ्गीकारात्। तथाच प्रकृते न कश्चिद् विरोध इत्यभिसन्धिः।

यहां आप कह सकते हैं कि यदि 'अभिनवगुप्त' का यह अभिमत होता कि संलक्ष्य क्रमरूप से व्यङ्ग्य होने पर रति आदि वस्तुमात्र है, रसादि नहीं, तब यह कैसे कहते कि 'रसभाव' आदि अर्थ यद्यपि व्यङ्ग्य ही होते हैं, वाच्य नहीं, तथापि सभी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के ही विषय नहीं हैं।' अर्थात् इस कथन से तो यह सिद्ध हो जाता है कि संलक्ष्यक्रमरूप से व्यङ्ग्य होने वाले रत्यादि को भी वे रसादिरूप मानते हैं। इसका उत्तर यह है कि अभिनवगुप्त की उस उक्ति में रस और भाव पद रति और व्यभिचारी भावपरक हैं अर्थात् रस आदि पद का अर्थ वहां रति आदि ही समझना चाहिये। नागेश भट्ट अपनी टीका में इस प्रसङ्ग पर एक और नवीन बात कहते हैं, जो बहुत मार्मिक तथा संगत प्रतीति होती है। उनके कथन का भाव यह है कि कोई पद अथवा पदार्थ वक्ता आदि की विलक्षणता और प्रकरण आदि का साथ होने पर ही व्यञ्जक होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि तत्सहित विभावादिकों का ज्ञान होने के अनन्तर रस आदि की प्रतीति होती है, और विभाव आदि के ज्ञान तथा रस आदि की प्रतीति के मध्य में होनेवाले क्रम (पूर्वपश्चाद्भाव) के संलक्षित न होने के कारण रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है। अतः प्रकरण आदि के ज्ञान में विलम्ब होने से विभाव आदि के ज्ञान में विलम्ब हो भी जाय, तथापि, 'तल्पगताऽपि च सुतनुः······' इत्यादि उदाहरण में अलक्ष्यक्रमता में कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि विभावादिकों के ज्ञान और उसके उत्पन्न करने वाले प्रकरणादि के ज्ञान के क्रम को लेकर अलक्ष्यक्रमता नहीं मानी जाती, अपितु विभावादिकों के ज्ञान तथा उससे उत्पन्न होने वाले रस आदि के ज्ञान के क्रम को लेकर मानी जाती है। अब इस विचार के अनुसार—'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं' इस मम्मटादि के कथन में कोई विरोध नहीं होता, तब रही अभिनवगुप्त की वह उक्ति, जिसमें कहा गया है कि रसभावादि में सभी अलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं हैं—अर्थात् कोई कोई संलक्ष्यक्रम का भी विषय होता है। उसका आशय यह समझना चाहिये कि किसी किसी—अर्थात् विभावादि से भिन्न–उदासीन–वाच्यार्थ के ज्ञान और रसादि के ज्ञान का क्रम लक्षित हो भी सकता है। यदि कहें कि किसी भी क्रम के ज्ञान का स्वीकार कर लेने पर विगलितवेद्यान्तरता का अभाव उक्त रीति से क्यों नहीं हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि विभावादि ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर भी विगलितवेद्यान्तरता होती है इस बात में सहृदयों का अनुभव गवाही नहीं देता,—अर्थात् विगलितवेद्यान्तरता का मूल तन्मयता है और वह तन्मयता रसादि के रूप में परिणत होने वाले विभावादिज्ञान से ही होती है यह बात अनुभवसिद्ध है, अतः विभादि के ज्ञान के बिना अन्य किसी वाच्यार्थ के ज्ञान होने पर विगलित वेद्यान्तरता का न होना ही स्वाभाविक है, फिर उससे रस आदि के रसत्वादि की हानि होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यही है नागेश भट्ट की नवीन बात, इसकी मार्मिकता पाठक स्वयं समझेंगे। उक्त प्रसङ्ग ऐसा है, जिसमें भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का विचित्र तरह से संमिश्रण हो गया है, अतः मैं जिज्ञासुजनों की आकांक्षा का अनुभव करता हुआ उन मतों का संक्षेप में कुछ विश्लेषण कर रहा हूं। पण्डितराज जगन्नाथ (प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता) असंलक्ष्यक्रम रहने पर ही रत्यादि रसादि हैं और

संलक्ष्यक्रम हो जाने पर वस्तुमात्र इस सिद्धान्त को युक्ति-विहीन मानकर रसादिध्वनियों को असंलक्ष्यक्रम तथा संलक्ष्यक्रम दोनों ही मानते हैं, जिसकी पुष्टि करने के लिये, अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के उदाहरण में 'एवं वादिनि······' इत्यादि कुमारसंभव के पद्य को उद्धृत करने वाले आनन्दवर्धनाचार्य को और उसी उदाहरण पर लोचन नामक ध्वन्यालोक की टीका में 'सभी ध्वनितमात्र होने वाले रसभावादि अर्थ असंलक्ष्यक्रम ही नहीं होते, एतदर्थक वाक्य लिखने वाले अभिनवगुप्ताचार्य को भी साक्षी बनाते हैं और युक्ति यह बतलाते हैं कि प्रकरणादि ज्ञान में किसी भी कारण से विलम्ब हो जाने पर रसादि की प्रतीति में भी विलम्ब होगा, अतः वैसे स्थलों पर रस-प्रतीति का क्रम लक्षित हो जायगा। इसके बाद अपने पक्ष में-प्रमाणरूप से उक्त अभिनवगुप्त के पूर्वोल्लिखित वाक्य के अर्थ में उन्हीं की 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह भेद हैं' इस उक्ति से विरोध दिखला कर उसको हटाने के लिये उनके आशय का वर्णन करते हैं कि वे (अभिनवगुप्त) क्रम के लक्षित हो जाने पर रत्यादि को वस्तुमात्र मानते हैं—रस नहीं। परन्तु हम-आप अब सोचें कि यदि अभिनवगुप्त का उक्त आशय है, तब पण्डितराज के रसादि संलक्ष्यक्रम भी हैं' इस सिद्धान्त की पुष्टि उनके मत से कैसे हुई ? क्योंकि वे तो संलक्ष्यक्रम स्थल में रत्यादि को रस मानते ही नहीं, रहा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का 'एवं वादिनि······' यह उदाहरण, परन्तु विचार करने पर वह भी पण्डितराज के पक्ष में साक्षी होने योग्य नहीं जंचता, क्योंकि उनके नाम से जिन पङ्क्तियों ('कुमारीस्वाभाव्यात्······' इत्यादि) को पण्डितराज उद्धृत करते हैं, वे पङ्क्तियां ध्वन्यालोक में नहीं मिलतीं हैं, उनके अभिप्राय का वर्णन करते हैं यह भी नहीं कहा जा सकता, कारण यह कि मेरे विचार से उनका ऐसा अभिप्राय नहीं है, हो भी कैसे सकता है, जब कि 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः'—अर्थात् 'रसभाव आदि अक्रमव्यङ्ग्य हैं' लिखकर, वे अपना अभिप्राय (जो पण्डितराजवर्णित अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है) प्रकट कर चुके हैं। आप कहेंगे—संलक्ष्यक्रम-अर्थ शक्तिमूलक ध्वनि के प्रसङ्ग में 'एवं वादिनि······' यह उदाहरण देकर इतना तो उन्होंने अवश्य लिखा है कि 'अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति'—अर्थात् यहां लीलाकमलपत्रगणनरूप अर्थ अपने को गौण बनाकर अभिधा की सहायता के बिना ही वाच्य से भिन्न व्यभिचारीभाव (लज्जा) रूप अर्थ को प्रकाशित करता है' क्या यह भावध्वनि को संलक्ष्यक्रम मानने में और समान न्याय से अलक्ष्यक्रम ध्वनिमात्र को स्थिति विशेष में संलक्ष्यक्रम मानने में प्रमाण नहीं होता ? मैं कहूंगा नहीं, क्योंकि उन्होंने यह नहीं लिखा है कि यहां भावध्वनि है। मैं तो समझता हूं कि लक्ष्यक्रम हो जाने से लज्जा को वस्तुमात्र मानकर उन्होंने भी उसकी ध्वनि कही है, जिसका समर्थन उनके आगे पीछे के ग्रन्थों से भी होता है। देखिये—जिस कारिका के बाद यह उदाहरण दिया गया है, उसमें साफ शब्दों में वे लिखते हैं कि 'यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः'—अर्थात् 'जो अर्थ तात्पर्यद्वारा शब्द की उक्ति के बिना भी स्वयं दूसरी (वाच्य से भिन्न) वस्तु—न कि रसादि-को व्यक्त करता है। अत एव अलङ्कार ध्वनि का निरूपण 'अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते' इत्यादि से आगे अलग किया गया है। यदि कहें कि 'एवं वादिनि······' इत्यादि उदाहरण देने के अव्यवहित बाद में जो 'नचायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेः विषयः······'इत्यादि ग्रन्थ आया है, जिसका आशय यह है कि 'एवं वादिनि······'इत्यादि पद्य अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का ही लक्ष्य है यह नहीं कह सकते, क्योंकि अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का लक्ष्य वहां होता है, जहां शब्द के द्वारा बोधित विभावादिकों से साक्षात् रसादि की प्रतीति होती है, इस ग्रन्थ से तो साफ झलकता है कि 'एवं वादिनि······' इत्यादि पद्य को वे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भाव की ध्वनि का उदाहरण मानते हैं, तो मैं कहूंगा कि ऐसी बात नहीं है, उस ग्रन्थ का अभिप्राय यह

है कि 'एवं वादिनि······' इस पद्य में अन्त में महादेव के प्रति पार्वती की रति भी तो प्रतीत होती है, फिर इस पद्य को रस ध्वनि का ही उदाहरण क्यों नहीं मानते इस शङ्का का उत्तर उक्त ग्रन्थ से दिया गया है, अत एव आगे आनन्दवर्धन लिखते हैं कि 'इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः' अर्थात् यहां मध्य में व्यभिचारीभाव (लज्जात्मकवस्तु) के व्यङ्ग्य हो जाने से उसके द्वारा अन्त में अभिव्यक्त होने वाले रस की प्रतीति (संलक्ष्यक्रम) है। यदि लज्जात्मक भावध्वनि के विषय में उक्त शङ्का-समाधान किये गये होते, तब यह (इह तु इत्यादि) पङ्क्ति असंगत हो जाती। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि पण्डितराज का मत यहां ठीक नहीं है। उसके ठीक न होने के और भी कारण हैं। जैसे—पण्डितराज के हिसाब से जब रसादिध्वनि संलक्ष्यक्रम तथा अलक्ष्यक्रम दोनों हैं, तब 'अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के अठारह भेद हो जायगें, फिर बारह ही कैसे कहे' यह जो आपत्ति उन्होंने स्वयं परमत में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लगेगी? वे भी तो अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के आठ ही भेद माने हैं, उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-रसादि को लेकर चार भेद और मानना चाहिये, यह बात दूसरी है कि कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध नामक भेद को नहीं मानने के कारण तन्मूलक चार भेदों को वे नहीं मानते। रसादि को संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य होने में उन्हों ने जो युक्ति दी है, उसका भी सुन्दर और विद्वानों को जँचने योग्य खण्डन नागेश ने कर दिया है, जिसको मैं पूर्व में दिखला चुका हूं। अब रहे मम्मट, वे अपनी जगह पर ठीक हैं, क्योंकि वे चिर प्रसिद्धि के अनुसार रसादि ध्वनियों को अलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य मात्र मानते हैं, और ऐसी बात कहीं भी उन्होंने नहीं लिखी, जिससे उस मान्यता में विरोध पड़ता हो। पण्डितराज जो अपने मत के अनुसार अभिनवगुप्त के साथ उनकी उक्ति में भी विरोध दिखला कर उनके आशय का वर्णन अपने ढङ्ग से इस प्रसङ्ग पर किये हैं, वह तो निरर्थक ही मालुम पड़ता है। नागेश भट्ट ने इस प्रसङ्ग पर जो कुछ कहा है, वह उनकी अपनी चीज है, जिससे पण्डितराज के मत का तो खण्डन हो ही जाता है साथ-साथ ध्वन्यालोककार के मत में भी यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि वे 'एवं वादिनि···' इत्यादि पद्य में लज्जात्मक व्यभिचारी को संलक्ष्यक्रम हो जाने के कारण वस्तु मात्र मानते हैं अथवा पण्डितराज के कथनानुसार लक्ष्यक्रम भाव ही मानते हैं तो कैसे? क्योंकि नागेशोक्त रीति से यहां भी संलक्ष्यक्रमता नहीं होती। अभिनवगुप्त का मत भी नागेश की रीति से असंगत ही हो जाता है। यद्यपि नागेश ने उनके मत को संगत बनाने का प्रयास किया है, परन्तु वह प्रयास अभिनवगुप्त की उक्ति के स्वाभाविक स्वारस्य के अनुकूल नहीं मालुम पड़ता। मम्मट नागेश की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं, हो सकता है कि नागेश ने भी अपने शब्दों में मम्मट के हृदय को ही व्यक्त किया हो।

अथ रसादिध्वनेर्व्यञ्जकानुपदिशन्नादौ प्राचीनमतमुपन्यस्यति—

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति।

इत्थमेवं निरूपितस्य लक्षणोदाहरणादिभिर्विवेचितस्य, अस्य, रसादिध्वनेः प्रपञ्चस्य-समूहस्य, पदैः सुप्तिङन्तैरनन्वितैकार्थबोधकप्रयोगार्हवर्णरूपैः, वर्णैरकाराद्यक्षरैः, रचनाभिर्वर्ण-पदगुम्फलक्षणाभिः, वाक्यैर्योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तिमत्पदकदम्बैः, प्रबन्धै महावाक्यस्वरूपैः, पदैकदेशैः प्रकृतिप्रत्ययादिरूपपदावयवैः, अवर्णात्मकैर्ध्वनिरूपैर्गीतवाद्यादिसम्बन्धिभी रागैः आदिपदग्राह्याभिश्चेष्टाभिश्च, अभिव्यक्तिं चर्वणाम्, आमनन्ति प्रतिपादयन्ति प्राञ्च इति शेषः।

अब उक्त रस आदि की ध्वनियों का व्यञ्जक क्या क्या हो सकता है, इस विचार के

प्रसङ्ग में पहले प्राचीनों का मत दिखलाते हैं—'तदित्थम्' इत्यादि। पूर्वोक्त रीति से जिस रसादि-ध्वनि-समूह का निरूपण किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति पदों, वर्णों, रचनाओं, वाक्यों, प्रबन्धों (ग्रन्थों) और पद के अंशों एवं जो अक्षर रूप नहीं हैं, उन रागादिकों से मानते हैं—अर्थात् स्थलभेद से ये सभी रसादि ध्वनियों के व्यञ्जक होते हैं।

ननु सर्वत्र वाक्यादेव रसाद्यभिव्यक्तिदर्शनात् कथमेकस्य तद्घटकपदस्य व्यञ्जकतोच्यत- इत्याशङ्कां मनसि निधायाभिदधाति—

तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपायत्वे समानेऽपि, कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनि-व्यपदेशहेतुत्वम्।

उपायत्वं कारणत्वं प्रयोजकत्वं वा। कुर्वद्रूपता विलक्षणशक्तिमत्ता। चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वं नियतचमत्कारसाहित्यम्।

यद्यपि वाक्यार्थबोधे पदार्थोपस्थितेः कारणतया वाक्यघटकानां सर्वेषामेव पदानां स्वस्वार्थोपस्थापनेन तुल्यैव वाक्यार्थबोधोपयोगिता भवतीत्येकस्य कस्यचित् तद्घटकपदस्य रसादिव्यञ्जकत्वासम्भवः, किन्तु लक्ष्यपर्यवेक्षणात् क्वचिदेकस्यापि पदस्य विलक्षणशक्तिमत्तया नियतचमत्कारसाहित्येन रसादिव्यञ्जकताया दर्शनात् पदानामपि रसादिव्यञ्जकत्वमङ्गीक्रियत इति तात्पर्यम्।

यद्यपि वाक्य के अन्दर जितने पद रहते हैं, वे सभी अपने अपने अर्थ को उपस्थित करके, समान रूप से ही वाक्यार्थ के ज्ञान का कारण होते हैं, अतः वाक्यार्थ ज्ञानोत्तर होने वाली ध्वनियों का निमित्त (व्यञ्जक) पदसमूहात्मक वाक्य ही सिद्ध होता है, कोई एक पद नहीं, फिर 'पदध्वनि' इस व्यवहार में क्या युक्ति है? यह है यहां शङ्का, और उत्तर यह है कि शङ्का के उपपादन में कही गई बातें सही हैं, तथापि वाक्यघटक पदों में से कोई एक ही पद कुर्वद्रूप-अर्थात् काम कर जाने वाला (विलक्षण शक्तिशाली) जहां रहता है, वहां वही पद चमत्कारायोगव्यवच्छिन्न-अर्थात् नियतचमत्कारविशिष्ट होता है, तात्पर्य यह कि और पद ऐसे रहते हैं, जिनमें चमत्कार का योग नियमतः नहीं रहता, अतः वैसी जगह में वह पद ही वाक्य के ध्वनिकाव्य कहलाने का कारण होता है।

पदस्य रसव्यञ्जकतामित्थं व्यवस्थाप्योदाहरति—

यथा—

'मन्दमाक्षिपति' इत्यत्र 'मन्द'मित्यस्य।

उत्तमोत्तमकाव्यत्वेन पूर्वमुदाहृते 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यादिपद्ये सर्वेषामेव पदानां व्यञ्जकत्वे तुल्येऽपि, शनैः स्वस्थानप्रापणार्थोपस्थापनद्वारा मन्दमित्यस्य पदस्येतरवैलक्षण्येन रतिव्यञ्जकतेति सारम्।

जैसे पूर्वोदाहृत (४१ पृष्ठ में) 'तल्पगताऽपि···' इत्यादि पद्य में 'मन्द' पद अर्थात् यद्यपि उक्त पद्य के सभी पद शृङ्गार रस ध्वनि में समान रूप से सहायक हैं, तथापि 'मन्दम्' इस पद में अन्य पदों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है और वह यह है कि 'धीरे धीरे प्रिय कर को हटाना' इस मार्मिक अर्थ की उपस्थिति उसी से होती है, अतः वहां पद-ध्वनि का व्यवहार होता है।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येणार्थबोधकत्वविरहेऽपि रसादिव्यञ्जकत्वं प्राचीनमतेनाह—

रचनावर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकताऽवच्छेदककोटिप्रविष्टत्वमेव, न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रचना-

विशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः ।

अभ्यर्हितत्वाद्रचनाशब्दस्य पूर्वप्रयोगः ।

रचनानां वर्णानां च स्वातन्त्र्येण व्यञ्जकत्वं नास्ति, किन्तु पदानां वाक्यानां वा घटकत्वेनैवेति पदवाक्यनिष्ठा या रसादिव्यञ्जकता, तदाश्रयघटकत्वेन विशेषणीभावात् तदवच्छेदकोटौ प्रविष्टत्वं, नतु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुखेन वक्तुं शक्यम्, तथापि यथा घटं प्रति दण्डविशिष्टचक्रादेः कारणत्वम्, आहोस्विच्चक्रादिविशिष्टदण्डस्येत्थमेकतरपक्षपातियुक्तेरभावाद् दण्डे चक्रादौ च प्रत्येकं पर्याप्त्यैव घटनिरूपितकारणता स्वीक्रियते, तथैव प्रकृते पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन रसव्यञ्जकता, उत रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेनेति संशये विनिगमनाविरहात् प्रत्येकमेव पदत्वेन वर्णत्वेन रचनात्वादिना च रसादिव्यञ्जकताऽभ्युपगम्यत इत्येवं वर्णानां रचनादीनां च रसादिव्यञ्जकत्वं सिद्धमिति प्राचीनाव दन्तीत्यर्थः ।

रचना और वर्ण, पदों और वाक्यों के अन्तर्गत हो कर ही व्यञ्जक हो सकते हैं, अतः यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रचना तथा वर्ण से युक्त पद और वाक्य ही व्यञ्जक हैं, स्वतन्त्रतया वर्ण और रचना नहीं, वे व्यञ्जकतावच्छेदक-कोटि-प्रविष्ट अर्थात् व्यञ्जक के विशेषणों की श्रेणी में रहने वाले मात्र हैं, तथापि रचना और वर्ण से युक्त पद-वाक्य व्यञ्जक हैं अथवा पद और वाक्य से युक्त रचना और वर्ण व्यञ्जक हैं इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष को प्रमाणित करने वाली कोई युक्ति जब नहीं है, तब रचना, वर्ण, पद और वाक्य में प्रत्येक की व्यञ्जकता सिद्ध हो जाती है। जैसे कि घट का कारण चक्रसहित दण्ड माना जाय अथवा दण्डसहित चक्र, इनमें एक पक्ष को प्रमाणित करने की जब कोई युक्ति नहीं है, तब-चक्र और दण्ड दोनों पृथक् पृथक् कारण मान लिये जाते हैं। तात्पर्य यह कि वर्ण और रचना को भी पृथक् पृथक् स्वतन्त्र व्यञ्जक मानना अनुचित नहीं है, ऐसा प्राचीन विद्वानों का मत है।

तत्र नवीनमतमभिधत्ते—

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावाच्च ।

वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च माधुर्यगुणस्यैव व्यञ्जकाः, न पुनर्माधुर्यगुणाश्रयाणां, रसादीनाम्, यतः क्लृप्ताधिकरसादिव्यञ्जकाङ्गीकारे व्यञ्जकसङ्ख्याऽऽधिक्यनिबन्धनं गौरवम्, वर्णरचनानां रसादिव्यञ्जकत्वे प्रमाणवैधुर्यं च, तस्माद् वर्णानां रचनानां च रसादिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यभिप्रायः ।

नवीन विद्वानों का मत उससे भिन्न है। वे कहते हैं कि वर्णविशेष और रचनाविशेष (वैदर्भी आदि) माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, उन गुणों के आश्रयीभूत रसों के नहीं, क्यों कि ऐसा मानने में एक तो व्यर्थ रसादिकों के व्यञ्जकों की संख्या बढ़ती है, दूसरे, इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है।

ननु यदि वर्णादिषु माधुर्यव्यञ्जकताऽस्ति, तर्हि तदाश्रयरसादिव्यञ्जकताऽप्यस्त्येव, यतो गुणिनो व्यञ्जकतां विना गुणानां व्यञ्जकतैव न सम्भवतीत्याशङ्कां निराकरोति—

न हि गुण्यभिव्यञ्जनं विना गुणाभिव्यञ्जकत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात् ।

गुणाभिव्यञ्जकास्तदाश्रयव्यञ्जका भवेयुरेवेति नास्ति नियमः, यतो घ्राण-रसन-श्रोत्ररूप-इन्द्रियत्रये तस्य व्यभिचारो दृश्यते, तथाहि—घ्राणेन्द्रियं गन्धस्य गुणस्य व्यञ्जकं न तु

द्राश्रयस्य पृथिव्याः, रसनेन्द्रियं रसस्य व्यञ्जकं, नतु रसवतो जलस्य, श्रोत्रेन्द्रियं च ब्दस्य व्यञ्जकं, न तु शब्दाधारस्य गगनस्य। इत्थं च माधुर्यव्यञ्जकताऽन्यथाऽनुपपत्त्या र्णादीनां रसाभिव्यञ्जकताकल्पनं नैव सम्भवतीति विभावनीयम्।

यदि कोई कहे कि वर्ण और रचना को माधुर्य आदि गुणों के व्यञ्जक मानने पर गुण के ाश्रय रस आदि के भी व्यञ्जक मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो गुणी (गुण के आश्रय) ा व्यञ्जक नहीं, वह गुणों का व्यञ्जक हो ही नहीं सकता—अर्थात् गुणों के आश्रयों की भिव्यक्ति के विना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, तो मैं कहूँगा—यह कथन संगत हीं है, क्योंकि 'गुणी की अभिव्यक्ति के विना गुणों की अभिव्यक्ति नहीं होती' यह नियम ाक, जीभ, कान इन तीनों इन्द्रियों में व्यभिचरित होते देखा गया है—अर्थात् इन ीनों इन्द्रियों से गुणी की अभिव्यक्ति के बिना भी गुणों की अभिव्यक्ति होती है। जैसे— ाक से गन्ध (गुण) की अभिव्यक्ति होती है और उसके आश्रय पृथवी की नहीं, जीभ से स की अभिव्यक्ति होती है और रसाश्रय जल आदि की नहीं एवम् कान से शब्द की तीति होती है और शब्दाश्रय आकाश की नहीं।

गुणादिव्यक्तिव्यवस्थादर्शनेन स्वपक्षे दोषं परिहरन् नवीनमतमुपसंहरति—

इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता, तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति तु नव्याः।

स्वस्वव्यञ्जकैर्वर्णादिभिः, उपनीतानां बोधितानां, गुणिनां पृथिव्यादीनां, गुणानां गन्धादीनाम्, उदासीनानां गुणगुणिभावेन मिथोऽसम्बद्धानां पदार्थानां च प्रमितिगोचरता प्रमात्मकप्रत्यक्षविषयता, कदाचित् उपश्लेषेण गुणानां गुणिनां मिथस्सम्बद्धत्वेन, कदाचित् पुनरौदासीन्येन मिथोऽसम्बद्धत्वेन च यथा भवति, तथा गुणिनां रसानां, गुणानां माधुर्यादीनां चाभिव्यक्तिविषयताऽऽस्वादगोचरता, कदाचिन्मिलितत्वेन, कदाचिच्च पार्थक्येन भवतीति व्यवस्थया, रसाद्यव्यञ्जकत्वेऽपि माधुर्यादिव्यञ्जकता वर्णादीनां नासम्भविनीति तु नव्या वदन्तीत्यर्थः।

असंलक्ष्यक्रमध्वनेः प्रबन्ध–वाक्य–पद–तदंश–वर्ण–रचनाव्यङ्ग्यत्वेन षड्विधत्वं स्वीकुर्वद्भिः प्राचीनैर्वर्णविशिष्टानां रचनाविशिष्टानामेव च पदवाक्यादीनां रसादिव्यञ्जकतायाः सत्त्वाद्रसादिव्यञ्जकताऽवच्छेदकतया तद्व्यञ्जकत्वाभावेऽपि विशिष्टव्यङ्ग्यव्यञ्जकभावकल्पने विनिगमनाविरहेण गौरवाद् दण्डादिषु घटादिकारणतेव प्रत्येकं रसादिव्यञ्जकता कल्प्यते।

नवीनैस्तु रूढिविरोधिभिः पृथगपि गुणगुणिनां प्रतीतिं मन्यमानैर्वर्णादिषु माधुर्यादिगुणमात्रव्यञ्जकताऽङ्गीक्रियते, रसादिव्यञ्जकता तु गौरव-प्रमाणाभावादिप्रदर्शनेन निराक्रियत इति सारम्।

इस तरह जैसे अपने अपने व्यञ्जकों—अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों से उपस्थित कराये गये गुणी, गुण और तदतिरिक्त तटस्थ पदार्थ कभी परस्पर संमिलित रूप से, कभी उदासीन रूप से उन उन यथार्थ ज्ञानों के विषय होते हैं, वैसे ही रस (गुणी) और गुण (माधुर्यादि) भी अभिव्यक्ति के विषय होते हैं—अर्थात् वे पृथक् पृथक व्यञ्जकों (वाक्य पद आदि और रचना आदि) से उपस्थित किये जाते हैं, और फिर कभी सम्मिलितरूप से तथा कभी उदासीन रूप से गृहीत (ज्ञात) होते हैं। तात्पर्य यह कि वर्णों और

रचनाओं को रसों का व्यञ्जक मानना समुचित नहीं, उन्हें केवल माधुर्यादि गुणों का व्यञ्जक मानना चाहिये।

रचनाया रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

उदाहरणन्तु—

'तान्तमाल-' इत्यादि प्रागुक्तमेव।

अत्र भगवद्विषयकरतिभावद्वारा शान्तरसस्य तन्निष्ठमाधुर्यगुणस्य च व्यञ्जिका रचनेति-इति रचनाया गुणव्यञ्जकतानिरूपणप्रसङ्गेन प्रागुक्तमनुसन्धेयम्।

वर्णों तथा रचनाओं के द्वारा गुणों की अभिव्यक्ति का उदाहरण 'तां तमालतरुकान्ति लंघिनीम्'......' इत्यादि पहले (पृ० २२४ में) कह ही चुके हैं।

वाक्यस्य रसादिव्यञ्जकतामुदाहरति—

वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि 'आविर्भूता यदवधि-' इत्यादि च।

प्रागुक्तेऽस्मिन् पद्ये समस्तमेव वाक्यं विप्रलम्भश्रृङ्गाररसस्य व्यञ्जकम्।

वाक्य जहां व्यञ्जक हुआ हो, वैसे उदाहरण भी 'आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्द सूनोः......' इत्यादि (पृ० १४१ में) कहे ही जा चुके हैं।

प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति—

प्रबन्धस्य तु 'योगवाशिष्ठ-रामायणे शान्त-करुणयोः, रत्नावल्यादीनि च श्रृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि।

योगवाशिष्ठं प्रबन्धः शान्तरसस्य, रामायणं प्रबन्धः करुणरसस्य; रत्नावलीप्रभृतयश्च प्रबन्धाः श्रृङ्गाररसस्य व्यञ्जका इति प्रबन्धव्यञ्जकतोदाहरणानि बोध्यानि।

अब प्रबन्ध (ग्रन्थ) जहां व्यञ्जक होते हैं, वैसे उदाहरण देखिये—सम्पूर्ण योगवाशि ग्रन्थ से शान्तरस और समस्त रामायण ग्रन्थ से करुणरस अभिव्यक्त होते हैं, इसी तर रत्नावली आदि ग्रन्थ श्रृङ्गाररस के व्यञ्जक होने के नाते प्रसिद्ध ही हैं।

प्रबन्धस्य भावव्यञ्जकतामुदाहरति—

मन्निर्मिताश्च पञ्चलहर्यो भावस्य।

गङ्गालहरीप्रभृतयः पञ्च लहर्यः प्रबन्धा गङ्गाऽऽदिविषयकरतिभावस्य व्यञ्जका इत्यर्थः।

पण्डितराज रचित पांचों लहरियां (करुणालहरी, गंगालहरी आदि) भाव-व्यञ्जक के उदाहरण होती हैं।

पदावयवस्य रसव्यञ्जकतामुदाहरति

पदैकदेशस्य च 'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि' इति करूपतद्धितो वी रसस्य प्रागेवोदाहृतः।

वलवीररसोदाहरणप्रसङ्गेन प्रागेवोदाहृतेऽत्र पद्ये 'जगदण्डक'मिति पदावयवः करू स्तद्धितप्रत्ययो ब्रह्माण्डस्य क्षोदिष्ठतां द्वारीकृत्योत्साहस्थायिकबलवीररसस्य व्यञ्ज इत्यर्थः।

'निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि' यहां करूप तद्धित (पदैकदेश) वीररसव्यञ्जक यह भी पहले (पृ० १६६ में) कहा जा चुका है।

अवर्णात्मकरागादीनां व्यञ्जकता सहृदयानुभवसिद्धैवेति प्रतिपादयति—

एवं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम् ।

व्यङ्ग्यत्वे रसादीनामिति शेषः । रागादिव्यञ्जकता सहृदयानुभवसाक्षिकैवेति तदुदाहरणं न प्रदर्शितमित्यर्थः ।

इसी तरह अवर्णात्मक राग आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं—इसमें सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं ।

उपसंहरति—

एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि ।

एवमुक्तरीत्या, एषां रसादीनां प्राधान्येन ध्वनितया प्राङ्निरूपितानामुदाहरणानि निरूपितानि ज्ञेयानीत्यर्थः ।

इस तरह से प्रधान रहने के कारण ध्वनिरूप रसादिकों के उदाहरण निरूपित हो चुके यह समझना चाहिये ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वे रसादीनामुदाहरणापेक्षायामाह—

गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च ।

रसादीनां गुणीभावेऽप्राधान्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामुदाहरणानि रसवत्प्रेयऊर्जस्व्यादीनि नामानि चालङ्कारप्रकरणे वक्ष्यन्ते प्रतिपादयिष्यन्त इत्यर्थः ।

जब ये रस आदि गौण–अप्रधान–हो जाते हैं, तब उनके क्या क्या नाम पड़ते हैं और उनके उदाहरण क्या हो सकते हैं, ये सब बातें आगे कही जायगीं—अर्थात् रस आदि के गौण हो जाने पर 'रसवत्' प्रेय और ऊर्जस्वि इन नामों के अलंकार होते हैं, यह बात तथा उनके उदाहरण अलंकार प्रकरण (द्वितीय आनन) में कहे जायगें । (खेद है कि पण्डितराज की यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं हो सकी । यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है और जितना भाग उपलब्ध है, उसमें यह विचार नहीं आ सका है)

तत्र विशेषमाचष्टे—

तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्वम् , अन्यथा तु रत्यादित्वमेव ।

एषां रसादीनां प्राधान्य एव विगलितवेद्यान्तरसच्चिदानन्दस्वरूपतासम्पत्ते रसादित्वं भवति, अन्यथाऽप्राधान्ये तु तादृग्रूपताविरहात् स्थायिमात्रात्मकत्वाद् रत्यादित्वं केवलं भवतीत्यर्थः ।

यहां भी विद्वानों में मतभेद है । कुछ विद्वानों का कथन है कि ये रस आदि प्रधान रहने पर ही रसादि हैं और गौण हो जाने पर रत्यादिमात्र अर्थात् वस्तुमात्र होते हैं ।

ननु गुणीभावे यदि रसादित्वाभावो भवेत् , तर्हि गुणीभूतरसस्य रसवदलङ्कारेति नाम्नि रसपदं कथमुपात्तमित्याशङ्कायामाह—

नामनि रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके । अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे ।

इति तैलङ्गपण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचिते रसगङ्गाधरे प्रथममाननं सम्पूर्णम् ।



रसवदलङ्कारोति नामघटकरसपदस्य रसत्वयोग्यरत्यादिस्थायिभावेषु लक्षणेति प्रागुक्त-नियमाङ्गीकर्तृणां केषाञ्चिन्मतम्। अन्येषां तु–रसादीनामप्राधान्ये न रसादित्वस्य विलोपः, किन्तु प्राधान्यविरहान्न ध्वनिव्यवहारस्य कारणत्वमिति मतम्। तत्र पूर्वमत एव लक्षणा-पेक्षा, नतूत्तरमत इति बोध्यम्।

विद्यानाभिनिकेतन–मिथिलाऽन्तःपातिसरिसवग्रामे ।
विद्यानाथसुतश्रीबदरीनाथेन निर्मिता कुतुकात् ॥ १ ॥
राधाऽच्युतपदनखविधु–समर्पिता चन्द्रिका सेयम् ।
लभतां रसगङ्गाधर–संसक्ता शाश्वतीं सुषमाम् ॥ २ ॥
आशानखमित (२०१०) विक्रम–समासहःपूर्णिमासूर्ये ।
रसगङ्गाधरविवृतिर्वाणीकृपयाऽगमत् पूर्त्तिम् ॥ ३ ॥
चिन्ताजरादिपण्डीकृतपण्डस्यापि मे नूनम् ।
साहसमेव विवरणं, पण्डितराजातिगूढभणितीनाम् ॥ ४ ॥
उपकृतिरितोऽपि तावत्, किन्तु भवेदेव केषाञ्चित् ।
मदपि न्यूनमतीनामिति प्रतीतेः समाश्वसिमि ॥ ५ ॥

इति मैथिलश्रोत्रियपण्डितश्रीबदरीनाथशर्मनिर्मितायां रसगङ्गाधर-चन्द्रिकायां प्रथममाननं सम्पूर्णम्।



यदि कहें कि जब गौण हो जाने पर ये रसरूप नहीं होते, तब उस अवस्था के 'रसवत्' इत्यादि नामों में रस आदि पदों का प्रयोग कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि उन नामों में रसादि पद रत्यादि का ही बोधक है। यहां दूसरे विद्वानों का कथन इससे भिन्न है, वे कहते हैं कि गौण हो जाने पर भी उनमें रसत्व अथवा भावत्व रहते ही हैं, केवल गौण हो जाने के कारण वे काव्य में ध्वनि व्यवहार के हेतु नहीं होते।

इति दरभङ्गामण्डलान्तर्गत नवानी ग्रामनिवासी, मैथिलब्राह्मणवंशावतंसव्याकरण–न्याय–साहित्याचार्य, मुजफ्फरपुरस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालय प्रधान-साहित्याध्यापक 'पं० श्री मदनमोहन झा' द्वारा निर्मित रसगङ्गाधर